नवराज

नवराज

१०
३०

नवराज नवराज

४०

साइमी

।। श्रीः ।।

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१०५

महाकविकालिदासविरचितं

कुमारसम्भवम्

मल्लिनाथकृतसञ्जीविनीव्याख्यासमलङ्कृतम्

सान्वय-'प्रकाश'-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः—

श्री पं० प्रद्युम्नपाण्डेयः

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI
Chowk (Opposite Chitra Cinema)
VARANASI-221001
(INDIA)

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

१९७७

प्रकाशक :—
चौखम्बा विद्याभवन
पो० बा० ६९ (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),
चौक, वाराणसी–२२१००१

सर्वाधिकार सुरक्षित

तृतीय संस्करण १९७७

मूल्य १५–००

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन, पो० बा० १२९,
वाराणसी–२२१००१

मुद्रक :—
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

105

KUMĀRSAMBHAVA

OF

MAHĀKAVI KĀLIDĀS

WITH THE COMMENTARY OF MALLINĀTH

&

The Prakasha Hindi Commentary

By

Sri Pradyumna Pandey

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

प्रस्तावना

पं० कान्तानाथ शास्त्री तेलंग, एम० ए०
प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

कालिदास संस्कृत साहित्य के सबसे बड़े कवि हैं। इनके काव्य और नाटक सर्वत्र बड़े आदर से पढ़े जाते हैं। ये संसार के प्रसिद्ध कवियों में एक माने जाते हैं। पाश्चात्य विद्वानो ने भी इनके अभिज्ञान शाकुन्तल नाटक की प्रशंसा मुक्तकंठ से की है। परन्तु खेद की बात है कि इनका आविर्भाव किस समय हुआ इसका ठीक-ठीक पता अब तक नहीं लग सका है। इनके काल के विषय में विद्वानों में बहुत से मतभेद हैं। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न कल्पनायें की हैं। जो कल्पनायें अब तक की गई हैं उनमें से कुछ मुख्य कल्पनायें नीचे दी जाती हैं।

कालिदास का काल

पहली कल्पना

ईस्वी सन् की छठीं शताब्दी में महाराज यशोधर्मन् ने हूणवंश के राजा मिहिरकुल को हराया था। डाक्टर हार्नली का मत है कि ये महाराज यशोधर्मन् ही कालिदास के विक्रमादित्य थे। इस कल्पना में दो दोष हैं। पहिला दोष तो यह कि महाराज यशोधर्मन् ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि नहीं ली थी। दूसरा दोष यह कि कालिदास के विक्रमादित्य हूणारि नहीं शकारि थे।

दूसरी कल्पना

फरग्यूसन साहब का कथन है कि ईसा के अनन्तर-छठीं शताब्दी में उज्जयिनी में विक्रमादित्य नाम के राजा थे। उन्होंने शकों को पराजित करके अपनी विजय को चिरस्मरणीय बनाने के लिये 'विक्रम-संवत्' नाम का एक संवत् चलाया था। उसकी गणना उन्होंने स्थापनकाल से ६०० वर्ष पूर्व अर्थात् ५७ ई० पू० से की थी। फरग्यूसन की इस कल्पना का आश्रय लेकर प्रो० मैक्सम्यूलर ने कालिदासके समय के विषय में अपनी कल्पना खड़ी की। उनका कहना है कि ये ही विक्रम कालिदास के विक्रम हैं। अतः कालिदास का समय ६०० ई० अ० मानना चाहिये। इस कल्पना में दो बड़े दोष हैं। पहिला तो यह कि भारतवर्ष के इतिहास में ६०० ई० अ० विक्रम नाम का कोई राजा नहीं हुआ। दूसरा यह कि यदि उस समय किसी विक्रम ने विक्रम-संवत् की स्थापना की तो उसकी गणना ६०० वर्ष पूर्व से क्यों की। सच्ची बात तो यह है कि ई० षष्ठ शतक के बहुत पूर्व ही विक्रम

संवत् भारत में मालव-संवत् के नाम से प्रचलित था। उसकी स्थापना ई० अ० षष्ठ शतक में नहीं की गई। उसकी स्थापना ई० पू० प्रथम शतक में विक्रम नाम के मालवगण के नेता ने की थी, यह बात वत्सभट्टि के मण्डसोर शिलालेख से प्रतीत होती है।

तीसरी कल्पना

कुछ विद्वानों का कहना है कि कालिदास के ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि वे ग्रीकज्योतिष से भली-भाँति परिचित थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में 'जामित्र' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। ग्रीक-ज्योतिष का प्रचार भारत में आर्यभट्ट ने किया था। आर्यभट्ट का समय ई० अ० पञ्चम शतक का अन्तिम भाग है। अतः कालिदास का समय ई० अ० षष्ठ शतक मानना चाहिये। इसका उत्तर डॉ० मैकडोनेल्ड ने दिया है। इनका कहना है कि ग्रीक-ज्योतिष का प्रचार भारत में पहले-पहल आर्यभट्ट ने नहीं किया। उनके पहिले भी भारतीय ग्रीक-ज्योतिष के सिद्धान्तों से परिचित थे। इसका प्रमाण रोमकसिद्धांत नाम का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ आर्यभट्ट से प्राचीन है।

चौथी कल्पना

मल्लिनाथ ने कालिदास के मेघदूत के चौदहवें पद्य के दो अर्थ किये हैं। उनके मत में उस पद्य में प्रयुक्त 'दिङ्नाग' और 'निचुल' शब्द क्रम से बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग और कालिदासके सतोर्थ्य महाकवि निचुल का परामर्श करते हैं। मल्लिनाथ की इस उक्ति के आधार पर कुछ विद्वानों का कहना है कि कालिदास ई० अ० षष्ठ शतक में थे। क्योंकि कालिदास के समकालिक दिङ्नाग वसुबंधु के शिष्य थे। वसुबंधु का काल ई० अ० षष्ठ शतक है। इस कल्पना का मुख्य दोष यह है कि इसमें बसुबंधु का काल ई० अ० षष्ठ शतक माना गया है। वस्तुतः वसुबंधु ई० अ० ४०० में थे। उनके ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद ई० अ० चतुर्थ शतक के चतुर्थ पाद तथा पञ्चम शतक के प्रथम पाद में हुआ था।

पाँचवीं कल्पना

श्री के० बी० पाठक का मत है कि कालिदास का आविर्भाव उस समय हुआ जिस समय हूण जाति आक्शस नदी (आमूदरिया) के तट पर बस गई थी। इस मत के समर्थन के लिये रघुवंश के चतुर्थ सर्ग से दो श्लोक उद्धृत करते हैं—

विनीताध्वश्रमास्तस्य वंक्षुतीरविचेष्टनैः,
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥
तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तिविक्रमम्।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥

ऐतिहासिकों का मत है कि हूण जाति पञ्चम शतक के आरंभ में ही आक्सास नदी के तट पर बस चुकी थी। पञ्चम शतक के मध्य में उसका स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य से युद्ध हुआ। अतः कालिदास का समय ई० अ० पञ्चम शतक मानना चाहिये। डा० मैकडोनेल्ड भी पञ्चम शतक की कल्पना का समर्थन करते हैं। इस कल्पना का पहिला दोष यह है कि ऊपर उद्धृत दोनों श्लोकों में से पहिले में 'वंक्षु' के स्थान पर अधिकांश पुस्तकों में 'सिन्धु' पाठ मिलता है। यदि यह पाठ ठीक मान लिया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि कालिदास उस समय हुए थे जब हूण सिन्धु नदी के तट पर बस गये थे। यह काल ई० अ० ६०० पड़ेगा क्योंकि यशोधर्मन् से पराजित होकर मिहिरकुल ने ई० अ० छठीं शताब्दी में काश्मीर में हूणराज स्थापित किया था। यदि 'वंक्षु' पाठ ही ठीक माना जाय तो यह कठिनाई होती है कि आमूदरिया के तट पर केसर की उत्पत्ति माननी पड़ती है। भूगोलशास्त्र में यह बात प्रसिद्ध नहीं है। केसर की उत्पत्ति सिन्धुतट पर ही प्रसिद्ध है।

छठीं कल्पना

डाक्टर कीथ का मत है कि कालिदास की प्राकृत अश्वघोष और भास के प्राकृत से अर्वाचीन है। कालिदास ग्रीक-ज्योतिष के पारिभाषिक शब्दों से भी भलीभाँति परिचित मालूम होते हैं। उनके ग्रन्थों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके समय में देश समृद्ध और सुशासित था। देश में ब्राह्मण (वैदिक) धर्म का बोलबाला था। इन कारणों से उन्हें गुप्तकाल से प्राचीन नहीं माना जा सकता। उन्होंने अपने ग्रन्थों में अश्वमेघ-यज्ञ का वर्णन किया है। वह इस बात को सूचित करता है कि कालिदास गुप्तवंश के किसी बड़े सम्राट के आश्रय में थे। ये सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय ही रहे होंगे। इन्हीं के पुत्र कुमारगुप्त थे। कालिदास के कुमारसंभव में इनके जन्म की घटना की छाया मिलती है। अतः कालिदास का समय ई० अ० चतुर्थ शतक मानना चाहिये। यह कल्पना भी विद्वानों को सर्वात्मना स्वीकार नहीं है। यह कल्पना केवल इतना ही सिद्ध करती है कि कालिदास गुप्तकाल में थे। इस कल्पना में कालिदास को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालिक सिद्ध करने के लिये जो प्रमाण दिये गए हैं वे पर्याप्त नहीं। उन प्रमाणों के आधार पर तो कालिदास को गुप्तकाल के किसी भी बड़े सम्राट् का समकालिक माना जा सकता है। इस वंश में स्कन्दगुप्त भी बड़े पराक्रमी हुए थे तथा उन्होंने भी विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी। इसके अतिरिक्त, जो विद्वान् यह मानते हैं कि समुद्रगुप्त का प्रयागस्तम्भ-लेख उनकी मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में लिखा गया था, उनके सामने यह भी प्रश्न उठता है कि यदि

विक्रमादित्य के दरबार में कालिदास थे तो प्रयाग-स्तम्भ की प्रशस्ति उनसे न लिखवाकर द्वितीय श्रेणी के कवि हरिसेन से क्यों लिखवाई गई।

सातवीं कल्पना

कुछ भारतीय विद्वानों का मत है कि ई० पू० प्रथम शतक में उज्जयिनी में विक्रमादित्य नाम का राजा राज्य करता था। वह बड़ा प्रतापी था। उसने शकों को परास्त किया था। वह बड़ा उदार और विद्वानों का आदर करने वाला था। हाल की गाथा सप्तशती और जैन ग्रन्थों से इस बात की पुष्टि होती है। संभव है कि कालिदास के विक्रमादित्य ये ही रहे हों। इस कल्पना के अनुसार कालिदास का काल ई० पू० प्रथम शतक होता है। पाश्चात्य पण्डित इस कल्पना को नहीं मानते। वे कालिदास को गुप्तकाल में ही किसी न किसी राजा का समकालिक मानने के पक्षपाती हैं। उनका कहना है कि कालिदास की प्राकृत, ग्रीक-ज्योतिष का ज्ञान, भाषा तथा उनके द्वारा उपस्थित किया गया समाज का चित्र उनके गुप्तकाल में होने का समर्थन करते हैं।

आठवीं कल्पना

कालिदास के विषय में निश्चित रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाम के नाटक में अग्निमित्र को नायक बनाया है। अग्निमित्र पुष्यमित्र शुंग का लड़का था। पुष्यमित्र का समय ई० पू० द्वितीय शतक माना जाता है। यही कालिदास के समय की उपरितन सीमा है। बाणभट्ट ने कादम्बरी की प्रस्तावना में कालिदास का नाम लिया है। बाणभट्ट का समय ई० अ० सप्तम शतक का पूर्वार्ध माना जाता है। यह कालिदास के समय की नीचे की सीमा है। इन्हीं दोनों सीमाओं के बीच (अर्थात् ई० पू० द्वितीय शतक और ई० अ० सप्तम शतक के बीच) में किसी समय कालिदास रहे होंगे।

कालिदास का जीवनवृत्त

जिस प्रकार कालिदास के काल का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, उसी प्रकार उनका जीवनवृत्त भी अन्धकार में ही है। इस विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ लोग इन्हें कश्मीर का निवासी मानते हैं तो कुछ लोग विदर्भ का। कुछ लोग इन्हे बंगाल का निवासी बताते हैं तो कुछ लोग उज्जयिनी का।

भारतीय प्राचीन पण्डितों में कालिदास के जीवनवृत्त के विषय में एक बड़ी रोचक कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि कालिदास विवाह के पहिले वज्रमूर्ख थे। एक बार कुछ पण्डित इन्हें पकड़ कर एक राजा की सभा में ले गये। पण्डितों ने राजा के पास इनकी विद्वत्ता की बड़ी प्रशंसा की। राजा ने प्रसन्न होकर इनके

साथ अपनी लड़की का विवाह कर दिया। वह लड़की बड़ी विदुषी थी। विवाह के बाद जब उसे मालूम हुआ कि उसका पति मूर्ख है तो उसने इन्हें घर से बाहर निकाल दिया। कालिदास बड़े दुखी हुए। वे वहाँ से सीधे भगवती काली के मन्दिर में गए। उन्होंने भगवती के चरणों पर अपनी जीभ काटकर रख दी। कहा जाता है कि इस पर भगवती बड़ी प्रसन्न हुई। भगवती के प्रसाद से कालिदास सब शास्त्रों के पण्डित और कवि हो गए। इसके बाद वे फिर अपने घर लौटे। इनके आगमन का समाचार सुनकर इनकी पत्नी (राजकुमारी) बाहर आई। उसने संस्कृत में इनसे पूछा—'अस्ति कश्चित् वाग्विशेषः ?' कहा जाता है कि कालिदास ने उसके इस वाक्य के तीन शब्दों को लेकर तीन काव्य बना डाले। 'अस्ति' से ('अस्त्युत्तरस्यां दिशि') कुमारसंभव 'कश्चित्' से ('कश्चित्‌-कान्ता') मेघदूत तथा 'वाग्' से ('वागर्थाविव') रघुवंश महाकाव्य रचा।

कालिदास के ग्रन्थ

दूसरी किंवदन्ती इस विषय में यह है कि कालिदास सिलोन के राजा कुमारदास के मित्र थे। एक बार अपने मित्र से मिलने सिलोन गए वहाँ इनको दरबार की एक वेश्या ने मार डाला।

कालिदास ने कौन-कौन ग्रन्थ रचे और उनका क्रम क्या है इस विषय में भी यद्यपि विद्वानों का मतभेद है, तथापि सामान्यतः दो महाकाव्य— रघुवंश और कुमारसंभव, एक खण्डकाव्य—मेघदूत और तीन नाटक— अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र, कालिदास के रचे हुए माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त ऋतुसंहार और श्रुतबोध भी कालिदास की रचनायें हैं।

कालिदास की कविता की कुछ विशेषताएँ

कालिदास श्रृङ्गाररस के सबसे बड़े कवि माने जाते हैं। इनकी रचनाएँ श्रृङ्गाररस से ओतप्रोत हैं। श्रृङ्गाररस से उतरकर हास्य और करुणरस के चित्र भी इनकी कविता में पाये जाते हैं। इनका वीर आदि अन्य रसों का वर्णन उतना सुन्दर नहीं है। श्रृङ्गाररस के दो भेद होते हैं— संभोगश्रृङ्गार और विप्रलंभश्रृङ्गार। कालिदास दोनों प्रकार के श्रृङ्गाररस से सिद्ध कवि हैं। इनके तीनों नाटक द्विविध श्रृङ्गार के उत्तम उदाहरणों से भरे पड़े हैं। मेघदूत काव्य विप्रलंभ श्रृङ्गार का बेजोड़ उदाहरण है। कुमारसंभव के आठवें सर्ग में शंकर-पार्वती के संभोगश्रृगार का वर्णन किया गया है। इन्हें श्रृङ्गाररस इतना प्रिय है कि ये मृत्यु जैसी भयंकर घटना का वर्णन भी श्रृङ्गार की छाया में करते हैं। रामचन्द्रजी के बाण से जब ताड़का मारी गई उस समय का वर्णन करते हुए आप कहते हैं—

राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥

कुमारसंभव के चतुर्थ सर्ग में रतिविलाप तथा रघुवंश के अष्टम सर्ग में अजविलाप करुणरस के मर्मस्पर्शी उदाहरण हैं। कालिदास का हास्यरस सभ्य और ऊँचे दर्जे का है। इनकी हास्यरस की कविता पढ़कर पाठक केवल मुस्करा देते हैं। इनकी कविता ठहाके की हँसी नहीं लाती। कुमारसंभव के पञ्चम सर्ग में पार्वती के आश्रम में आये हुए ब्रह्मचारी द्वारा शंकर जी की निंदा के पद्य इसके उदाहरण हैं—

इयञ्च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया ।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥

कालिदास के नाटकों में विदूषकों के पात्र भी हास्यरस के उदाहरण हैं।

अलंकार मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। कालिदास के काव्यों में शब्दालंकार की अपेक्षा अर्थालंकार अधिक पाये जाते हैं। कालिदास अपनी उपमा के लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। भारतीय पण्डितों में कहावत है 'उपमा कालिदासस्य'। इनकी उपमा स्पष्ट, पूर्ण और मनोहर होती है। इनकी दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है। इन्होंने प्रकृति तथा मनुष्य के जीवन का सूक्ष्म अध्ययन किया है। इनका शास्त्रों का ज्ञान भी बड़ा विस्तृत है। ये प्रकृति, मनुष्य के जीवन तथा शास्त्रों से उपमा देते हैं। इनकी उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास भी बड़े सुन्दर होते हैं। इनकी कल्पना की उड़ान बड़ी मधुर और ऊँची होती है। इन्दुमती-स्वयंवर के प्रकरण में आप कहते हैं कि इन्दुमती की जयमाल गले में पड़ने पर अज को ऐसा अनुभव हुआ मानों इन्दुमती ने अपना बाहुपाश उनके गले में डाल दिया हो। कालिदास के काव्यों में शब्दालंकार भी मिलते हैं। यत्र तत्र अनुप्रास के उत्तम उदाहरण मिलते हैं। रघुवंश के नवें और अठारहवें सर्ग में कवि ने यमकालंकार की कला दिखाई है। कालिदास की कविता में श्लेष का प्रयोग बहुत कम ही है।

कालिदास अपने प्रकृतिप्रेम के लिये प्रसिद्ध हैं। ये प्रकृति के कोमल रूप के उपासक हैं। भवभूति की तरह इन्हें प्रकृति के उग्ररूप से प्रेम नहीं है। ये प्रायः रम्य तथा शान्त तपोवन, नदीतट, उपवन, प्रासाद, भ्रमर, मृग तथा कोकिल आदि पदार्थों का वर्णन करते हैं। इन्हें विंध्याचल की अपेक्षा हिमालय से अधिक प्रेम है। इन्होंने कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में हिमालय का सुन्दर वर्णन किया है। इनके अन्य काव्य और नाटकों से भी इनका हिमाचल प्रेम प्रकट होता है। ऋतुओं में इन्हें ग्रीष्म और वसन्त अधिक प्रिय प्रतीत होते हैं। ये दक्षिण की अपेक्षा उत्तर भारत से अधिक परिचित हैं।

कालिदास को मनुष्य के मनोविज्ञान का प्रगाढ़ ज्ञान है। ये खूब जानते हैं कि किस अवस्था में मनुष्य की चित्तवृत्ति कैसी होती है और वह क्या करता है। ये केवल पुरुषों के मनोभावों से ही नहीं, स्त्रिओं के मनोभावों से भी अच्छी तरह परिचित हैं। इसी सम्बन्ध में इनकी दूसरी विशेषता यह है कि ये मनोभावों को व्यंजना-शक्ति द्वारा प्रकट करते हैं। मनोभावों को व्यक्त करने के लिये ये अभिधा का प्रयोग नहीं करते। इससे इनकी कविता में अधिक चमत्कार आ गया है। भाव-व्यंजना के अतिरिक्त इनकी कविता में वस्तु-व्यंजना और अलंकार-व्यंजना के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। कुमारसंभव के षष्ठ सर्ग में अंगिरा ऋषि हिमालय के पास आते हैं ओर उससे कहते हैं कि अपनी लड़की का विवाह शंकर जी से कर दो। उस समय पार्वती का वर्णन करते हुए कालिदास कहते हैं—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

इज पद्य से लज्जा का भाव व्यक्त होता है। कवि ने लज्जा शब्द का प्रयोग नहीं किया है। लज्जा का उदय होने पर पार्वतो ने जो कार्य किया, उसी का वर्णन किया हैं। इसी प्रकरण में आगे कवि कहते हैं—

शैलः सम्पूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत।

देवर्षि अंगिरा के मुख से पार्वती की मँगनी सुनकर हिमालय की कामना पूर्ण हो गई। फिर भी उन्होंने अपनी पत्नी मेना के मुख पर एक दृष्टि डाली। यहाँ कवि ने हिमाचल के दृष्टि डालने के व्यापार का वर्णन करके यह व्यक्त किया है कि उन्होंने अपनी पत्नी से पूछा कि विवाह के संबन्ध में तुम्हारी क्या राय है।

कालिदास जिस प्रकार मनोभावों का सुन्दर वर्णन करते हैं उसी प्रकार बाह्य जगत का भी। इनकी दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है। ये वर्ण्य पदार्थ की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषता को भी देख लेते हैं। वर्ण्य पदार्थ की विशेषताओं में कौन मुख्य और कौन गौण है, इसका विवेचन करने में इनकी बुद्धि बड़ी निपुण है। ये वर्ण्य पदार्थ की मुख्य-मुख्य विशेषताओं को चुनकर उन्हीं का वर्णन करते हैं। ये किसी पदार्थ का वर्णन करते समय क्रमसम्बन्धी औचित्य का ध्यान रखते हैं। जो बात पहले आनी चाहिये वह पहले ही आती है और जो बात अनन्तर आनी चाहिये वह अनन्तर ही आती है। कुमारसम्भव के पञ्चम सर्ग में पार्वती के सिर से नीचे बहने वाली वर्षा की बूंदों का वर्णन करते हुए ये कहते हैं—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥

भिन्न-भिन्न अङ्गों से टकराते हुए पानी की बूंदों के प्रवाह का कैसा स्वाभाविक वर्णन है। इस वर्णन की एक यह भी विशेषता है कि इसमें भिन्न-भिन्न अंगों पर गिरने पर पानी की बूंदों की अवस्था में जो परिवर्तन हुआ वह भी दिखलाया गया है। अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रथम अंक में तपोवन के पास की भूमि का वर्णन कराते हुए कालिदास ने राजा से कहलाया है—

नीवाराः शुककोटरार्भकमुखभ्रष्टास्तरूणामधः
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिस्यन्दरेखाङ्किताः॥

तपोवन के परिसर का कैसा सजीव चित्र है। जिस स्थान का वर्णन किया गया है, वहाँ के मुख्य-मुख्य पदार्थों का चुनाव और उनका क्रम ध्यान देने योग्य है।

संस्कृत के आचार्यों ने रीति तीन प्रकार की मानी है—गौडी, पाञ्चाली और वैदर्भी। गौडी रीति में बड़े-बड़े समास होते हैं। पाञ्चाली रीति में छोटे-छोटे समास होते हैं। वैदर्भी में समास प्रायः नहीं के बराबर होते हैं। काव्य के गुण तीन होते हैं—ओज, माधुर्य और प्रसाद। यद्यपि गुणों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रसों से है तथापि गौण रूप से इनका सम्बन्ध पदसंघटना से भी माना जा सकता है। कर्णकटु शब्दों का प्रयोग और दीर्घ समास ओज गुण को अभिव्यञ्जित करते हैं। सुनने में मीठे लगनेवाले शब्दों का प्रयोग और छोटे-छोटे समास माधुर्य को व्यक्त करते हैं। जहाँ प्रायः समास न हों और काव्य पढ़ते ही झट अर्थ समझ में आ जाय वहाँ प्रसाद गुण माना जाता है। गौडी रीति में ओज, पाञ्चाली में माधुर्य और वैदर्भी में प्रसाद गुण होता है। कालिदास वैदर्भी रीति के कवि हैं। इनकी कविता में प्रसाद गुण होता है। इनकी कविता का अर्थ झट समझ में आ जाता है। इनका भाषा पर पूर्ण अधिकार है। इनकी भाषा व्याकरण से परिष्कृत होती है। इनके वाक्यों में प्रायः एक स्पष्ट क्रियापद होता है। इनके शब्द चुने हुए होते हैं। ये किसी भी बात को घुमा फिरा कर कहने की अपेक्षा सीधे कह देना अधिक पसन्द करते हैं। ये थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ व्यक्त करते हैं। ये 'तु', हि, च, वा' का केवल पादपूर्त्यर्थ प्रयोग नहीं करते। ये जहाँ उनका प्रयोग करते हैं वहाँ वे सार्थक होते हैं।

कालिदास का छन्दःशास्त्र का ज्ञान भी प्रगाढ़ है। इन्होंने प्रायः सभी मुख्य-मुख्य छन्दों का प्रयोग अपने काव्यों में किया है। ये एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग करते हैं। सर्ग के अन्त में छन्द बदल देते हैं। इन्होंने मेघदूत तो केवल मन्दाक्रान्ता में ही लिखा है।

कालिदास वैदिक धर्म के अनुयायी हैं। इनका वर्णाश्रमव्यवस्था में अटल विश्वास है। ये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चार पुरुषार्थों को मानते हैं। मोक्ष परम पुरुषार्थ है। धर्मादि त्रिवर्ग में धर्म सबसे बड़ा है। धर्माविरोधी अर्थ और काम का सेवन इन्हें इष्ट है। ये संसार को त्याग और तपस्या की शिक्षा देते हैं। इनकी दृष्टि में नगरों के जीवन की अपेक्षा तपोवन का जीवन श्रेष्ठ है। ये शिवजी के उपासक हैं। इन्होंने अपने मंगलाचरणों में शिवजी का ध्यान किया है। ये व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व देते हैं। ये प्रत्येक व्यक्ति को अपने सारे कार्य लोकहित को ध्यान में रखकर करने की सलाह देते हैं। ये परमात्मा से जहां तहां विश्व के कल्याण की कामना करते हैं। इस सम्बन्ध में इनके नाटकों के भरतवाक्य ध्यान देने योग्य हैं। ये आशावादी हैं, निराशावादी नहीं। यद्यपि ये मरण को प्रकृति और जीवन को विकृति मानते हैं, तथापि छोटा सा जीवन जो मनुष्य को मिलता है वह इनके मत में उसका एक बड़ा भारी लाभ है।

काव्य के भेद

काव्य दो प्रकार के होते हैं–दृश्य और श्रव्य। पुनः दृश्य काव्य दो प्रकार के होते हैं— रूपक और उपरूपक। रूपक दस प्रकार के माने गये हैं-नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अङ्क और ईहामृग। उपरूपक अठारह प्रकार के होते हैं–नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण, रासक, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश और भाणिका। श्रव्य काव्य तीन प्रकार के होते हैं— पद्यकाव्य, गद्यकाव्य और गद्यपद्यमय काव्य। महाकाव्य, खण्डकाव्य, कुलक, कलापक, संदानितक, युग्मक और मुक्तक—ये पद्य-काव्य के भेद हैं। कथा और आख्यायिका—ये गद्य-काव्य के भेद हैं। गद्यपद्यात्मक काव्य को चम्पू कहते हैं।

महाकाव्य के लक्षण

महाकाव्य सर्गों में विभक्त होता है। इसमें आठ से अधिक सर्ग होते हैं। इसका नेता कोई महापुरुष होता है। वह प्रायः किसी उच्च वंश का क्षत्रिय होता है वह स्वभाव से धीरोदात्त पुरुष होता है। कभी कभी एक ही वंश के अनेक पुरुष नायक होते हैं। शृङ्गार, वीर और शान्त में से कोई एक रस मुख्य होता है। मुख्य रस के अङ्गों के रूप में अन्य रसों का भी प्रयोग होता है। महाकाव्यों में नाटकों की पांचों सन्धियां होती हैं। कथावस्तु प्रायः इतिहासों से ली जाती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, चारों पुरुषार्थों का अथवा इनमें से एक का वर्णन लक्ष्य होता है। आरम्भ में मङ्गल किया जाता है। वह नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक होता है। मङ्गल के बाद कभी-कभी दुष्टों की निन्दा और

शिष्टों का गुणानुवाद किया जाता है। एक सर्ग एक ही छन्द में लिखा जाता है। सर्ग के अन्त में छन्द बदल दिया जाता है। कभी-कभी एक ही सर्ग में अनेक छन्दों का भी प्रयोग किया जाता है। इनमें प्रभात, सूर्य, चन्द्र, निशा, सायंकाल दिवस, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, मिलन, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, आकाश, युद्ध, आक्रमण, विवाह, राजसभा और पुत्रोत्सव आदि का वर्णन किया जाता है। महाकाव्य का नाम कवि, नायक अथवा किसी मुख्य घटना के नाम पर दिया जाता है। सर्गों का नाम उनमें वर्णित वस्तु के नाम पर दिया जाता है।

कुमारसम्भव

कुमारसम्भव एक महाकाव्य है। यह सत्रह सर्गों में विभक्त है। इसमें शंकर और पार्वती के विवाह का तथा कार्तिकेय के जन्म का वर्णन है। विद्वानों का मत है कि कवि ने इसे रघुवंश की रचना करने के पहले बनाया था। कार्तिकेय (कुमार) के जन्म की घटना पर इसका नाम कुमारसम्भव रखा गया है।

भाषा, कल्पना और अर्थसौन्दर्य का सूक्ष्म अध्ययन करके विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस काव्य के प्रथम आठ सर्ग ही कालिदास के रचे हुए हैं। शेष सर्ग किसी अन्य कवि ने बनाकर जोड़ दिये हैं। पठन-पाठन में प्रायः प्रथम सात सर्ग ही आते हैं। कुछ विद्वान् अष्टम सर्ग को भी कालिदास की कृति नहीं मानते। परन्तु डा० कीथ का मत है कि अष्टम सर्ग कालिदास का बनाया हुआ है। पूज्यपाद पं० बलदेव उपाध्याय जी का भी यह मत है, क्योंकि मल्लिनाथ की टीका-इन्हीं सर्गों पर मिलती है। अलङ्कारग्रन्थों के उदाहरणरूप में इन्हीं सर्गों से श्लोक उद्धृत किये गये हैं। भाषा तथा कल्पना-सौन्दर्य की दृष्टिसे भी अष्टम सर्ग कालिदास का ही रचा हुआ प्रतीत होता है। डा० जेकोबी का मत है कि नवम सर्ग से सत्रहवें सर्ग तक की रचना महाराष्ट्र देश के किसी कवि ने की है। कालिदास का यह ग्रन्थ अधूरा ही क्यों रह गया? यह कहना कठिन है। संभव है किसी समय इस ग्रन्थ की एक ही प्रति रह गई हो और वह भी खण्डित। उसी खण्डित प्रति पर से अन्य प्रतियाँ उतारी गई हों। पश्चात् किसी कवि ने आगे के सर्गों की रचना करके ग्रन्थ पूरा कर दिया हो। इस विषय में दूसरी कल्पना यह होती है कि कदाचित् अष्टम सर्ग में वर्णित शिव और पार्वती के संभोग की कालिदास के समय के समीक्षकों ने कड़ी आलोचना की हो। उससे घबड़ाकर कालिदास ने आगे के सर्गों की रचना छोड़ दी हो। जो कुछ भी हो, यह तो नहीं कहा जा सकता कि अष्टम सर्ग तक पहुँचते पहुँचते ही कालिदास का देहावसान हो गया, क्योंकि भाषा और भाव की दृष्टि से रघुवंश, कुमारसम्भव के बाद का ग्रन्थ प्रतीत होता है।

कुमारसम्भव की कथा

प्रथम सर्ग का आरम्भ हिमाचल के वर्णन से होता है। हिमाचल और मेना से पार्वती का जन्म होता है। पार्वती के बड़ी होने पर एक दिन नारदजी हिमाचल के घर आते हैं। वे पार्वती को देखकर कहते हैं कि यह एक दिन शिवजी की पत्नी होगी। शिवजी हिमाचल पर तप करते हैं। पार्वती उनकी शुश्रूषा करती हैं। द्वितीय सर्ग में तारकासुर से पीड़ित होकर सब देवता ब्रह्माजी के पास जाते हैं। वे उन्हें पार्वती के द्वारा शंकरजी के मन को आकर्षित करने की सलाह देते हैं। इन्द्र कामदेव से सहायता लेने के लिये उनको पास बुलाते हैं तृतीय सर्ग में मदन-दहन और चतुर्थ में रति-विलाप का वर्णन है। पञ्चम सर्ग में पार्वती पिता की आज्ञा से तप करने जाती हैं। शंकरजी ब्रह्मचारी के वेष में उनकी परीक्षा लेने आते हैं। वे शिवजी की निन्दा करते हैं। पार्वती क्रुद्ध होकर वहाँ से जाना चाहती हैं। शंकरजी प्रसन्न होकर अपने असली रूप में प्रकट होते हैं और अपना प्रणय व्यक्त करते हैं। षष्ठ सर्ग में अङ्गिरा-प्रभृति ऋषि शंकरजी की ओर से मँगनी करने के लिये हिमाचल के पास जाते हैं। सप्तम सर्ग में पार्वती का विवाह होता है तथा अष्टम सर्ग में शंकरजी और पार्वती के सुरत का वर्णन है।

वस्तुवर्णन की दृष्टि से कुमारसंभव एक उच्च कोटिका काव्य है। काव्य का आरम्भ हिमवद्वर्णन से होता है। इसमें हिमाचल का जो वर्णन किया गया है उसे पढ़कर यह कहना पड़ता है कि कवि ने हिमाचल को अवश्य देखा होगा। हिम, धातुमत्ता, निरन्तर होनेवाली वृष्टि और पवन से शब्दायमान बाँस तो मोटी बातें हैं परन्तु सरल वृक्षों के रस की सुगन्ध भी उनकी दृष्टि से नहीं बच पाई। उसका वर्णन वे करते हुए कहते हैं।

कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टिताना सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति॥

हाथी अपनी खुजली मिटाने के लिये सरल वृक्षों पर अपना शरीर रगड़ते हैं। उससे उनकी खाल उखड़ जाती है। उसमें से एक प्रकार का रस निकलता है। उसकी सुगन्ध से हिमाचल के शिखर सुगन्धित हो जाते हैं। वहाँ बहने वाले पवन का वर्णन लीजिये—

भागीरथीनिर्झरशीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः॥

पवन भागीरथी के निर्झर के शीकरों को उड़ा ले जाता है। अतः उसमें ठंडक

है। वह देवदारु वृक्षों के संपर्क में आता है अतः उसमें सुगन्ध है। वह मोरों के पंखों को खिला देता है। यह उसकी धीमी गति की सूचना देता है। इस प्रकार वहाँ का पवन शीतल, मन्द और सुगन्धयुक्त है। आगे शङ्कर जी के नन्दी का वर्णन देखिये--

> तुषारसंघातशिताः खुराग्रैः समुल्लिखन् दर्पकलः ककुद्मान्।
> दृष्टः कथञ्चिद् गवयैर्विविग्नैरसोढसिहध्वनिरुन्ननाद ॥

बल के घमंड में चूर शङ्करजी का नन्दी खुरों से बरफ की चट्टानें पीट रहा है। भयभीत गवय सशंक दृष्टि से उसकी तरफ देख रहे हैं। सिंह की गर्जना सुनकर वह भी डकार रहा है। कैसा स्वाभाविक वर्णन है। इस वर्णन को पढ़कर काशी की सड़कों पर घूमनेवाले मस्त साड़ों का चित्र आँखों के सामने आ जाता है। पञ्चम सर्ग में पार्वती के सिर से बहने वाली पानी की बूँदों का वर्णन बड़ा मनोहर है—

> स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
> वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥

पानी की बूँदे क्षणभर आँखों की बरौनियों पर रुकती हैं। वहाँ से वे ओठ पर टकराती हैं। ओठ पर से बह कर उन्नत पयोधरों पर गिरती हैं और चूर-चूर हो जाती हैं। वहाँ से खिसक कर उनके कण त्रिवली में लड़खड़ाते हुए नाभि में पहुँचते हैं। यह वर्णन कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देता है।

कुमारसम्भव में मनःस्थिति के भी कई सुन्दर चित्र मिलते हैं। पञ्चम सर्ग के अन्त में जब शङ्करजी पार्वती के सामने प्रकट होते हैं उस समय की पार्वती की मनःस्थिति का वर्णन बड़ा सुन्दर है--

> तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
> मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥

शङ्करजी को देखकर पार्वती लज्जा से काँपने लगीं। उनका शरीर पसीने से तर हो गया। वहाँ से जाने के लिये उठाया हुआ पैर ऊपर ही रह गया। मार्ग में आए हुए पर्वत के कारण आकुलित नदी की तरह पार्वती न आगे बढ़ सकीं न वहीं ठहर सकीं। इसके आगे का पद्य भी मनोरथ पूर्ण होने पर मनुष्य की मनःस्थिति कैसी होती है इस पर प्रकाश डालता है—

> अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
> क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
> अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
> क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥

शङ्करजी ने कहा––हे अवनताङ्गि, आज से मैं तुम्हारे तप से खरीदा हुआ दास हूँ। इतना सुनते ही पार्वती का तपोजन्य सारा कष्ट दूर हो गया। फलसिद्धि से मनुष्य सारा कष्ट भूल जाता है। उसका उत्साह ताजा हो जाता है।

कुमारसम्भव काव्य में कवि की कल्पना की उड़ान के भी अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। प्रथम सर्ग में हिमाचल का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं––

वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥

हिमाचल पर रात के समय जब बनेचर अपनी प्रियतमाओं के साथ विहार करते हैं उस समय वहाँ गुफाओं में चमकनेवाली ओषधियाँ बिना तेल के सुरत-प्रदीपों का काम करती हैं। इसी प्रकरण में आगे चलकर गुहा–द्वारों पर लटकने वाले बादलों को परदे के रूप में माना गया है—

यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किम्पुरुषाङ्गनानाम्।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति॥

हिमाचल पर सुरत के समय प्रियतमकृत वस्त्रापहार के कारण लजाई हुई किन्नरियों के लिये गुहा-द्वार पर स्वाभाविकतया लटकनेवाले बादल परदे का काम करते हैं।

कुमारसम्भव वैदर्भी रीति का काव्य है। इसमें प्रसाद गुण है। अर्थालङ्कारों में उपमा, उत्प्रेक्षा तथा अर्थान्तरन्यास विशेष रूप से मिलते हैं। अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों को लाने के लिये प्रयत्न नहीं किया गया है। इस काव्य की भाषा परिष्कृत और मुहावरेदार है। प्रायः चलते हुए शब्दों का प्रयोग किया गया है। अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग करके पाण्डित्य दिखलाने की चेष्टा नहीं की गई है। छन्दों का चुनाव भी अर्थ के अनुरूप है। यदि इस काव्य को आठ सर्ग तक ही कालिदास का माना जाय तो इसमें श्रृङ्गार अङ्गी रस होगा। तपस्या द्वारा पार्वती की मनोरथ-सिद्धि का वर्णन करके कवि ने तपोवन और तपस्या में अपना विश्वास प्रकट किया है। धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग में कवि ने धर्म को श्रेष्ठ बतलाया है। संसार को कष्ट देने वाले तारकासुर का नाश करने के लिये देवताओं का प्रयत्न करना तथा कार्तिकेय का जन्म विश्वमङ्गल की कामना व्यक्त करते हैं।

* * *

॥ श्रीः ॥

कुमारसम्भवम्

सान्वय 'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमः सर्गः

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य, स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥ १ ॥

अन्वयः—उत्तरस्यां दिशि हिमालयो नाम नगाधिराजः पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य पृथिव्याः मानदण्डः इव स्थितोऽस्ति ॥ १ ॥

सञ्जीवनी—अस्तीति । उत्तरस्यां दिशि । अनेनास्य देवभूमित्वं सूच्यते । देवतात्माधिष्ठाता यस्य सः । एतेनास्य वक्ष्यमाणमेंनकापरिणयपार्वतीजननादिचेतनव्यवहारयोग्यत्वसिद्धिः । हिमस्यालयः स्थानमिति हिमालयो नाम हिमालय इति प्रसिद्धः । अधिको राजा-धिराजः । राजाहःसखिभ्यष्टच् । न गच्छन्तीति नगा अचलास्तेषामधिराजो नगाधिराजोऽस्ति । कथंभूतः । पूर्वापरौ प्राच्यपश्चिमौ तोयनिधी समुद्रौ वगाह्य प्रविश्य । अत एव पृथिव्या भूमेर्मानं हस्तादिना परिच्छेदः । भावे ल्युट् । तस्य दण्डः । यद्वा मीयतेऽनेनेति मानम् । स चासौ दण्डश्च स इव स्थितः । आयामपरिच्छेदकदण्ड इव स्थित इत्यर्थः । पूर्वापरसागरावगाहित्वं चास्य हिमालस्यास्त्येव । उक्तं च ब्रह्माण्डपुराणे—'कैलासो हिमवांश्चैव दक्षिणे वर्षपर्वतौ । पूर्वपश्चिमगावेतावर्णवान्तरुपस्थितौ । अत्र हिमालयस्योभयाब्धिव्याप्तिसाम्यान्मानदण्डत्वेनोत्प्रेक्षालङ्कारः । 'प्रकृतेऽप्रकृतगुणक्रियादिसम्बन्धादप्रकृतत्वेन प्रकृतस्य सम्भावनमुत्प्रेक्षा' इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः । अस्मिन्सर्गे प्रायेण वृत्तमुपजातिः । क्वचिदिन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रे च । तल्लक्षणं तु—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः' । 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ' । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति ॥ १ ॥

भारतवर्ष की उत्तर दिशा में देवतास्वरूप पर्वतों का राजा हिमालय पूर्व और पश्चिम समुद्रों में प्रविष्ट होकर पृथ्वी के मानदण्ड की तरह स्थित है ॥ १ ॥

यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं, मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च, पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥ २ ॥

अन्वयः—सर्वशैलाः यं वत्सं परिकल्प्य दोहदक्षे मेरौ दोग्धरि स्थिते (सति) भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां धरित्रीं दुदुहुः ॥ २ ॥

सञ्जी०—यमिति । सर्वे च ते शैलाश्च सर्वशैलाः । 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इति समासः । यं हिमालयं वत्सं परिकल्प्य विधाय दोहदक्षे दोहनसमर्थे मेरौ दोग्धरि स्थिते सति । 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी । पृथूपदिष्टां पृथुना वैन्येनोपदिष्टामीदृक्तया प्रदर्शितां धरित्रीम् । गोरूपधरामिति शेषः । 'गौर्भूप्वा तु वसुंधरा' इति विष्णुपुराणात् । 'अकथितं च' इति कर्मत्वम् । भास्वन्ति च भास्वत्यश्च भास्वन्ति द्युतिमन्ति । ओषधिविशेषणं चैतत् । 'नपुंसकमनपुंसकेन—' इत्यादिना नपुंसकैकशेषः । रत्नानि मणीञ्जातिश्रेष्ठवस्तूनि च । 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः । 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमिति कथ्यते' इति यादवः । महौषधीश्च सञ्जीविनी प्रभृतीश्च क्षीरत्वेन परिणता इति शेषः । 'ताः क्षीरपरिणामिनीः' इति विष्णुपुराणात् । दुदुहुः । 'दुहियाचि—' इत्यादिनाद्विकर्मकत्वम् । अत्र प्रयोजकत्वेऽपि शैलानां पञ्चभिर्हलैः कर्षति ग्रामं ग्रामणीः' इतिवत्तत्समर्थाचरणात्कर्तृत्वेन व्यपदेशः । दुहेः स्वरितेत्त्वेऽप्यकर्त्रभिप्रायविवक्षायां परस्मैपदम् । अत्रार्थे प्रमाणम्—गौर्भूमिरचलाः सर्वे कर्तारोऽत्र पयांसि च । ओषध्यश्चैव भास्वन्ति रत्नानि विविधानि च ॥ वत्सश्च हिमवानासीद्दोग्धा मेरुर्महागिरिः ॥' इति । एतेन वत्सस्य मातुः प्रेमास्पदत्वादस्य सारग्राहित्वं गम्यते । तथा चास्य नगस्य रत्नविशेषभोक्तृत्वान्नगाधिराजत्वं युक्तमिति भावः । अत्र हिमवद्वर्णनस्य प्रकृतत्वात्तद्गतौषधिरत्नानां द्वयानामपि प्रकृतत्त्वात्तेषांदोहनक्रियारूपसमानधर्मसम्बन्धादौपम्यस्य गम्यत्वात्केवलप्राकरणिकविषयस्तुल्ययोगिता नामालङ्कारः । तदुक्तम्—'प्रस्तुतानां तथान्येषां केवलं तुल्यधर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥' न चात्र रूपकपरिणामाद्यलङ्कारशङ्का कार्या तेषामारोपहेतुत्वात् । हिमहेमाचलादिषु वत्सत्वदोग्धृत्वादीनामागमसिद्धत्वेनानारोप्यमाणत्वादिति ॥ २ ॥

सभी पर्वतों ने इसी हिमालय को बछड़ा और दोहन क्रिया में निपुण सुमेरु पर्वत को दूहने वाला बनाकर राजा पृथु द्वारा प्रदर्शित पृथ्वी रूपी गाय से

चमकीली मणियों और औषधियों का दोहन किया था ॥ २ ॥

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य, हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ॥ ३ ॥

अन्वयः—अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं सौभाग्यविलोपि न जातम्, हि एको दोषो गुणसन्निपाते इन्दोः अङ्क इव निमज्जति ॥ ३ ॥

सञ्जी०—अनन्तेति । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । अनन्तानामपरिमितानां रत्नानां श्रेष्ठवस्तूनां प्रभवस्य यस्य हिमाद्रेर्हिमम् । कर्तृ । सुभगस्यभावः सौभाग्यम् । 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः । तद्विलुम्पतीति सौभाग्यविलोपि सौन्दर्यविघातकं न जातं नाभूत् । तथाहि । एकोदोषो गुणसन्निपाते इन्दोः किरणेष्वङ्क इव निमज्जति । अन्तर्लीयत इत्यर्थः । नहि स्वल्पो दोषोऽमितगुणाभिभावक एव किन्तु कश्चिदिन्दुकलङ्कादिवद्गुणैरभिभूयते । अन्यथा सर्वरम्यवस्तुहानिप्रसङ्गादिति भावः । अत्रोपमानुप्राणितोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः । तल्लक्षणं तु—'ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किञ्चन । तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ॥' इति दण्डी ॥ ३ ॥

असङ्ख्य रत्नों के उत्पन्न करने वाले इस हिमालय का सौन्दर्य नष्ट करने में उसी पर स्थिति हिम समर्थ न हो सका क्योंकि एक दोष गुणों के समुदाय में चन्द्रमा की किरणों में कलङ्क की तरह लीन (अदृष्ट) हो जाता है ॥ ३ ॥

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां, सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्त्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—यः च अप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं बलाहकच्छेदविभक्तरागां धातुमत्ताम् अकालसन्ध्यामिव शिखरैर्बिभर्ति ॥ ४ ॥

सञ्जी०—यश्चेति । किञ्चेति चकारार्थः । यो हिमाद्रिरप्सरसां विभ्रममण्डनानि विलासालङ्करणानि । अथवा विभ्रमो विपरीतन्यासः । 'विभ्रमस्त्वरयाकालेभूषास्थानविपर्यये' इति दशरूपकात् । तेन मण्डनानि तेषां संपादयित्रीम् । एतद्धातुरागदर्शिन्योऽप्सरसः संन्ध्याभ्रमेण प्रसाधनाय त्वरयन्त इति भावः । तथात्वे भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी । वारीणां वाहका बलाहकाः पृषोदरादित्वात्साधुः । तेषां छेदेषु खण्डेषु विभक्तः संक्रमितो रागो यया ताम् । एतेनाद्रेरभ्रंकषत्वं गम्यते । इदं विशेषणद्वयं संध्यायामपि योज्यम् । धातवः सिन्दूरगैरिकादयोऽस्य सन्तीति धातुमान् । नित्ययोगे मतुप् । तस्य भावो धातुमत्ता ताम् । धातुयोगित्वमिति सम्बन्धोऽपि वाच्यार्थः । 'समा-

सक्त्तद्धितेषु सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेन' इति वचनात् लक्षणया नित्यानुषङ्गिकधातुमित्यर्थः। अकालसन्ध्यामिवानियतकालप्राप्तसंध्यामिव शिखरैर्बिभर्ति धत्ते। अत्र सन्ध्याशब्दस्य जातिवाचित्वाज्जात्युत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥

जो हिमालय अप्सराओं के विलास-प्रसाधनों का सम्पादन करने वाली तथा मेघ के टुकड़ों में अपने रंगों का संक्रमण करने वाली धातुमत्ता (सिंदूर गैरिक आदि धातु सम्पदा) को असमय में प्राप्त सन्ध्या की तरह अपने शिखरों पर धारण करता है'। ४ ॥

आमेखलं सञ्चरतां घनानां, छायामधःसानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते, शृङ्गाणि यस्यातपवन्ति सिद्धाः ॥ ५ ॥

अन्वयः—सिद्धाः आमेखलं सञ्चरतां घनानामधः सानुगतां छायां निषेव्य वृष्टिभिः उद्वेजिताः (सन्तः) यस्य आतपवन्ति शृङ्गाणि आश्रयन्ते ॥ ५ ॥

सञ्जी०—आमेखलमिति। सिद्धा अणिमादिसिद्धा देवयोनिविशेषाश्च। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतो अमी देवयोनयः' इत्यमरः। आमेखलाभ्य आमेखलं नितम्बपर्यन्तम्। मेखला खड्गबन्धे स्यात्काञ्चीशैलनितम्बयोः' इति विश्वः। 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः। संचरतां घनानां मेघानामधः सानूनि मेघमण्डलादधस्तटानि गतां प्राप्ताम्। द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' इति समासः। छायामनातपम्। 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः। निषेव्य वृष्टिभिरुद्वेजिताः। क्लेशिताः सन्तः। 'उद्वेगस्तिमिते क्लेशे भये मन्थरगामिनि' इति शब्दार्णवः। यस्य हिमाद्रेरातपवन्ति सातपानि शृङ्गाण्याश्रयन्ते। आश्रित्य स्थिता इत्यर्थः। अतिमेघमण्डलमस्यौन्नत्यमिति भावः ॥ ५ ॥

(हिमालय के ऊपरी शिखरों पर रहने वाले विश्वावसु प्रभृति) सिद्ध लोग (पहिले धूप की कड़ी गर्मी के कारण कुछ देर के लिए) शिखर के मध्य भाग में छाए हुए बादलों के नीचे शिलाओं पर पड़ने वाली छाया का सेवन करते किन्तु फिर मेघ की वृष्टि से व्याकुल होकर घाम वाले ऊपरी शिखरों पर ही चले जाते हैं ॥ ५ ॥

पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तं, यस्मिन्नदृष्ट्वाऽपि हतद्विपानाम्।
विदन्ति मार्गं नखरन्ध्रमुक्तैर्मुक्ताफलैः केसरिणां किराताः ॥ ६ ॥

अन्वयः—यस्मिन्किराताः तुषारस्रुतिधौतरक्तं हतद्विपानां केसरिणां पदम् अदृष्ट्वाऽपि नखरन्ध्रमुक्तैः मुक्ताफलैः मार्गं विदन्ति ॥ ६ ॥

सञ्जी०—पदमिति । यस्मिन्नद्रौ किरातास्तुषारस्रुतिभिर्हिमनिस्यन्दैर्धौतं क्षालितं रक्तं शोणितं यस्य तत्तथोक्तम् । अतो दुर्ग्रहमिति भावः । हता द्विपा गजा यैस्तेषां हतद्विपानां केसरिणां सिंहानां पदं पादप्रक्षेपस्थानमदृष्ट्वापि नखरन्ध्रैर्नखद्रोणिभिर्मुक्तैर्मुक्ताफलैर्मार्गं विदन्ति जानन्ति । अत्र व्याधाः सिंहघातिनो गजेन्द्राश्च मुक्ताकरा इति भावः । 'करीन्द्र जीमूतवराहशङ्खमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि । मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि' ॥ ६ ॥

जिस हिमालय पर बर्फ के पिघलने से धुल जाने के कारण हाथियों को मारने वाले सिंहों के रक्त से सने पैरों के चिह्नों को न देख कर भी किरात लोग उनके पंजों के छेदों से गिरे हुए गजमोतियों को देखकर उनके जाने के मार्ग का ज्ञान कर लेते हैं ।

न्यस्ताक्षरा धातुरसेन यत्र, भूर्जत्वचः कुञ्जरबिन्दुशोणाः ।
व्रजन्ति विद्याधरसुन्दरीणामनङ्गलेखक्रिययोपयोगम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—यत्र धातुरसेन न्यस्ताक्षराः कुञ्जरबिन्दुशोणाः भूर्जत्वचः विद्याधरसुन्दरीणाम् अनङ्गलेखक्रियया उपयोगं व्रजन्ति ॥ ७ ॥

सञ्जी०—न्यस्ताक्षरेति । यत्र हिमाद्रौ धातुरसेन सिन्दूरादिद्रवेण 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः । न्यस्ताक्षरा लिखितवर्णा अत एव कुञ्जरस्य ये बिन्दवः काये वयोविशेषभाविनः पद्मकाख्याः । 'पद्मकं बिन्दुजालकम्' इत्यमरः । त इव शोणा रक्तवर्णाः । लिखितभागेष्विति शेषः । भूर्जत्वचो भूर्जपत्रवल्कलानि । भूर्जपत्रो भुजो भूर्जो मृदुत्वक्चर्मिका अपि' इति यादवः । विद्याधर सुन्दरीणां । लिख्यन्ते येषु ते लेखाः पत्रिकाः । अनङ्गस्य लेखास्तेषां क्रियया । कामव्यञ्जक लेखकरणेनेत्यर्थः । उपयोगमुपकारं व्रजन्ति । दिव्याङ्गनाविहारयोग्योऽयं शैल इति भावः ॥ ७ ॥

जिस हिमालय पर सिन्दूरादि धातुओं के रस से लिखे जाने के कारण हाथी की सूड़ पर बने लाल-लाल बिन्दुओं जैसे अक्षरों वाले भोजपत्र विद्याधरों की स्त्रियों द्वारा प्रेमपत्र लिखने के काम में लाए जाते हैं ॥ ७ ॥

यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन ।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—यः दरीमुखोत्थेन समीरणेन कीचकरन्ध्रभागान् पूरयन् उद्गास्यतां किन्नराणां तानप्रदायित्वम् उपगन्तुम् इच्छति इव ॥ ८ ॥

सञ्जी०—य इति । यो हिमाद्रिः दरी गुहा सैव मुखं तस्मादुत्थेनोत्पन्नेन । 'आतश्चोपसर्गे' इति क प्रत्ययः । समीरणेन वायुना कीचका वेणुविशेषाः । वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः इत्यमरः । तेषां रन्ध्रभागाञ्छिद्रप्रदेशान्पूरयन्वमयन् । वांशिकोऽपि वंशरन्ध्राणि मुखमारुतेन पूरयतीति प्रसिद्धिः । उद्गास्यतां देवयोनित्वादुच्चैर्गान्धारग्रामेण गानं करिष्यताम् । उक्तं च नारदेन—'षड्जमध्यमनामानौ ग्रामौ गायन्ति मानवाः । न तु गान्धारनामानं स लभ्यो देवयोनिभिः ।' इति किन्नराणां देवगायकानां तानप्रदायित्वम् । तानो नाम स्वरान्तरप्रवर्तको रागस्थितिप्रवृत्यादिहेतुरंशापरनामा वंशवाद्यसाध्यः प्रधानभूतः स्वरविशेषः 'तानस्त्वंशस्वरो मतः' इत्यभिनवगुप्तः । 'गाता यं यं स्वरं गच्छेत्तं तं वंशेन तानयेत्' इति भरतः । तत्प्रदानशीलत्वं तानप्रदायित्वं वांशिकत्वमुपगन्तुमिच्छतीवेत्युत्प्रेक्षा । सा च दरीमुखोत्थेनेत्येकदेशविवर्तिरूपकोज्जीविता । मुखसाध्यत्वत्तानप्रदायित्वस्य । यत्रावयवरूपणादवयविरूपणं गम्यते तदेकदेशविवर्ति रूपकम् । गम्यते चात्रावयविनः पुंसो रूपणं यच्छब्दनिर्दिष्टे हिमाद्रावित्यलं वहुना: ॥८॥

जो हिमालय गुफा रूपी मुख की वायु से बाँसों के छिन्द्रों को भरता हुआ (उससे मधुर ध्वनि उत्पन्न करता हुआ) ऐसा प्रतीत होता है मानो गाने वाले किन्नरों को तान देने की इच्छा कर रहा हो ॥ ८ ॥

कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं, विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूतः, सानूनि गन्धः सुरभीकरोति ॥ ९ ॥

अन्वयः—यत्र करिभिः कपोलकण्डूः विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणा स्रुतक्षीरतया प्रसूतो गन्धः सुरभीकरोति ॥ ९ ॥

सञ्जी०—कपोलेति । यत्र हिमाद्रौ करिभिर्गजैः । कपोलकण्डूर्गण्डस्थलकण्डूर्विनेतुमपनेतुं विघट्टितानां घर्षितानां सरलद्रुमाणां सम्बन्धीनि स्नुतानि करिकपोलघर्षणात्क्षरितानि क्षीराणि येषां भावस्तत्ता तया हेतुना प्रसूत उत्पन्नो गन्धःसानूनि सुरमीकरोति । एतेनास्य गजाकरत्वं गम्यते तथा च गजायुर्वेदे—'हिमवद्विन्ध्यमलया गजानां प्रभवा नगाः' इति ॥ ९ ॥

जिस हिमालय पर्वत पर हाथियों द्वारा गण्डस्थल की खुजली मिटाने के लिए रगड़े गए देवदारु वृक्षों के दूध चूने से पैदा हुई गन्ध शिलाओं को सुगंधित बना देती है ॥ ९ ॥

वनेचराणां वनितासखानां, दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः ।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥ १० ॥

अन्वयः—यत्र रजन्यां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः ओषधयः वनितासखानां वनेचराणाम् अतैलपूराः सुरतप्रदीपाः भवन्ति ॥ १० ॥

सञ्जी०—वनेचराणामिति । यत्र हिमाद्रौ रजन्यां दर्यः कन्दरा एव गृहास्तेषामुत्सङ्गेस्वभ्यन्तरेषु निषक्ताः संक्रान्ता भासो यासां ता ओषधयस्तृणज्योतींषि । 'अग्नावोषधीषु च तेजो निधाय रविरस्तं याति' इत्यागमः । वनितानां सखायो वनितासखाः । 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' तेषाम् । रममाणानामित्यर्थः । वने चरन्तीति वनेचराः किराताः । 'चरेष्टः' इति टप्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक् । तेषां वनेचराणाम् । अतैलपूराः । अनपेक्षिततैलसेका इत्यर्थः । सुरते सुरतकर्मणि प्रदीपा भवन्ति । अत्रौषधीष्वारोप्यमाणस्य प्रदीपत्वस्य प्रकृतसुरतोपयोगित्वात्परिणामालङ्कारः । तदुक्तम्—'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति । तथा प्रदीपकारणतैलपूरणनिषेधादकारणकार्योत्पत्तिलक्षणा विभावना चेत्युभयोः संसृष्टिः ॥१०॥

जिस हिमालय पर्वत पर रात में गुफा रूपी गृह में चमकने वाले ज्वालामुखी नामक तृण विशेष वहाँ के वनेचर-मिथुनों (बनेचर स्त्री पुरुषों) के संभोग-काल में बिना तेल के दीपक बन जाते हैं ॥ १० ॥

उद्वेजयत्यङ्गुलिपार्ष्णिभागान्, मार्गे शिलीभूतहिमेऽपि यत्र ।
न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्त्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥ ११ ॥

अन्वयः—यत्र शिलीभूतहिमे अङ्गुलिपार्ष्णिभागान् उद्वेजयति अपि मार्गे श्रोणिपयोधरार्त्ता अश्वमुख्यः मन्दां गतिं न भिन्दन्ति ॥ ११ ॥

सञ्जी०—उद्वेजयतीति ॥ यत्र हिमाद्रौ । शिलीभूतं घनीभूतं हिमं यत्र तस्मिन् । अत एवाङ्गुलीनां पार्ष्णीनां च भागान्प्रदेशानुद्वेजयत्यतिक्लेशयत्यपि मार्गे । श्रोणयश्च पयोधराश्च श्रोणिपयोधरम् । दुर्वहेण श्रोणिपयोधरेणार्ताः पीडिताः । आङ्पूर्वादृच्छतेः क्तः । 'उपसर्गादृति धातौ' इति वृद्धिः । अश्वानां मुखानीव मुखानि यासां ता अश्वमुख्यः किन्नरस्त्रियः । उष्ट्रमुखवत्समासः । 'स्यात्किन्नरः किम्पुरुषस्तुरङ्गवदनो मयुः' ॥ इत्यमरः । मन्दां मन्थरां गतिं न भिन्दन्ति । न त्यजन्तीत्यर्थः । पादपीडाकरेऽप्यतिभारभङ्गुरशरीरतया न शीघ्रं गन्तुं शक्यत इति भावः ॥११॥

जिस हिमालय पर पत्थर की चट्टान जैसे कड़े हिम युक्त मार्ग में चलती

हुई किन्नरों की स्त्रियाँ हिम की शीतलता के कारण अङ्गुलि और एँड़ियों में कष्ट पाने पर भी नितम्ब तथा स्तनों के भार से अपनी स्वाभाविक मन्द गति को नहीं छोड़ पाती हैं ॥ ११ ॥

दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवाऽन्धकारम् ।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव ॥ १२ ॥

अन्वयः—यः दिवाभीतमिव गुहासु लीनम् अन्धकारं दिवाकरात् रक्षति, उच्चैः शिरसां शरणं प्रपन्ने क्षुद्रेऽपि सति इव नूनं ममत्वम् ॥ १२ ॥

सञ्जी०—दिवाकरादिति ॥ यो हिमाद्रिर्दिवा दिवसे भीतं भयाविष्टमिव । उलूकमिवेति च ध्वनिः । गुहाषु लीनमन्धकारं ध्वान्तम् । दिवा दिनं करोतीति दिवाकरस्तस्माद्दिवाकरात् । 'दिवाविभानिशाप्रभाभास्कर'— इत्यादिना टप्रत्ययः । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । रक्षति त्रायते । ननु क्षुद्रसंरक्षणमनर्हमित्याशङ्क्याह—क्षुद्र इति । उच्चैः शिरसामुन्नतानां शरणं प्रपन्ने शरणागते क्षुद्रे नीचेऽपि सति सज्जन इव नूनं ममत्वं ममायमित्यभिमानः । अस्तीति शेषः । ममशब्दात्त्वप्रत्ययः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥१२॥

जो हिमालय दिन में भीत उल्लू पक्षी की तरह गुफाओं में छिपे हुए अन्धकार की भी सूर्य से इसलिए रक्षा करता है कि बड़े लोगों में अपनी शरण में आए हुए नीच जनों के प्रति भी सज्जनोचित ममता हो ही जाती है ॥ १२ ॥

लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैरितस्ततश्चन्द्रमरीचिगौरैः ।
यस्याऽर्थयुक्तं गिरिराजशब्दं कुर्वन्ति बालव्यजनैश्चमर्यः ॥१३॥

अन्वयः—चमर्यः इतस्ततः लाङ्गूलविक्षेपविसर्पिशोभैः चन्द्रमरीचिगौरैः बालव्यजनैः यस्य गिरिराजशब्दमर्थयुक्तं कुर्वन्ति ॥ १३ ॥

सञ्जी०—लाङ्गूलेति ॥ चमर्यो मृगीविशेषा इतस्ततो लाङ्गूलानि वालधयः । 'पुच्छोऽस्त्री लोमलाङ्गूले वालहस्तश्च वालधिः' इत्यमरः । तेषां विक्षेपैर्विधूननैर्विसर्पिण्यो विसृमराः शोभाः कान्तयो येषां तैश्चन्द्रमरीचिभिरिव गौरैः शुभ्रैः । 'गौरः करीरे सिद्धार्थे शुक्लेपीतेऽरुणेऽपि च' इति यादवः । 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इति समासः । वालव्यजनैश्चामरैर्यस्य हिमाद्रेर्गिरिराजशब्दं गिरिराज इति संज्ञामर्थयुक्तमभिधेयवन्तं कुर्वन्ति । राजानो हि छत्रचामरादिचिह्निता इति भावः ॥१३॥

जिस हिमालय पर्वत के गिरिराज नाम को चमरीमृग चन्द्रकिरण के समान धवल अपनी पूँछों के चँवर डुला डुलाकर यथार्थ करते हैं ॥

यत्रांऽशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छया किंपुरुषाऽङ्गनानाम् ।
दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवति ॥१४॥

अन्वयः—यत्र अंशुकाक्षेपविलज्जितानां किंपुरुषाऽङ्गनानां यदृच्छया दरीगृहद्वारविलम्बिबिम्बाः जलदाः तिरस्करिण्यो भवन्ति ॥ १४ ॥

सञ्जी०—यत्रेति ।। यत्र हिमाद्रौ । अंशुकाक्षेपेण वस्त्रापहरणेन विलज्जितानां किम्पुरुषाङ्गनानां किन्नरस्त्रीणां यदृच्छया दैवगत्या दरीगृहद्वारेषु विलम्बिबिम्बा लम्बमानमण्डला जलदास्तिरस्करिण्यो जवनिका भवन्ति । 'प्रतिसीरा जवनिका स्यात्तिरस्करिणी च सा' इत्यमरः । तिरसोऽन्यतरस्याम्' इति सत्वम् । अत्र जलदेष्वारोप्यमाणस्य तिरस्करिणीत्वस्य प्रकृतोपयोगित्वात्परिणामालङ्कारः ॥१४॥

जिस हिमालय पर्वत पर संभोग के समय प्रियतम द्वारा वस्त्र हटाए जाने से अत्यन्त लज्जित होने वाली किन्नरस्त्रियों के लिए गुफारूपी संभोग-भवन के द्वार पर अपने आप लटकने वाले बादल ही पर्दे का काम देते हैं ॥ १४ ॥

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः ॥१५॥

अन्वयः—भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः भिन्नशिखण्डिबर्हः यद्वायुः अन्विष्टमृगैः किरातैः आसेव्यते ॥ १५ ॥

सञ्जी०—भागीरथीति ।। भागीरथीनिर्झरसीकराणां गङ्गाप्रवाहपाथः कणानाम् । कर्मणि षष्ठी । वोढा प्रापकः । वहेस्तृच् । मुहुः पुनः पुनः सद्यो वा । 'पौनः पुन्ये भृशार्थे च सद्यो वा स्यान्मुहुः पदम्' इति वैजयन्ती । कम्पिता देवदारवो येन स तथोक्तः । भिन्नानि विश्लेषितानि शिखण्डिनां बर्हाणि गतिलाघवार्थं किरातकटिबद्धानि येन स तथोक्तः। क्रमाद्विशेषणत्रयेण शैत्यसौरभ्यमान्द्यान्युक्तानि। यस्य हिमाद्रेर्वायुः । अन्विष्टमृगैर्मार्गितमृगैः । श्रान्तैरिति भावः । 'अन्विष्टं मार्गितं मृगितम् इत्यमरः । किरातैरासेव्यते ॥१५॥

गङ्गाजी के झरने के जलबिन्दुओं को धारण करनेवाली, बारंबार देवदारु वृक्षों को कँपानेवाली तथा मोरों के पंखों को उल्लासित करनेवाली जिस हिमालय की वायु मृगों को ढूँढने वाले किरातों द्वारा सेवन की जाती है ॥१५॥

सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वान्परिवर्तमानः ।
पद्मानि यस्याऽग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूखैः ॥१६॥

अन्वयः—सप्तर्षिहस्ताऽवचितावशेषाणि पद्मानि अधः परिवर्तमानः विवस्वान् ऊर्ध्वमुखैः मयूखैः प्रबोधयति ॥ १६ ॥

सञ्जी०—सप्तर्षीति ॥ सप्त च ते ऋषयश्च सप्तर्षयः । 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति समासः । तेषां हस्तैरवचितेभ्यो लूनेभ्योऽवशेषाण्यवशिष्टानि । 'शेषोऽप्रधानसंतापे त्रिष्वन्यत्रोपयुज्यते' इति केशवः । कर्मण्यण्प्रत्ययः । अनेन पद्मानां साफल्यं सूचितम् । यस्य हिमाद्रेः रोहन्तीति रुहाणि । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः । अग्र उपरि यानि सरांसि तेषु रुहाणि पद्मान्यधः परिवर्तमानो भ्रमन्विवस्वान्सूर्यं उर्ध्वमुखैर्मयूखैः प्रबोधयति विकासयति । न कदाचिदधोमुखैः । अतिमार्तण्डमण्डलत्वादग्रभूमेरिति भावः । सप्तर्षिमण्डलं ध्रुवादप्यूर्ध्वमिति ज्योतिषिकाः । अतस्तेषामग्रसरोरुहभागित्वं युक्तम् ॥१६॥

जिस हिमालय के ऊपरी भाग में स्थित तालाबों में उगे हुए तथा सप्तर्षियों के हाथों द्वारा तोड़ने से बचे हुए कमलों को नीचे घूमता हुआ सूर्य अपनी ऊपर उठने वाली किरणों से विकसित करता है ॥ १६ ॥

यज्ञाङ्गयोनित्वमवेक्ष्य यस्य सारं धरित्रीधरणक्षमं च ।
प्रजापतिः कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यं स्वयमन्वतिष्ठत् ॥१७॥

अन्वयः—यस्य यज्ञाङ्गयोनित्वं धरित्रीधरणक्षमं सारं च अवेक्ष्य प्रजापतिः स्वयं कल्पितयज्ञभागं शैलाधिपत्यम् अन्वतिष्ठत् ॥ १७ ॥

सञ्जी०—यज्ञाङ्गेति ॥ यस्य हिमाद्रेर्यज्ञाङ्गानां यज्ञसाधनानां सोमलतादीनां योनिः प्रभवस्तस्य भावस्तत्त्वम् । 'यज्ञाङ्गार्थं मया सृष्टो हिमवानचलेश्वरः' इति विष्णुपुराणात् । धरित्रीधरणक्षमं भूभारधरणयोग्यं सारं बलं च । 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः । अवेक्ष्य ज्ञात्वा प्रजापतिः स्वयमेव कल्पितो यज्ञभागो यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । 'सोमस्य राज्ञः कुरङ्ग इन्दोः शृङ्गी समुद्रस्य शिशुमारो हिमवतो हस्ती' इति श्रुतेरिति भावः । शैलनामाधिपत्यमधिपतित्वम् । 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' इति यक्प्रत्ययः । अन्वतिष्ठत् । ददाति स्मेत्यर्थः । उक्तं च ब्रह्माण्डपुराणे—'शैलानां हिमवन्तं च नदीनां चैव सागरम् । गन्धर्वाणामधिपतिं चक्रे चित्ररथं विधिः' इति ॥ १७ ॥

जिस हिमालय को यज्ञ के साधन-द्रव्यों की उत्पत्ति का कारण तथा पृथ्वी के धारण करने मे पूर्ण सामर्थ्यशाली जानकर ब्रह्माजी ने स्वयं ही (उसे अन्य देवों की तरह) यज्ञ भाग तथा पर्वतों का स्वामित्व प्रदान किया किया है ॥ १७ ॥

स मानसीं मेरुसखः पितॄणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः ।
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्माऽनुरूपां विधिनोपयेमे ॥१८॥

अन्वयः—मेरुसखः स्थितिज्ञः सः पितृणां मानसीं मुनीनाम् अपि माननीयाम् आत्मानुरूपां कन्यां कुलस्य स्थितये विधिना उपयेमे ।। १८ ।।

सञ्जी०—स इति ।। मेरोः सखा मेरुसखः । बन्धुसम्पन्न इति भावः । स्थितिज्ञो मर्यादाभिज्ञः । अनेन श्रुतसंपत्तिः सूच्यते । स हिमवान्पितृणां मानसीं मनः संकल्पजन्यां मुनीनामपि माननीयाम् । योगिब्रह्मवादिभ्यां पूज्यामित्यर्थः । उक्तं च विष्णुपुराणे—'तेभ्यः शुभास्पदं जज्ञे मेनका हरिणी तथा । ते उभे ब्रह्मवादिन्यौ योगिन्यौ चाप्युभे द्विज ।।' इति । आत्मानुरूपां कुलशीलसौन्दर्यादिभिः सदृशीं मेनां मेनकादेवीति नामवतीं कन्यां कुलस्य स्थितये प्रतिष्ठायै विधिना यथाशास्त्रेणोपयेमे परिणीतवान् । 'उपाद्यमः स्वकरणे' इत्यात्मनेपदम् । 'तेषां तु मानसी कन्या मेना नाम महागिरेः । पत्नी हिमवंतो यस्याः पुत्रो मैनाक उच्यते ।।' इति ब्रह्माण्डपुराणात् ।।१८।।

सुमेरु पर्वत के मित्र इस मर्यादा जाननेवाले हिमालय ने पितरों के मनःसङ्कल्प से उत्पन्न, मुनियों की भी माननीया एवं अपने अनुरूप मेना नामक कन्या के साथ अपने कुल की स्थिति के लिए शास्त्र-विधि से विवाह किया ।।१८।।

कालक्रमेणाऽथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे ।
मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या गर्भोऽभवद् भूधरराजपत्न्याः ।।१९।।

अन्वयः—अथ कालक्रमेण तयोः स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे प्रवृत्ते मनोरमं यौवनम् उद्वहन्त्याः भूधरराजत्न्याः गर्भः अभवत् ।। १९ ।।

सञ्जी०—कालक्रमेणेति ।। अथ कालक्रमेण । गच्छता कालेनेत्यर्थः । तयोर्मेनकाहिमवतोः स्वरूपयोग्ये सौन्दर्यानुगुणे । यद्वा रूप्यते निश्चीयतेऽनेनेति रूपं ज्ञानं तद्योग्ये । शास्त्रानुसारिणीत्यर्थः सुरतप्रसङ्गे सुरतकर्मणि प्रवृत्ते सति मनोरमं यौवनमुद्वहन्त्या भूधरराजपत्न्या मेनकाया गर्भोऽभवत् ।।१९।।

अपने अनुरूप ही संभोग क्रिया में तल्लीन होने के कुछ दिनों बाद सुन्दर यौवन को धारण करने वाली पर्वतराज हिमालय की पत्नी मेना ने गर्भ धारण किया ।। १९ ।।

असूत सा नागवधूपभोग्यं मैनाकमम्भोनिधिबद्धसख्यम् ।
क्रुद्धेऽपि पक्षच्छिदि वृत्रशत्राववेदनाज्ञं कुलिशक्षतानाम् ।।२०।।

अन्वयः—सा नागवधूपभोग्यम् अम्भोनिधिबद्धसख्यं, पक्षच्छिदि वृत्रशत्रौ क्रुद्धे अपि कुलिशक्षतानाम् अवेदनाज्ञं मैनाकम् असूत ।। २० ।।

सञ्जी०—असूतेति ॥ सा मेना नागवधूपभोग्यम् । नागकन्यापरिणेतारमित्यर्थः। अम्भोनिधिना बद्धसंख्यं समुद्रकृतमैत्रीकम् । सख्यमूलं सूचयति–पक्षच्छिदि पक्षच्छेत्तरि । 'सत्सूद्विष'—इत्यादिना क्विप्प्रत्ययः । वृत्रशत्रौ क्रुद्धे कुपिते सत्यपि कुलिशक्षतानां वज्रप्रहाराणाम् । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । जानातीति ज्ञः । 'इगुपधज्ञा'-- इति कप्रत्ययः । वेदनानां ज्ञः । अथवा वेदनां जानातीति वेदनाज्ञः। 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । उपपदमतिङ्' इति समासः। स न भवतीत्यवेदनाज्ञस्तम्। कुलिशक्षतवेदनानभिज्ञमित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। पक्षच्छेदोद्यतशक्रात्त्राणाय शरणागमनमनयोः सख्यमूलमिति भावः । मैनाकं पुत्रमसूत। सर्वपर्वतपक्षच्छेदेऽप्ययमच्छिन्नपक्ष एवेति मैनाकस्योत्कर्षः । तादृक्पुत्रवत्त्वं हिमाद्रेरिति सार्थकं मैनाकस्य वर्णनम् । 'पिता न ज्ञायते यस्य भ्राता यदि न विद्यते । नोपयच्छेत्तु तां कन्यां धर्मलोपभयात्सुधीः ॥' इत्यभ्रातृककन्यापरिणयनिषेधात्तत्कृते पार्वती भ्रातृमत्येवेति सूचनार्थं मैनाकपर्वतमिति तात्पर्यार्थः ॥२०॥

उस मेना ने नागकन्या से विवाह करने वाले, समुद्र से मैत्री रखने वाले, तथा पहाड़ों के पंख काटने वाले इन्द्र के क्रुद्ध होने पर भी उनके वज्र के प्रहारों की वेदना से अनभिज्ञ मैनाक नामवाले पुत्र को पैदा किया ॥ २० ॥

अथाऽवमानेन पितुः प्रयुक्ता दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी ।
सती सती योगविसृष्टदेहा तां जन्मने शैलवधूं प्रपेदे ॥२१॥

अन्वयः—अथ दक्षस्य कन्या भवपूर्वपत्नी सती पितुः अवमानेन प्रयुक्ता योगविसृष्टदेहा सती जन्मने तां शैलवधूं प्रपेदे ॥ २१ ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथ मैनाकजननानन्तरं दक्षस्य प्रजापतेः कन्या भवस्य महादेवस्य पूर्वपत्नी पूर्वभार्या सती पतिव्रता । 'सती साध्वी पतिव्रता' इत्यमरः । सती नाम देवी । पितुर्दक्षस्य । कर्तरि षष्ठी । अवमानेन स्वभर्त्रवज्ञया प्रयुक्ता प्रेरिता योगेन योगमार्गेण विसृष्टदेहा त्यक्तदेहा सती । जन्मने पुनरुद्भवाय तां शैलवधूं मेनकां प्रपेदे । अत्र पुरा किल सती देवी दक्षाध्वरे तत्कृतां स्वभर्त्रवज्ञामसहमाना पितरं प्रसूं चोपेक्ष्य मत्कर्तव्यकार्यं त्वज्जामातैव करिष्यतीति निर्धार्य देवकार्याणि साधयितुं च योगाग्निना स्वशरीरं ददाहेति पुरावृत्तकथानुसन्धेया ॥२१॥

दक्ष की कन्या, महादेव की पहली पत्नी, पतिव्रता सती देवी ने पिता द्वारा किए हुए अपमान से प्रेरित होकर योगबल से अपना शरीर त्यागकर पुनः जन्म लेने के लिए शैलपत्नी मेना को प्राप्त किया ॥ २१ ॥

सा भूधराणामधिपेन तस्यां समाधिमत्यामुदपादि भव्या ।
सम्यक्प्रयोगादपरिक्षतायां नीताविवोत्साहगुणेन सम्पत् ॥२२॥

अन्वयः—भव्या सा भूधराणाम् अधिपेन समाधिमत्यां तस्यां सम्यक्प्रयोगात् अपरिक्षतायां नीतौ उत्साहगुणेन सम्पत् इव उदपादि ॥ २२ ॥

सञ्जी०—सेति ॥ भव्या कल्याणी सा सती भूधराणामधिपेन हिमवता समाधिमत्यां नियमवत्यां तस्यां मेनकायां सम्यक्प्रयोगात्साध्वाचरणाद्धेतोरपरिक्षतायामभ्रष्टायां नीतावुत्साहगुणेनोत्साहशक्त्या । कर्त्रा । संपदिवोदपाद्युत्पादिता । उत्पद्यतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । 'चिण्भावकर्मणोः' इति चिण्प्रत्ययः । 'चिणो लुक्' इति तस्य लुक् ॥२२॥

पर्वतों के राजा हिमालय द्वारा पतिव्रता मेना में वह दक्ष की कन्या उसी प्रकार उत्पन्न की गई जैसे उत्तम आचरण से भ्रष्ट न होने वाली नीति में उत्साह गुण द्वारा सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है ॥ २२ ॥

प्रसन्नदिक्पांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनाऽनन्तरपुष्पवृष्टि ।
शरीरिणां स्थावरजङ्गमानां सुखाय तज्जन्मदिनं बभूव ॥२३॥

अन्वयः—प्रसन्नदिक् पांसुविविक्तवातं शङ्खस्वनानन्तरपुष्पवृष्टि तज्जन्मदिनं स्थावरजङ्गमानां शरीरिणां सुखाय बभूव ॥ २३ ॥

सञ्जी०—प्रसन्नेति ॥ प्रसन्ना निर्मला दिशा यस्मिस्तत्प्रसन्नदिक् । पांसुविविक्ता रजोरहिता वाता यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । शङ्खस्य स्वनात्स्वनस्य वानन्तरं पुष्पवृष्टिर्यस्मिंस्तत्तथोक्तं तस्याः पार्वत्या जन्मदिनम् । स्थितिशीलाः स्थावराः शैलवृक्षादयः । स्थेशभासपिसकसो वरच्' इति वरच्प्रत्ययः । जङ्गम्यन्ते भृशं गच्छन्तीति जङ्गमा देवतिर्यङ्मनुष्यादयः । स्थावराश्च जङ्गमाश्च तेषां द्वयानामपि शरीरिणां सुखायानन्दाय बभूव ॥२३॥

निर्मल दिशाओं से युक्त, धूलिरहित वायु से सम्पन्न, शङ्खध्वनि से पूर्ण तथा पुष्पवृष्टि से सुशोभित पार्वती का जन्मदिन सभी स्थावर और जङ्गम प्राणियों के लिए सुखदायी बन गया ॥ २३ ॥

तया दुहित्रा सुतरां सवित्री स्फुरत्प्रभामण्डलया चकासे ।
विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव ॥२४॥

अन्वयः—स्फुरत्प्रभामण्डलया तया दुहित्रा सवित्री विदूरभूमिः नवमेघशब्दात् उद्भिन्नया रत्नशलाकया इव सुतरां चकासे ॥ २४ ॥

सञ्जी०—ययेति ।। स्फुरत्प्रभामण्डलया तया दुहित्रा सवित्री जनयित्री । 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इतीडागमः । त्रिदूरस्याद्रेः प्रान्तभूमिर्विदूरभूमिः । 'अवदूरं त्रिदूरस्य गिरेरुत्तुङ्गरोधसः । काकतालीयसीमान्ते मणीनामाकरो भवेत् ।।' इति बुद्धः । नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकया रत्नाङ्कुरेव सुतरां चकासे रराज ।।२४।।

जिस तरह विदूर पर्वत की भूमि नूतन मेघशब्द से उद्भिन्न (भूमि को फोड़ कर निकलने वाले) रत्नों की कान्ति से सुशोभित होती है, उसी तरह माता मेना उस कांतिमती पुत्री पार्वती से शोभित हुईं ।। २४ ।।

दिने दिने सा परिवर्धमाना लब्धोदया चान्द्रमसीव लेखा ।
पुपोष लावण्यमयान्विशेषाञ्ज्योत्स्नान्तराणीव कलान्तराणि ।।२५।।

अन्वयः—लब्धोदया दिने दिने परिवर्धमाना सा चान्द्रमसी लेखा इव लावण्यमयान् विशेषान् ज्योत्स्नान्तराणि कलान्तराणि इव पुपोष ।। २५ ।।

सञ्जी०—दिन इति ।। लब्ध उदयो यया सा लब्धोदया । उत्पन्नेत्यर्थः । अभ्युदितेत्यन्यत्र दिने दिने प्रतिदिनम् । 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्यासायां द्विरुक्तिः । परिवर्धमाना । उभयत्र समानमेतत् । सा बाला चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी लेखेव लावण्यमयान्कान्तिविशेषप्रचुरान् । 'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ।।' इति भूपालः । विशेषानवयवान् । 'विशेषाऽवयवे व्यक्तौ'' इत्युत्पलमालायाम् । ज्योत्स्नायामन्तरमन्तर्धानं येषां तानि ज्योत्स्नान्तराणि ज्योत्स्नयान्तर्हितानि । तन्मयानीति यावत् । अन्याः कलाः कलान्तराणीव । सुप्सुपेति समासः । 'स्थानात्मीयान्यतादर्थ्यरन्ध्रान्तर्धिषु चान्तरम् इति शास्वतः । पुपोषोपचितवती । इदं वाक्योपमेत्याह दण्डी तल्लक्षणं तु— 'वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थः कोऽपि यद्युपमीयते । एकानेकेवशब्दत्वात्सा तु वाक्योपमा द्विधा ।।' इति ।। २५ ।।

जैसे शुक्ल पक्ष की चन्द्रकला दिन-दिन बढ़ती है, वैसे ही पार्वती भी दिनों दिन बढ़ने लगीं और ज्योत्सना मयी कलाओं के समान लावण्य भरे उनके अंग भी दिन-दिन बढ़ने लगे ।। २५ ।।

तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव ।
उमेति मात्रा तपसो निषिद्धा पश्चादुमाख्यां सुमुखी जगाम ।।२६।।

अन्वयः—बन्धुप्रियां तां बन्धुजनः आभिजनेन नाम्ना पार्वती इति जुहाव ।

पश्चात् मात्रा उ मा इति तपसः निषिद्धा (सती) सुमुखी उमाख्यां जगाम ॥ २६ ॥

सञ्जी०—तामिति ॥ बन्धुप्रियां तां बालां बन्धुजनः पित्रादिः । अभिजनादागतेनाभिजनेन । पित्रादिपूर्वसम्बन्धोपाधिकेनेत्यर्थः । 'अभिजनाः पूर्वबान्धवाः' इति काशिका । नाम्ना । पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती । 'तस्यापत्यम्' इत्यणप्रत्ययः । इति जुहावाहूतवान् । ह्वयतेर्लिटि रूपम् । पर्वतजन्यत्वोपाधिना पार्वतीति नाम्ना प्रसिद्धिरिति भावः । पश्चादभिजनानामप्रवृत्त्यनन्तरं मात्रा जनन्या । उ इति संबोधने । 'उ इति वितर्कसंबोधनपादपूरणेषु' इति गणव्याख्याने । माशब्दो निषेधे । उ हे वत्से, मा मा कुर्वित्येवंरूपेण । तपसस्तपश्चर्यायाः । 'वारणार्थानामीप्सितः' इत्यापादानत्वात्पञ्चमी । निषिद्धा निवारिता सती सुमुखी सा बालोमेत्याख्यां नामधेयमुमाख्यां जगाम ॥ २६ ॥

पर्वत से पैदा होने के कारण परिवार के लोगों ने उसका नाम 'पार्वती' रक्खा, इसके पश्चात् माता द्वारा तपस्या करने से रोकी जाने के कारण वह लोक में उमा (उ मा = ऐसा मत करो) नाम से विख्यात हुई ॥ २६ ॥

> महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
> अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा ॥२७॥

अन्वयः—पुत्रवतोऽपि महीभृतः दृष्टिः तस्मिन् अपत्ये तृप्तिं न जगाम । हि अनन्तपुष्पस्य मधोः द्विरेफमाला चूते सविशेषसङ्गा ॥ २७ ॥

सञ्जी०—महीभृत इति ॥ पुत्राश्च दुहितरश्च पुत्राः । 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' इत्येकशेषः । तेऽस्य सन्तीति पुत्रवान् । भूमार्थे मतुप् । तस्य पुत्रवतोऽपि । बह्वपत्यस्यापीत्यर्थः महीभृतो हिमाद्रेर्दृष्टिश्चक्षुस्तस्मिन्नपत्ये तोके । 'अपत्यं तोकं तयोः समे' इत्यमरः तस्यां पार्वत्यामित्यर्थः । तृप्तिं न जगाम । तथा हि अनन्तपुष्पस्य नानाविधकुसुमस्यापि मधोर्वसन्तस्य सम्बन्धिनी द्विरेफमाला भृङ्गपङ्क्तिश्चूतस्य विकारे चूते चूतकुसुमे । अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः' इति विकारार्थोत्पन्नस्याणप्रत्ययस्य लुक्प्रकरणे 'पुष्पफलमूलेषु बहुलम्' इति पठनाल्लुक् । सविशेषः सातिशयः सङ्गो यस्याः सा तथोक्ता । अत्यन्तासक्तेत्यर्थः ॥२७॥

जैसे नाना प्रकार के पुष्पों के होते हुए भी वसन्त ऋतु की भ्रमरपंक्ति आम्रकुसुम में ही विशेष रुचि रखती है, वैसे ही पुत्रवान होते हुए भी हिमालय की दृष्टि पार्वती में ही विशेष प्रेम रखती थी ॥ २७ ॥

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी, तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥२८॥

अन्वयः—प्रभामहत्या शिखया दीपः इव, त्रिमार्गया त्रिदिवस्य मार्ग इव, संस्कारवत्या गिरा मनीषी इव, तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥ २८ ॥

सञ्जी०—प्रभेति ॥ प्रभामहत्या प्रकाशाधिकया शिखया ज्वालया दीप इव । शिखादीपयोरवयवावयविभावाद्भेदेन व्यपदेशः । त्रयो मार्गा यस्यास्तया त्रिमार्गया मन्दाकिन्या । तृतीया द्यौर्लोक इति त्रिदिवः स्वर्गः । वृत्तिविषये त्रिशब्दस्य त्रिभागवत्पूरणार्थत्वम् पृषादरादित्वाद्दिवशब्दादकारागमः । पुंस्त्वं लोकात् । दीव्यतेर्घञर्थे कविधानम् । दीव्यन्त्यत्र जना इति क्षीरस्वामी । तस्य मार्ग इव । संस्कारो व्याकरणजन्या शुद्धिस्तद्वत्या गिरा वाचा । 'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि' इति श्रुतेरिति भावः । मनस ईषा मनीषा सास्यास्तीति मनीषी विद्वानिव । शकन्ध्वादित्वात्साधुः । तथा पार्वत्या स हिमवान्पूतः शोधितश्च विभूषितश्च । अत्र शिखागिरोरविशिष्टयोरुपमानानर्हत्वान्न विशेषणाधिक्यदोषः । इयं मालोपमा ॥ २८ ॥

जैसे अतीव ज्योति युक्त शिखा से दीपक, मन्दाकिनी से गगन और संस्कृत वाणी से विद्वान् विभूषित होता है उसी प्रकार पार्वती से हिमालय पवित्र तथा भूषित हुआ ॥ २८ ॥

मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥२९॥

अन्वयः—सा बाल्ये क्रीडारसं निर्विशती इव सखीनां मध्यगता (सती) मन्दाकिनोसैकतवेदिकाभिः कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च मुहुः रेमे ॥ २९ ॥

सञ्जी०—मन्दाकिनीति ॥ सा पार्वती बाल्ये वयसि क्रीडानां रसः स्वादः । रुचिरिति यावत् तं क्रीडारसम् । 'रसो गन्धे रसः स्वादे' इति विश्वः । निर्विशतीव भुञ्जानेव । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इति विश्वः । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः । सखीनां मध्यगता सती मन्दाकिन्याः सैकतेषु पुलिनेषु वेदिकाभिः कन्दुकैः । क्रियया निवृत्तैः कृत्रिमैः 'ड्वितः क्त्रिः' इति क्त्रिप्रत्ययः । 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति मबागमश्च । पुत्रकैः पाञ्चालिकाभिः । 'पाञ्चालिका पुत्रिका स्याद्वस्त्रदन्तादिभिः कृता' इत्यमरः । 'संज्ञायां कन्' इति कन्प्रत्ययः । मुहुः पुनः पुना रेमे ॥ २९ ॥

वह पार्वती बाल्य-सुलभ क्रीडारस में निमग्न होकर मन्दाकिनी के किनारे कभी बालुकामय मण्डपों (बालू से बनाए गए घरौंदों) से, कभी गेंद से, कभी गुड़ियों से, सखियों के साथ निरन्तर खेला करती थी ।। २९ ।।

तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः ।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ।।३०।।

अन्वयः—स्थिरोपदेशां ताम् उपदेशकाले प्राक्तनजन्मविद्याः शरदि गङ्गां हंसमालाः इव, नक्तं महौषधिम् आत्मभासः इव प्रपेदिरे ।। ३० ।।

सञ्जी०—तामिति ।। स्थिरः स्थेयानुपदेशः प्राग्भवीयो यस्यास्तादृशोम् । मेधाविनीमित्यथः । तां पार्वतीमुपदेशकाले प्रावतनजन्मविद्याः । पूर्वजन्माभ्यस्तविद्या इत्यर्थः । शरदि गङ्गां हंसमाला इव नक्तं रात्रौ महौर्षधि तृणविशेषमात्मभासः स्वदीप्तय इव प्रपेदिरे । उपमानसामर्थ्यादुपदेशमन्तरेणैवेति गम्यते।३०।

जिस तरह शरद् ऋतु में हंसपङ्क्तियाँ स्वयमेव गङ्गा में आ जाती हैं, और रात्रि में प्रभा महौषधियों में आ जाती है उसी तरह पढ़ते समय प्राक्तन जन्म की सारी विद्याएँ मेधाविनी पार्वती को प्राप्त हो गई ।। ३० ।। ...

असम्भृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ।।३१।।

अन्वयः—अथ सा अङ्गयष्टेः असम्भृतं मण्डनम्, अनासवाख्यं मदस्य करणं, कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तम् अस्त्रं वाल्यात् परं वयः प्रपेदे ।। ३१ ।।

सञ्जी०—असम्मभृतमिति ।। अथ सा पार्वती । अङ्गयष्टेरसम्भृतमयत्नसिद्धं मण्डनं प्रसाधनमनासवाख्यमासवाख्यरहितं मदस्य करणं साधनं कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रमस्त्रभूतं बाल्याच्छैशबात्परमनन्तरभावि वयो यौवनं प्रपेदे प्राप । यौवनेनैव हि युवतयः प्रसाध्यन्ते माद्यन्ते काम्यन्ते चेति भावः । अत्र द्वितीयपाद आसवरूपकारणाभावेऽपि तत्कार्यमदोक्तेर्विभावनालङ्कारः । तदुक्तम्—'कारणाभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना' इति । प्रथमतृतीययोस्तत्रारोप्यमाणयोर्मण्डनमदनास्त्रत्वयोः प्रकृतोपयोगात्परिणामालङ्कारः । तल्लक्षणं तूक्तम् ।। ३१ ।।

धीरे-धीरे बाल्यकाल बीत जाने पर पार्वती ने उस यौवन को प्राप्त किया, जो उनके शरीर का (स्वाभाविक) आभूषण था, मदिरा न होते हुए भी मतवाला बना देने वाला तथा फूलों से न बना होने पर भी कामदेव का बाण था ।। ३१ ।।

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवाऽरविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥३२॥

अन्वयः—नवयौवनेन विभक्तं तस्याः वपुः तूलिकया उन्मीलितं चित्रम् इव, सूर्यांशुभिः भिन्नम् अरविन्दम् इव, चतुरस्रशोभि बभूव ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—उन्मीलितामिति ॥ नवयौवनेन प्रथमयौवनेन विभक्तमभिव्यञ्जितम् । पीनजघनादिसंस्थानमित्यर्थः । तस्याः पार्वत्या वपुस्तूलिकयाकूर्चिकया । शलाकयेत्यर्थः । 'तूलिका कथिता लेख्यकूर्चिका तूलशय्ययोः' इति विश्वः । उन्मीलितं रञ्जनद्रव्येणोद्भासितं समुत्कीर्णरूपमिति यावत् । चित्रमालेख्यमिव । सूर्यांशुभिर्भिन्नं विकसितमरविन्दं पद्ममिव । चतस्रोऽस्रयो यस्य तच्चतुरस्रमन्यूनातिरिक्तं यथा तथा शोभत इति चतुरस्रशोभि । ताच्छील्येणिनिः । वभूव । चित्रारविन्दयोस्तूलिकातरणिकिरणसम्बन्ध इव स्वतः सिद्धस्यैवाङ्गसौष्ठवस्य यौवनप्रादुर्भाववोऽभिव्यञ्जको बभूवेत्यर्थः ॥३२॥

उस नवीन यौवन के आने से लावण्यमय स्तनजघनादि अवयवयुक्त पार्वती का शरीर, कूँची से उरेहे गए चित्र तथा सूर्य-किरणों से विकसित कमल के समान पूर्णतः निखर उठा ॥ ३२ ॥

अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिर्निक्षेपणाद्रागमिवोद्गिरन्तौ ।
आजह्रतुस्तच्चरणौ पृथिव्यां स्थलारविन्दश्रियमव्यवस्थाम् ॥३३॥

अन्वयः—अभ्युन्नताङ्गुष्ठनखप्रभाभिः निक्षेपणात् रागम् उद्गिरन्तौ इव तच्चरणौ पृथिव्याम् अव्यवस्थां स्थलारविन्दश्रियम् आजह्रतुः ॥ ३३ ॥

सञ्जी०–अभ्युन्नतेति ॥ अभ्युन्नतयोरङ्गुष्ठनखयोः प्रभाभिर्निमित्तेन निक्षेपणान्निर्भरन्यासाद्धेतोः रागमन्तर्गतं लौहित्यम् । 'रागः क्लेशादिके रक्ते मात्सर्ये लोहितादिषु' इति शाश्वतः । उद्गिरन्तौ वमन्तौ । वहिर्निःसारयन्ताविव स्थितावित्यर्थः । अत्रोद्गिरतेर्गौणार्थत्वान्न ग्राम्यतादोषः प्रत्युत गुण एव । यथाह दण्डी—'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ।।' इति । तस्याश्चरणौ तच्चरणौ । पृथिव्यामव्यवस्थां व्यवस्थारहिताम् । सञ्चारिणीमित्यर्थः । स्थलारविन्दश्रियमाजह्रतुः । स्थलविशेषणान्नियतलौहित्यलाभः । अत्र सामुद्रिकाः—'यस्या रक्ततलौ पादावुन्नताग्रौ तलस्पृशौ । निगूढगुल्फौ निहतौ सा स्यान्नृपतिसम्मता ।।' इति । अत्रोपमानधर्मस्यारविन्दश्रियश्चरणयोरुपमेययोरसंभवादरविन्दश्रियमिव श्रियमिति प्रतिबिम्बीकरणाक्षेपान्निदर्शना-

लङ्कारः । सा च सम्बन्धेऽसम्बन्धलक्षणातिशयोक्त्यनुप्राणिताव्यवस्थामित्यनेन स्थलारविन्दस्य स्थैर्यसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धाभिधानात् । निदर्शना लक्षणं तु—‘असम्भवद्धर्मयोगादुपमानोपमेययोः । प्रतिविम्बक्रिया गम्या यत्र सा स्यान्निदर्शना ।'' इति ॥ ३३ ॥

भूमि पर चलते समय पार्वती के सुकुमार चरण स्वाभाविक लाल अङ्गुलियों के नख की किरणों द्वारा मानो पूर्वसेवित लाक्षारस को चारों ओर छिड़कते हुए चलायमान स्थलकमलों की शोभा धारण कर लेते थे । ३३ ॥

सा राजहंसैरिव सन्नताङ्गी गतेषु लीलाञ्चितविक्रमेषु ।
व्यनीयत प्रत्युपदेशलुब्धैरादित्सुभिर्नूपुरसिञ्जितानि ॥३४॥

अन्वयः—प्रत्युपदेशलुब्धैः नूपुरसिञ्जितानि आदित्सुभिः राजहंसैः सन्नताङ्गी सा लीलाञ्चितविक्रमेषु गतेषु व्यनीयत इव ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—सेति ॥ प्रत्युपदेशलुब्धैः । ‘गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा । अथवा विद्यया विद्या चतुर्थीनोपपद्यते ॥' इति न्यायादिति भावः । तदेव व्यनक्ति—नूपुरसिञ्जितान्यादित्सुभिरादातुमिच्छुभिः । मञ्जीरसिञ्जितमञ्जुकूजितोपदेशमिच्छद्भिरित्यर्थः । राजहंसैः सन्नताङ्गी । कुचभारादिति भावः । सा पार्वती लीलाभिर्विलासैरञ्चिताः पूजिता विक्रमाः पादन्यासा येषु तेषु । ‘अञ्चेः पूजायाम्' इतीडागमः । ‘लीलाविलासक्रिययोः' इत्यमरः । गतेषु विषयेषु व्यनीयतेव विनीता किमु । अन्यथा कथमस्या हंसगमनमित्युत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

स्तन-भार से झुकी हुई पार्वती की गति ऐसी मनोहर जान पड़ती थी मानो उनके चरणों के नुपुरों का मधुर शब्द सीखने की अभिलाषा करने वाले राजहंसों ने शिक्षाशुल्क के रूप में पार्वती को पहले ही से विलासयुक्त पदविन्यास करते हुए चलने की शिक्षा दे दी हो ॥ ३४ ॥

वृत्तानुपूर्वे च न चाऽतिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः ॥३५॥

अन्वयः—वृत्तानुपूर्वे न च अतिदीर्घे शुभे तदीये जङ्घे सृष्टवतः विधातुः शेषाङ्गनिर्माणविधौ उत्पाद्ये लावण्ये यत्नः आस इव ॥ ३५ ॥

सञ्जी०—वृत्तेति ॥ वृत्ते वर्तुले पूर्वमनुगतेऽनुपूर्वे । गोपुच्छाकार इत्यर्थः । वृत्ते च तेऽनुपूर्वे च वृत्तानुपूर्वे नातिदीर्घे च । महाविभाषया न समासः । नञो विशेषणत्वं च शब्दप्रयोगादेव ज्ञेयम् । शुभे मङ्गले । तस्या इमे तदीये जङ्घे

प्रसृते । 'जङ्घा तु प्रसृता' इत्यमरः । सृष्टवतो निर्मितवतो विधातुः स्रष्टुः शेषाङ्गनिर्माणविधौ । जङ्घाव्यतिरिक्तावयभवनिर्माणार्थमित्यर्थः । उत्पाद्ये पुनः संपाद्ये लावण्ये कान्तिविशेषविषये । लावण्यलक्षणं तूक्तम् (२५ श्लोक टी०)। यत्न आसेव बभूवेवेत्युत्प्रेक्षा । उपादानमन्तरेण कार्यस्य दुष्करत्वात्तदङ्गानां च लावण्योपादानकत्वात्पूर्वसंपादितस्य च जङ्घार्थमेव कात्स्न्येंन विनियोगात्पुनर्लावण्यसंपादने यत्नः स्यादेवेत्येतादृक्सौन्दर्यं तज्जङ्घे इति भावः । आसेति बभूवार्थे 'तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम्' इत्याह शाकट.यनः । बल्लभस्तु—'न तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम्' 'अस्तेर्भूः' इति भ्वादेशनियमात्तादृक्तिङन्तस्यैवाभावात् । किंतु कवीनामयं प्रामादिकः प्रयोगः' इत्याह । वामनस्तु—असगतिदीप्त्यादानेष्विति: धातोर्लिटि रूपमिदम् इ याह । अस इत्यनुदात्तेद्दीप्त्यर्थे 'आस दिदीपे' । प्रवृत्त इत्यर्थः ॥३५॥

विधाता ने पार्वती के शरीर-निर्माण के लिए जिन लावण्य द्रव्यों का संग्रह किया था, वे सभी उसकी चढ़ाव-उतार वाली न बहुत पतली न बहुत मोटी सुन्दर जाँघों के निर्माण में खर्च हो गए अतः अन्य अंगों का निर्माण करने के लिए विधाता को बड़े प्रयत्न के साथ अन्य लावण्य द्रव्यों का संग्रह करना पड़ा ॥ ३५ ॥

नागेन्द्रहस्तास्त्वचिकर्कशत्वादेकातशैत्यात्कदलीविशेषाः ।
लब्ध्वाऽपि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः ॥३६॥

अन्वयः—नागेन्द्रहस्ताः त्वचिकर्कशत्वात् कदलीविशेषाः एकान्तशैत्यात् लोके परिणाहि रूपं लब्ध्वाऽपि तदूर्वोः उपमानबाह्याः जाताः ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—नागेन्द्रेति ।। नागेन्द्राणामैरावतादीनां हस्ताः करास्त्वचि चर्मणि कर्कशत्वात्कदलीविशेषा राजरम्भादय एकान्तशैत्यान्नियतशैत्याद्धेतोः लोके परिणाहि वैपुल्ययुक्तम् । 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः । रूपं लब्ध्वापि । अपिशब्दात्करिकदलीमात्रस्य तादृक्परिणाहो नास्तीति भावः । तस्या ऊर्वोस्तदूर्वोरुपमानबाह्या जाता उपमानक्रियानर्हा बभूवुः । तदूर्वो न कार्कश्यं नाप्येकान्तशैत्यमिति भावः ।। ३६ ॥

पार्वती के जंघों की उपमा लोक में विशालता को प्राप्त करके भी चमड़े की कठोरता के कारण न तो गज के सूँड से, और अत्यन्त शीतल मात्र होने के कारण न तो केले के खम्भों से ही दी जा सकती थी ॥ ३६ ॥

एतावता नन्वनुमेयशोभि काञ्चीगुणस्थानमनिन्दितायाः
आरोपितं यद्गिरिशेन पश्चादनन्यनारीकमनीयमङ्कम् ॥३७॥

अन्वयः—यत् पश्चात् गिरिशेन अनन्यनारीकमनीयम् अङ्कम् आरोपितम् अनिन्दितायाः काञ्चीगुणस्थानम् एतवता ननु अनुमेयशोभि ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—एतावतेति ॥ अनिन्दिताया अनवद्यायाः पार्वत्याः काञ्चीगुणस्थानं नितम्बबिम्बमेतावता नन्वेतावतैव । 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः शोभत इति शोभि । आवश्यके णिनिः ततस्त्वप्रत्ययः । अनुमेयं शोभित्वं शोभा यस्य तदनुमेयशोभि । 'त्वप्रत्ययस्तु गतार्थत्वान्न प्रयुक्तः' इत्याह वामनः । पश्चादादौ नैःस्पृह्येऽपि पश्चात् । तपश्चर्यानन्तरमित्यर्थः । गिरौ शेत इति गिरिशः शिवः । 'गिरौ डश्छन्दसि' इति डप्रत्ययः । भाषायामपि क्वचिदिष्यते । अथवा गिरिः कैलासोऽस्यास्तीति गिरिशः । लोमादित्वाच्छप्रत्ययः । तेन गिरिशेन । अन्यासां नारीणां कमनीयः कामयितुं शक्यो न भवतीत्यनन्यनारीकमनीयस्तमङ्कं निजोत्सङ्गमारोपितमधिरोपितमिति यत् । एतावता लिङ्गेनेति पूर्वेणान्वयः । रोहतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' इति हकारस्य पकारः । गत्यर्थत्वविवक्षायां द्विकर्मकत्वम् । प्रधाने कर्मणि क्तः । गिरजानितम्बबिम्बं विश्वातिशायिसौन्दर्यं गिरिशाङ्कारूढत्वाद्व्यतिरेकेण नार्यन्तरनितम्वबिम्बवत् । विपक्षे हेत्वनुक्तिरेव बाधिका । दाक्षायणीनितम्वबिम्वस्य तु पक्षसपक्षयोरन्यतरभावानिवृत्तेर्निष्कलङ्कमनुमानमित्यलमस्थानसंरम्भेण ॥ ३७ ॥

विवाह के अनन्तर शङ्कर ने अन्य स्त्रियों के लिए दुर्लभ अपनी गोद में पार्वती के सुन्दर नितम्बों को स्वयम् रक्खा, इसी से उन नितम्बों की शोभा का अनुमान किया जा सकता है ॥ ३७ ॥

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवलोमराजिः ।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवाऽर्चिः ॥३८॥

अन्वयः—नीवीम् अतिक्रम्य नतनाभिरन्ध्रं प्रविष्टा तन्वी तस्याः नवलोमराजिः सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेः अर्चिः इव रराज ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—तस्या इति ॥ नीवीं वस्त्रग्रन्थिम् । 'स्त्रीकटीवस्त्रबन्धेऽपि नीवी परिपणेऽपि च' इत्यमरः । अतिक्रम्यातीत्य नतं निम्नं नाभिरन्ध्रं प्रविष्टा प्रविशन्ती तन्वी सूक्ष्मा तस्याः पार्वत्या नवलोमराजिः सितेतरस्यासितस्य । इन्द्रनीलस्येत्यर्थः । तस्याः पार्वत्या मेखला तन्मेखला । तस्या इत्यनुवृत्तौ पुनस्तच्छब्दोपादानं वाक्यान्तरत्वात्सोढव्यम् । यद्वा तस्या नीव्या मेखला तन्मेखला तत्र तदवस्थानात् । तस्या मध्यमणेरर्चिः प्रभेव रराज । 'ज्वालाभासोर्नपुंस्यर्चिः' इत्यमर ॥ ३८ ॥

पार्वती की गहरी नाभि में प्रविष्ट होने वाली काली पतली रोम पंक्ति ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो उसकी करधनी में स्थित नीलमणि की कांति ही नीवी को पार करके झुकी हुई नाभि के छिद्र में प्रविष्ट हो रही हो ॥ ३८ ॥

मध्येन सा वेदिविलग्नमध्या वलित्रयं चारु बभार बाला ।
आरोहणार्थं नवयौवनेन कामस्य सोपानमिव प्रयुक्तम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—वेदिविलग्नमध्या सा बाला मध्येन चारु वलित्रयं कामस्य आरोहणार्थं नवयौवनेन प्रयुक्तं सोपानम् इव बभार ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—मध्येनेति ॥ 'वेदिः परिष्कृता भूमिः' इत्यमरः । वेदिविलग्नमध्या वेदिवत्कृशमध्या । तनुमध्येति यावत् । सा बाला पार्वती । मध्येन मध्यभागेन चारु सुन्दरं वलित्रयं कामस्यारोहणार्थं नवयौवनेन प्रयुक्तं रचितं सोपानमिव बभारेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

कृशोदरी पार्वती मध्यमाग में (पेट में पड़ने वाली) सुन्दर त्रिवली को, स्तन-वदनादि उच्चप्रदेश में कामदेव को चढ़ाने के लिए नवीन यौवन द्वारा बनाई गई सुन्दर तीन सीढ़ियों की तरह धारण करती थीं ॥ ३९ ॥

अन्योन्यमुत्पीडयदुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं पाण्डु तथा प्रवृद्धम् ।
मध्ये यथा श्याममुखस्य तस्य मृणालसूत्रान्तरमप्यलभ्यम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—अन्योन्यम् उत्पीडयत् पाण्डु उत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं तथा प्रवृद्धम्, श्याममुखस्य तस्य मध्ये यथा मृणालसूत्रान्तरम् अपि अलभ्यम् (आसीत्) ॥ ४० ॥

सञ्जी०—अन्योन्येति ॥ अन्योन्यं परस्परम् । कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये' इति द्विरुक्तिः । 'समासवच्च बहुलम्' इति बहुलवचनादसमासपक्षेऽपि पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः । उत्पीडयदुपरुन्धत्पाण्डु गौरमुत्पलाक्ष्याः स्तनद्वयं तथा तेन प्रकारेण प्रवृद्धम् । कर्तरि क्तः । श्याममुखस्य कृष्णचूचुकस्येति स्वरूपवर्णनं तस्य स्तनद्वयस्य मध्ये यथा येन प्रकारेण मृणालसूत्रान्तरं बिसतन्तुमात्रावकाशोऽप्यलभ्यं लब्धुमशक्यम् । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः । अत्र संबन्धेऽसंबन्धरूपातिशयोक्त्यलङ्कारः । कुचयोः पीवरत्वातिशयार्थमवकाशसंबन्धेऽप्यसंबन्धाभिधानादिति ॥ ४० ॥

कमल के समान नेत्रवाली पार्वती के गौर वर्ण वाले बड़े-बड़े स्तन आपस में इस प्रकार सटे हुए थे कि काले चुचुकों वाले उन स्तनों के बीच में मृणाल-तन्तु को भी प्रवेश पाने का अवकाश नहीं रह गया था ॥ ४० ॥

शिरीषपुष्पाऽधिकसौकुमार्यौ बाहू तदीयाविति मे वितर्कः ।
पराजितेनाऽपि कृतौ हरस्य यौ कण्ठपाशौ मकरध्वजेन ॥ ४१ ॥

अन्वयः—यौ (बाहू) पराजितेन अपि मकरध्वजेन हरस्य कण्ठपाशौ कृतौ, (अतः) तदीयौ बाहू शिरीषपुष्पाऽधिकसौकुमार्यौ इति में वितर्कः (अस्ति) ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—शिरीषेति ॥ तस्या इमौ तदीयौ बाहू शिरीषपुष्पादधिकं सौकुमार्यं मार्दवं ययोस्तथोक्ताविति मे वितर्क ऊहः । कुतः । यौ बाहू पराजितेनापि पूर्वं निर्जितेनापि मकरध्वजेन कामेन हरस्य कण्ठपाशौ कण्ठबन्धनरज्जू कृतौ । कण्ठालिङ्गनं प्रापितावित्यर्थः । तदसाध्यसाधनात्तत आधिक्यमिति भावः । अत्र बाह्वोरारोपितकण्ठपाशत्वस्य प्रकृतवैरनिर्यातनोपयोगात्परिणामालंकारः ॥ ४१ ॥

शंकर जी से पराजित होने पर भी कामदेव ने पार्वती की इन्ही शिरीष पुष्पों से भी सुकुमार प्रतीत होने वाली बाहुओं का उनके गले में कण्ठपाश डालकर उन्हें स्वाधीन कर लिया ॥ ४१ ॥

कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—स्तनबन्धुरस्य तस्याः कण्ठस्य निस्तलस्य मुक्ताकलापस्य च अन्योन्यशोभाजननात् भूषणभूष्यभावः साधारणः बभूव ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—कण्ठस्येति ॥ स्तनाभ्यां बन्धुरस्योन्नतस्य तस्याः पार्वत्याः कण्ठस्य गलस्य निस्तलस्य वर्तुलस्य मुक्ताकलापस्य मुक्ताभूषणस्य च । 'वर्तुलं निस्तलं वृत्तं बन्धुरं तून्नतानतम् ।' 'कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहतावपि' इति चामरः । अन्योन्यशोभाजननाद्भूषणभूष्यभावोऽलङ्कारालङ्कार्यभावः साधारणः समानो बभूव । उभावप्यन्योन्यस्य भूष्यौ भूषणे च बभूवतुरित्यर्थः । अत्र कण्ठमुक्ताकलापयोः शोभाक्रियाद्वारेणान्योन्यभूषाजनकत्वादन्योन्यालंकारः । तदुक्तम्—'परस्परं क्रियाजननमन्योन्यम्' इति ॥ ४२ ॥

उन्नत स्तनों वाली पार्वती के कण्ठ, तथा गोल आकृति वाली मौक्तिक माला की शोभा एक दूसरे की शोभा बढ़ाने के कारण परस्पर भूषण-भूष्यभाव के समान थी, अर्थात् कण्ठ की शोभा मौक्तिक माला से और मौक्तिक माला की शोभा कण्ठ से होती थी ॥ ४२ ॥

चन्द्रं गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम् ।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—लोला लक्ष्मीः चन्द्रं गता (सती), पद्मगुणान् न भुङ्क्ते, पद्माश्रिता (सती), चान्द्रमसीम् अभिख्यां न भुङ्क्ते। उमामुखं प्रतिपद्य तु द्विसंश्रयां प्रीतिम् अवाप ॥ ४३ ॥

सञ्जी०--चन्द्रमिति ॥ लोला चपला। परिभ्रमणशीलेत्यर्थः। लक्ष्मीः कान्त्यभिमानिनी देवता चन्द्रं गता प्राप्ता सती पद्मगुणान्सौगन्ध्यादीन्न भुङ्क्ते नानुभवति। पद्माश्रिता सती चन्द्रमस इमां चान्द्रमसीमभिख्यां शोभाम्। अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः। अमृतवदानन्दिनीं न भुङ्क्ते। उमामुखं प्रतिपद्य तु द्वे चन्द्रपद्मे संश्रयः कारणं यस्यास्तां द्विसंश्रयां प्रीतिमानन्दमवाप। तत्रोभयगुणसंभवादिति भावः। अत्रोपमानभूतचन्द्रपद्मापेक्षयोपमेयस्योमामुखस्याधिकगुणवत्त्वोक्त्या व्यतिरेकालङ्कारः। तदुक्तम्--'भेदप्राधान्येनोपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः' इति ॥ ४३ ॥

चञ्चल लक्ष्मी रात्रि में पूर्णचन्द्र को प्राप्तकर कमल-गत सौरभ्यादि गुणों को और दिन में कमल को प्राप्त कर चन्द्रगत आह्लादकत्वादि गुणों को नहीं पाती है, किन्तु सर्वकाल सुन्दर पार्वती के मुख को पाकर वह चन्द्र और कमल दोनों का आनन्द एक साथ ही पा लेती थी ॥ ४३ ॥

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥ ४४ ॥

अन्वयः—पुष्पं प्रवालोपहितं स्यात् यदि, मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थं स्यात् यदि ततः विशदस्य ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः तस्याः स्मितस्य अनुकुर्यात् ॥ ४४ ॥

सञ्जी०--पुष्पमिति ॥ पुष्पं पुण्डरीकादिकं प्रवाले बालपल्लव उपहितं निहितं स्याद्यदि। 'प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे बालपल्लवे' इति विश्वः। मुक्ताफलं वा स्फुटे निर्मले विद्रुमे तिष्ठतीति स्फुटविद्रुमस्थं स्याद्यदि ततस्तर्हि विशदस्य शुभ्रस्य ताम्रे अरुणे ओष्ठे पर्यस्ता प्रसृता रुक्कान्तिर्यस्य तथोक्तस्य तस्याः पार्वत्याः स्मितस्यानुकुर्यात्। स्मितमनुकुर्यादित्यर्थः। अत्र 'माषाणामश्नीयात्' इतिवत्संबन्धमात्रविवक्षया षष्ठी। अत्र पुष्पप्रवालयोर्मुक्ताविद्रुमयोश्चासंबन्धेऽपि संबन्धोक्त्यातिशयोक्तिः। 'सा च संभावना' इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः। विशेषतस्तु पुष्पमुक्ताफलयोरुपमानयोः प्रकृतोत्कर्षार्थमुपमेयताकल्पनात्प्रतीपालङ्कारः। तदुक्तम्--'उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपः' इति लक्षणात्। स च पूर्वोक्तातिशयोक्त्यनुप्राणित इति ॥ ४४ ॥

यदि नूतन पल्लव पर श्वेत पुष्प रख दिया जाय, अथवा मूंगे पर मोती

रख दिया जाय तो दोनों में से एक पार्वती के लाल अधरों पर चमकने वाले धवल स्मित की समानता कर सकता है ॥ ४४ ॥

स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अभिजातवाचि तस्याम् अमृतस्रुता इव स्वरेण प्रजल्पितायां (सत्याम्), अन्यपुष्टा अपि ताड्यमाना वितन्त्रीः इव श्रोतुः प्रतिकूलशब्दा (भवति) ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—स्वरेणेति ॥ अभिजातवाचि मधुरभाषिण्यां तस्यां पार्वत्याममृतस्रुतामृतस्राविणेव । क्विप् । स्वरेण नादेन प्रजल्पितायामालपन्त्याम् । कर्तरि क्तः । अन्यैः काकादिभिः पुष्टान्यपुष्टा कोकिलापि । मुख्यया वृत्त्या जातिवचनत्वाभावात् ङीबभावः । ताड्यमाना वाद्यमाना विषमबद्धा तन्त्रीर्वितन्त्रीरिव 'अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः' इति तन्त्रिधातोरौणादिक ईप्रत्ययः । ङीबभावान्न 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपः । तदुक्तम्—'अवीलक्ष्मीतरीतन्त्रीधीह्रीश्रीणामुणादितः । स्त्रीलिङ्गानाममीषां तु न सुलोपः कदाचन इति ॥' एते ङीबन्ता न भवन्तीत्यर्थः । श्रोतुर्जनस्य प्रतिकूलशब्दाः कर्णकठोरनादा भवन्तीति शेषः ॥ ४५ ॥

मधुरभाषणी पार्वती के अमृत बरसाने वाले मधुर स्वर के सामने, मधुर आलाप में प्रसिद्ध कोयल का मधुर स्वर भी अनजान से बजायी जाने वाली वीणा के स्वर की तरह, सुनने वालों के कानों को कठोर लगता था ॥ ४५ ॥

प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या ।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषम् अधीरविप्रेक्षितम् आयताक्ष्या तया मृगाङ्गनाभ्यः गृहीतं नु, यद्वा मृगाङ्गनाभिः ततो गृहीतं नु ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—प्रवातेति ॥ प्रवाते प्रभूतवातस्थले यन्नीलोत्पलं ततो निर्विशेषं निर्भेदम् । तत्सदृशमित्यर्थः । अधीरविप्रेक्षितं चकितविलोकितमायताक्ष्या विशालनेत्रया तया पार्वत्या मृगाङ्गनाभ्यो हरिणीभ्यो गृहीतमभ्यस्तं नु । अथवा मृगाङ्गनाभिस्ततस्तस्याः पार्वत्याः । पञ्चम्यास्तसिल् । गृहीतं नु । अत्र विवक्षितस्य परस्पर ग्रहणस्योत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षेति केचित् । तदुपजीविसंदेहालङ्कार इत्यन्ये । उभयोः सङ्कर इत्यपरे ॥ ४६ ॥

मन्द पवन से हिलने वाले नील कमल की तरह सुन्दर कटाक्ष-पात की कला

पार्वती ने हरिणियों से सीखा था अथवा हरिणियों ने पार्वती से सीखा था—इस शंका का विचार करने पर भी समाधान नहीं हो पाता था ॥ ४६ ॥

तस्याः शलाकाञ्जननिर्मितेव कान्तिर्भ्रुवोरायतलेखयोर्या ।
तां वीक्ष्य लीलाचतुरामनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥ ४७ ॥

अन्वयः—आयतलेखयोः तस्याः भ्रुवोः शलाकाञ्जननिर्मिता इव (स्थिता) या कान्तिः, लीलाचतुरां तां वीक्ष्य अनङ्गः स्वचापसौन्दर्यमदं मुमोच ॥ ४७ ॥

सञ्जी०—तस्या इति ॥ आयातलेखयोर्दीर्घरेखयोस्तस्याः पार्वत्या भ्रुवोः सम्बन्धिनी शलाकयाञ्जनेन निर्मितेव स्थिता या कान्तिर्लीलाचतुरां विलाससुभगां तां कान्तिं वीक्ष्यानङ्गः स्वचापसौन्दर्येण यो मदस्तं मुमोच । इह सौन्दर्यातिशयोक्तिः ॥ ४७ ॥

अंजन लगाने की सलाई से खींची रेखाओं की तरह पार्वती की दोनों आयत भौंहों की शोभा देखकर कामदेव ने अपने धनुष की शोभा का अभिमान छोड़ दिया ॥ ४७ ॥

लज्जा तिरश्चां यदि चेतसि स्यादसंशयं पर्वतराजपुत्र्याः ।
तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य कुर्युर्वालप्रियत्वं शिथिलं चमर्यः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—तिरश्चां चेतसि लज्जा स्यात् यदि, असंशयं पर्वतराजपुत्र्याः तं केशपाशं प्रसमीक्ष्य चमर्यः वालप्रियत्वं शिथिलं कुर्युः ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—लज्जेति ॥ तिरश्चां तिर्यग्जातीनां चेतसि लज्जा स्याद्यदि । संशयाभावोऽसंशयम् । संदेहो नास्तीत्यर्थः । पर्वतराजपुत्र्याः । 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' इति ङीन् । तं प्रसिद्धं केशपाशं केशकलापम् । 'पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे' इत्यमरः । प्रसमीक्ष्य दृष्ट्वा चमर्यो मृगीविशेषा वालाः प्रिया यासामिति विग्रहे वालप्रियास्तासां भावो वालप्रियत्वम् । प्रियवालत्वमित्यर्थः । आहिताग्न्यादिपाठाद्वा परनिपातः । 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' इति पुंवद्भावः । शिथिलं कुर्युः । निर्लज्जत्वान्न शिथिलयन्तीत्यर्थः । अत एवात्र निर्लज्जत्वकरणहेतोराद्यपादे वाक्यार्थत्वेनोक्त्या काव्यलिङ्गाख्योऽलङ्कारः । तदुक्तम्—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति ॥ ४८ ॥

मनुष्यों के समान पशु-पक्षियों के मन में भी अगर लज्जा होती तो चमरी मृगियाँ पार्वती के केशपाश को देखकर, उसके समान स्वाभाविक सौरभ्यादि न होने के कारण अपने केशपाशों के प्रति विशेष प्रेम कभी न करतीं ॥ ४८ ॥

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥ ४९ ॥

अन्वयः—सा विश्वसृजा एकस्थसौन्दर्यदिदृक्षया इव प्रयत्नात् यथाप्रदेशं विनिवेशितेन सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन निर्मिता ॥ ४९ ॥

सञ्जी०—सर्वोपमेति ॥ किं बहुना सा पार्वती विश्वसृजा विधात्रैकत्र तिष्ठतीत्येकस्थं तस्य सौन्दर्यस्य । सर्ववस्तुगतस्येत्यर्थः । दिदृक्षयेव द्रष्टुमिच्छयेवप्रयत्नाद्यथा प्रदेशं क्रमाद् विनिवेशितेन स्थापितेन सर्वेषामुपमाद्रव्याणां चन्द्रारविन्दाद्युपमान वस्तूनां समुच्चयेन समाहारेण निर्मिता । दिदृक्षयेवेति फलोत्प्रेक्षादर्शनार्थित्वाद्विश्वसृज इति ॥ ४९ ॥

सकल जगत का निर्माण करने वाले ब्रह्मा ने मानो एक ही स्थान में सकल सौन्दर्य को देखने की इच्छा से खोज-खोज कर चन्द्र, कमल, तिलकुसुम आदि प्रसिद्ध सुन्दर उपमान वस्तुओं का मुख, नयन, नासिका आदि अवयवों में यथायोग्य प्रयोग करके पार्वती की रचना की थी ॥ ४९ ॥

तां नारदः कामचरः कदाचित्कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे ।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ॥ ५० ॥

अन्वयः—कामचरः नारदः कदाचित् पितुः समीपे कन्यां तां प्रेक्ष्य किल प्रेम्णा हरस्य शरीरार्धहराम् एकवधूं भवित्रीं समादिदेश ॥ ५० ॥

सञ्जी०—तामिति ॥ कामेनेच्छया चरतीति कामचरो नारदः । कदाचित्पितुर्हिमवतः समीपे कन्यां तां पार्वतीं प्रेक्ष्य किल प्रेम्णा न त्वन्यथा हरस्य शिवस्यार्धं हरतीत्यर्धहरा । 'हरतेरनुद्यमनेऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । शरीरस्यार्धहराम् शरीरार्धहराम् । कुलधुरंधरादिवदवयवद्वारा समुदायविशेषकत्वात्समासः । अन्यथा त्वर्धस्य समप्रविभागवचनत्वादर्धशरीरेति स्यात् । एकवधूमसपत्नीकां भार्याम् । पूर्वकाल—' इत्यादिना समासः । भवित्रीं भाविनीं समादिदेश । हरस्यार्धाङ्गहारिण्येकपत्नी भविष्यतीत्यादिष्टवानित्यर्थः ॥ ५० ॥

इच्छानुसार विचरण करने वाले नारद मुनि ने किसी समय हिमालय के पास पार्वती को देखकर ऐसी भविष्यवाणी की कि यह कन्या शङ्कर जी के आधे शरीर को हरण करनेवाली उनकी एकमात्र पत्नी होगी ॥ ५० ॥

गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः ।
ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—गुरुः अतः अस्याः प्रगल्भे वयसि अपि निवृत्तान्यवराऽभिलाषः सन् तस्थौ, मन्त्रपूतं हव्यं कृशानोः ऋते अपराणि तेजांसि न अर्हन्ति ।। ५१ ।।

सञ्जी०—गुरुरिति ।। गुरुः पिता । ''गुरू गोष्पतिपित्राद्यौ' इत्यमरः । अतो नारदवचनाद्धेतोरस्याः पार्वत्याः प्रगल्भे वयस्यपि यौवने सत्यपि निवृत्तोऽ यस्मिन्वरे जामातर्यभिलाषो यस्य स तथोक्तः सन् । वरो ना रूपजामात्रोः' इति वैजयन्ती । तस्थौ । वरान्तरं नान्विष्टवानित्यर्थः । ननु कुतोऽसौ निर्बन्ध इत्यत आह—ऋत इति । तथाहि मन्त्रैः पूतं संस्कृतं हूयत इति हव्यमाज्यादिकं कृशानोः पावकादृते कृशानुं विना । 'अन्यारादितर'इत्यादिना पञ्चमी । अपराणि तेजांसि सुवर्णादीनि नार्हन्ति । न भजन्तीत्यर्थः । ईश्वरादन्यस्य तद्योग्यस्याभावादुपेक्षेति भावः ।। ५९ ।।

(विश्वसनीय नारद के कहने से) पिता हिमालय ने युवती होने पर भी पार्वती के लिये दूसरे वर की खोज नहीं की, क्योंकि जैसे मन्त्रपूर्वक दी हुई आहुति का ग्रहण अग्नि के अतिरिक्त और कोई भी तेज नहीं कर सकता है, वैसे ही पार्वती का पाणिग्रहण भी शङ्कर के बिना कोई दूसरा नहीं कर सकता है ।। ५१ ।।

अयाचितारं न हि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ।। ५२ ।।

अन्वयः—अद्रिः अयाचितारं देवदेवं सुतां ग्राहयितुं न शशाक, (तथाहि) साधुः अभ्यर्थनाभङ्गभयेन इष्टे अपि अर्थे माध्यस्थ्यम् अवलम्बते ।। ५२ ।।

सञ्जी०—अयाचितारमिति ।। अद्रिर्हिमवानयाचितारमयाचमानं देवदेवं महादेवं सुतां पार्वतीं ग्राहयितुं स्वयमाहूय परिग्राहयितुं न शशाक नोत्सेहे । तथाहि साधुः सज्जनः । 'साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चाभिधेयवत्' इति विश्वः । अभ्यर्थनाभङ्गभयेन याञ्चावैफल्यभीत्येष्टेऽप्यर्थे विषये माध्यस्थ्यमौदासीन्यमवलम्बते ।५२।

स्वयं विवाह की इच्छा से कन्या की याचना न करने वाले शङ्कर जी से अपनी पुत्री का पाणिग्रहण करने के लिए निवेदन करने में हिमालय ने कोई उत्साह नहीं दिखाया क्योंकि सज्जन अपनी प्रार्थना अस्वीकृत हो जाने के भय से अत्यन्त अभीष्ट कार्यों के प्रति भी उदासीन ही बने रहते हैं ।। ५२ ।।

यदैव पूर्वे जनने शरीरं सा दक्षरोषात्सुदती ससर्ज ।
तदा प्रभृत्येव विमुक्तसङ्गः पतिः पशूनामपरिग्रहोऽभूत् । ५३ ।।

अन्वयः—सुदती सा पूर्वे जनने (पूर्वं ज्वलने वा) यदा दक्षरोषात् शरीरं ससर्ज, तदा प्रभृति एव पशूनां पतिः विमुक्तसङ्गः सन् अपरिग्रहः अभूत् ।। ५३ ।।

सञ्जी०—यदेति ॥ शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती । 'वयसि दन्तस्य दतृ' इति दत्रादेशः । 'उगितश्च' इति ङीप् । सा पार्वती पूर्वे जनने पूर्वस्मिञ्जन्मनि । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति स्मिन्नादेशविकल्पः । 'पूर्वं ज्वलने' इति पाठे पूर्वं दाक्षायणीत्वे ज्वलने योगाग्नौ । यदा यस्मिन्काले दक्षरोषाच्छरीरं देहं ससर्ज तत्याज, तदाप्रभृत्येव तदादयेव यथा तथा पशूनां पतिः शिवो विमुक्तसङ्गस्त्यक्तविषयासङ्गः सन् । अपरिग्रहोऽपत्नीकोऽभूत् । स्त्र्यन्तरं न परिजग्राहेत्यर्थः । 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः ॥ ५३ ॥

पार्वती ही प्रथम जन्म में दक्षप्रजापति की कन्या थीं, और शङ्कर से ब्याही थीं, उन्होंने पिता द्वारा किये गये पति के अपमान से क्रुद्ध होकर जब अपने शरीर का योगाग्नि में त्याग कर दिया था, तभी से शङ्कर ने भी विषयवासना का परित्याग कर दूसरी किसी भी स्त्री से विवाह नहीं किया ॥ ५३ ॥

स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु ।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि किञ्चित्क्वणत्किन्नरमध्युवास ॥ ५४ ॥

अन्वयः—कृतिवासाः यतात्मा सः तपसे गङ्गाप्रवाहोक्षितदेवदारु मृगनाभिगन्धि क्वणत्किन्नरं किञ्चित् हिमाद्रेः प्रस्थम् अध्युवास ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—स इति ॥ कृत्तिवासाश्चर्माम्बरः । 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' इत्यमरः । यतात्मा नियतचित्तः सः पशुपतिस्तपसे तपोर्थं गङ्गाप्रवाहेणोक्षिताः सिक्ता देवदारवो यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । मृगनाभिगन्धि कस्तूरीगन्धवत् । कस्तूरीमृगसञ्चारादिति भावः । 'मृगनाभिर्मृगमदः कस्तूरी चाथ कोलकम्' इत्यमरः । क्वणन्तो गायन्तः किन्नरा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । किंचित्किमपि हिमाद्रेः प्रस्थं सानुमध्युवास । कुत्रचित्प्रस्थ उवासेत्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इत्याधारस्य कर्मत्वम् । 'प्रस्थोऽस्त्री सानुमानयोः' इत्यमरः ॥ ५४ ॥

गजचर्म को धारण कर जितेन्द्रिय शङ्कर भगवान् तपश्चर्या करने के लिये, हिमालय के किसी रमणीय शिखर पर रहा करते थे। जहाँ भागीरथी के जल-प्रवाह से सिंचे हुए देवदारु के बहुत से पेड़ थे, चारों तरफ कस्तूरी मृगों की सुगन्ध थी, तथा किन्नरमिथुन सर्वदा गाया करते थे। ५४ ॥

गणा नमेरुप्रसवावतंसा भूर्जत्वचः स्पर्शवतीर्दधानाः ।
मनःशिलाविच्छुरिता निषेदुः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु ॥ ५५ ॥

अन्वयः—गणाः नमेरुप्रसवावतंसाः स्पर्शवतीः भूर्जत्वचः दधानाः मनःशिलाविच्छुरिताः शैलेयनद्धेषु शिलातलेषु निषेदुः ॥ ५५ ॥

सञ्जी०—गणा इति ॥ गणाः प्रमथगणाः । 'गणाः प्रमथसंख्यौघाः' इति वैजयन्ती । नमेरुप्रसवावतंसाः सुरपुंन्नागः' इति विश्वः । स्पर्शवतीः सुखस्पर्शाः । मृद्वीरित्यर्थः । प्रशंसायां मतुप् । भूर्जत्वचो भूर्जवल्कलानि दधानाः । वसाना इत्यर्थः । मनःशिलाभिर्धातुविशेषैर्विच्छुरिता अनुलिप्ताश्च सन्त । शिलायां भवं शैलेयम् । गन्धौषधिविशेषः । शिलायाः 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति भवार्थे ढक् । 'शिलाजतु च शैलेयम्' इति यादवः । तेन नद्धेषु व्याप्तेषु शिलातलेषु निषेदुः । उपविविशुरित्यर्थः ॥ ५५ ॥

प्रमथादिक गण भी उस प्रदेश में सर्वदा सुलभ सुरपुन्नाग के कुसुमों को धारण कर, अत्यन्त मुलायम भोजपत्र को पहिनकर तथा शिलाजीत से व्याप्त पत्थरों की चट्टानों पर बैठकर शङ्कर भगवान् की सेवा में उपस्थित रहकर आनन्द मनाते थे ॥ ५५ ॥

तुषारसङ्घातशिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन्दर्पकलः ककुद्मान् ।
दृष्टः कथञ्चिद् गवयैर्विविग्नैरसोढसिंहध्वनिरुन्ननाद ॥ ५६ ॥

अन्वयः—तुषारसङ्घातशिलाः खुराग्रैः समुल्लिखन् दर्पकलः विविग्नैः गवयैः कथञ्चित् दृष्ट ककुद्मान् असोढसिंहध्वनिः सन् उन्ननाद ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—तुषारेति ॥ तुषारसंघाता हिमघनास्त एव शिलास्ताः खुराग्रैः समुल्लिखन्विदारयन्दर्पेण कलो मधुरध्वनिर्यस्य स दर्पकलो विविग्नैर्भीतैर्गवयैर्गोसदृशमृगविशेषैः कथंचित्कृच्छ्रेण दृष्टः । ककुदमस्यास्तीति ककुदमान्वृषभोऽसोढः सिंहानां ध्वनिर्येन स सिंहध्वनिमसहमानः सन् । उन्ननादोच्चैर्ननाद । जगर्जेत्यर्थः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तम्——'स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति ।५६।

अपने खुरों से बर्फ की चट्टानों को तोड़ता हुआ भयभीत गवयों से देखा जाने वाला, शङ्कर का वाहन, अतिगर्विष्ठ नन्दी बैल भी उस प्रदेश में सिंहों की दहाड़ को सहन न कर सकने के कारण उच्च स्वर से डकारता रहता था ॥ ५६ ॥

तत्राऽग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः ।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनाऽपि कामेन तपश्चचार ॥ ५७ ॥

अन्वयः——तपसः फलानां स्वयं विधाता अष्टमूर्तिः तत्र स्वम् एव मूर्त्यन्तरं समित्समिद्धम् अग्निम् आधाय केन अपि कामेन तपः चचार ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—तत्रेति ॥ तपसः फलानामिन्द्रत्वादीनां स्वयं विधाता जनयिता । दातेत्यर्थः । अष्टौ मूर्तयो यस्य सोऽष्टमूर्तिरीश्वरः । 'भूतार्कचन्द्रयज्वानो मूर्तयोऽष्टौ

प्रकीर्तिताः' इति । तत्र प्रस्थे स्वं स्वकीयमेव मूर्तिभेदं समिद्भिः समिद्धं दीपितमग्निमाधाय प्रतिष्ठाप्य केनापि कामेन कयापि फलकामनया तपश्चचार चक्रे । 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति न्यायात्कामेनेत्युक्तम् । तस्यावाप्तसमस्तकामत्वात्केनापीत्युक्तम् ॥ ५७ ॥

उसी हिमालय के रम्य शिखर पर, प्रसिद्ध स्वर्गादि फलों को स्वयं दूसरे को देने वाले महादेवजी समिधाओं से प्रदीप्त अपनी ही दूसरी प्रतिमूर्ति अग्नि का आधान करके, किसी अनिर्वचनीय कामना से तपश्चर्या करते थे । ५७ ॥

अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा ।
आराधनायाऽस्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अद्रिनाथः अनर्घ्यं स्वर्गौकसाम् अर्चितं तम् अर्घ्येण अर्चयित्वा अस्य आराधनाय सखीसमेतां प्रयतां तनूजां समादिदेश ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—अनर्घ्येति ॥ अद्रीणां नाथोऽद्रिनाथो हिमवान् । अर्घं मूल्यमर्हतीत्यर्घः । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः । 'दण्डादिभ्यो यः' इति यप्रत्ययः । अर्घ्यो न भवतीत्यनर्घ्यस्तमनर्घ्यम् । अमूल्यमित्यर्थः । स्वर्गं ओकः स्थानं येषां तेषां स्वर्गौकसां देवानामर्चितम् । देवैः पूज्यमानमित्यर्थः । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति वर्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी । तमीश्वरमर्घ्येण पूजार्थोदकेन । 'पादार्घाभ्यां च' इति यत्प्रत्ययः । 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे पाद्यं पादाय वारिणी' इत्यमरः । अर्चयित्वा पूजयित्वास्येश्वरस्याराधनाय सखीभ्यां जयाविजयाभ्यां समेतां प्रयतां नियतां तनूजां सुतां समादिदेशाज्ञापयामास ॥ ५८ ॥

हिमालय ने देवताओं के भी पूज्य और अपनी चोटी पर रहने वाले महादेवजी की अर्घ्य द्वारा यथायोग्य पूजा करके, जया और विजया दो सखियों के साथ नियमादि से पवित्र पार्वती को उनकी आराधना करने की आज्ञा दे दी ॥ ५८ ॥

प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां, गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—गिरिशः समाधेः प्रत्यर्थिभूताम् अपि शुश्रूषमाणां ताम् अनुमेने, विकारहेतौ सति येषां चेतांसि न विक्रियन्ते, ते एव धीराः ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—प्रत्यर्थीति ॥ गिरिशः शिवः समाधेः प्रत्यर्थिभूतां प्रतिपक्षभूतामपि । सुप्सुपेति समासः । श्रोतुमिच्छन्तीं शुश्रूषमाणां सेवमानाम् । सेवका हि सेव्ये दत्तकर्णा भवन्ति । इच्छार्थे सन्प्रत्ययः । 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मनेपदम् ।

तां पार्वतीमनुमेनेऽङ्गीचकार । न प्रतिषिद्धवानित्यभिप्रायः । न चैतावता धीरस्य कश्चिद्विकार इत्याशयः । धीरत्वमेवार्थान्तरन्यासेनाह—विकारेति । विकारस्य प्रकृतेरन्यथात्वस्य हेतौ स्त्रीसन्निधानादिकारणे सति विद्यमानेऽपि येषां चेतांसि न विक्रियन्ते न विकृतिं नीयन्ते त एव धीराः । 'विक्रियन्ते' इति कर्मणि लट् ॥५९॥

यद्यपि सुन्दरी पार्वती उनकी तपश्चर्या के लिए विघ्न रूप थीं किन्तु सेवा में लगी हुई पार्वती को उन्होंने वहाँ रहने की स्वीकृति दे दी । क्योंकि चित्त में विकार उत्पन्न करने वाले कारण के उपस्थित होने पर भी, जिनके मन में विकार उत्पन्न नहीं होता, वे ही महात्मा कहे जाते हैं ।। ५९ ॥

अवचितबलिपुष्पा वेदिसम्मार्गदक्षा
नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।
गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी
नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ॥ ६० ॥

अन्वयः—सुकेशी सा अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा नियमविधिजलानां बर्हिषां च उपनेत्री सती तच्छिरश्चन्द्रपादैः नियमितपरिखेदा सती प्रत्यहं गिरिशम् उपचचार ॥ ६० ॥

सञ्जी०—अवचितेति ॥ सुकेशी शोभनमूर्धजा । 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति ङीष् । सा पार्वत्यवचितानि लूनानि बलिपुष्पाणि पूजाकुसुमानि यया सा वेदेर्नियमवेदिकायाः सम्मार्गे संमार्जने दक्षा नियमविधेर्नित्यकर्मानुष्ठानस्य यानि जलानि तेषां बर्हिषां कुशानां चोपनेत्र्यानेत्री सती तस्य गिरिशस्य शिरसि चन्द्रस्य पादै रश्मिभिः । 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः । नियमितपरिखेदा निर्वर्तितपरिश्रमा सत्यहन्यहनि प्रत्यहम् । 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि–' इत्यादिना नियतार्थेऽव्ययीभावः । 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' इत्यच्प्रत्ययः । गिरिशमुपचचार शुश्रूषाञ्चक्रे ॥ ६० ॥

सुन्दर केशों वाली सुकुमारी पार्वती पूजन के लिये फूलों को तोड़कर लातीं वेदिका को अच्छी तरह साफ रखतीं तथा नित्यकर्म के लिये जल तथा कुशों को ले आतीं । इस प्रकार शङ्करजी के मस्तक पर स्थित चन्द्रमा की अमृतमयी किरणों से अपनी थकान मिटाती हुई वह प्रतिदिन उनकी श्रद्धा से सेवा-शुश्रूषा करती रहती थीं ॥ ६० ॥

॥ प्रथम सर्ग समाप्त ॥

* * *

द्वितीयः सर्गः

तस्मिन्विप्रकृताः काले तारकेण दिवौकसः ।
तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायम्भुवं ययुः ॥ १ ॥

अन्वयः—तस्मिन् काले तारकेण विप्रकृताः दिवौकसः तुरासाहं पुरोधाय स्वायम्भुवं धाम ययुः ॥ १ ॥

सञ्जी०—तस्मिन्निति ॥ तस्मिन्काले पार्वतीशुश्रूषाकाले तारकेण तारकनाम्ना वज्रणखपुत्रेण केनचिदसुरेण विप्रकृता उपप्लुता दिवमोकः स्थानं येषां ते दिवौकसो देवाः 'दिवं स्वर्गेऽन्तरिक्षे च' इति विश्वः । द्यौरोक इति पक्षे पृषोदरादित्वात्साधुः । तुरं त्वरितं साहयत्यभिभवतीति तुराषाट् । साहयत्तेश्चौरादिकात्क्विप् । 'नहिवृतिवृषि—' इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः । प्रकृतिग्रहणे प्रातिपदिकस्यापि ग्रहणात् । मुग्धबोधकारस्तु तुराशब्दष्टाबन्त इत्याचष्टे । तं तुरासाहं देवेन्द्रम् । अजादिषु साड्रूपत्वाभावात् । 'सहेः साडः सः' इति षत्वं न भवति । पुरोधाय पुरस्कृत्य । स्वयंभुवो ब्रह्मण इदं स्वायंभुवम् । संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वात् 'ओर्गुणः' इति गुणो न । धाम स्थानं ययुः । ब्रह्मलोकं जग्मुरित्यर्थः ॥ १ ॥

जिस समय पार्वती शङ्कर भगवान् की सेवा कर रही थीं, उसी समय तारकासुर से पीड़ित होकर सभी देवता इन्द्र को अगुवा बनाकर ब्रह्माजी से प्रार्थना करने के लिये सत्यलोक में पहुँचे ॥ १ ॥

तेषामाविरभूद् ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम् ।
सरसां सुप्तपद्मानां प्रातर्दीधितिमानिव ॥ २ ॥

अन्वयः—परिम्लानमुखश्रियां तेषां ब्रह्मा, सुप्तपद्मानां सरसां प्राप्तः दीधितिमान् इव, आविरभूत् ॥ २ ॥

सञ्जी०—तेषामिति ॥ परिम्लाना परिक्षीणा मुखश्रीर्मुखकान्तिर्येषां तथाक्तानां तेषां देवानां ब्रह्मा सुप्तपद्मानां मुकुलितारविन्दानां सरसां प्रातर्दीधितिमान्सूर्य इवाविरभूत् । प्रकाशोऽभूदित्यर्थ । 'प्रकाशे प्रादुराविः स्यात्' इत्यमरः । सूर्योपमानेन तेषां म्लानिहरणत्वं मूचितम् । अत्रोपमालङ्कारः । तल्लक्षणं तु—'स्वतः सिद्धेन भिन्नेन संमतेन च धर्मतः । साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चैकपदोपमा ॥' इति ॥ २ ॥

तारकासुर के पय से उदास मुखवाले इन्द्रादि देवताओं के समक्ष, दयासागर ब्रह्माजी उसी प्रकार प्रकट हुए जैसे प्रातःकाल मुकुलित कमलों से युक्त तालाबों के सामने सूर्य का प्रादुर्भाव होता है ॥ २ ॥

अथ सर्वस्य धातारं ते सर्वे सर्वतोमुखम् ।
वागीशं वाग्भिरर्थ्याभिः प्रणिपत्योपतस्थिरे ॥ ३ ॥

अन्वय—अथ सर्वे ते सर्वतोमुखं वागीशं सर्वस्य धातारं प्रणिपत्य अर्थ्याभिः वाग्भिः उपतस्थिरे ॥ ३ ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथाविर्भावानन्तरं सर्वे ते देवाः सर्वतः समन्ततो मुखानि यस्य तं सर्वतोमुखम् । चतुर्मुखमित्यर्थः । वाचां विद्यानामीशं सर्वस्य जगतो धातारं स्रष्टारं ब्रह्माणं प्रणिपत्य नमस्कृत्य । अर्थादनपेताभिरर्थ्याभिः । अर्थयुक्ताभिरित्यर्थः । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः । वाग्भिरुपतस्थिरे । तुष्टुवुरित्यर्थः । 'उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वक्तव्यम्' इत्यात्मनेपदम् ॥ ३ ॥

संपूर्ण संसार का निर्माण करने वाले चतुर्मुख ब्रह्मा को प्रणाम कर के देवता गण पवित्र अर्थमयी वाणी से उनकी स्तुति करने लगे ॥ ३ ॥

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद् भेदमुपेयुषे ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे भगवन् ! सृष्टेः प्राक् केवलात्मने, पश्चात् गुणत्रयविभागाय भेदम् उपेयुषे, अत एव त्रिमूर्तये, तुभ्यं नमः ॥ ४ ॥

सञ्जी०—नम इति ॥ हे भगवन्नित्यध्याहार्यं व्याख्येयम् । सृष्टेः प्राक् । 'अन्यारात्—' इत्यादिनाञ्चूत्तरपदयोगे पञ्चमी । केवलात्मन एकरूपाय । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इति श्रुतेः 'निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः' इत्यमरः । पश्चात्सृष्टिप्रवृत्तिकाले । विभज्यतेऽनेनेति विभागः । गुणानां सत्त्वादीनां त्रयमेव विभागो यस्य तस्मै । गुणाः सत्त्वं रजस्तमः इत्यमरः । भेदमुपाधिम् । स्रष्टुत्वादिकमित्यर्थः उपेयुषे प्राप्तवते । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति निपातः । अत एव त्रिमूर्तये ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपिणे तुभ्यं नमः । 'नमः स्वस्ति—' इत्यादिना चतुर्थी । उक्तं च—'नमो रजोजुषे सृष्टौ स्थितौ सत्त्वमयाय च । तमोरूपाय संहारे त्रिरूपाय स्वयंभुवे ।' इति ॥ ४ ॥

हे भगवन् ! सृष्टि के पहिले एक किन्तु सृष्टिकाल में क्रम से सत्त्व, रज, तम गुणों को अधिष्ठित कर ब्रह्मा, विष्णु महेश के रूप में त्रिमूर्तिरूप उपाधि को धारण करने वाले आपको अनेक प्रणाम है ॥ ४ ॥

यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज ! त्वया ।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे अज ! अपाम् अन्तः यत् अमोघं बीजम् उप्तम् अतः चराचरं (उत्पन्नः) विश्वं तस्य प्रभवः गीयसे ॥ ५ ॥

सञ्जी०—यदिति ॥ न जायत इत्यजः । हे अज, अपां जलानामन्तस्त्वया यदमोघमवन्ध्यं बीजं वीर्यमुप्तं निक्षिप्तम् । 'मुक्तम्' इति पाठे विसृष्टमित्यर्थः । 'शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' इत्यमरः । अतस्ते बीजाच्चराचरं स्थावरजंगमात्मकम् । समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः । विश्वं जगत् । उत्पन्नमिति शेषः । तस्य विश्वस्य । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणं गीयसे । 'अदश्चराचरं विश्वं प्रसवस्तस्य गीयते' इति पाठे अद इदं चराचरं विश्वं तस्य बीजस्य प्रभवो गीयसे । लोक इति शेषः । अत्र मनुः—'अप एव ससर्जादौ तासुबीजमवासृजत् । तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ॥' इति ॥ ५ ॥

हे ब्रह्मन् ! आपने सर्वप्रथम जल की सृष्टि कर उसमें अव्यर्थ बीज का वपन किया था, उसी से चराचर विश्व उत्पन्न हुआ; अतः आप विश्व के कारण कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥ ६ ॥

अन्वयः—एकः त्वं तिसृभिः अवस्थाभिः महिमानम् उदीरयन् प्रलयस्थितिसर्गाणां कारणतां गतः ॥ ६ ॥

सञ्जी०—तिसृभिरिति ॥ एकः सृष्टेः प्राक्केवलस्त्वं तिसृभिरवस्थाभिस्त्रैगुण्यमयीभिर्हरिहरब्रह्मस्वरूपाभिर्महिमानं निजशक्तिमुदीरयन्जृम्भयन्प्रलयस्थितिसर्गाणामन्तस्थित्युत्पत्तीनां कारणतां गतः । इदं 'पश्चाद्भेदमुपेयुषे' (२।४) इत्यस्य विवरणमतो न गतार्थत्वदोषः ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन् आप एक होते हुए त्रिगुणमयी तीन अवस्थाओं में तीन रूपों द्वारा अपनी महिमा का प्रकाश करते हुए संसार के संहार, पालन, और सृष्टि के एक मात्र कारण हैं ॥ ६ ॥

स्त्रीपुंसावात्मभागौ ते भिन्नमूर्तेः सिसृक्षया ।
प्रसूतिभाजः सर्गस्य तावेव पितरौ स्मृतौ ॥ ७ ॥

अन्वयः—स्त्रीपुंसौ सिसृक्षया भिन्नमूर्तेः ते आत्मभागौ स्तः । तौ एव प्रसूतिभाजः सर्गस्य पितरौ स्मृतौ ॥ ७ ॥

सञ्जी०—स्त्रीपुंसाविति ॥ स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ । 'अचतुर---' इत्यादिनाच्प्रत्ययान्तो निपातः । सिसृक्षया स्रष्टुमिच्छया भिन्नमूर्तेर्द्विधाकृतविग्रहस्य ते

तवात्मनो देहस्य भागावात्मभागौ । 'आत्मा जीवे घृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्वः । तावेव भागौ प्रसूतिभाज उत्पत्तिभाजः । सृज्यत इति सर्गस्तस्य । निजसृष्टेरित्यर्थः । माता च पिता च पितरौ । 'पिता मात्रा' इत्येकशेषः । स्मृतौ कथितौ । वृद्धैरिति शेषः । अत्र मनुः—'द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् । अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥' इति ॥ ७ ॥

सृष्टि की इच्छा से माया का अवलम्बन कर, प्रकृति-पुरुष के रूप में भिन्न-मूर्ति धारण करनेवाले आप के शरीर के स्त्री और पुरुष, ये दो भाग हैं । ये ही उत्पन्न होनेवाली सृष्टि के माता-पिता कहे जाते हैं ॥ ७ ॥

स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिन्दिवस्य ते ।
यौ तु स्वप्नाऽवबोधौ तौ भूतानां प्रलयोदयौ ॥ ८ ॥

अन्वयः—स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिन्दिवस्य ते, यौ तु स्वप्नावबोधौ, तौ (एव) भूतानां प्रलयोदयौ (भवतः) ॥ ८ ॥

सञ्जी०—स्वकालेति ॥ स्वकालस्य परिमाणेन चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते' इत्युक्तरूपेण व्यस्तं विभक्तं रात्रिन्दिवं रात्र्यहनी यस्य तस्य । यद्यपि 'अचतुर—' इत्यादिसूत्रेण रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवमिति सप्तम्यर्थे वृत्तौ द्वन्द्व इत्युक्तं तथापि 'दोषामन्यमहः' 'दिवामन्या रात्रिः' इत्यादौ कर्मवदत्रापि प्रातिपदिकार्थवृत्तित्वं कथञ्चित्प्रयोगबलादाश्रयणीयम् । ते तव यौ तु स्वप्नावबोधौ तावेव भूतानां प्रलयोदयौ संहारसृष्टी । 'यदाहुः—'यदा स देवो जागर्ति तदैव चेष्टते जगत् । यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं प्रलीयते ॥' इति । एतच्च दैनन्दिन सृष्टिप्रलयाभिप्रायकं महाप्रलयस्य ब्रह्मणो वर्षशतान्ते भावित्वात् ॥ ८ ॥

आपने अपने समय के परिमाण से (चार हजार बार चारो युगों के बीत जाने पर ब्रह्मा का एक दिन और उतने ही समय की एक रात होती है) रात दिन का जो विभाग किया हैं उसके अनुसार रात में आप का सोना ही संसार की प्रलय और जागना ही संसार की सृष्टि है ॥ ८ ॥

जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः ।
जगदादिरनादिस्त्वं जगदीशो निरीश्वरः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे भगवन् ! त्वं जगद्योनिः, स्वयम् अयोनिः, जगदन्तः, स्वयं निरन्तकः, त्वं जगदादिः, अत एव अनादिः त्वं जगदीशः, स्वयं निरीश्वरः (असि) ॥ ९ ॥

सञ्जी०—जगदिति ॥ हे भगवन्, त्वं जगद्योनिर्जगत्कारणं स्वयमयोनिरनादित्वादकारणकस्त्वम् । अन्तयतीत्यन्तः । पचाद्यच् । जगतोऽन्तर्जत्गसंहर्ता स्वयं निरन्तको नित्यत्वादन्तरहितः । त्वं जगतामादिर्जगदादिः । सृष्टे प्रागपि सन्नित्यर्थः । अतएव त्वमनादिरादिरहितः । त्वं जगतामीशो नियन्ता स्वयं निरीश्वरः अनियम्य इत्यर्थः । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिरेवात्र प्रमाणम् । अत्रायोनिरित्यादौ नञ्तत्पुरुषाश्रयणे विरोधः । बहुव्रीहिणा तु तत्परिहार इति विरोधाभासालङ्कारः । यथाहुः—'विरोधाभासत्वे विरोधः' इति ॥ ६ ॥

हे भगवन् ! आप स्थावर-जङ्गमात्मक संपूर्ण जगत् के उत्पादन का कारण होते हुए भी स्वयं कारणान्तर से रहित तथा जगत् का नाश करने वाले होकर भी स्वयं नाशरहित हैं । आप जगत् के आदि में विद्यमान हैं, किन्तु स्वयं अनादि हैं । (आपने ही संसार का प्रारंभ किया है किन्तु आप का प्रारंभ कभी नहीं हुआ) आप जगत् के ईश्वर हैं, परन्तु आपका ईश्वर कोई नहीं है ॥ ९ ॥

आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना ।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे ॥ १० ॥

अन्वयः—हे भगवन् ! त्वम् आत्मानम् आत्मना एव वेत्सि, आत्मानम् आत्मना एव सृजसि । कृतिना आत्मना च आत्मनि एव प्रलीयसे ॥ १० ॥

सञ्जी०—आत्मानमिति ॥ हे भगवन्, त्वमात्मानं लोकानुग्रहार्थं ब्रह्मरूपेणोत्पिपादयिषितं स्वस्वरूपमात्मनैव वेत्सि जानासि । सर्वापि क्रिया कर्तव्यार्थज्ञानपूर्विकेति भावः । तथात्मानमात्मनैव । आत्मन्येवेत्यत्रापि सम्बध्यते । स्वस्मिन्नेव सृजसि । अधिष्ठानमपि स्वयमेवेत्यर्थः । 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितम्' इति श्रुतेः । कृतिना समर्थेन । इदं सर्वत्र सम्बध्यते । आत्मना स्वेनैवात्मन्नेव प्रलीयसे स्वस्मिन्नेव' प्रलीनो भवसि । लीयतेर्दैवादिकात्कर्तरि लट् । 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति वार्तिकात्सर्वत्रात्मनेति तृतीया । न हि ते प्रपञ्चस्येव ज्ञानोत्पत्तिलयेषु परापेक्षेति फलितार्थः ॥ १० ॥

आप स्वयं अपने ही द्वारा अपना (अपने स्वरूप तथा उसकी रचना के उपाय का) ज्ञान प्राप्त करते और अपने ही द्वारा स्वयं अपना सृजन भी करते हैं । फिर अपना कार्य पूरा कर चुकने पर (सृष्टिकार्य के पूर्ण हो जाने पर) अपने आप को अपने ही में विलीन भी कर लेते हैं ॥ १० ॥

द्रवः सङ्घातकठिनः स्थूलः सूक्ष्मो लघुर्गुरुः ।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चाऽसि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे भगवन् ! त्वम् द्रवः, संघातकठिनः, स्थूलः, सूक्ष्मः, लघुः, गुरुः, व्यक्त व्यक्तेतरश्च असि । विभूतिषु ते प्राकाम्यम् (अस्तीति शेषः) ॥ ११ ॥

सञ्जी०—द्रव इति ॥ त्वमित्यनुषज्यते । हे भगवन्, त्वं द्रवः सरित्समुद्रादिवद्रसात्मकोऽसि । संघातेन निबिडसंयोगेन कठिनो महीधरादिवत् । स्थूलं इन्द्रियग्रहणयोग्यो घटादिवत् । सूक्ष्मोऽतीन्द्रियः । परमाण्वादिवत् । लघुरुत्पतनयोग्यस्तूलादिवत् गुरुर्हेमाद्रिवदचलनीयः । व्यक्तः कार्यरूपोऽसि । व्यक्तेतरः कारणरूपश्चासि । एवं विभूतिष्वणिमादिषु ते तव । प्रकामस्य भावः प्राकाम्यं यथाकामत्वम् ॥ ११ ॥

हे ब्रह्मन् आप (नदी समुद्र के समान) रस स्वरूप (तरल) भी हैं तथा (पर्वतों के समान) अत्यन्त सघन एवं कठोर भी हैं । आप (घटादि की तरह) स्थूल (इन्द्रियगम्य) भी हैं तथा (परमाणु के समान) सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) भी हैं । आप (रूई की तरह) अत्यंत हल्के (उड़ने योग्य) भी हैं तथा (हिमालय की तरह) भारी (अचल) भी हैं । आप (संसार रूपी कार्य के रूप में) व्यक्त भी हैं तथा (संसार के कारण रूप में) अव्यक्त भी हैं । इस प्रकार सभी सिद्धियाँ (अणिमा, गरिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व) आप की इच्छा के अधीन हैं । अर्थात् आप जैसा चाहें वैसा वन सकते हैं ॥११॥

उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम् ।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे भगवन् ! यासां गिरामुद्घातः प्रणवः, यासां त्रिभिः न्यायैः उदीरणं, यासां कर्म यज्ञः फलं स्वर्गः, त्वं तासां गिरां प्रभवः असि ॥ १२ ॥

सञ्जी०—उद्घात इति ॥ हे भगवन्, यासां गिरां वाचामुद्घात उपक्रमः प्रणव ओङ्कारात्मकः । 'ओङ्कारप्रणवौ समौ' इति । 'स्यादम्यादानमुद्घात आरम्भ' इति चामरः । इदमुपसंहारस्याप्युपलक्षणम् । ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वतः । दहत्येनः कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशेषतः ॥' इति निरुक्तपरिशिष्टयोर्यास्कः । नीयन्त एभिरर्थविशेषा इति न्यायाः स्वराः । उक्तं च—'स्वरविशेषादर्थप्रतिपत्तिः ।' 'यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' इति । यासां गिरां त्रिभिर्न्यायैरुदात्तानुदात्तस्वरितैः स्वरैरुदीरणमुच्चारणम् । यासां कर्म । प्रतिपाद्यमित्यर्थः । यज्ञो ज्योतिष्टोमादिः । न तु चैत्यवन्दनादिरिति भावः । फलं स्वर्गः कर्मद्वारेति शेषः । कर्मस्वर्गौ ब्रह्मापवर्गयोरप्युपलक्षणे । त्वं तासां गिराम् । वेदानामित्यर्थः । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । प्रणेता स्मर्ता वा मतभेदेन ॥ १२ ॥

हे ब्रह्मन्, आप ही उस वेद वाणी के मूल कारण (प्रणेता अथवा स्मर्ता) हैं जिसका प्रारंभ ओंकार से और उच्चारण तीन स्वरों (उदात, अनुदात्त, स्वरित) से किया जाता है । तथा जिसका कार्य यज्ञ है (अर्थात् जिससे यज्ञ क्रिया जाता है) एवं फल स्वर्ग की प्राप्ति है ॥ १२ ॥

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे भगवन् ! त्वां पुरुषार्थप्रवर्तिनीं प्रकृतिम् आमनन्ति । त्वाम् एव तद्दर्शिनम् उदासीनं पुरुषं विदुः ॥ १३ ॥

सञ्जी०—त्वामिति ॥ हे भगवन्, त्वां पुरुषस्यार्थो भोगापवर्गरूपस्तदर्थं प्रवर्तत इति पुरुषार्थप्रवर्तिनीं तां प्रकृतिं त्रैगुण्यात्मकं मूलकारणम् । 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु प्रधाने मूलकारणम्' इति यादवः आमनन्ति कथयन्ति । 'म्ना अभ्यासे' इति धातोर्लट् । 'पाघ्राध्मास्थाम्ना—' इत्यादिना मनादेशः । प्रकृतिपुरुषभेदाग्रहणात्प्रकृतिपुरुषाभेदव्यपदेशः । त्वामेव तां प्रकृतिं साक्षित्वेन पश्यतीति दद्दर्शिनमुदासीनं कूटस्थं पुरुषं विदुर्विदन्ति । 'विदो लटो वा' इति झेर्जुसादेशः । 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' श्रुतिरत्र प्रमाणम् ॥ १३ ॥

हे कमलासन ! सांख्यस्मृति आपको ही (धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों) पुरुषार्थों के लिए प्रेरित करने वाली मूल प्रकृति (सत्व, रज औ तम की साम्यावस्था) कहती है, और आप ही को उस प्रकृति का साक्षात्कार करने वाला तथा उसके प्रति उदासीन पुरुष भी मानती है ॥ १३ ॥

त्वं पितृणामपि पिता देवानामपि देवता ।
परतोऽपि परश्चाऽसि विधाता वेधसामपि ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे भगवन् ! त्वं पितृणाम् अपि पिता, देवनाम् अपि देवता, परतः अपि परश्च असि, वेधसाम् अपि विधाता असि ॥ १४ ॥

सञ्जी०—त्वमिति ॥ हे भगवन्, त्वं पितृणामाग्नीष्वात्तादीनामपि पिता । तेषामपि तर्पणीय इत्यर्थः । देवानामिन्द्रादीनामपि देवता । तेषामपि यजनीय इत्यर्थः । परतोऽपि परश्चासि । सर्वोत्तरोऽसीत्यर्थः । 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसश्च परा द्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥' इति सर्वोत्तरत्वाभिधानात् । वेधसां दक्षादीनामपि विधाता स्रष्टासि ॥ १४ ॥

हे प्रजापते ! आप (अग्निष्वात्तादि) पितरों के भी पिता हैं (इन्द्रादि) देवों के भी देव हैं, माया-शबल परमपुरुष से भी परे (सर्वोत्तर) हैं और जगत् की सृष्टि करने वाले (मरीच्यादि) प्रजापतियों के भी सृष्टिकर्ता हैं ।। १४ ।।

त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः ।
वेद्यं च वेदिता चाऽसि ध्याता ध्येयं च यत्परम् ।। १५ ।।

अन्वयः—शाश्वतः त्वम् एव हव्यं होता च असि, भोज्यं भोक्ता च असि, वेद्यं वेदिता च असि, ध्याता यच्च परं ध्येयं (तच्च असि)।। १५ ।।

सञ्जी०—त्वमेवेति ।। शश्वत्सिद्धः शाश्वतः नित्यः । शैषिकोऽण्प्रत्ययः यद्यपि 'कालाट्ठञ्' इति ठञापवादः । अत एव सूत्रकारस्यापि प्रयोगः—'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इति । तथापि प्रयोगवशात्साधुरिति वामन इतिः । शाश्वतः प्रयुक्तः शाश्वतस्त्वमेव । हूयत इति हव्यं हविराज्यादिकम् । जुहोतीति होता यजमानश्चासि । भोज्यमभ्यवहार्यन्नम् । 'भोज्यं भक्ष्ये' इति निपातनात्कुत्वाभावः । भोक्तान्नादश्चासि । वेद्यं साक्षात्कार्यं वस्तु वेदिता साक्षात्कर्ता चासि । ध्याता स्मर्ता च । यत्परम् वस्तु ध्येयं तच्चासि । साक्षात्कारसाधनभूतप्रत्ययविशेषप्रवाहो ध्यानम् ।। १५ ।।

हे भगवन्, आप ही (पशु पुरोडाशादि) हवन की सामग्री भी हैं, और आप ही हवन करने वाले भी हैं, आप ही भोक्ता भी हैं, आप ही भोज्य भी हैं, और आप ही जानने योग्य भी हैं, और जानने वाले भी आप ही हैं, तथा आप ही उपासक भी हैं, और आप ही उपास्य भी हैं ।। १५ ।।

इति तेभ्यः स्तुतीः श्रुत्वा यथार्था हृदयङ्गमाः ।
प्रसादाभिमुखो वेधाः प्रत्युवाच दिवौकसः ।। १६ ।।

अन्वयः—वेधा इति तेभ्यः यथार्थाः हृदयङ्गमाः स्तुतीः श्रुत्वा प्रसादाभिमुखः सन् दिवौकसः प्रत्युवाच ।। १६ ।।

सञ्जी०—इतीति ।। वेधा ब्रह्मेति तेभ्यो देवेभ्यः । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । यथार्थाः सत्या अतएव हृदयं गच्छन्तीति हृदयङ्गमा मनोहराः । खच्प्रकरणे 'गमेः सुप्युपसंख्यानम्' इति खच्प्रत्ययः । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः । स्तुतिः स्तोत्राणि श्रुत्वा प्रसादाभिमुखोऽनुग्रहप्रवणः सन् । दिवौकसो देवान्प्रत्युवाच ।। १६ ।।

इस प्रकार उन देवताओं से सच्ची एवं मुग्ध कर लेनेवाली अपनी स्तुति सुनकर ब्रह्माजी अत्यन्त प्रसन्न होकर इन्द्रादि देवताओं से बोले ।। १६ ।।

पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता ।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी ॥ १७ ॥

अन्वयः—चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः पुराणस्य कवेः तस्य चतुर्मुखसमीरिता सती चरितार्था आसीत् ॥ १७ ॥

सञ्जी०—पुराणस्येति ॥ द्रव्यगुणक्रियाजातिभेदेन चत्वारोऽवयवा यस्या इति चतुष्ठयी चतुर्विधा । 'सङ्ख्याया अवयवे तयप्' इति तयप् । 'टिड्ढाणञ्द्वयसच्—' इत्यादिना ङीप् । शब्दानां प्रवृत्तिर्वैखरीप्रमुखा वाग्वृत्तिः । उक्तं च—'वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा । द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥' इति । पुराणस्य पुरातनस्य । पृषोदरादित्वात्साधुः । कवेः कवयितुस्तस्य ब्रह्मणश्चतुर्भिर्मुखैः समीरिता सती । 'तद्धितार्थ--' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । समाहारे चतुर्मुखीति स्यात् । चरितार्थान्विर्थासीत् । चतुर्मुखोच्चारणाच्चातुर्विध्यं सफलमासीदित्यर्थः ॥ १७ ॥

उस समय प्राचीन कवि ब्रह्मा के चारो मुखों से निकलनेवाली (द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति के भेद से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक) शब्दों की चार प्रकार की प्रवृत्तियाँ चरितार्थ हो गयीं ॥ १७ ॥

स्वागतं स्वानधीकारान्प्रभावैरवलम्ब्य वः ।
युगपद्युगबाहुभ्यः प्राप्तेभ्यः प्राज्यविक्रमाः ॥ १८ ॥

अन्वयः—प्राज्यविक्रमाः ! स्वान् अधीकारान् प्रभावैः अवलम्ब्य युगपत् प्राप्तेभ्यः युगबाहुभ्यः वः स्वागतम् ॥ १८ ॥

सञ्जी०—स्वागतमिति ॥ हे प्राज्यविक्रमाः प्रभूतपराक्रमा देवाः । 'प्राज्यं भूरिप्रभूतं च' इति यादवः । स्वान्स्वकीयानधीकारान्नियोगान् । 'उपसर्गस्य घञि—' इति वा दीर्घः । प्रभावैः सामर्थ्यैरवलम्ब्यास्थाय । यथाधिकारं स्थित्वापीत्यर्थः । युगपत्समकालं प्रासेभ्यः । युगपत्प्राप्त्या महत्कार्यमनुमीयत इति भावः । युगबाहुभ्यः । दीर्घबाहुभ्य इत्यर्थः । आजानुबाहुत्वं भाग्यलक्षणम् । वो युष्मभ्यम् । 'बहुवचनस्य वस्नसौ' इति वसादेशः । 'कर्मणा यमभिप्रैति--' इत्यत्र कर्मपदेन क्रियाग्रहणात्संप्रदानत्वम् । स्वागतं शोभनमागमनम् । काकुरत्रानुसंधेया ॥ १८ ॥

अपनी-अपनी शक्ति से अपने-अपने अधिकारों को धारण करनेवाले तथा एक साथ मिलकर आए हुए आजान बाहु (लंबी बाहोंवाले) महा पराक्रमो देवताओ आप लोगों का स्वागत है ॥ १८ ॥

किमिदं द्युतिमात्मीयां न विभ्रति यथा पुरा ।
हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतींषीव मुखानि वः ॥ १९ ॥

अन्वयः—हे वत्साः ! हिमक्लिष्टप्रकाशानि ज्योतींषि इव वः मुखानि पुरा यथा आत्मीयां द्युतिं न बिभ्रति, इदं किम् ? ॥ १९ ॥

सञ्जी०—किमिति ॥ 'वत्साः' इत्युत्तरश्लोकीय (४।२८) सम्बोधनमत्राप्यनुषञ्जनीयम् । हे वत्साः पुत्रकाः, हिमेन नीहारेण क्लिष्टप्रकाशानि मन्दप्रभाणि ज्योतींषि नक्षत्राणीव । 'दीप्तिताराहुताशेषु ज्योतिः' इति शाश्वतः । वो युष्माक मुखानि पुरा यथा पूर्वमिवात्मीयां द्युतिं न बिभ्रति । इदं किम् । किन्निबन्धनमित्यर्थः । किमिदमित्यनेन वाक्यार्थः परामृश्यते ॥ १९ ॥

किन्तु यह क्या बात है कि कुहरे से ढक जाने के कारण धुँधले पड़े हुए ज्योतिष पिंडों (तारों) की तरह आप लोगों के उदास मुखों पर पहिले जैसा तेज नहीं दिखाई पड़ रहा है ॥ १९ ॥

प्रशमादर्चिषामेतदनुद्गीर्णसुरायुधम् ।
वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिताश्रीव लक्ष्यते ॥ २० ॥

अन्वयः—अर्चिषां प्रशमात् अनुद्गीर्णसुरायुधम् एतत् वृत्रस्य हन्तुः कुलिशं कुण्ठिताश्रि इव लक्ष्यते ॥ २० ॥

सञ्जी०—प्रशमादिति ॥ अर्चिषां तेजसां प्रशमान्निर्वाणादनुद्गीर्णसुरायुधम् । अनुदितचित्रप्रभामित्यर्थः । एतद्वृत्रस्य हन्तुरिन्द्रस्य कुलिशं वज्रम् । कुण्ठिता अश्रयो यस्य तत्कुण्ठिताश्रि कुण्ठितकोटीव लक्ष्यते दृश्यते ॥ २० ॥

प्रभा-मंडल के नष्ट हो जाने से इन्द्रधनुष जैसी रंगविरंगी कांतिमयी किरणों को अपने ही में समेटे हुए वृत्रासुरको मारनेवाला यह इन्द्र का वज्र आज इस प्रकार कुण्ठित सा क्यों दिखलाई पड़ रहा है ? ॥ २० ॥

किञ्चाऽयमरिदुर्वारः पाणौ पाशः प्रचेतसः ।
मन्त्रेण हतवीर्यस्य फणिनो दैन्यमाश्रितः ॥ २१ ॥

अन्वयः—किञ्च अयम् अरिदुर्वारः प्रचेतसः पाणौ पाशः मन्त्रेण हतवीर्यस्य फणिनः दैन्यम् आश्रितः ॥ २१ ॥

सञ्जी०—किञ्चेति ॥ किञ्चायमरिदुर्वारो रिपुदुष्प्रधर्षः प्रचेतसो वरुणस्य । 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः । पाणौ पाशो रज्जुरायुधविशेषः । मन्त्रेण गारुडेन हतवीर्यस्य प्रतिबद्धशक्तेः फणिनः सर्पस्य दैन्यं शोच्यत्वमाश्रितः । अत्र फणनिष्ठ

दैन्यस्य पाशेऽसम्भवाद्दैन्यमिव दैन्यमिति कल्पनादसंभवद्वस्तुसम्बन्धो निदर्शनालङ्कारः ॥ २१ ॥

और वरुण के हाथ में शत्रुओं के लिए दुर्निवार (जिसको रोक सकने में शत्रु असमर्थ है) जो उनका पाश है; वह आज मन्त्रबल से पराभूत सर्प के समान इतना दीन क्यों दिखाई दे रहा है ? ॥ २१ ॥

कुबेरस्य मनःशल्यं शंसतीव पराभवम् ।
अपविद्धगदो बाहुर्भग्नशाख इव द्रुमः ॥ २२ ॥

अन्वयः—अपविद्धगदः भग्नशाखः द्रुमः इव स्थितः कुबेरस्य बाहुः मनःशल्यं पराभवं शंशति इव ॥ २२ ॥

सञ्जी०—कुबेरस्येति ॥ अपविद्धा त्यक्ता गदा येन सोऽपविद्धगदः । अत एव भग्नशाखो द्रुम इव स्थितः कुबेरस्य बाहुर्मनःशल्यम् । दुःखहेतुत्वान्मनसः शल्यप्रायमित्यर्थः । पराभवम् । शत्रुकृतमिति शेषः । शंसतीव कथयतीव । लक्षणयानुमापयतीत्यर्थः । बाहौ मुख्यकथनस्यासम्भवादिवशब्दोऽप्यत एव ॥ २२ ॥

डाली के टूट जाने से ठूँठे पेड़ की तरह प्रतीत होने वाला गदा से विहीन कुबेर का यह हाथ मन में काँटे की तरह चुभने वाले उनके किसी महान पराभव की (बहुत बड़ी पराजय की) सूचना सा दे रहा है ॥ २२ ॥

यमोऽपि विलिखन्भूमिं दण्डेनास्तमितत्विषा ।
कुरुतेऽस्मिन्नमोघेऽपि निर्वाणालातलाघवम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—अस्तमितत्विषा दण्डेन यमः अपि भूमिं विलिखन्, अमोघे अपि अस्मिन् निर्वाणालातलाघवं कुरुते ॥ २३ ॥

सञ्जी०—यम इति ॥ अस्तं नाशमिताः प्राप्ताः । अस्तमिति मकारान्तमव्ययम् । तस्य 'द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' इति समासः । अस्तमितास्त्विषो यस्य तेन निस्तेजस्केन दण्डेन यमोऽपि भूमिं विलिखन्नमोघेऽपि । प्रागिति भावः । अस्मिन्दण्डे निर्वाणालातस्य शान्तोल्मुकस्य । अलातं नाम भूलेखनशलाका तस्य यल्लाघवं क्लैब्यं तत्कुरुते । 'अलातमुल्मुकं ज्ञेयम्' इति हलायुधः । 'निर्वाणोऽवाते' इति निपातनान्निष्ठानत्वम् । अत्रापि लाघवमिव लाघवमिति कल्पनान्निदर्शनालङ्कारः ॥ २३ ॥

यमराज भी अपने उस तेजहीन दंड से भूमि कुदेर रहे हैं, जो अमोघ होते हुए भी आज बुझी उल्का के समान अत्यन्त तुच्छ एवं व्यर्थ सा हो गया है ॥२३॥

अमी च कथमादित्याः प्रतापक्षतिशीतलाः ।
चित्रन्यस्ता इव गताः प्रकामालोकनीयताम् ॥ २४ ॥

अन्वयः—प्रतापक्षतिशीतलाः अमी आदित्याश्च कथं चित्रन्यस्ताः इव प्रकामालोकनीयतां गताः ॥ २४ ॥

सञ्जी०—अमी इति ॥ प्रतापक्षत्या तेजसां क्षयेण शीतला अमी आदित्याश्च । द्वादशेति शेषः । कथम् । केन हेतुनेत्यर्थः । चित्रन्यस्ताश्चित्रलिखिता इव । प्रकाममत्यन्तमालोकनीयतां दृश्यतां गताः प्राप्ताः ॥ २४ ॥

(प्रखर तेज के कारण अगोचर) ये बारहो आदित्य आज अपने तेज को खोकर चित्र में लिखे जैसे इतने ठंडे क्यों पड़ गये हैं कि कोई मी उन्हें अपनी इच्छानुसार जव तक चाहे देखता रहे ॥ २४ ॥

पर्याकुलत्वान्मरुतां वेगभङ्गोऽनुमीयते ।
अम्भसामोघसंरोधः प्रतीपगमनादिव ॥ २५ ॥

अन्वयः—मरुतां पर्याकुलत्वात् वेगभङ्गः, अम्भसां प्रतीपगमनात् ओघसं रोधः इव अनुमीयते ॥ २५ ॥

सञ्जी०—पर्याकुलेति ॥ मरुतां वायूनाम् । सप्तसप्तानामिति शेषः । पर्याकुलत्वात्स्खलितगतित्वाद्धेतोर्वेगस्य भङ्गोऽम्भसां जलानां प्रतीपगमनात् । उत्तानावरोहादित्यर्थः । ओघस्य संरोधः प्रवाहप्रतिबन्ध इवानुमीयते ॥ २५ ॥

जैसे विपरीत दिशा में बहने से जल के मार्ग में पड़ी हुई बहुत बड़ी रुकावट का अनुमान हो जाता है उसी प्रकार इन मरुतों (४९ वायु) का टूटा हुआ वेग मी किसी बहुत बड़ी बाधा का संकेत दे रहा है ॥ २५ ॥

आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः ।
रुद्राणामपि मूर्धानः क्षतहुङ्कारशंसिनः ॥ २६ ॥

अन्वयः—आवर्जितजटामौलिविलम्बिशशिकोटयः रुद्राणाम् अपि मूर्धानः क्षतहुङ्कारशंसिनः ॥ २६ ॥

सञ्जी०—आवर्जितेति ॥ आवर्जितेषु परिभवदुःखावनम्रेषु जटानां मौलिषु जटाजूटेषु बिलम्बिन्यः स्रंसिन्यः शशिकोटयश्चन्द्ररेखा येषां ते तथोक्ताः । रुद्राणामपि । एकादशानामिति शेषः । मूर्धानः क्षतं हुङ्कारं शंसन्तीनि तथोक्ताः । हुङ्कारक्षत्यनुमापका इत्यर्थः । हुङ्कारशस्त्रा हि रुद्रा इति मावः ॥ २६ ॥

पराजय के अपमान से झुकी हुई जटाओं में लटकनेवाली चन्द्रकलाओं से

युक्त इन एकादश रुद्रों के मस्तक भी अपनी-अपनी हुङ्कारशक्ति के नष्ट होने की सूचना सी दे रहे हैं ॥ २६ ॥

लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः ।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः ॥ २७ ॥

अन्वयः—प्रथमं लब्धप्रतिष्ठाः यूयं बलवत्तरैः परैः, उत्सर्गाः अपवादैः इव किं कृतव्यावृत्तयः (भवथ) ? ॥ २७ ॥

सञ्जी०——लब्धेति ॥ प्रथमं पूर्वं लब्धप्रतिष्ठा लब्धस्थितयः । लब्धावकाशा इत्यन्यत्र । यूयं बलवत्तरैः पौरुषातिरेकात्प्रबलतरैः । निरवकाशैरित्यपरत्र । परैः शत्रुभिरुत्सर्गाः सामान्यशास्त्राणि 'मा हिंस्यात्' इत्येवमादीनि । अपोद्यन्त एभिरित्यपवादैः 'गामालभेत' इत्यादिभिर्विशेषशास्त्रैरिव किं कृतव्यावृत्तयः क्षतप्रतिष्ठाभङ्गाः । कृतविषयसङ्कोचरूपबाधा इत्यन्यत्र । 'विषयसङ्कोच एव बाधः' इत्याचार्याः । निषेधशास्त्रस्य वैदिकहिंसापरिहारेण लौकिकमात्रे व्यवस्थापनाद्विषयसङ्कोच इत्यलमतिगहनावगाहनेन ॥ २७ ॥

जैसे व्याकरण आदि शास्त्रों में किसी सामान्य (व्यापक) नियम की प्रतिष्ठा को उससे बली अपवाद नियम व्यर्थ कर देता है वैसे ही आप लोग भी किसी बलवान शत्रु द्वारा पराभूत होकर क्या अपनी-अपनी प्राप्त प्रतिष्ठा नष्ट कर चुके हैं ? ॥ २७ ॥

तद् ब्रूत वत्साः ! किमितः प्रार्थयध्वं समागताः ।
मयि सृष्टिर्हि लोकानां रक्षा युष्मास्ववस्थिता ॥ २८ ॥

अन्वयः—तत् वत्साः ! समागताः यूयम् इतः किं प्रार्थयध्वम् ? ब्रूत । हि मयि लोकानां सृष्टिः, रक्षा युष्मासु अवस्थिता ॥ २८ ॥

सञ्जी०—तदिति ॥ तत्तस्मात्कारणात् । हे वत्साः पुत्रकाः । वत्सस्त्वर्भकपुत्राद्योर्वर्षे वत्सं तु वक्षसि' इति विश्वः । स्वयं पिता महत्वाद्वत्सा इत्यामन्त्रयते । सम्भूयागताः समागता इतो मत्तः किं प्रार्थयध्वम् । किमिच्छतेत्यर्थः । ब्रूत । लोकरक्षणे यूयमेव कर्तार इत्याह— मयि लोकानां सृष्टिः रक्षा युष्मास्ववस्थिता । अतस्तदर्थमपि नास्ति मदपेक्षेत्यर्थः ॥ २८ ॥

इसलिए हे पुत्रो ! तुमलोग यह बताओ कि इस प्रकार सभी लोग सम्मिलित होकर मेरे पास कौन सी प्रार्थना करने के लिए आए हो । मेरा काम तो केवल संसार की सृष्टि करना ही है, उसकी रक्षा करना तो तुम्हीं लोगों के हाथ में है ।

ततो मन्दाऽनिलोद्धूतकमलाकरशोभिना ।
गुरुं नेत्रसहस्रेण नोदयामास वासवः ॥ २९ ॥

अन्वयः—ततः वासवः गुरुं मन्दाऽनिलोद्धूतकमलाकरशोभिना नेत्रसहस्रेण नोदयामास ॥ २९ ॥

सञ्जी०—ततः इति ॥ ततो भगवत्प्रश्नानन्तरं वासव इन्द्रो गुरुं बृहस्पतिम् । 'गुरूगीष्पतिपित्राद्यौ' इत्यमरः । मन्दानिलोद्धूतो यः कमलाकरः सः इव शोभत इति तेन तथोक्तेन नेत्राणां सहस्रेण नोदयामास प्रेरयामास । सहस्रग्रहणमास्थातिशयार्थम् । अनिमेषाणामपि प्रयत्नवशादक्षिस्पन्दो न विरुध्यते ॥ २९ ॥

तब इन्द्र ने मंद वायु में हिलते हुए कमल-वन जैसे लगनेवाले अपने सहस्र नेत्रों को हिलाकर संकेत में देवगुरु बृहस्पति को बोलने के लिए प्रेरित किया ।

स द्विनेत्रं हरेश्चक्षुः सहस्रनयनाऽधिकम् ।
वाचस्पतिरुवाचेदं प्राञ्जलिर्जलजासनम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—हरेः सहस्रनयनाऽधिकं द्विनेत्रं चक्षुः सः वाचस्पतिः प्राञ्जलिः सन् जलजासनम् इदम् उवाच ॥ ३० ॥

सञ्जी०—स इति ॥ हरेरिन्द्रस्य । 'इन्द्रो दुश्च्यवनो हरिः इति हलायुधः । सहस्रान्नयनेभ्योऽधिकं सहस्रनयनाधिकम् । तदगोचरदर्शित्वादिति भावः । द्वे नेत्रे यस्य तद्विनेत्रम् । प्रसिद्धाच्चक्षुषोऽयं विशेष इत्यर्थः । चक्षुश्चक्षुर्भूतः । स वाचस्पतिः । कस्कादित्वादलुक्सत्वे । 'षष्ठ्याः पतिपुत्र—' इत्यादिना सत्त्वमिति स्वामी, तन्न, छन्दोविषयत्वात् । प्राञ्जलिः सन् । जलजासनं ब्रह्माणमिदमुवाच चक्षुष्ट्वारोपस्य प्रकृतोपयोगात्परिणामालङ्कारः ॥ ३० ॥

इन्द्र की हजार आँखों की अपेक्षा अपनी दो ही आँखों (धर्मदृष्टि और अर्थदृष्टि) से अधिक देख सकने की क्षमता वाले बृहस्पति ने हाथ जोड़कर कमलासन ब्रह्मा से कहा ॥ ३० ॥

एवं यदात्थ भगवन् ! आमृष्टं नः परैः पदम् ।
प्रत्येकं विनियुक्तात्मा कथं न ज्ञास्यसि प्रभो ॥ ३१ ॥

अन्वयः—भगवन् ! यत् आत्थ तत् एवम् । नः पदं परैः आमृष्टम् । प्रभो ! प्रत्येकं विनियुक्तात्मा त्वं कथं न ज्ञास्यसि ? ॥ ३१ ॥

सञ्जी०—एवमिति ॥ हे भगवन् षड्गुणैश्वर्यं सम्पन्न, यदात्थ 'कृतव्यावृत्तयः परैः' (२।२७) इति यद्ब्रवीषि । 'ब्रुवः पञ्चानाम्—' इत्यादिनाहादेशः । 'वर्त-

मानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति वर्तमानप्रयोगः। वामनस्तु भ्रान्तोऽयं प्रयोग इत्याह। आहेति भूते णलन्त भ्रमवदिति। आहेत्युपलक्षणम्। तदेवं सत्यम्। नोऽस्माकं पदमधिकारः परैः शत्रुभिरामृष्टमाक्षिप्तम्। हे प्रभो, प्रत्येकं प्रतिपुरुषं विनियुक्तात्मा प्रवेशितस्वरूपः। सर्वान्तर्यामीत्यर्थ। कथं न ज्ञास्यासि न वेत्सि। वर्तमानेऽपि वचनभङ्ग्या भविष्यन्निर्देशः प्रसिद्धः। 'अपह्नवे ज्ञः।' अकर्मकाच्च' इत्यात्मनेपदविकल्पः ॥ ३१ ॥

हे भगवन् ! आपका यह कहना नितांत सत्य है कि हम लोगों के पद शत्रुओं द्वारा बलात् छीन लिए गये हैं। आप संसार के घट-घट में व्याप्त हैं। अतः भला आप से कोई बात कैसे छिपी रह सकती है ॥ ३१ ॥

भवल्लब्धवरोदीर्णस्तारकाख्यो महासुरः।
उपप्लवाय लोकानां धूमकेतुरिवोत्थितः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—हे भगवन् ! भवल्लब्धवरोदीर्णः तारकाख्यः महासुरः धूमकेतुः इव लोकानाम् उपप्लवाय उत्थितः ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—भवदिति ॥ भवतस्त्वत्तो लब्धेन वरेणोदीर्ण उद्धतः तारक इत्याख्या नामधेयं यस्य स तारकाख्यः। महानसुरो महासुरः। 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इति तत्पुरुषः। धूमकेतुरुत्पातविशेष इव लोकानामुपप्लवायोपद्रवायोत्थित उत्पन्नः ॥ ३२ ॥

हे प्रभो ! आप ही के वरदान से उदंड बना हुआ महान शक्तिशाली तारकासुर इस समय सभी लोकों का विनाश करने के लिये धूमकेतु की तरह निकल पड़ा है ॥ ३२ ॥

पुरे तावन्तमेवाऽस्य तनोति रविरातपम्।
दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अस्य पुरे रविः तावन्तम् एव आतपं तनोति, यावन्मात्रेण दीर्घिकाकमलोन्मेषः साध्यते ॥ ३३ ॥

सञ्जी०—पुर इति ॥ अस्य तारकस्य पुरे रविः सूर्यस्तावन्तं तावन्मात्रमेवातपं तनोति। तावन्मात्रेण यावतैव। यावती मात्रा मितिर्यस्य यावन्मात्रं तेन वा। अल्पपरिमाणेनेत्यर्थः। 'मात्रा परिच्छदे। अल्पे च परिमाणे सा मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः। दीर्घिकासु क्रीडावापीषु कमलानामुन्मेषो विकासः साध्यते निष्पाद्यते कठोरकिरणोऽपि मन्दोष्णः सन्नेव तद्भीत्या पुरे प्रकाशत इत्यभिप्रायः ॥ ३३ ॥

(प्रचण्ड किरणों वाला) सूर्य भी (भय के कारण) उसके नगर में अपनी उतनी ही किरणों का फैलाव करता है जितनी से उसके नगर की बावलियों के कमल भर खिल सकें ॥ ३३ ॥

सर्वाभिः सर्वदा चन्द्रस्तं कलाभिर्निषेवते ।
नादत्ते केवलां लेखां हरचूडामणीकृताम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—चन्द्रः तं सर्वदा सर्वाभिः कलाभिः निषेवते, केवलां हरचूडामणीकृतां लेखां न आदत्ते ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—सर्वाभिरिति ॥ चन्द्रस्तं तारकं सर्वदा । कृष्णपक्षेऽपीत्यर्थः । सर्वाभिः कलाभिर्निषेवते । 'कला तु षोडशो भागः' इत्यमरः । केवलां हरचूडामणीकृतां शिवशिरोमणीकृतां लेखां नादत्ते न गृहणाति ॥ ३४ ॥

चन्द्रमा सदैव (पूरे महीने) अपनी सभी कलाओं को लेकर तारकासुर की सेवा में लगा रहता है, केवल शङ्कर के मस्तक की चूड़ामणि बनी हुई अपनी एक कला को उसने अभी तक नहीं लिया है ॥३४ ॥

व्यावृत्तगतिरुद्याने कुसुमस्तेयसाध्वसात् ।
न वाति वायुस्तत्पार्श्वे तालवृन्ताऽनिलाऽधिकम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—वायुः कुसुमस्तेयसाध्वसात् उद्याने व्यावृत्तगतिः सन् तत्पार्श्वे तालवृन्तानिलाधिकं न वाति ॥ ३५ ॥

सञ्जी०—व्यावृत्तेति ॥ वायुः स्तेनस्य भावः कर्म वास्तेयं चौर्यम् । 'स्तेनाद्यन्नलोपश्च' इति यत्प्रत्ययो नलोपश्च । कुसुमानां स्तेयं तस्मात्स्तेयाभियोगाद्दण्डाद्वा साध्वसं भयं तस्माद्धेतोरुद्याने व्यावृत्तगतिः । निवृत्तोद्यानसञ्चारः सन्नित्यर्थः सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । तत्पार्श्वे तत्समीपे । तालस्य वृन्तैरुद्गथ्यते । तालस्येव वृन्तमस्येति वा तालवृन्तं तस्यानिलाद्व्यजनसञ्चारपवनादधिकं यथा तथा न वाति । 'व्यजनं तालवृन्तकम्' इत्यमरः ॥ ३५ ॥

फूल की चोरी लग जाने के भय से वायु भी उसके उद्यानों में तो चलता ही नहीं, यहाँ तक कि उसके पास भी वह ताड़ के पंखे की हवा से अधिक गति में चलने का साहस नहीं कर पाता है ॥ ३५ ॥

पर्यायसेवामुत्सृज्य पुष्पसम्भारतत्पराः ।
उद्यानपालसामान्यमृतवस्तमुपासते ॥ ३६ ॥

अन्वयः—ऋतवः पर्यायसेवाम् उत्सृज्य पुष्पसम्भारतत्पराः सन्तः उद्यानपालसामान्यं तम् उपासते ।। ३६ ।।

सञ्जी०—पर्यायेति ।। ऋतवः षड्वसन्तादयः पर्यायसेवां क्रमसेवामुत्सृज्य पुष्पाणां संभारे संग्रहे तत्पराः । आसक्ताः सन्त इत्यर्थः । 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः । उद्यानपालैरुद्यानाधिकृतैः सामान्यं साधारणं यथा भवति तथा तं तारकमुपासते सेवन्ते । शीतोष्णादिदोषप्रकाशनं तु दूरापास्तमित्यर्थः ।। ३६ ।।

वसंत आदि छहों ऋतुओं ने बारी-बारी से आकर उसकी सेवा करने का नियम छोड़ दिया है । अब तो वे एक साथ ही आकर बगीचे की साधारण मालिनों की तरह फूल इकट्ठा करने में तत्पर होकर उसकी सेवा में लगी रहती हैं ।। ३६ ।।

तस्योपायनयोग्यानि रत्नानि सरितां पतिः ।
कथमप्यम्भसामन्तरानिष्पत्तेः प्रतीक्षते ।। ३७ ।।

अन्वयः—सरितां पतिः तस्य उपायनयोग्यानि रत्नानि अम्भसाम् अन्तः आनिष्पत्तेः कथमपि प्रतीक्षते ।। ३७ ।।

सञ्जी०—तस्येति ।। सरितां पतिः समुद्रस्तस्य तारकस्योपायनानां प्राभृतानां योग्यानि । 'प्राभृतं तु प्रदेशनम्, उपायनम्' इत्यमरः । रत्नान्यम्भसामन्तरानिष्पत्तेः परिपाकपर्यन्तम् । विकल्पादसमासः । कथमपि महता यत्नेन प्रतीक्षते । कदा वा परिपपच्येरन्नित्येकाग्रेण पालयतीत्यर्थः ।। ३७ ।।

नदियों का स्वामी समुद्र भी उसके पास भेंट करने योग्य रत्नों को भेजने के लिए जल के भीतर बड़े कष्ट के साथ तबतक प्रतीक्षा करता रहता है जब तक कि वे रत्न भली भाँति बढ़कर तैयार नहीं हो जाते हैं ।। ३७ ।।

ज्वलन्मणिशिखाश्चैनं वासुकिप्रमुखा निशि ।
स्थिरप्रदीपतामेत्य भुजङ्गाः पर्युपासते ।। ३८ ।।

अन्वयः—ज्वलन्मणिशिखाः वासुकिप्रमुखाः भुजङ्गाः च निशि स्थिरप्रदीपताम् एत्य एनं पर्युपासते ।। ३८ ।।

सञ्जी०—ज्वलदिति ।। किञ्चेति चार्थः । ज्वलन्त्यो मणीनां शिरोरत्नानां शिखा ज्वाला येषां ते वासुकिप्रमुखा भुजङ्गाः सर्पाः । सिद्धाश्च ध्वन्यन्ते । 'भुजङ्गः सिद्धसर्पयोः' इत्यमरः । निशि स्थिरप्रदीपतामनिर्वाणदीपत्वमेत्यैनं तारकं पर्युपासते परिवृत्य सेवन्ते ।। ३८ ।।

वासुकि आदि नागगण ऊपर की ओर उठे हुए अपने अपने फणों पर (वायु आदि से) कभी भी न बुझने वाले मणियों का दीपक लेकर (दीपधार बने हुए) रात के समय उसकी सेवा में लगे रहते हैं ॥ ३८ ॥

तत्कृताऽनुग्रहापेक्षी तं मुहुर्दूतहारितैः ।
अनुकूलयतीन्द्रोऽपि कल्पद्रुमविभूषणैः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—इन्द्रोऽपि तत्कृताऽनुग्रहापेक्षी सन् मुहुः दूतहारितैः कल्पद्रुमविभूषणैः तम् अनुकूलयति ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—इन्द्रोऽपि तेन तारकेण कृतं तत्कृतमनुग्रहं प्रसादमपेक्षते इति तथोक्तः सन् । मुहुर्दूतहारितैर्दूतप्रापितैः कल्पद्रुमाणां विभूषणैः । तत्प्रसूनैरित्यर्थः । तं तारकमनुकूलयत्यनुकूलं करोति ॥ ३९ ॥

उसके अनुग्रह की कामना रखनेवाले देवराज इन्द्र भी कल्पवृक्ष के पुष्प रूपी आभूषणों को दूतों द्वारा बार-बार भेजकर उसे अपने अनुकूल बनाए रखने का प्रयत्न करते रहते हैं ॥ ३९ ॥

इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् ।
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥ ४० ॥

अन्वयः—इत्थम् आराध्यमानोऽपि सः भुवनत्रयं क्लिश्नाति । तथाहि दुर्जनः प्रत्यपकारेण शाम्येत्, उपकारेण न शाम्येत् ॥ ४० ॥

सञ्जी०—इत्थमिति ॥ इत्थमुक्तप्रकारेण रविशशिपवनोदधिभुजङ्गसुरेन्द्रैराराध्यमानोऽपि भुवनत्रयं क्लिश्नाति पीडयति । तथाहि । दुर्जनः प्रत्यपकारेण प्रतीकारेणैव शाम्येच्छान्तो भवेत् । उपकारेण तु न शाम्येत् । प्रत्युत प्रकुप्यतीति भावः ॥ ४० ॥

इस प्रकार इतनी आराधना करने पर भी उक्त देवों द्वारा वह तीनों लोकों को निरन्तर पीड़ित ही करता जा रहा है । यह नितान्त सत्य है कि दुष्ट अपकार करने से ही शान्त होता है, उपकार करने से नहीं (अर्थात् लात के देवता बातों से नहीं मानते) ॥ ४० ॥

तेनाऽमरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः ।
अभिज्ञाच्छेदपातानां क्रियन्ते नन्दनद्रुमाः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तेन अमरवधूहस्तैः सदयालूनपल्लवाः नन्दनद्रुमाः छेदपातानाम् अभिज्ञाः क्रियन्ते ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—तेनेति ॥ तेन तारकेणामरवधूहस्तैः । सुकुमारैरिति भावः । तैरपि सदयमालूना अवतंसार्थं छिन्नाः पल्लवा येषां ते नन्दनद्रुमाः । छेदाश्च पाताश्च छेदपातास्तेषाम् । अभिजानन्तीत्यभिज्ञाः कृद्योगात्कर्मणि षष्टी । क्रियन्ते ॥ ४१ ॥

कानों का कनफूल बनाने के लिए नंदनवन के जिन वृक्षों की कोपलों को तोड़ते समय देवियाँ दया से अभिभूत हो जाती हैं उन्हीं वृक्षों को तारकासुर ने कटवा कर गिरवा दिया है ॥ ४१ ॥

वीज्यते स हि संसुप्तः श्वाससाधारणानिलैः ।
चामरैः सुरवन्दीनां वाष्पसीकरवर्षिभिः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—हि यतः सः संसुप्तः सन् श्वाससाधारणाऽनिलैः वाष्पसीकरवर्षिभिः सुरवन्दीनां चामरैः वीज्यते ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—वीज्यते इति ॥ हि यस्मात्कारणात्स तारकः संसुप्तः । सन् । श्वाससाधारणो निश्वाससमानोऽनिलो येषां तैः ततोऽप्याधिक्ये निद्राभङ्गभयादिति भावः वाष्पशीकरवर्षिभिः । तासां स्त्रीणां रोदनस्यायमवसर इति भावः । सुरवन्दीनां सुरप्रगहस्त्रीणां संबन्धिभिः । 'प्रगहापग्रही वन्द्याम्' इत्यमरः । चामरैर्वीज्यते ॥४२॥

बलपूर्वक पकड़कर बन्दिनी बनाई गई देवांगनाएँ आंसुओं की वर्षा करती तथा उसाँसें भरती हुईं उस सोते हुए तारकासुर पर चँवर डुलाया करती हैं। जिससे उन चँवरों से पैदा होनेवाली हवा भी उनके आँसुओं की बूँदों से भरी तथा उसाँसों के ही समान गरम होती है ॥ ४२ ॥

उत्पाट्य मेरुशृङ्गाणि क्षुण्णानि हरितां खुरैः ।
आक्रीडपर्वतास्तेन कल्पिताः स्वेषु वेश्मसु ॥ ४३ ॥

अन्वयः—तेन हरितां खुरैः क्षुण्णानि मेरुशृङ्गाणि उत्पाट्य स्वेषु वेश्मसु आक्रीडपर्वताः कल्पिताः ॥ ४३ ॥

सञ्जी०—उत्पाट्येति ॥ तेन तारकेण हरितां सूर्याश्वानाम् । 'हरित्सूर्ये च सूर्याश्वे वर्णे च हरिते दिशि' इति विश्वः । खुरैः शफैः क्षुण्णानि चूर्णितानि । एतेन तेषामत्यौन्नत्यं सूचितम् । मेरुशृङ्गाण्युत्पाट्य स्वेषु वेश्मसु । वेश्मस्विति बहुवचनेनास्य भुवनत्रयनिवासः सूचितः । आक्रीडन्तु एष्वित्याक्रीडाः । ते च ते पर्वताः कल्पिताः कृताः ॥ ४३ ॥

(प्रतिदिन आने-जाने के कारण) सूर्य के घोड़ों की टापों से खुदी हुई मेरु

की चोटियों को उखाड़-उखाड़कर उन्हें अपने महलों में ले जाकर उस तारकासुरने खेल का पर्वत बना डाला है ॥ ४३ ॥

मन्दाकिन्याः पयः शेषं दिग्वारणमदाविलम् ।
हेमाऽम्भोरुहसस्यानां तद्वाप्यो धाम साम्प्रतम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—साम्प्रतं मन्दाकिन्याः दिग्वारणमदाविलं पयः शेषम् । हेमाऽम्भोरुहसस्यानां तद्वाप्यः धाम ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—मन्दाकिन्या इति ॥ सांप्रतं संप्रति मन्दाकिन्या भागीरथ्या दिग्वारणानां दिग्गजानां मदैराविलं कलुषं पयो जलमेव । शिष्यते इति शेषं शिष्टम् । कर्मण्यण्प्रत्ययः । 'त्रिष्वन्यत्रोपयुज्यते' इति नपुंसकत्वम् । तर्हि कनककमलानि क्व गतानीत्याह—हेमेति । हेमाम्भोरुहाण्येव सस्यानि तेषां तु तस्य वाप्यस्तद्वाप्य एव धाम स्थानम् । सर्वाण्यप्युत्पाट्य स्वदीर्घिकास्वेव प्रतिरोपितवानित्यर्थः ॥४४॥

उसने मन्दाकिनी के सुनहले कमलों की पौधें उखाड़-उखाड़कर उन्हें अपनी बावलियों में लगा दिया है। जिससे अब उसमें केवल दिग्गजों के मद से मलिन जल ही बाकी रह गया है ॥ ४४ ॥

भुवनालोकनप्रीतिः स्वर्गिभिर्नानुभूयते ।
खिलीभूते विमानानां तदापातभयात्पथि ॥ ४५ ॥

अन्वयः—तदापातभयात् विमानानां पथि खिलीभूते सति स्वर्गिभिः भुवनालोकनप्रीतिः न अनुभूयते ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—भुवनेति ॥ तस्य तारकस्यापातात्समापत्तेर्भयाद्विमानानां पथि खिलीभूतेऽप्रहतीभूते सति । 'द्वे खिलाप्रहते समे' इत्यमरः । स्वर्गिभिर्देवैर्भुवनानामालोकने प्रीतिर्नानुभूयते ॥ ४५ ॥

तारकासुर के अकस्मात आजाने के भय से विमानों का मार्ग अवरुद्ध होने के कारण (भय से आकाशमार्ग में विमानों द्वारा विचरण न कर सकने के कारण) स्वर्गवासी देवताओं के लिए अब अन्य लोकों का दर्शन-सुख भी सपना हो गया है ॥ ४५ ॥

यज्वभिः सम्भृतं हव्यं विततेष्वध्वरेषु सः ।
जातवेदोमुखान्मायी मिषतामाच्छिनत्ति नः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—यज्वभिः विततेषु अध्वरेषु सम्भृतं हव्यं मायी सः नः मिषतां जातवेदोमुखात् आच्छिनत्ति ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—यज्वभिरिति ।। यज्वभिरिति ।। यज्वभिर्विधिवदिष्टवद्भिः । यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति ङ्वनिप्प्रत्ययः । विततेष्वध्वरेषु यज्ञेषु संभृतं दत्तं हव्यं हविर्मायी मायावी । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । स तारको नोऽस्माकं मिषतां पश्यताम् । पश्यत्सु सत्स्वित्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी । जातवेदा वह्निरेव मुखं तस्माज्जातवेदोमुखादाछिनत्ति । आक्षिप्य गृह्णातीत्यर्थः ।।

वह मायावी तारकासुर यजमानों द्वारा बड़े-बड़े यज्ञों में (हम लोगों के निमित्त) दी गई हवि को हम देवताओं के सामने ही अग्नि के मुख से छीन लेता है ।। ४६ ।।

उच्चैरुच्चैःश्रवास्तेन हयरत्नमहारि च ।
देहबद्धमिवेन्द्रस्य चिरकालाऽर्जितं यशः ।। ४७ ।।

अन्वयः—च तेन उच्चैः उच्चैःश्रवाः हयरत्नम् देहबद्धं चिरकालार्जितम् इन्द्रस्य यशः इव अहारि ।। ४७ ।।

सञ्जी०—उच्चैरिति ।। किञ्चेति चार्थः । तेन तारकेणोच्चैरुन्नत उच्चैःश्रवा नाम हयो रत्नमिव हयरत्नमश्वश्रेष्ठः । 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः । अस्य शुभ्रत्वादुत्प्रेक्षते—देहबद्धं बद्धदेहम्, मूर्तिमदित्यर्थः । आहिताग्न्यादित्वान्निष्ठायाः परनिपातः । चिरकालार्जितमिन्द्रस्य यश इवाहार्यपहृतम् ।। ४७ ।।

तारकासुर ने इन्द्र के चिरकाल से उपार्जित मूर्तिमान् यश के समान (उनके) उच्चैःश्रवा नामक अत्युत्तम घोड़े को छीन लिया है ।। ४७ ।।

तस्मिन्नुपायाः सर्वे नः क्रूरे प्रतिहतक्रियाः ।
वीर्यवन्त्यौषधानीव विकारे सान्निपातिके ।। ४८ ।।

अन्वयः—क्रूरे तस्मिन् नः सर्वे उपायाः सान्निपातिके विकारे वीर्यवन्ति औषधानि इव प्रतिहतक्रियाः भवन्ति ।। ४८ ।।

सञ्जी०—तस्मिन्निति ।। क्रूरे घातुके । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः । तस्मिन्नसुरे नोऽस्माकं सर्वे उपायाः सन्निपातदोषत्रयस्य प्रकोपजे सान्निपातिके विकारे ज्वरादौ । 'सान्निपाताच्च' इति वक्तव्याट्ठक् । वीर्यवन्ति सारवन्त्यौषधानीव प्रतिहतक्रिया विफलप्रयोगा भवन्ति ।। ४८ ।।

जैसे सान्निपातिक रोग में अत्युत्कृष्ट औषध भी काम नहीं करता, उसी तरह दुष्ट तारकासुर के विरुद्ध किए गए हम लोगों के सभी उपाय निष्फल हो चुके हैं ।। ४८ ।।

जयाशा यत्र चाऽस्माकं प्रतिघातोत्थितार्चिषा ।
हरिचक्रेण तेनाऽस्य कण्ठे निष्कमिवाऽर्पितम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—यत्र अस्माकं जयाशा, प्रतिघातोत्थितार्चिषा तेन हरिचक्रेण च अस्य कण्ठे निष्कम् अर्पितम् इव ॥ ४९ ॥

सञ्जी०—जयाशेति ॥ किञ्चेति चार्थः । नूनमनेन वयं जेष्याम इति यत्र हरिचक्रेऽस्माकं जयाशा विजयाशंसा । आसीदिति शेषः । प्रतिघातेन प्रतिहत्योत्थितार्चिषोद्गततेजसा तेन हरिचक्रेण विष्णोः सुदर्शनेनास्य तारकस्य कण्ठे निष्कमुरोभूषणमर्पितमिवेत्युत्प्रेक्षा । स्वयमयं निष्कमिव स्थितमित्यर्थः । तारकशिरश्छेदाय हरिणा चक्रं त्यक्तं तदपि नष्टशक्ति जातमिति भावः । 'साष्टे शते सुवर्णानां हेम्न्युरोभूषणे पले । दीनारेऽपि च निष्कोऽस्त्री' इत्यमरः ॥ ४९ ॥

जिस पर हमलोग विजयी बनाने की पूरी आशा लगाए बैठे थे विष्णु का वह सुदर्शन चक्र भी जब उसके गले से जा कर टकराता है तब उससे निकलने वाली चिनगारियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं मानों उसके गले में माला पहना दी गई हो ॥ ४९ ॥

तदीयास्तोयदेष्वद्य पुष्करावर्तकादिषु ।
अभ्यस्यन्ति तटाघातं निर्जितैरावता गजाः ॥ ५० ॥

अन्वयः—अद्य निर्जितैरावताः तदीयाः गजाः पुष्करावर्तकादिषु तोयदेषु तटाघातम् अभ्यस्यन्ति ॥ ५० ॥

सञ्जी०—तदीयेति । अद्य सम्प्रति निर्जित ऐरावतो यैस्ते तथोक्ताः । तस्य तारकस्येमे तदीयाः गजाः पुष्कराश्चावर्तकाश्च नामादयो येषां तेषु तोयदेषु मेघेषु तटाघातं वप्रकीडामभ्यस्यन्ति ॥ ५० ॥

अब ऐरावत् को भी पराजित कर देने वाले तारकासुर के गजराज पुष्करावर्तक आदि प्रलयकालीन बादलों में टक्कर मार-मार कर किनारा तोड़ने (वप्रक्रीड़ा) का अभ्यास करते रहते हैं ॥ ५० ॥

तदिच्छामो विभो ! स्रष्टुं सेनान्यं तस्य शान्तये ।
कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—तत् विभो ! मुमुक्षवः भवस्य शान्ते कर्मबन्धच्छिदं धर्मम् इव तस्य शान्तये सेनान्यं स्रष्टुम् इच्छामः ॥ ५१ ॥

सञ्जी०—तदिति ॥ तत्तस्मात्कारणात् । हे विभो स्वामिन्, मोक्तुं भवं त्यक्तु-

मिच्छवो मुमुक्षवो विरक्ता भवस्य संसारस्य शान्तये निवृत्तये कर्मैव बन्धस्तं छिनत्तीति कर्मबन्धच्छित्तं धर्ममिव । आत्मज्ञानहेतुभूतमिति शेषः । 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इति ज्ञानादेव मुक्तिः । तस्य तारकस्य शान्तये नाशाय । सेनां नयनीति सेनानीश्चमूपतिः । 'सत्सूद्विष——' इत्यादिनाक्विप् । तं सेनान्यं कंचित्स्रष्टुमिच्छामः । वयमिति शेषः ।। ५१ ।।

इस लिए हे प्रभो ! जिस प्रकार मोक्ष (जन्म मृत्यु के बंधनों से मुक्ति) के अभिलाषी संसारिक कर्म-बंधनों को काटने वाले धर्म को उत्पन्न करना चाहते हैं उसी प्रकार हम लोग भी उस राक्षस का विनाश करने के लिए एक सेनापति की रचना करना चाहते हैं ।। ५१ ।।

गोप्तारं सुरसैन्यानां यं पुरस्कृत्य गोत्रभित् ।
प्रत्यानेष्यति शत्रुभ्यो बन्दीमिव जयश्रियम् ।। ५२ ।।

अन्वयः—सुरसैन्यानां गोप्तारं यं पुरस्कृत्य गोत्रभित् जयश्रियं बन्दीम् इव शत्रुभ्यः प्रत्यानेष्यति ।। ५२ ।।

सञ्जी०—गोप्तारमिति ।। सुरसैन्यानां देवतासेनानां गोप्तारं रक्षितारं यं सेनान्यं पुरस्कृत्य पुरोधाय । 'पुरोऽव्ययम्' इति गतित्वात् 'नमस्पुरसोर्गत्योः' इति सकारः । गां पृथ्वीं त्रायन्त इति गोत्रास्तान्भिनत्तीति गोत्रभिदिन्द्रो जयश्रियं बन्दीमिव बन्दीकृतां स्त्रियमिव शत्रुभ्यः सकाशात्प्रत्यानेष्यति प्रत्याहरिष्यति । तं स्रष्टुमिति पूर्वेणसम्बन्धः ।। ५२ ।।

जिससे देवताओं की सेना के रक्षक उसी सेनापति को आगे करके देवराज इन्द्र (तारकासुर के यहाँ) बन्दिनी जैसी बनी हुई (देवों की) विजयलक्ष्मी को लौटा लावेंगे ।। ५२ ।।

वचस्यवसिते तस्मिन्ससर्ज गिरमात्मभूः ।
गर्जितानन्तरां वृष्टिं सौभाग्येन जिगाय सा ।। ५३ ।।

अन्वयः—तस्मिन् वचसि अवसिते सति आत्मभूः गिरं ससर्ज । सा सौभाग्येन गर्जिताऽनन्तरां वृष्टिं जिगाय ।। ५३ ।।

सञ्जी०—वचसीति ।। तस्मिन्बार्हस्पत्ये वचस्यवसिते परिसमाप्ते सत्यात्मभूर्ब्रह्मा गिरं वाचं ससर्ज जगादेत्यर्थः । सा गीः सौभाग्येन मनोहरत्वेन । 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः । गर्जिताद्गर्जितस्य वानन्तरं प्रवृत्तां वृष्टिं जिगाय जितवती । गर्जितपरत्वाद्वृष्टेरिव तद्विज्ञापनफलत्वाद्गिरः सुभगत्वमिति भावः ।। ५३ ।।

देवगुरु वृहस्पति के इस प्रकार कह कर चुप हो जाने के पश्चात् ब्रह्मा जी बोले। उनकी वह वाणी मेघगर्जन के पश्चात् होने वाली वृष्टि की अपेक्षा कहीं अधिक मधुर थी ॥ ५३ ॥

सम्पत्स्यते वः कामोऽयं कालः कश्चित्प्रतीक्ष्यताम् ।
न त्वस्य सिद्धौ यास्यामि सर्गव्यापारमात्मना ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अयं वः कामः सम्पत्स्यते, कश्चित् कालः प्रतीक्ष्यताम्। तु अस्य सिद्धौ आत्मना सर्गव्यापारं न यास्यामि ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—संपत्स्यत इति ॥ अयं वो युष्माकं कामो मनोरथः सेनानीरूपः संपत्स्यते सेत्स्यति। कश्चित्कियानपि कालः प्रतीक्ष्यताम्। तु किन्तु तस्य सेनान्यः सिद्धौ विषये आत्मना स्वयं सर्गः सृष्टिरेव व्यापारस्तं न यास्यामि। नाहं स्रक्ष्यामीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

हे देवगण, आप लोगों की यह कामना अवश्य पूरी होगी किन्तु कुछ समय तक प्रतीक्षा कीजिए। क्योंकि उस तारकासुर को मारने के लिए मैं अपने अंश से कोई नई सृष्टि नहीं कर सकूँगा (मैं स्वयं अवतार नहीं ले सकूँगा) ॥ ५४ ॥

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम् ।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—इतः प्राप्तश्रीः सः दैत्यः इतः एव क्षयं न अर्हति। विषवृक्षः अपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुम् असाम्प्रतम् ॥ ५५ ॥

सञ्जी०—इत इति ॥ इतो मत्त एव प्राप्तश्रीर्लब्धोदयः स दैत्यस्तारकासुर इतो मत्त एव क्षयं नाशं नार्हति। तथाहि। अन्यो वृक्षस्तावदास्ताम्। विषस्य वृक्षो विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य कुतश्चित्कारणात्सम्यग्वर्धयित्वा स्वयं छेत्तुमसांम्प्रतमनर्हः। असाम्प्रतमित्यनेन निपातेनाभिहितत्वाद्वृक्ष इति द्वितीयान्तो न भवत्यनभिहिते कर्मणि द्वितीयाभिधानात्। यथाह वामनः—'निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न विभक्तिः, परिगणनस्य प्रायिकत्वात्' इति ॥ ५५ ॥

उस दैत्य ने मेरे द्वारा ही ऐश्वर्य की प्राप्ति की है अतः मेरे द्वारा ही उसका विनाश भी हो यह उचित नहीं है, क्योंकि अपने हाथ से लगाए गए विष वृक्ष को भी अपने ही हाथों से काटना ठीक नहीं होता है ॥ ५५ ॥

वृतं तेनेदमेव प्राङ् मया चाऽस्मै प्रतिश्रुतम् ।
वरेण शमितं लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—प्राक् तेन इदम् एव वृतम्, मया अस्मै प्रतिश्रुतम्। हि लोकान् दग्धुम् अलं तत्तपः वरेण शमितम् ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—वृतमिति ॥ प्राक्पूर्वं तेनासुरेणेदमेव देवैरवध्यत्वमेव वृतं प्रार्थितम्। मया चास्मै तारकाय प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञातम् 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' इति संप्रदानत्वाच्चचतुर्थी। कर्तव्यं चैतदित्याह—लोकान्दग्धुमलं शक्तम्। 'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु' इति तुमुन्प्रत्ययः। तस्य तपस्तत्तपो वरेण वरदानेन शमितम् हि। मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

अपनी तपस्या के समय तारकासुर ने देवताओं से अवध्य होने का ही वरदान मुझसे माँगा था और मैंने उसे दे भी दिया था। क्यों कि उसके तप की आग तीनों लोकों को भस्म कर देने में समर्थ थी। इसीलिए मैंने उस समय उसे यही वरदान देकर (उसके तप की अग्नि को) शान्त किया था ॥ ५६ ॥

संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः।
अंशादृते निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—संयुगे उद्यतं सांयुगीनं निषिक्तस्य नीललोहितरेतसः अंशात् ऋते कः प्रसहेत ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—संयुग इति ॥ संयुगे युद्ध उद्यतं व्याप्रियमाणम्। संयुगे साधुं सांयुगीनम्। 'प्रतिजनादिभ्यः खञ्' इति खञ्प्रत्ययः। तं तारकं निषिक्तस्य क्वचित्क्षेत्रे क्षरितस्य। 'नीलः कण्ठे लोहितश्च केशेष्विति नीललोहित इति पुराणम्।' इति स्वामी। तस्य नीललोहितस्य धूर्जटे रेतसः शुक्रस्यांशादृतेऽशं विनान्यः कः प्रसहेताभिभवेत्। 'प्रसहनमभिभवः' इति वृत्तिकारः ॥ ५७ ॥

युद्धभूमि में युद्धकुशल उस तारकासुर के उद्यत हो जाने पर उसका सामना नीललोहित शंकर जी के वीर्य से (किसी स्त्री में) उत्पन्न उनके ही अंश को छोड़ कर कोई दूसरा नहीं कर सकता है ॥ ५७ ॥

स हि देवः परं ज्योतिस्तमःपारे व्यवस्थितम्।
परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिर्न मया न च विष्णुना ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हि यतः सः देवः तमः पारे व्यवस्थितं परं ज्योतिः अस्ति। अत एव मया विष्णुना च परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिः न (भवति) ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—स इति ॥ स देवो नीललोहितस्तमसः पारे परतो व्यवस्थितं तमोगुणातीतं परं ज्योतिः परमात्मा हि। अतएव मया परिच्छिन्नप्रभावर्द्धिरवगाढमहिमातिशयो न भवति तथा विष्णुना च न। अतस्तस्यासाध्यं नास्तीत्यर्थः ॥

वह भगवान शंकर तमो गुण के अंधकार अर्थात् अविद्या से बहुत दूर स्थित परम ज्योति स्वरूप हैं। हम और विष्णु दोनों ही उनकी महिमा की थाह नहीं पा सकते हैं ॥ ५८ ॥

उमारूपेण ते यूयं संयमस्तिमितं मनः ।
शम्भोर्यतध्वमाक्रष्टुमयस्कान्तेन लोहवत् ॥ ५९ ॥

अन्वयः—ते यूयं संयमस्तिमितं शम्भोः मनः उमारूपेण अयस्कान्तेन लोहवत् आक्रष्टुं यतध्वम् ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—उमेति ॥ ते कार्यार्थिनो यूयं संयमस्तिमितं समाधिनिश्चलं शम्भोर्मन उमारूपेणोमासौन्दर्येण । 'रूपं स्वभावे सौन्दर्ये नाणके पशुशब्दयोः । ग्रन्थावृत्तौ नाटकादावाकारश्लोकयोरपि ॥' इति विश्वः । अयस्कान्तेन मणिविशेषेण । 'कस्कादिषु च' इति सकारः । लोहवदयोधातुमिव । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययो मृग्यः । आक्रष्टुमाहर्तुं यतध्वमुद्युक्ता भवत ॥ ५९ ॥

अतएव (किसी योग्य सेनापति की उत्पत्ति कराकर तारकासुर का नाश करने की प्रार्थना करने वाले) आपलोग यह प्रयत्न करें कि रागद्वेष-रहित शङ्कर जी का स्थिर चित्त पार्वती के सौन्दर्य की ओर उसी प्रकार आकृष्ट हो जाय जैसे लोहा चुम्बक की ओर आकृष्ट हो जाता है ॥ ५९ ॥

उभे एव क्षमे वोढुमुभयोर्बीजमाहितम् ।
सा वा शम्भोस्तदीया वा मूर्तिर्जलमयी मम ॥ ६० ॥

अन्वयः— उभयोः शम्भोः मम वा आहितं बीजं वोढुं क्रमेण शम्भोः सा वा, मम च तदीया जलमयी मूर्तिर्वा, उभे एव क्षमे ॥ ६० ॥

सञ्जी०—उभ इति ॥ उभयोः शंभोर्मम चाहितं निषिक्तं बीजं तेजो वोढुं सोढुं सा वोमा शंभोरष्टमूर्तेस्तस्येयं तदीया जलमयी मूर्तिर्वा मम । न तृतीयेत्यर्थः । वाशब्दो द्वन्द्वार्थे न त्वन्यार्थे । एतदेवोदाहृत्येत्थमेव व्याख्यातं गणव्याख्याने । अत्र दीपकालङ्कारः । प्राकरणिकयोरुमामहेश्वरयोरप्राकरणिकयोर्ब्रह्मजलमूर्त्योश्चौपम्यस्य गम्यत्वात् । यथाह भोजराजः—'प्रस्तुतानामप्रस्तुतानाञ्चौपम्यस्य गम्यत्वे दीपकम्' इति । न चेयं तुल्ययोगिता, तस्याः केवलप्रस्तुतविषयत्वेन चोत्थानादिति ॥

शङ्कर के निषिक्त (क्षरित) वीर्य को धारण करने के लिए पार्वती और हमारे निषिक्त वीर्य को धारण करने लिए उन्हीं शंकर को जलमयी मूर्ति के सिवाय कोई दूसरी स्त्री समर्थ नहीं हो सकती है ॥ ६० ॥

तस्यात्मा शितिकण्ठस्य सैनापत्यनुपेत्य वः ।
मोक्ष्यते सुरबन्दीनां वेणीर्वीर्यविभूतिभिः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—तस्य शितिकण्ठस्य आत्मा वः सैनापत्यम् उपेत्य वीर्यविभूतिभिः सुरबन्दीनां वेणीः मोक्ष्यते ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—तस्येति ॥ तस्य शितिकण्ठस्याष्टमूर्तेरात्मा पुत्र इत्यर्थः । 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः । वो युष्माकं सेनापतेर्भावः सैनापत्यम् 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' इति यक्प्रत्ययः । उपेत्य प्राप्य वीर्यविभूतिभिः शौर्यसंपत्तिभिः सुरबन्दीनां वेणीर्मोक्ष्यते विस्रंसयिष्यति । तारकासुरं हनिष्यतीति भावः ॥ ६१ ॥

उस शङ्कर का पुत्र आप लोगों का सेनापति बनकर, अपने उत्कृष्ट पराक्रम से तारकासुर के द्वारा हरण की गई देवाङ्गनाओं के उलझे हुए केशपाशों को सुलझावेगा, अर्थात् वह तारकासुर को मारेगा ॥ ६१ ॥

इति व्याहृत्य विबुधान्विश्वयोनिस्तिरोदधे ।
मनस्याहितकर्तव्यास्तेऽपि देवा दिवं ययुः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—विश्वयोनिः विबुधान् इति व्याहृत्य तिरोदधे । देवा अपि मनसि आहितकर्तव्याः सन्तः दिवं ययुः ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—इतीति । विश्वस्य योनिः कारणम् । 'योनिः स्त्रीणां भगस्थाने कारणे तान्त्रिके पणे' इति वैजयन्ती । विबुवान् सुरानिति व्याहृत्याभिधाय तिरोदधेऽन्तर्हितवान् । ते देवा अपि मनस्याहितं कर्तव्यं यैस्ते तथोक्ताः सन्तो दिवं स्वर्गं ययुः प्रापुः ॥ ६२ ॥

जगत् का निर्माण करने वाले ब्रह्माजी के देवताओं से इस प्रकार कहकर अंतर्ध्यान हो जाने पर अब आगे क्या करना चाहिए—यह सोचते हुए देवता लोग भी स्वर्ग चले गए ॥ ६२ ॥

तत्र निश्चित्य कन्दर्पमगमत्पाकशासनः ।
मनसा कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा ॥ ६३ ॥

अन्वयः—पाकशासनः तत्र निश्चित्य कार्यसंसिद्धौ त्वराद्विगुणरंहसा मनसा कन्दर्पम् अगमत् ॥ ६३ ॥

सञ्जी०—तत्रेति ॥ पाको नाम कश्चिदसुरस्तस्य शासन इन्द्रस्तत्र हरचित्ताकर्षणकृत्ये कन्दर्पं निश्चित्य, साधकत्वेनेति शेषः । कार्यसंसिद्धौ त्वरयौत्सुक्येन द्वौ गुणौ यस्य तद्द्विगुणं द्विरावृत्तं रंहो वेगो यस्य तेन तथोक्तेन ।

"गुणस्तु वृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती। मनसागमत्, सस्मारेत्यर्थः। गमेर्लुङ्। लृदित्वाच्च्लेरङादेशः॥ ६३॥

स्वर्ग में पहुँच कर इन्द्र भली भाँति विचार करके कार्यसिद्धि के लिए (हर गौरी का समागम कराने के लिए) अधीर हो कर मन ही मन कामदेव का स्मरण किया॥ ६३॥

अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं
रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे।
सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः
शतमखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा॥ ६४॥

अन्वयः—अथ स पुष्पधन्वा ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं चापं रतिवलयपदाङ्के कण्ठे आसज्य सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः प्राञ्जलिः सन् शतमखम् उपतस्थे॥ ६४॥

सञ्जी०—अथेति॥ अथ स्मरणानन्तरम्। स स्मृत इत्यर्थः। पुष्पं धनुर्यस्य स पुष्पधन्वा कामः। 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङ्। ललितं त्रिषु सुन्दरम्' इत्यमरः। ललितायाः सुन्दर्या योषितो भ्रुवौ लते इव चारुणी शृङ्गे कोटी यस्य तत्तथोक्तं चापम्। 'रतिः स्मरप्रिया' इत्यमरः। तस्या वलयपदानि कङ्कणस्थानान्यङ्कश्चिह्नं यस्य स तथोक्ते कण्ठ आसज्य लगयित्वा। चापकण्ठविशेषणाभ्यां शृङ्गारैकनिधेस्त्रिभुवनैकवीरस्य शृङ्गारवीरोपकरणेषु तुल्यरसत्वं व्यज्यते। सहचरस्य सख्युर्मधोर्वसन्तस्य हस्ते न्यस्तं चूताङ्कुरमेवास्त्रं यस्य स तथोक्तः प्राञ्जलिः सन्। शतमखमिन्द्रमुपतस्थे सङ्गतवान्। सङ्गतिकरणार्थादात्मनेपदम्। अत्र स्वभावोक्तिः "स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तु वर्णनम्" इति। मालिनी वृत्तमेतत्—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति लक्षणात्॥ ६४॥

इन्द्र के स्मरण करते ही कामदेव सुन्दरी रमणी की भौंहों के समान सुन्दर धनुष को रति के कंगन की छाप लगे अपने कंधे में लटकाकर, तथा अपने मित्र वसन्त के हाथ में आम्रकुसुम (बौर) का बाण देकर हाथ जोड़े हुए इन्द्र के सम्मुख आकर खड़ा हो गया॥ ६४॥

॥ द्वितीयः सर्गः समाप्तः॥

—:०:—

तृतीयः सर्गः

तस्मिन्मघोनस्त्रिदशान्विहाय सहस्रमक्ष्णां युगपत्पपात ।
प्रयोजनापेक्षितया प्रभूणां प्रायश्चलं गौरवमाश्रितेषु ।। १ ।।

अन्वयः—मघोनः अक्षणां सहस्रं त्रिदशान् विहाय तस्मिन् युगपत् पपात । प्रायः प्रभूणाम् आश्रितेषु गौरवं प्रयोजनापेक्षितया चलं (भवति) ।। १ ।।

सञ्जी०—तस्मिन्निति ।। मघोन इन्द्रस्याक्ष्णां सहस्रं त्रिरावृत्ता दशपरिमाणमेषामिति त्रिदशान्देवान् । 'संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' इति बहुव्रीहिः । 'बहुव्रीहौ संख्येये—' इति उक्प्रत्ययः । उक्तार्थत्वात्सुचो निवृत्तिः । विहाय त्यक्त्वा तस्मिन्कामे युगपत्पपात । सहस्रेणाक्षिभिरद्राक्षीदित्यादरातिशयोक्तिः । ननु सुचिरपरिचितानेकसुरपरित्यागेन भगवतो महेन्द्रस्य कथमकाण्डे तस्मिन्नेकस्मिन्पक्षपात इत्याशङ्क्यार्थान्तरं न्यस्यति—प्रायो भूम्ना प्रभूणामाश्रितेषु सेवकेषु विषये गौरवमादरः प्रयोजनापेक्षितया कार्यार्थित्वेन हेतुना चलं चञ्चलम् । फलतन्त्राः प्रभवो न तु गुणतन्त्रा इति भावः ।। १ ।।

इन्द्र की हजारों आँखें अन्य सभी (वहाँ उपस्थित) देवताओं को छोड़ कर एक साथ ही (वहाँ आए हुए) कामदेव के ऊपर जा पड़ीं क्योंकि स्वामी लोगों की दृष्टि में सेवकों का महत्व प्रायः प्रयोजन के अनुसार ही घटता बढ़ता रहता है ।। १ ।।

स वासवेनासनसन्निकृष्टमितो निषीदेति विसृष्टभूमिः ।
भर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मूर्ध्ना वक्तुं मिथः प्राक्रमतैवमेनम् ।। २ ।।

अन्वयः—सः वासवेन आसनसन्निकृष्टम् इतः निषीद इति विसृष्टभूमिः सन् भर्तुः प्रसादं मूर्ध्ना प्रतिनन्द्य मिथः एनम् एवं वक्तुं प्राक्रमत ।। २ ।।

सञ्जी०—स इति । स कामो वासवेनेन्द्रेणासनस्य सिंहासनस्य सन्निकृष्टं सन्निहितमासनसन्निकृष्टं यथा तथा । शेषषष्ठ्यायं समासः । कृद्योगलक्षणया तु न । 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इति षष्ठीनिषेधात् । इतो निषीदेहोपविशेति विसृष्टभूमिर्दत्तावकाशः सन् । भर्तुः स्वामिनः प्रसादमनुग्रहं मूर्ध्ना प्रतिनन्द्य सम्भाष्य मिथो रहसि । 'मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि' इत्यमरः । एनमिन्द्रमेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वक्तुं प्राक्रमतोपक्रान्तवान् । 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इत्यात्मनेपदम् ।। २ ।।

इन्द्र ने अपने सिंहासन के समीप ही स्थान बनाते हुए कामदेव से कहा कि आओ यहाँ बैठो । उसने स्वामी के इस अनुग्रह को सिर झुका कर स्वीकार किया

(अर्थात् स्वामी द्वारा बताए गए आसन को ग्रहण कर लिया) और उनसे इस प्रकार कहना प्रारंभ किया ।। २ ।।

आज्ञापय ज्ञातविशेष ! पुंसां लोकेषु यत्ते करणीयमस्ति ।
अनुग्रहं संस्मरणप्रवृत्तमिच्छामि संवर्द्धितमाज्ञया ते ।। ३ ।।

अन्वयः—पुंसां ज्ञातविशेष ! आज्ञापय, लोकेषु ते यत् करणीयम् अस्ति संस्मरणप्रवृत्तं ते अनुग्रहम् आज्ञया संवर्द्धितम् इच्छामि ।। ३ ।।

सञ्जी०—आज्ञापयेति ।। हे पुंसां ज्ञातविशेष ज्ञातसार । ज्ञातपुंविशेषेत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । आज्ञापय । तदिति शेषः । उत्तरवाक्ये यच्छब्दप्रयोगान्न पूर्ववाक्ये तच्छब्दप्रयोगनिर्बन्धः । किं तदित्याह—लोकेषु ते तव यत्करणीयं कर्तव्यमस्ति । संस्मरणेन प्रवृत्तमुत्पन्नं ते तवानुग्रहं प्रसादमाज्ञया नियोगेन संवर्धितं वृद्धिं गमितमिच्छामि । संस्मरणकृतमनुग्रहं केनचिन्नियोगेन वर्धय । क्वचित्कर्मणि नियुङ्क्ष्वेत्यर्थः । अन्यथा मे नास्ति परितोष इति भावः । तुमुन्नन्तपाठे णिजर्थे यत्नः कार्यः ।। ३ ।।

पुरुषों के गुणों की पहिचान रखने वाले हे स्वामी आप आज्ञा दीजिए । तीनों लोकों में ऐसा कौन सा कार्य है जिसे आप मुझ से कराना चाहते हैं । आप ने मेरा स्मरण करके मुझपर जो कृपा की है उसे आप की आज्ञा का पालन करके मैं और भी बढ़ाना चाहता हूँ ।। ३ ।।

केनाऽभ्यसूया पदकाङ्क्षिणा ते नितान्तदीर्घैर्जनिता तपोभिः ।
यावद्भवत्याहितसायकस्य मत्कार्मुकस्याऽस्य निदेशवर्त्ती ।। ४ ।।

अन्वयः—ते पदकाङ्क्षिणा केन नितान्तदीर्घः तपोभिः अभ्यसूया जनिता । तं ब्रूहि, यतः स आहितसायकस्य अस्य मत्कार्मुकस्य निदेशवर्ती यावत् भवति ।।४।।

सञ्जी०—केनेति ।। पदकाङ्क्षिणा स्वाराज्यकामेन केन पुंसा नितान्तदीर्घैरतिप्रभूतैस्तपोभिस्ते तवाभ्यसूयेर्ष्या जनिता । तं ब्रूहीति शेषः । किमर्थम् । यावद्यतः स भवद्वैर्याहितसायकस्य संहितबाणस्यास्य मत्कार्मुकस्य निदेशे वर्तत इति निदेशवर्त्याज्ञावशो भवति । अविलम्बेनैव भविष्यतीत्यर्थः । 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति लट् ।। ४ ।।

आपके पद की कामना रखने वाला वह कौन व्यक्ति है जिसने अपनी कठिन तपस्या से आपके मन में इर्ष्या उत्पन्न कर दी है । आप उसका नाम भर बता दें फिर तो मैं अपने इस वाण चढ़े धनुष से अभी उसे वशीभूत कर लूंगा ।। ४ ।।

असम्मतः कस्तव मुक्तिमार्गं पुनर्भवक्लेशभयात्प्रपन्नः ।
बद्धश्चिरं तिष्ठतु सुन्दरीणामारेचितभ्रूचतुरैः कटाक्षैः ॥ ५ ॥

अन्वयः—तव असम्मतः कः पुनर्भवक्लेशभयात् मुक्तिमार्गं प्रपन्नः (तं वद, यतः सः) आरेचितभ्रूचतुरैः सुन्दरीणां कटाक्षैः बद्धः सन् चिरम् तिष्ठतु ॥ ५ ॥

सञ्जी०—असम्मत इति ॥ तवासम्मतः कः पुनर्भवः पुनरुत्पत्तिः । संसार इति यावत् । तत्र ये क्लेशा जन्मजरामरणादयस्तेभ्यो भयान्मुक्तिमार्गं प्रपन्नस्तं वद । यतः सोऽप्यारेचिताभिरेकैकशो विवर्तिताभिर्भ्रूभिश्चतुरैः सुन्दरीणां कटाक्षैर्बद्धश्चिरं तिष्ठतु । आरेचितलक्षणन्तु—'स्याद्भ्रुवोर्ललिताक्षेपादेकस्या एव रेचितम् । तयोर्मूलसमुत्क्षेपं कौटिल्याद्भ्रुकुटिं विदुः ॥ ५ ॥

आपकी सम्मति के बिना ही कौन पुरुष सांसारिक जन्म-मरण के दुःख से भयभीत होकर मोक्षमार्ग की ओर चल पड़ा है, आप कह दें तो मैं उसे सर्वाङ्गसुन्दरियों के कटाक्षविलासों में इस प्रकार जकड़ दूँ कि वह चिरकाल तक उसी बंधन में पड़ा रहे ॥ ५ ॥

अध्यापितस्योशनसाऽपि नीतिं प्रयुक्तरागप्रणिधिर्द्विषस्ते ।
कस्याऽर्थधर्मौ वद पीडयामि सिन्धोस्तटावोघ इव प्रवृद्धः ॥ ६ ॥

अन्वयः—उशनसा नीतिम् अध्यापितस्य अपि ते द्विषः कस्य अर्थधर्मौ प्रयुक्तरागप्रणिधिः अहं प्रवृद्धः ओघः सिन्धोः तटौ इव पीडयामि, वद ॥ ६ ॥

सञ्जी०—अध्यापितस्येति ॥ उशनसा शुक्रेण नीतिं नीतिशास्त्रमध्यापितस्यापि अपिशब्दाच्छुक्रशिष्याणामप्रधृष्यत्वं गम्यते । 'गति बुद्धि—' इत्यादिना द्विकर्मकादिङ्धातोर्ण्यन्तात्प्रधाने कर्मणिक्तः 'अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति वचनात् । ते द्विषस्तव शत्रोः कस्यार्थधर्मौ प्रयुक्तः प्रहितो रागो विषयाभिलाष एव प्रणिधिर्दूतो येन सोऽहम् । 'प्रार्थने प्रणिधिः चरे' इति यादवः । प्रवृद्ध ओघः सिन्धोर्नद्यास्तटाविव पीडयामि' वद ॥ ६ ॥

वर्षा काल में बढ़ा हुआ नदी का वेग जैसे दोनों तरफ के तटों का नाश करता है, उसी तरह से प्रवृद्ध विषयवासनारूपी दूत को भेजकर साक्षात् शुक्राचार्य से भी नीतिशास्त्र के ज्ञान को पाने वाले आपके किस शत्रु के धर्म और अर्थ दोनों का नाश कर दूँ ? कहिये ॥ ६ ॥

कामेकपत्नीव्रतदुःखशीलां लोलं मनश्चारुतया प्रविष्टाम् ।
नितम्बिनीमिच्छसि मुक्तलज्जां कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—एकपत्नीव्रतदुःखशीलां चारुतया लोलम् मनः प्रविष्टाम् कां नितम्बिनीम् मुक्तलज्जाम् सतीम् कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम् इच्छसि ॥ ७ ॥

सञ्जी०—कामिति ॥ एकः पतिर्यस्याः सैकपत्नी पतिव्रता । 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप् । तस्या व्रतं पातिव्रत्यं तेन दुःखशीलां दुःखस्वभावाम् । दृढव्रतामित्यर्थः । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः । चारुतया सुन्दरत्वेन हेतुना लोलम् मनस्त्वच्चितं प्रविष्टां कां नितम्बिनीं नारीं मुक्तलज्जां सतीं कण्ठे स्वयंग्राहनिषक्तबाहुम् । स्वयं गृह्णातीति स्वयंग्राहा । 'विभाषा ग्रहः' इति णप्रत्ययः । न च जलचर एव ग्राह इति नियमः । जलचरे ग्राह एवेति नियमादिति । स्वयं ग्राहा च सा निषक्तबाहुश्च तां तथाभूतामिच्छसि । त्वदर्थे पतिव्रतामपि व्रताद्भ्रंशयिष्यामीत्यर्थः । एतच्चेन्द्रस्य पारदारिकत्वादुक्तम् । तथा च श्रुतिः—'अहल्यायै जारः' इति ॥ ७ ॥

हे महेन्द्र बताइए तो सही, वह कौनसी दृढ़ प्रतिव्रता अतः कठोर स्वभाव वाली सुन्दरी है जो आपके चंचल मन में धँसी हुई है । जिसे आप चाहते हैं कि वह स्वयं कामव्याकुल होकर सारी लज्जा छोड़ के आप के गले में अपनी भुजाएँ डाल दे ॥ ७ ॥

कयासि कामिन् ! सुरतापराधात्पादानता कोपनयाऽवधूतः ।
तस्याः करिष्यामि दृढानुतापं प्रवालशय्याशरणं शरीरम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे कामिन् ! सुरताऽपराधात् पादानतः सन् कोपनया कया अवधूतः असि, तस्याः शरीरं दृढाऽनुतापं प्रवालशय्याशरणं करिष्यामि ॥ ८ ॥

सञ्जी०—कयेति ॥ हे कामिन्कामुक ! सुरतापराधात् अन्यासङ्गादित्यर्थः । पादानतः प्रणतः सन् । कोपनया कोपनशीलया कया स्त्रियावधूतस्तिरस्कृतोऽसि । तस्याः शरीरं दृढानुतापं गाढपश्चात्तापमतएव प्रवालशय्याशरणं करिष्यामीति ॥

हे कामुक । वह कौन सी कामिनी है जो आप के किसी अन्य सुन्दरी के साथ रमण करने का वृत्तांत जान कर इतनी क्रुद्ध हो गई है कि उसने पैरों पर गिरने के बाद भी अपना मान नहीं छोड़ा है । आप कह भर दें तो मैं उसके हृदय में इतना पश्चात्ताप पैदा कर दूँगा कि उसे नवीन पल्लवों की शैय्या की शरण लेनी पड़ेगी ॥ ८ ॥

प्रसीद विश्राम्यतु वीर ! वज्रं शरैर्मदीयैः कतमः सुराऽरिः ।
बिभेतु मोघीकृतबाहुवीर्यः स्त्रीभ्योऽपि कोपस्फुरिताऽधराभ्यः ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे वीर ! प्रसीद । वज्रं विश्राम्यतु । मदीयैः शरैः मोघीकृतबाहुवीर्यः कतमः सुरारिः कोपस्फुरिताऽधराभ्यः स्त्रीभ्यः अपि बिभेतु ॥ ९ ॥

सञ्जी०—प्रसीदेति ॥ हे वीर, प्रसीद प्रसन्नो भव । वज्रं कुलिशं विश्राम्यतु । उदास्तामित्यर्थः । मदीयैः शरैर्मोघोकृतबाहुवीर्यो विफलीकृतभुजशक्तिः कतमो दैत्यदानवादिषु यः कश्चन सुरारिः । वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्प्रत्ययः । कोपेन स्फुरिताधराभ्यः स्त्रीभ्योऽपि त्रिभेतीति भावः 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानत्वात्पञ्चमी ॥ ९ ॥

हे स्वामिन्, आप मेरे ऊपर कृपा करें और अपने वज्र को विश्राम करने दें। वह ऐसा कौन सा दैत्य है जिसे आप नष्ट करना चाहते हैं। आप केवल बता भर दें तो मैं अपने बाणों से उसके बाहुबल को इतना विफल बना दूँगा कि वह क्रोध से चंचल होठ वाली सुन्दरी से भी भयभीत हो जायगा ॥ ९ ॥

तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्याऽपि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥ १० ॥

अन्वयः—तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि (अहम्) एकं मधुम् एव सहायं लब्ध्वा पिनाकपाणेः हरस्य अपि धैर्यच्युतिं कुर्याम्, अन्ये धन्विनः मम के ॥ १० ॥

सञ्जी०--तवेति ॥ किं बहुना, तव प्रसादादनुग्रहात्कुसुमायुधोऽप्यतिदुर्बलास्त्रोऽप्यहमेकं मधुं वसन्तमेव सहायं लब्ध्वा पिनाकः पाणौ यस्य स पिनाकपाणिः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' । तस्य हरस्यापि । हरः पिनाकी चेत्यति दारुण इति भावः । धैर्यच्युतिं धैर्यहानिं कुर्याम् । कर्तुं शक्नुयामित्यर्थः 'शकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ् । अन्ये धन्विनो धनुर्भृतो मम के । न केऽपीत्यर्थः किं शब्दः कुत्सायाम् । 'कुत्साप्रश्नवितर्केषु क्षेपे किंशब्द इष्यते' इति शाश्वतः ॥ १० ॥

यदि आप की कृपा बनी रहे तो केवल मित्र बसन्त की सहायता से मैं अपने इस अत्यन्त कोमल पुष्प बाणों द्वारा ही पिनाक जैसे कठोर धनुष को धारण करने वाले शिव का धैर्य भी नष्ट कर दूँगा । फिर अन्य धनुर्धारियों की चर्चा ही व्यर्थ है ॥ १० ॥

अथोरुदेशादवतार्य पादमाक्रान्तिसम्भावितपादपीठम् ।
सङ्कल्पिताऽर्थे विवृतात्मशक्तिमाखण्डलः काममिदं बभाषे ॥ ११ ॥

अन्वयः—अथ आखण्डलः उरुदेशात् पादम् आक्रान्तिसम्भावितपादपीठम् यथा स्यात्तथा अवतार्य सङ्कल्पिताऽर्थे विवृतात्मशक्तिं कामम् इदं बभाषे ॥ ११ ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथ स्मरवाक्यश्रवणानन्तरमाखण्डलः सहस्राक्ष ऊरुदेशात्पादमाक्रान्त्याक्रमणेन सम्भावितं पादपीठं यस्मिंस्तद्यथा तथावतार्य संकल्पितार्थे हरचित्ताकर्षणरूपे विषये विवृतात्मशक्तिम् । 'कुर्यां हरस्यापि—' (३।१०) इत्यादिना प्रकटीकृतस्वसामर्थ्यं कामं स्मरमिदं वक्ष्यमाणं बभाषे ॥ ११ ॥

(कामदेव के इन आश्वासनों को सुन कर) इन्द्र ने अपने पैर को जाँघ से उतार कर सिंहासन के नीचे स्थित चौकी पर रख लिया । और अपने अभीष्ट के विषय में (शंकर जी के चित्त को पार्वती की ओर आकर्षित करना ही इन्द्र का अभीष्ट था) स्वयमेव अपनी शक्ति प्रगट करने वाले कामदेव से कहा ॥ ११ ॥

सर्वं सखे ! त्वय्युपपन्नमेतदुभे ममाऽस्त्रे कुलिशं भवांश्च ।
वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठं त्वं सर्वतोगामि च साधकं च ॥ १२ ॥

अन्वयः—सखे ! सर्वम् एतत् त्वयि उपपन्नम् । मम कुलिशं भवान् च उभे अस्त्रे । वज्रं तपोवीर्यमहत्सु कुण्ठं, त्वं सर्वतोगामि च साधकं च ॥ १२ ॥

सञ्जी०—सर्वमिति । हे सखे । सखे इति सम्बोधनं गौरवार्थम् । सर्वमेतत्त्वय्युपपन्नं सिद्धम् । मम कुलिशं वज्रं भवांश्चोभे अस्त्रे । तत्र वज्रं तपोवीर्येण तपोबलेन महत्सु प्रबलेषु कुण्ठं प्रतिवद्धप्रसरम् । त्वमस्त्रं सर्वतोगामि च साधकं च । तापसेष्वप्यकुण्ठमित्यर्थः ॥ १२ ॥

हे मित्र कामदेव, तुमने अपने सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, सब ठीक है । मेरे तो दो ही हथियार हैं–एक मेरा वज्र है और दूसरे तुम हो । उनमें हमारा वज्र तो तपोबल से प्रबल लोगों के सम्मुख बेकार हो जाता है, किंतु तुम्हारी गति तो कहीं भी नहीं रुक सकती जिससे तुम्हारे लिए सब कुछ साध्य है ॥१२॥

अवैमि ते सारमतः खलु त्वां कार्ये गुरुण्यात्मसमं नियोक्ष्ये ।
व्यादिश्यते भूधरतामवेक्ष्य कृष्णेन देहोद्वहनाय शेषः ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे सखे ! ते सारम् अवैमि । अतः खलु आत्मसमं त्वां गुरुणि कार्ये नियोक्ष्ये । कृष्णेन भूधरताम् अवेक्ष्य शेषः देहोद्वहनाय व्यादिश्यते ॥ १३ ॥

सञ्जी०—अवैमीति ॥ हे सखे, ते सारं बलमवैमि वेद्मि । अतः खल्वत एवात्मसमं मत्तुल्यं त्वां गुरुणि महति कार्ये 'तस्मै हिमाद्रेः—' (३।१६) इति वक्ष्यमाणे नियोक्ष्ये । 'स्वराद्यन्तोपसर्गादिति वक्तव्यम्' इति वार्तिकादात्मनेपदनियमः । तथाहि । सारपरीक्षापूर्वक एव सर्वत्र नियोग इत्याह—कृष्णेन विष्णुना । धरतीति धरः । पचाद्यच् । भुवो धरो भूधरस्तस्य भावस्तत्तां भूधरताम् । भूधरण-

शक्तिमित्यर्थः । अवेक्ष्य ज्ञात्वा शेषः सर्पराजो देहोद्वहनाय स्वदेहमुद्वोढुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य—' इत्यादिना चतुर्थी । व्यादिश्यते नियुज्यते । शेषशायी हि भगवान् ॥ १३ ॥

हे मित्र, मैं तुम्हारी क्षमता को भली भाँति जानता हूँ इसलिए तुम्हें अपने ही समान समझकर एक बहुत बड़ा काम सौंप रहा हूँ। क्योंकि भगवान विष्णु ने शेषनाग में पृथ्वी को धारण करने की क्षमता को ही जान कर उन्हें अपने शरीर का भार उठाने के लिए नियुक्त किया था ॥ १३ ॥

आशंसता बाणगतिं वृषाऽङ्के कार्यं त्वया नः प्रतिपन्नकल्पम् ।
निबोध यज्ञांशभुजामिदानीमुच्चैर्द्विषामीप्सितमेतदेव ॥ १४ ॥

अन्वयः—वृषाऽङ्के बाणगतिम् आशंसता त्वया नः कार्यं प्रतिपन्नकल्पम् । इदानीम् उच्चैर्द्विषां यज्ञांशभुजाम् ईप्सितम् एतत् एव निबोध ॥ १४ ॥

सञ्जी०—आशंसतेति ॥ वृषाङ्के हरे बाणगतिं बाणप्रसरमाशंसता कथयता 'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः' (३।१०) इत्यादिनेति शेषः । त्वया नोऽस्माकं कार्यं प्रतिपन्नकल्पमङ्गीकृतप्रायम् । 'ईषदसमाप्तौ—' इत्यादिना कल्पप्रत्ययः । कथमेतदित्याह—इदानीमुच्चैरुन्नताद्विषो येषां तेषामुच्चैर्द्विषां यज्ञांशभुजां देवानाम् । एतेन द्विषल्लुप्तयज्ञभागत्वं सूच्यते । ईप्सितमाप्तुमिष्टमेतदेव हरे बाणप्रयोगरूपमेव निबोध । हरायत्तं बुध्यस्वेत्यर्थः । 'बुध बोधने' इति धातोर्लोट् अत्र 'आशंसता प्रार्थयमानेन' इति नाथव्याख्यानमनाथव्याख्यानम् । आङ्पूर्वयोः शास्तिशंसत्योरिच्छार्थत्वे आत्मनेपदनियमात् । याञ्चार्थत्वस्याप्रामाणिकत्वात् । 'कुर्यां हरस्यापि—' (३।१०) इत्यत्रानयोरभावाद्योगाच्चेति ॥ १४ ॥

हे काम, शंकर जी पर भी अपने बाणों की गति का वर्णन करके एक प्रकार से तुमने हमारे उक्त कार्य के संपादन की स्वीकृति दे ही दी है बस यही जान लो कि बलवान शत्रुओं से पीड़िति देवता लोग तुमसे यही कार्य लेना चाहते हैं ॥ १४ ॥

अमी हि वीर्यप्रभवं भवस्य जयाय सेनान्यमुशन्ति देवाः ।
स च त्वदेकेषुनिपातसाध्यो ब्रह्माङ्गभूर्ब्रह्मणि योजितात्मा ॥ १५ ॥

अन्वयः—हि अमी देवाः जयाय भवस्य वीर्यप्रभवं सेनान्यम् उशन्ति । ब्रह्माङ्गभूः ब्रह्मणि योजितात्मा स च त्वदेकेषु निपातसाध्यः अस्ति ॥ १५ ॥

सञ्जी०—अमी इति ॥ हि यस्मादमी देवा जयाय शत्रुजयार्थं भवस्य हरस्य

वीर्यप्रभवं तेजः सम्भूतं सेनापतिमुशन्ति कामयन्ते। 'वश कान्तौ' इति धातोर्लट्। ब्रह्मणां सद्योजातादिमन्त्राणामङ्गानां हृदयादिमन्त्राणां भूः स्थानं ब्रह्माङ्गभूः। कृतमन्त्रन्यास इत्यर्थः। ब्रह्मणि निजतत्त्वे। 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्मब्रह्मा' इत्युभयत्राप्यमरः। योजितात्मा नियमितचित्तः। मन्त्रन्यासपूर्वकं ब्रह्म ध्यायन्नित्यर्थः। स भवश्च त्वदेकेषोस्तवैकबाणस्य निपातेन साध्यः। अनन्यसाध्योऽयमस्मिन्नवसर इति भावः॥

ये देवतालोग शत्रु को पराजित करने के लिए शिव के वीर्य से उत्पन्न पुत्र को अपना सेनापति बनाना चाहते हैं किंतु इस समय ब्रह्मा से उत्पन्न भगवान शिव ब्रह्मचिन्तन में समाधिस्थ हैं। अतः यह कार्य केवल तुम्हारे बाण-प्रयोग ही से सिद्ध हो सकता है॥ १५॥

तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व।
योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम्॥ १६॥

अन्वयः—यतात्मने तस्मै प्रयतां हिमाद्रेः तनूजां रोचयितुं यतस्व। योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सा एव क्षमा, इति आत्मभुवा उपदिष्टम्॥ १६॥

सञ्जी०—तस्मा इति॥ यतात्मने नियतचित्ताय तस्मै भवाय। 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति संप्रदानत्वाच्चतुर्थी। प्रयतां हिमाद्रेस्तनूजां पार्वतीं रोचयितुं यतस्व। भवितव्यं चात्र पार्वत्यैवेत्याह—योषित्सु स्त्रीषु मध्ये। 'यतश्च निर्धारणम्' इति सप्तमी। क्षमा शक्ता तस्य हरस्य वीर्यं रेतस्तस्य निषेकः क्षरणं तस्य भूमिः क्षेत्रं सा पार्वत्येवेत्यात्मभुवा ब्रह्मणोपदिष्टम्। 'उभे एव क्षमे वोढुम्' (२।६०) इत्यादिनोक्तमित्यर्थः॥ १६॥

अतः विषय-वासनाओं से पराङ्मुख शंकर के मन में अत्यन्त शुद्ध अन्तःकरण वाली पार्वती की चाह उत्पन्न करने का प्रयत्न करो। क्योंकि सकल-स्त्रियों में पार्वती ही शंकर के वीर्य-धारण करने की योग्य अधिकारिणी हैं, यह बात स्वयं ब्रह्माजी ने कही है।॥ १६॥

गुरोर्नियोगाच्च नगेन्द्रकन्या स्थाणुं तपस्यन्तमधित्यकायाम्।
अन्वास्त इत्यप्सरसां मुखेभ्यःश्रुतं मया मत्प्रणिधिः स वर्गः॥ १७॥

अन्वयः—नगेन्द्रकन्या च गुरोः नियोगात् अधित्यकायां तपस्यन्तं स्थाणुम् अन्वास्ते, इति मया अप्सरसां मुखेभ्यः श्रुतं, स वर्गः मत्प्रणिधिः अस्ति॥ १७॥

सञ्जी०—गुरोरिति॥ नागेन्द्रकन्या पार्वती च गुरोः पितुर्नियोगाच्छासना-

दधित्यकायां हिमाद्रेरूर्ध्वभूमौ। 'भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययः। तपस्यन्तम् तपश्चरन्तम्। कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इति क्यङ्प्रत्ययः। ततः शतृप्रत्ययः। स्थाणुं रुद्रमन्वास्ते उपास्त इत्यर्थः। इतीदं मयाप्सरसां मुखेभ्यः श्रुतम्। न चैतदैतिह्यमात्रमित्याह—स वर्गः सोऽप्सरसां गणो मत्प्रणिधिर्मम गूढचरः। 'प्रणिधिः प्रार्थने चरे' इति यादवः॥ १७॥

इस समय पार्वती अपने पिता की आज्ञा से हिमालय के शिखर पर तपश्चर्या करने वाले शङ्कर की उपासना कर रही हैं, यह खबर अपने गुप्तचर अप्सराओं के मुख से हमने सुनी है॥ १७॥

तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाव्य एव।
अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वां बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः॥ १८॥

अन्वयः—तत् सिद्धयै गच्छ। देवकार्यं कुरु। अयम् अर्थः अर्थान्तरभाव्य एव। बीजाङ्कुरः उदयात् प्राक् अम्भ इव त्वाम् उत्तमं प्रत्ययम् अपेक्षते॥ १८॥

सञ्जी०—तदिति॥ तत्तस्मात्सिद्ध्यै कार्यसिद्ध्यर्थं गच्छ। देवकार्यं कुरु। आशिषि लोट्। अयमर्थः प्रयोजनमर्थान्तरभाव्यः कारणान्तरसाध्य एव। तच्च कारणान्तरं पार्वती सन्निधानमिति भावः। 'अर्थः प्रकारे विषये वित्तकारणवस्तुषु। अभिधेये च शब्दानां वृत्तौ चापि प्रयोजने॥' इति विश्वः। तथापि बीजसाध्योऽङ्कुरो बीजाङ्कुर उदयादुत्पत्तेः प्रागम्भ इव त्वामुत्तमं प्रत्ययं चरमं कारणमपेक्षते। 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः। तस्मादस्मिन्नर्थे तव चरमसहकारित्वादनन्यसाध्योऽयमर्थ इति भावः॥ १८॥

इसलिए अब तुम उसकार्य की सिद्धि के लिए जाओ। यों वह कार्य तो वैसे भी होना ही था (क्यों कि पार्वती स्वयं कारण बनी हुई उनके पास स्थित हैं) किंतु इस समय तुम्हें उस कार्य की सिद्धि के लिए सर्वोत्कृष्ट एवं चरम साधन ठीक उसी प्रकार बनना होगा जैसे बीज में से अंकुर उगाने के लिए जल को कारण बनना पड़ता है॥ १८॥

तस्मिन्सुराणां विजयाभ्युपाये तवेव नामास्त्रगतिः कृती त्वम्।
अप्यप्रसिद्धं यशसे हि पुंसामनन्यसाधारणमेव कर्म॥ १९॥

अन्वयः—सुराणां विजयाऽभ्युपाये तस्मिन् अस्त्रगतिः तव एव नाम, अतः त्वं कृती। हि अप्रसिद्धम् अपि अनन्तसाधारणम् एव कर्म पुंसां यशसे भवति ॥ १९ ॥

सञ्जी०—तस्मिन्निति ॥ सुराणां विजयाभ्युपाये जयस्योपायभूते तस्मिन्हरेऽस्त्रगतिरस्त्रप्रसरस्तवैव नाम । नामेति संभावनायाम् । अन्येषां तु संभावनापि नास्तीति भावः । अतस्त्वं कृती कृतार्थः । तथाहि । अप्रसिद्धमप्यसिद्धमप्यनन्यसाधारणमेव कर्म पुंसां यशसे हि । इदं तु प्रसिद्धमसाधारणञ्चेत्यतियशस्करमिति भावः ॥ १९ ॥

देवताओं के विजय के साधन स्वरूप शंकर जी के चित्ताकर्षण के विषय में तुम्हारे ही बाणों की गति सम्भावित है अर्थात् तुम्हारे ही बाण उनके मन में विकार उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं। इसके लिए तुम धन्यवाद के पात्र हो। पुरुषों की कीर्ति ऐसे ही कार्यों के करने से होती है जिन्हें दूसरे न कर सकें, भले ही वे काम बड़े हों या न हों ॥ १९ ॥

सुराः समभ्यर्थयितार एते कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम् ।
चापेन ते कर्म न चाऽतिहिंस्रमहो ! बताऽसि स्पृहणीयवीर्यः ॥ २० ॥

अन्वयः—एते सुराः समभ्यर्थयितारः कार्यं त्रयाणाम् अपि विष्टपानाम् । कर्म ते चापेन, अतिहिंस्रञ्च न । अहो बत । स्पृहणीयवीर्यः असि ॥ २० ॥

सञ्जी०—सुरा इति ॥ एते सुराः समभ्यर्थयितारो याचितारः । कार्यंप्रयोजनं त्रयाणां विष्टपानामपि सम्बन्धि । सर्वलोकार्थमित्यर्थः । कर्म ते तव चापेन । न त्वन्येनेति भावः । अतिहिंस्रमतिघातुकञ्च न । अहो बत इति सम्बोधने । 'अहो बतानुकम्पायां खेदे सम्बोधनेऽपि च' इति विश्वः । अथवा अहो आश्चर्ये । बतेत्यामन्त्रणे संतोषे चेति । 'बतामन्त्रणसंतोषखेदानुक्रोशविस्मये' इति विश्वः । 'स्पृहणीयञ्च' इति नानार्थकोशः ॥ २० ॥

ये देवता (इस कार्य की सिद्धि के लिए) तुमसे प्रार्थना कर रहे हैं। और यह कार्य उनका ही नहीं बल्कि तीनों लोकों का कार्य है। और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि तुम्हारे बाणों से सिद्ध होने वाला यह कार्य किसी का प्राणघातक भी नहीं है। अतः तुम्हारी इस शक्ति से भला कौन ईर्ष्या नहीं करेगा ? ॥ २० ॥

मधुश्च ते मन्मथ ! साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।
समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताऽशनस्य ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे मन्मथ ! असौ मधुश्च ते साहचर्यात् अनुक्तोऽपि सहाय एव (अस्ति)। समीरणः 'हुताशनस्य नोदयिता भव' इति केन व्यादिश्यते ॥ २१ ॥

सञ्जी०—मधुरिति ॥ हे मन्मथ, असौ मधुश्च वसन्तोऽपि ते साहचर्यात्सहचरत्वादेवानुक्तोऽप्यप्रेरितोऽपि सहायः सहकार्येव । तथाहि । समीरणो वायुर्हुताशनस्याग्नेर्नोदयिता प्रेरको भवेति केन व्यादिश्यते उपदिश्यते । अत्र मधुसमीरणयोरुक्तिमन्तरेण सहायताकरणं समान्यधर्मः । स च वाक्यद्वये वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथङ्निर्दिष्ट इति प्रतिवस्तूपमालङ्कारोऽयम् । यदुक्तम्—'यत्र सामान्यनिर्देशः पृथग्वाक्यद्वये यदि । गम्यौपम्याश्रिता सा स्यात्प्रतिवस्तूपमा मता ॥' इति ॥२१॥

हे कामदेव यह बसन्त तो तुम्हारा साथी ही है। यह बिना देवताओं के कहे ही तुम्हारी सहायता के लिए तत्पर है। भला वायु से कौन जा कर कहता कि तुम चलकर अग्नि को प्रज्वलित करो ? ॥ २१ ॥

तथेति शेषामिव भर्तुराज्ञामादाय मूर्ध्ना मदनः प्रतस्थे ।
ऐरावतास्फालनकर्कशेन हस्तेन पस्पर्श तदङ्गमिन्द्रः ॥ २२ ॥

अन्वयः—तथा इति भर्तुः शेषाम् इव आज्ञां मूर्ध्ना आदाय मदनः प्रतस्थे । इन्द्रः ऐरावतास्फालनकर्कशेन हस्तेन तदङ्गं पस्पर्श ॥ २२ ॥

सञ्जी०—तथेति ॥ तथास्त्विति भर्तुः स्वामिनः शेषामिव प्रसाददत्तां मालामिव । 'प्रसादान्निजनिर्माल्यदाने शेषेति कीर्तिता' इति विश्वः । 'माल्याक्षतादिदाने स्त्री शेषा' इति वैजयन्तीकेशवौ । आज्ञां मूर्ध्नादाय शिरसा गृहीत्वा मदनः प्रतस्थे । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । इन्द्रः ऐरावतास्फालनेन प्रोत्साहनार्थेन ताडनेन कर्कशेन परुषेण हस्तेन तदङ्गं मदनदेहं पस्पर्श । हस्तस्पर्शेन संभावयामासेत्यर्थः । 'शेषामिवाज्ञाम्' इत्यत्र साधकबाधकप्रमाणाभावादुपमोत्प्रेक्षयोः सन्देहसङ्कर इति । यदि भर्त्रा शेषापि दत्ता तदा तामाज्ञामिवेत्युपमा । अथ न दत्ता तर्हि शेषात्वेनोत्प्रेक्षिता । शेषादानं तु संदिग्धामिति ॥ २२ ॥

जो आज्ञा–ऐसा कहकर कामदेव ने इन्द्र की आज्ञा को प्रसाद रूप में दी गई माला के समान सिर झुका कर ग्रहण किया और (लक्ष्य की ओर) चल पड़ा । उसके चलते समय ऐरावत को अंकुश मारते रहने के कारण कठोर हाथों से इन्द्र ने उसकी पीठ थपथपाई ॥ २२ ॥

स माधवेनाऽभिमतेन सख्या रत्या च साशङ्कमनुप्रयातः ।
अङ्गव्ययप्रार्थितकार्यसिद्धिः स्थाण्वाश्रमं हैमवतं जगाम ॥ २३ ॥

अन्वयः—सः अभिमतेन सख्या माधवेन रत्या च साशङ्कम् अनुप्रयातः सन् अङ्गव्ययप्रार्थितकार्यसिद्धिः हैमवतं स्थाण्वाश्रमं जगाम ॥ २३ ॥

सञ्जी०—स इति ॥ स मदनोऽभिमतेन प्रियेण सख्या सुहृदा माधवेन वसन्तेन रत्या स्वदेव्या च साशङ्कं सङ्कटमापतितमिति सभयमनुप्रयातः सन् । तथाङ्गस्य व्ययेनापि प्रार्थिता कार्यसिद्धिर्येन स तथोक्तः । शीर्त्वा मृत्वापि सर्वथा देवकार्यं साधयिष्यामीति कृतनिश्चयः सन्नित्यर्थः । हैमवतं हिमवति भवं स्थाणोरुद्रस्याश्रमं जगाम ॥ २३ ॥

कामदेव अपने प्रिय मित्र बसन्त और पत्नी रति के साथ शंकित हृदय से हिमालय की चोटी पर स्थित शंकर के आश्रम की ओर चल पड़ा । उसने यह निश्चय कर लिया कि प्राण भले ही चले जायँ किन्तु कार्य तो अवश्य ही पूर्ण होना चाहिए ॥ २३ ॥

तस्मिन्वने संयमिनां मुनीनां तपःसमाधेः प्रतिकूलवर्ती ।
सङ्कल्पयोनेरभिमानभूतमात्मानमाधाय मधुर्जजृम्भे ॥ २४ ॥

अन्वयः—तस्मिन् वने संयमिनां मुनीनां तपः समाधेः प्रतिकूलवर्ती सङ्कल्पयोनेः अभिमानभूतम् आत्मानम् आधाय जजृम्भे ॥ २४ ॥

सञ्जी०—तस्मिन्निति ॥ तस्मिन्नेव स्थाण्वाश्रमे संयमिनां समाधिमतां मुनीनां तपसः समाधेरेकाग्रतायाः प्रतिकूलं वर्तते इति प्रतिकूलवर्ती विरोधी मधुर्वसन्तः संकल्पयोनेर्मनोभवस्याभिमानभूतम् । गर्वहेतुभूतमित्यर्थः । कार्यकारणयोरभेदोपचारः आत्मानं निजस्वरूपमाधाय सन्निधाय जजृम्भे प्रादुर्बभूव । वसन्तधर्मान्प्रवर्तयामासेत्यर्थः ॥ २४ ॥

समाधि-मग्न मुनियों के विरोधी वसन्त ने शंकर जी के तपोवन में अपने उस उन्मत्त बना देनेवाले रूप को प्रकट कर दिया जिस पर कामदेव को बड़ा ही अभिमान रहा करता है ॥ २४ ॥

कुबेरगुप्तां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य ।
दिग्दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिश्वासमिवोत्ससर्ज ॥ २५ ॥

अन्वयः—उष्णरश्मौ समयं विलङ्घ्य कुबेरगुप्तां दिशं गन्तुं प्रवृत्ते सति दक्षिणा दिक् मुखेन गन्धवहं व्यलीकनिश्वासम् इव उत्ससर्ज ॥ २५ ॥

सञ्जी०—कुबेरेति ॥ उष्णरश्मौ सूर्ये साहसिके च नायके समयं दक्षिणायनकालं सङ्गमकालं च विलङ्घ्याकाण्डे व्यतिक्रम्य कुबेरगुप्तां धनपतिपालितां कुत्सित-

शरीरेण केनचिद्रक्षितां च दिशमुदीचीं स्त्रीलिङ्गाक्षिप्तां काञ्चिन्नायिकां च गन्तुं चलितुं सङ्गन्तुञ्च प्रवृत्ते सति दक्षिणा दिग्दाक्षिण्यवती नायिका च मुखेनाग्रभागेन वक्त्रेण च। वहतीति वहः पचाद्यच्। गन्धस्य वहंगन्धवहमनिलं व्यलीकेन दुःखेन वानिश्वासस्तं व्यलीकनिश्वासमिव। 'दुःखे वैलक्ष्ये व्यलीकमप्रियाकार्यवस्तुनोः' इति वैजयन्ती। उत्ससर्ज प्रवर्तयामास। स्वभर्तरि समयोल्लङ्घनेन पराङ्गनासङ्गतिं प्रवृत्ते सति स्त्रियो दाक्षिण्यादकिञ्चिद्वदा दुःखानिश्वसन्तीति भावः। उत्तरायणे सति मलयानिलाः प्रवृत्ता इति वाक्यार्थः। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः न च समासोक्तिरेवेयमुत्प्रेक्षानुप्रविष्टेति शङ्कितव्यम्। केवलविशेषसामर्थ्यादेवाप्रस्तुतप्रतीतौ सोत्तिष्ठते। अत्र तु दक्षिणेति विशेषसामर्थ्यादपि नायिका प्रतीयते। न च श्लेष एव प्रकृताप्रकृतविषयः, उभयश्लेषे श्लिष्टविशेष्यानङ्गीकारात्। तस्माच्छाब्दशक्तिमूलोऽयं ध्वनिः। स च व्यलीक विश्वासरूपचेतनधर्मसंभावनार्थं दक्षिणस्या दिशो नायिकया सहाभेदमासादयन्नभेदलक्षणातिशयोक्त्युपजीविनीं निश्वासमिवेति वाच्योत्प्रेक्षां निर्वहतीति वाच्यसिद्ध्यङ्गभूत इत्युत्पश्यामः॥ २५॥

(जैसे अपने साहसी पति द्वारा सदाचार का उल्लंघन करके पराई स्त्री में आसक्त हो जाने पर चतुर स्त्रियाँ मुख से कुछ भी न कहकर केवल दुख की लम्बी-लम्बी साँसें लेती हैं) उसी प्रकार सूर्य द्वारा दक्षिणायन काल की मर्यादा छोड़कर कुबेर की उत्तर दिशा में प्रवृत्त हो जाने पर दक्षिण दिशा ने जो लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ीं वही सुगन्धित मलयानिल के रूप में बहने लगा॥ २५॥

असूत सद्यः कुसुमान्यशोकः स्कन्धात्प्रभृत्येव सपल्लवानि।
पादेन नापैक्षत सुन्दरीणां सम्पर्कमासिञ्जितनूपुरेण॥ २६॥

अन्वयः—अशोकः सद्यः स्कन्धात् प्रभृति एव सपल्लवानि कुसुमानि असूत; आसिञ्जितनूपुरेण सुन्दरीणां पादेन सम्पर्कं न अपैक्षत॥ २६॥

सञ्जी०—असूतेति॥ अशोको वृक्षविशेषः सद्यः स्कन्धात्प्रकाण्डात्प्रभृत्येव स्कन्धादारभ्येत्यर्थः। भाष्यकारवचनात्प्रभृतियोगे पञ्चमीति कैयटः। भाष्यं च 'मूलात्प्रभृत्यग्राद्वृक्षांस्तक्ष्णुवन्ति' इति 'कार्तिक्याः प्रभृत्याग्रहायणी मासे' इत्यादि सपल्लवानि कुसुमान्यसूत। उभयमप्यजीजनदित्यर्थः। आसिञ्जितो नूपुरो यस्य तेन। सिञ्जधातोः 'अकर्मक—' इत्यादिना कर्तरि क्तः सुन्दरीणां पादेन संपर्कं ताडनं नापैक्षत। 'सनूपुररवेणस्त्रीचरणेनाभिताडनम्। दोहदं यदशोकस्य ततः पुष्पोद्गमो भवेत्॥' इति। तथाहि—'पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः शोकं

जहाति बकुलो मुखसीधुसिक्तः । आलोकितः कुरुबकः कुरुते विकाशमालोडितस्तिलक उत्कलिको विभाति' इति ॥ २६ ॥

उस तपोवन में मूर्तिमान् वसन्त के आते ही अशोक वृक्ष तने से लेकर डालियों तक नए-नए पल्लवों और फूलों से लदबदा उठा। इसके लिए उसने बजते हुए नूपुरों से सुशोभित सुन्दरी रमणियों के पदाघात की प्रतीक्षा नहीं की ॥

सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे ।
निवेशयामास मधुर्द्विरेफान् नामाक्षराणीव मनोभवस्य ॥ २७ ॥

अन्वयः—मधुः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नवचूतबाणे समाप्तिं नीते सति सद्यः मनोभवस्य नामाक्षराणि इव द्विरेफान् निवेशयामास ॥ २७ ॥

सञ्जी०—सद्य इति ॥ मधुर्वसन्त एवेषुकारः प्रवालोद्गमाः पल्लवाङ्कुरा एव चारूणि पत्राणि पक्षा यस्य तस्मिन् । 'पत्रं वाहनपक्षयोः' इत्यमरः । नवं चूतं चूतकुसुमं तदेव बाणस्तस्मिन्नवचूतबाणे समाप्तिं नीते सति सद्यो मनोभवस्य धन्विनो नामाक्षराणीव द्विरेफान्भ्रमरान्निवेशयामास निदधौ । अत्र प्रवालपत्र इत्याद्येकदेशविवर्तिरूपकं मधोरिषुकारत्वं रूपं यन्नामाक्षराणीवेत्युत्प्रेक्षायां निमित्तमित्येकदेशविवर्तिरूपकोत्थापितेयमुत्प्रेक्षा ॥ २७ ॥

(जैसे चतुर कारीगर कोई नवीन वस्तु तैयार करके उस पर उसके स्वामी का नाम लिख देता है उसी प्रकार) वसन्त ने आम के नवीन पल्लव रूपी पंखोवाले नूतन पुष्पबाणों की रचना करके उस पर भ्रमर रूपी अक्षरों में उसके स्वामी कामदेव का नाम अंकित कर दिया ॥ २७ ॥

वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारे दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥ २८ ॥

अन्वयः—कर्णिकारं वर्णप्रकर्षे सति निर्गन्धतया चेतः दुनोति स्म । प्रायेण विश्वसृजः प्रवृत्तिः गुणानां सामग्र्यविधौ पराङ्मुखी भवति ॥ २८ ॥

सञ्जी०—वर्णेति ॥ कर्णिकारं कर्णिकारकुसुमम् । 'अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः' इत्युत्पन्नस्य तद्धितस्य 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' इति लुक् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । वर्णप्रकर्षे वर्णोत्कर्षे सत्यपि निर्गन्धतया हेतुना चेतो दुनोति स्म पर्यतापयत् । 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् । तथाहि । प्रायेण विश्वसृजो विधातुः प्रवृत्तिर्गुणानां सामग्र्यविधौ साकल्य सम्पादन विषये पराङ्मुखी सर्वत्रापि वस्तुनि किञ्चिद्वैकल्यं संपादयति । यथा चन्द्रे कलङ्कः । अतः कर्णिकारेऽपि नैर्गन्ध्यं युज्यत इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ २८ ॥

रंग के सुन्दर होने पर भी गंधहीन होने के कारण कनेर के फूल को देखकर सहृदयों के मन में कचोट सी होने लगती थी। विधाता की प्रवृत्ति ही ऐसी है कि वह समस्त गुणों को एक ही स्थान में नहीं रखना चाहता है। वह किसी भी वस्तु को सर्वगुणसंपन्न नहीं होने देता है ।। २८ ।।

बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ।। २९ ।।

अन्वयः—अविकासभावात् बालेन्दुवक्राणि अतिलोहितानि पलाशानि वसन्तेन समागतानां वनस्थलीनां सद्यः नखक्षतानि इव बभुः ।। २९ ।।

सञ्जी०—बालेन्द्विति ।। अविकाशभावान्निर्विकाशत्वान्मुकुलभावाद्धेतोर्बालेन्दुरिव वक्राण्यतिलोहितान्यतिरक्तानि पलाशानि किंशुकपुष्पाणि । 'पलाशे किंशुकः पर्णः' इत्यमरः । वसन्तेन पुंसा समागतानां सङ्गतानां वनस्थलीनां स्त्रीणां सद्यः सद्यो दत्तानि । पुराणेष्वतिलौहित्याभावादिति भावः । नखक्षतानीव बभुः । अत्र वसन्तस्य वनस्थलीनां च विशेषणसाधारण्यान्नायकव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिस्तावदस्ति । 'नखक्षतानीव' इति जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा वक्रत्वलौहित्यगुणनिमित्ता जागर्ति । सा च नायकव्यवहाराश्रितसमासोक्तिगर्भिण्येवोत्तिष्ठत इत्युभयोरेककालतैव । विशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिरिष्यत इति हि लक्षणम् ।। २९ ।।

द्वितीया के चन्द्रमा जैसे टेढ़ी आकृतिवाले पलाश के लाल-लाल अधखिले फूल ऐसे प्रतीत होते थे मानों वसन्त रूपी पुरुष से भोगी गई वनस्थली रूपी स्त्री के शरीर पर ताजे-ताजे नख के क्षत दिखाई दे रहे हों ।। २९ ।।

लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य ।
रागेण बालाऽरुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलञ्चकार ।। ३० ।।

अन्वयः—मधुश्रीः लग्नद्विरेफाऽञ्जनभक्तिचित्रं तिलकं मुखे प्रकाश्य बालाऽरुणकोमलेन रागेण चूतप्रवालोष्ठम् अलञ्चकार ।। ३० ।।

सञ्जी०—लग्नेति ।। मधुश्रीर्वसन्तलक्ष्मीर्लग्नद्विरेफा एवाञ्जनभक्तयः कज्जलरचनास्ताभिश्चित्रं चित्रवर्णं तिलकं पुष्पविशेषमेव तिलकं विशेषकम् । मुखं प्रारम्भस्तस्मिन्नेव मुखे वक्त्रे प्रकाश्य प्रकटय्य बालारुणकोमलेन बालार्कसुन्दरेण रागेणारुणिम्ना तेनेव लाक्षारागेण चूतप्रवाल एवोष्ठस्तं चूतप्रवालोष्ठमलञ्चकार प्रसाधयामास । अत्र रूपकालङ्कारः ।। ३० ।।

वसन्त की शोभा रूपी नायिका ने अपने मुख में भ्रमर रूपी कज्जल-रचना

से चित्रित तिलक नामक पुष्प का तिलक लगाकर प्रातःकालीन सूर्य की लालिमा रूपी रंग से आम्रपल्लव रूपी अपने अधरों को अलंकृत कर लिया था ॥ ३० ॥

मृगाः प्रियालद्रुममञ्जरीणां रजःकणैर्विघ्नितदृष्टिपातः ।
मदोद्धताः प्रत्यनिलं विचेरुर्वनस्थलीर्मर्मरपत्रमोक्षाः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—प्रियालद्रुममञ्जरीणां रजःकणैः विघ्नितदृष्टिपाताः मदोद्धताः मृगाः प्रत्यनिलं मर्मरपत्रमोक्षाः वनस्थलीः विचेरुः ॥ ३१ ॥

सञ्जी०—मृगा इति ॥ प्रियालद्रुमा राजादनवृक्षाः । 'राजादनः प्रियालः स्यात्' इत्यमरः । तेषां मञ्जर्यस्तासां रजः कणैर्विघ्निताः दृष्टीनां पाताः प्रसादाः येषां ते तथोक्ताः मदोद्धता मृगाः प्रत्यनिलमनिलाभिमुखं मर्मरा मर्मरशब्दवन्तः पत्रमोक्षा जीर्णपर्णपाता यासु ता वनस्थलीर्विचेरुर्वनप्रदेशेषु चरन्ति स्म । 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति चरतेः सकर्मकत्वम् ॥ ३१ ॥

प्रियाल की मंजरियों से उड़कर आँखों में पड़नेवाले पराग के कारण अच्छी तरह देखने में असमर्थ मतवाले हरिण वायु के वेग की ओर मुँह करके दौड़ने लगे जिससे झड़े हुए सूखे पत्तों से भरी हुई वन-भूमि मर्मर-ध्वनि से भर उठी ॥ ३१ ॥

चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलो यन्मधुरं चुकूज ।
मनस्विनीमानविघातदक्षं तदेव जातं वचनं स्मरस्य ॥ ३२ ॥

अन्वयः—चूताऽङ्कुरास्वादकषायकण्ठः पुंस्कोकिलः यत् मधुरं चुकूज, तत् एव मनस्विनीमानविघातदक्षं स्मरस्य वचनं जातम् ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—चूताङ्कुरेति ॥ चुताङ्कुराणामास्वादेन कषायकण्ठो रक्तकण्ठः । 'सुरभावपथे रक्ते कषायः' इति केशवः । पुमान्कोकिलः । पुंग्रहणं प्रागल्भ्यद्योतनार्थम् । मधुरं चुकूजेति यत्तत्कूजनमेव मनस्विनीनां मानविघाते रोषनिरासे दक्षं स्मरस्य वचनं मानं त्यजतेत्याज्ञावचनं जातम् । कोकिलकूजितश्रवणानन्तरं स्मराज्ञप्ता इव मानं जहुरित्यर्थः ॥ ३२ ॥

आम्रमंजरियों के खा लेने से कषैले कंठवाले कोकिल की मधुर कूक ही मानिनी नायिकाओं का मानभंग कराने में निपुण कामदेव की वाणी जैसी प्रतीत हो रही थी ॥ ३२ ॥

हिमव्यपायाद्विशदाऽधराणामापाण्डरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
स्वेदोद्गमः किम्पुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु ॥ ३३ ॥

अन्वयः—हिमव्यपायात् विशदाऽधराणाम् आपाण्डरीभूतमुखच्छवीनाम् किम्पुरुषाऽङ्गनानां पत्रविशेषकेषु स्वेदोद्गमः पदं चक्रे ।। ३३ ।।

सञ्जी०—हिमेति ।। हिमस्य व्यपायादपगमाद्विशदा नीरुजा अधरा ओष्ठा यासां तासामापाण्डरीभूतमुखच्छवीनाम् । कुङ्कुमपरिहारादिति भावः । किम्पुरुषाङ्गनानां पत्रविशेषकेषु पत्ररचनासु स्वेदोद्गमः पदं चक्रे । घर्मोदयात्स्वेदोदयोऽभूदित्यर्थः । विशदाधरत्वं मधूच्छिष्टराहित्यादिति भावः । हेमन्तेषु नार्यो बिम्बोष्ठेषु मधूच्छिष्टं शोतभयाद्दधतीति प्रसिद्धम् ।। ३३ ।।

हिम (शीतलता) के दूर हट जाने से कोमल ओष्ठ और सुन्दर मुखवाली किन्नरियों के कपोलों पर बनी हुई पत्ररचना (मकर आदि की आकृतियाँ) के रंग घाम से उत्पन्न पसीने की बूँदों से पिघल-पिघल कर कुछ कुछ फैलने लगे ।। ३३ ।।

तपस्विनः स्थाणुवनौकसस्तामाकालिकीं वीक्ष्य मधुप्रवृत्तिम् ।
प्रयत्नसंस्तम्भितविक्रियाणां कथञ्चिदीशा मनसां बभूवुः ।। ३४ ।।

अन्वयः—स्थाणुवनौकसस्तामाकालिकीं मधुप्रवृत्ति वीक्ष्य प्रयत्नसंस्तम्भितत्रिक्रियाणां मनसां कथञ्चित् ईशाः बभुवुः ।। ३४ ।।

सञ्जी०—तपस्विन इति ।। स्थाणोर्वनमोको येषां ते तपस्विनस्तत्रत्या मुनयः । समानकाले आद्यन्तावस्या आकालिकीम् । अकालभवत्वादुत्पत्त्यनन्तरविनाशिनीमित्यर्थः । 'आकालिकडाद्यन्तवचने' इति समानकालादिकट्प्रत्ययः प्रकृतेराकाल आदेशश्च निपातितः । 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप् । केचिदकालाद्देहादध्यात्मादित्वाद्भावार्थे ठगित्याहुः । तामाकालिकीं मधुप्रवृत्ति वीक्ष्य प्रयत्नेन संस्तम्भितविक्रियाणां निरुद्धविकाराणां मनसां कथंचिदीशा नियन्तारो बभूवुः ।। ३४ ।।

शंकर जी के आश्रम में रहनेवाले तपस्वी उस असमय के वसन्तागमन को देखकर किसी प्रकार बलपूर्वक अपने मन के विकारों पर अंकुश लगाकर बड़ी कठिनाई से अपने को वश में रख सके ।। ३४ ।।

तं वेशमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने ।
काष्टागतस्नेहरसाऽनुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः ।। ३५ ।।

अन्वयः—आरोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने तं देशं प्रपन्ने सति द्वन्द्वानि काष्ठागतस्नेहरसाऽनुविद्धं भावं क्रियया विवव्रुः ।। ३५ ।।

सञ्जी०—तमिति ॥ आरोपितमधिज्यं कृतं पुष्पचापं येन तस्मिन् रतिद्वितीया यस्य तस्मिन् रतिसहाये मदने तं देशं स्थाण्वाश्रमं प्रपन्ने प्राप्ते सति द्वन्द्वानि स्थावराणि जङ्गमानि च मिथुनानि काष्ठोत्कर्षः। 'काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि' इत्यमरः। तां गतो यः स्नेह इष्टसाधननिबन्धनः प्रेमापरनामा ममताभिमानः "प्रेमा न प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः, इत्यमरः। स एव रसस्तेनानुविद्धं संपृक्तं भावं रत्याख्यं शृङ्गारभावं क्रियया कार्यभूतया चेष्टया विवव्रुः प्रकटीचक्रुः। शृङ्गारचेष्टाः प्रावर्तन्तेरित्यर्थः ॥ ३५ ॥

जब पुष्प का धनुष चढ़ाए हुए अपनी पत्नी रति के साथ कामदेव ने शङ्कर जी के आश्रम में प्रवेश किया तब सभी चराचर प्राणियों के जोड़े प्रेमरस में सने हुए अपने-अपने रति भावों को (संभोगेच्छा को) क्रियाओं द्वारा (चुम्बनालिंगन द्वारा) प्रकट करने लगे ॥ ३५ ॥

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—द्विरेफः कुसुमैकपात्रे मधु स्वां प्रियाम् अनुवर्तमानः सन् पपौ। कृष्णसारः च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीं शृङ्गेण अकण्डूयत ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—मध्विति ॥ द्वौ रेफौ वर्णविशेषौ यस्य स द्विरेफो भ्रमरः। उपचारात्तदर्थोऽपि द्विरेफ उच्यते। यथाह कैयटः—'शब्दधर्मेणाप्यर्थस्य व्यपदेशो दृश्यते। यथा भ्रमरशब्दस्य द्विरेफत्वात्द्विरेफो भ्रमरः' इति। कुसुममेवैकं साधारणं पात्रं तस्मिन्मधुमकरन्दम्। 'मधु मध्ये पुष्परसे' इति विश्वः। स्वां प्रियां भृङ्गीमनुवर्तमानोऽनुसरन्पपौ। तत्पीतशेषं पपावित्यर्थः। कृष्णश्चासौ सारः शबलश्च कृष्णसारः कृष्णमृगः। 'वर्णो वर्णेन' इति समासः। स्पर्शेन स्पर्शसुखेन निमीलिताक्षीं मृगीं शृङ्गेणाकण्डूयत कर्षितवान्। 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' इति यक्। ततः कर्तरि लङ् ॥ ३६ ॥

अपनी प्रियतमा भ्रमरी का अनुसरण करता हुआ भ्रमर कुसुम के एक ही पात्र में उसके साथ ही मधुपान करने लगा। और स्पर्श सुख से आँखें बन्द किए खड़ी अपनी प्रियतमा मृगी के शरीर को कृष्णसार मृग अपनी सींगों से खुजलाने लगा ॥ ३६ ॥

ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां सम्भावयामास रथाङ्गनामा ॥ ३७ ॥

अन्वयः—रसात् करेणुः पङ्कजरेणुगन्धि गण्डूषजलं गजाय ददौ। रथाऽङ्गनामा अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां सम्भावयामास ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—ददाविति ॥ रसादतिरागात्करेणुः करिणी। 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः। पङ्काज्जायत इति पङ्कजं तस्य रेणुः पङ्कजरेणुस्तस्य गन्धोऽस्यास्तीति पङ्कजरेणुगन्धि गण्डूषजलं मुखान्तर्धृतजलं गजाय ददौ। रथाङ्गनामा चक्रवाकोऽर्धं यथातथोपभुक्तेनार्द्धजग्धेन बिसेन जायां संभावयामास। स्वजग्धशेषं ददावित्यर्थः ॥ ३७ ॥

(जैसे कामिनियाँ कामियों को मुखगडूष से मद्य का पान कराती हैं वैसे ही) स्नेह रस में डूबी हुई हथिनी कमलों के पराग से सुगन्वित जल को अपनी सूड़ से अपने प्रियतम हाथी को पिलाने लगी और चकवा कमल के नालों को चख चख कर अपनी प्रिया चकवी को भेंट करके प्रसन्न करने लगा ॥ ३७ ॥

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किञ्चित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम्।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किम्पुरुषश्चुचुम्बे ॥ ३८ ॥

अन्वयः—किम्पुरुषः गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किञ्चित्समुच्छ्वासितपत्रलेखं पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं चुचुम्बे ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—गीतान्तरेष्विति ॥ किम्पुरुषः किन्नरः श्रमवारिलेशैः स्वेदोदबिन्दुभिः किञ्चिदीषत्समुच्छ्वासिता विश्लेषिताः पत्रलेखा यस्य तत्। पुष्पाणामासवो मद्यं पुष्पासवः। पुष्पोद्भवमद्यमित्यर्थः। वसन्ते मधूकस्य संभवात्पुष्पवासितमिति केचित्। तेनाघूर्णिताभ्यामुद्भ्रान्ताभ्यां शोभत इति तथोक्तं प्रियामुखं गीतान्तरेषु गीतमध्येषु चुचुम्बे चुचुम्ब ॥ ३८ ॥

किन्नर लोग गाते गाते बीच ही में रुककर पसीने के कारण कुछ कुछ बिगड़ी हुई पत्ररचना से युक्त तथा मद्य पान के कारण लाल नेत्रों से और भी सुशोभित होनेवाले अपनी प्रियतमा किन्नरियों का मुख चूमने लगे। ३८ ॥

पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥ ३९ ॥

अन्वयः—तरवः अपि पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रवालोष्ठमनोहराभ्यः लतावधूभ्यः विनम्रशाखाभुजबन्धनानि अवापुः ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—पर्याप्तेति ॥ पर्याप्ताः समग्राः पुष्पस्तबका एव स्तना यासां ताभ्यः। 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति विकल्पान्न ङीप्। स्फुरन्तः

प्रवालाः पल्लवा एवौष्ठास्तैर्मनोहराभ्यो लता एव वध्वस्ताभ्यः सकाशात्तरवोऽपि लिङ्गादेव पुंस्त्वं गम्यते । विनम्राः शाखा एव भुजास्तैर्बन्धनान्यवापुः । ताभिरालिङ्गिता इत्यर्थः । स्थवराणामपि मदनविकारोऽभूत्किमुतान्येषामिति भावः । एतच्च तरुलतानामपि चेतनत्वादुक्तम् । यथाह मनुः—'अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः' इति । अत्र रूपकालङ्कारः ॥ ३९ ॥

वृक्ष भी अपनी झुकी हुई डालियों की भुजाएँ फैलाकर कुसुम गुच्छक रूपी स्तनों तथा हिलते हुए पल्लव रूपी अधरों से मनको लुभाने वाली लतारूपी कामिनियों से लिपटने लगे ॥ ३९ ॥

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥ ४० ॥

अन्वयः—अस्मिन् क्षणे हरः श्रुताप्सरोगीतिः अपि प्रसंख्यानपरः बभूव । आत्मेश्वराणां विघ्नाः जातु समाधिभेदप्रभवः न भवन्ति ॥ ४० ॥

सञ्जी०—श्रुतेति ॥ अस्मिन्क्षणे वसन्ताविर्भावकाले भगवान्हरः श्रुताप्सरोगीतिरपि दिव्याङ्गनागानमाकर्णयन्नपीत्यर्थः । प्रसंख्यानपर आत्मानुसन्धानपरो बभूव । तथाहि आत्मनश्चित्तस्येश्वराणां नियन्तॄणाम् वशिनामित्यर्थः । विहन्यन्त एभिरिति विघ्नाः प्रत्यूहाः । घञर्थे कप्रत्ययः । जातु कदाचिदपि समाधिभेदे समाधिभञ्जने प्रभवः समर्था न भवन्ति ॥ ४० ॥

ऐसे मोहक वसंतोद्भव के अवसर पर अप्सराओं के गींत सुनकर भी भगवान शङ्कर अपनी समाधि में अविचल भाव से लीन ही रहे । क्योंकि चित्त को क्षुब्ध कर देने वाली वस्तुएँ आत्मसंयमी पुरुषों की समाधि भंग करने में समर्थ नहीं हो पाती हैं ॥ ४० ॥

लतागृहद्वारगतोऽथ नन्दी वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः ।
मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञयैव मा चापलायेति गणान्व्यनैषीत् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—अथ लतागृहद्वारगतः वामप्रकोष्ठार्पितहेमवेत्रः नन्दी मुखार्पितैकाङ्गुलिसंज्ञया एव गणान् 'चापलाय मा भवत' इति व्यनैषीत् ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—लतेति ॥ अथ लतागृहद्वारं गतो वामे प्रकोष्ठेऽर्पितहेमवेत्रो धारितहेमदण्डो नन्दी नन्दिकेश्वरः । 'नन्दी भृङ्गिरिटस्तुण्डिनन्दिनौ नन्दिकेश्वरे' इति कोशः । मुखेऽर्पितायाः सरोषविस्मयस्तिमितावलोकं निहिताया एकस्या अङ्गुलेस्तर्जन्याः संज्ञया सूचनयैव । 'संज्ञा स्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैश्चार्थसूचना' इत्यमरः ।

गणान्प्रमथांश्चापलाय चापलं कर्तुं मा भवतेति । 'क्रियार्थोपपदस्य—' इत्यादिना चतुर्थी । व्यनैषीच्छिक्षितवान् ॥ ४१ ॥

उस समय बायें हाथ में सोने का डंडा लिए हुए लता-मंडप के द्वार पर आकर भगवान शङ्कर के गण नन्दी ने (सभी भूतों की मनोवृत्तियों में विकार-जन्य चंचलता देख कर) मुख पर उँगली रखकर सभी गणों को संकेत से मना किया कि वे चंचलता न दिखाएँ ॥ ४१ ॥

निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम् ।
तच्छासनात्काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे ॥ ४२ ॥

अन्वयः—निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारं सर्वम् एव काननं तच्छासनात् चित्रार्पितारम्भम् इव अवतस्थे ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—निष्कम्पेति ॥ निष्कम्पवृक्षम् । इदमुद्भिज्जोपलक्षणम् । निभृतद्विरेफं निश्चलभृङ्गम् । स्वेदजोपलक्षणमेतत् । मूकाण्डजं निःशब्दपक्षिसरीसृपादिकम् । एतेनाण्डजजातिरुक्ता । शान्तमृगप्रचारम् । जरायुजोपलक्षणमेतत् । सर्वमेव काननं तच्छासनान्नन्दीश्वराज्ञया चित्रार्पितारम्भं चित्रलिखितारम्भमिवावतस्थे । 'नृगवाद्याः जरायुजाः । स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः पक्षिसर्पादयोऽण्डजाः उद्भिदस्तरुगुल्माद्याः' इत्यमरः ॥ ४२ ॥

उसके इस सांकेतिक आदेश से वृक्षों का हिलना-डुलना बन्द हो गया, भौंरों ने चुप्पी साध ली, पक्षियों ने कलरव करना बन्द कर दिया और पशुओं का चलना फिरना भी रुक गया । इस प्रकार सारा वन उस एक ही संकेत पर इतना नीरव एवं निश्चल हो गया मानो वह चित्र में खिंचा हुआ हो ॥ ४२ ॥

दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरःशुक्रमिव प्रयाणे ।
प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश ॥ ४३ ॥

अन्वयः—कामः प्रयाणे पुरःशुक्रं (देशम्) इव तस्य दृष्टिप्रपातं परिहृत्य प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं भूतपतेः ध्यानास्पदं विवेश ॥ ४३ ॥

सञ्जी०—दृष्टिप्रपातमिति ॥ कामः प्रयाणे यात्रायां पुरोगतः शुक्रो यस्मिन्देशे तं पुरःशुक्रं देशमिव । 'प्रतिशुक्रं प्रतिबुधं प्रत्यङ्गारकमेव च । अपि शक्रसमो राजा हतसैन्यो निवर्तते ॥' इति प्रतिषेधात् । तस्य दृष्टिप्रपातं दृग्विषयं परिहृत्य प्रान्तेषु पार्श्वदेशेषु संसक्ता अन्योन्यसंसृष्टा नमेरूणां सुरपुन्नागानां शाखा यस्य तत् । तिरोधानयोग्यमिति भावः भूतपतेः शिवस्य ध्यानास्पदं समाधिस्थानम् । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । विवेश ॥ ४३ ॥

जैसे यात्रा के समय लोग सम्मुख शुक्र की दृष्टि बचाते हैं उसी प्रकार कामदेव भी नन्दी की आँखों को बचाकर नागकेसर की झाड़ियों से घिरे हुए भगवान शंकर के समाधिमंडप में घुस गया ॥ ४३ ॥

स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम् ।
आसीनमासन्नशरीरपातस्त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥ ४४ ॥

अन्वयः—आसन्नशरीरपातः स शार्दूलचर्मव्यवधानवत्यां देवदारुद्रुमवेदिकायाम् आसीनं संयमिनं त्रियम्बकं ददर्श ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—स इति ॥ आसन्नशरीरपात आसन्नमृत्युः स कामः शार्दूलचर्मणा व्यवधानवत्याम् । व्याघ्रचर्मास्तृतायामित्यर्थः । 'मोक्षश्रीर्व्याघ्रचर्मणि' इति प्राशस्त्यादिति भावः । देवदारुद्रुमवेदिकायामासीनमुपविष्टं संयमिनं समाधिनिष्ठं त्रियम्बकं त्रिनेत्रं ददर्श । केचित्साहसिकाः 'त्रिलोचनम्' इति पेठुः । त्र्यम्वकमित्युक्ते पादपूरणव्यत्यासात्त्रियम्बकमिति पादपूरणार्थोऽयमियङादेशश्छान्दसो महाकविप्रयोगादभियुक्तैरङ्गीकृतः ॥ ४४ ॥

कुछ ही क्षण के पश्चात् मृत्यु के मुख में पड़ जानेवाले कामदेव ने, देवदारु वृक्ष के नीचे बनी हुई वेदी पर व्याघ्रचर्म का आसन लगाए समाधिस्थ त्रिनेत्रधारी भगवान शंकर को देखा ॥ ४४ ॥

पर्य्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम् ।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात् प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥ ४५ ॥

अन्वयः—पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायम् ऋज्वायतं सन्नमितोभयांसम् उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात् अङ्कमध्ये प्रफुल्लराजीवम् इव स्थितं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—पर्यङ्केति ॥ पर्यङ्कबन्धेन वीरासनेन स्थिरपूर्वकायं निश्चलोत्तरार्धमृजुरायतश्चर्ज्वायतस्तं सन्नमितावुभावंसौ यस्य तं तथोक्तम् । वृत्तिविषये उभशब्दस्थान उभयशब्दप्रयोग इत्युक्तं कैयटेन । उत्तान ऊर्ध्वतलो यः पाणिद्वयस्य सन्निवेशः संस्थानं तस्मादङ्कमध्ये प्रफुल्लं राजीवं पङ्कजं यस्य तमिव स्थितम् । वीरासने वसिष्ठः—'एकं पादमथैकस्मिन्विन्यस्योरौ तु संस्थितम् । इतरस्मिंस्तथैवोरुं वीरासनमुदाहृतम् ॥' इति । तथा योगसारे—'उत्तानिते करतले करमुत्तानितं परम् । आदायाङ्कगतं कृत्वा ध्यायेद्यस्तस्य सोऽन्तरम् ॥' इति ॥ ४५ ॥

भगवान शंकर वीरासन लगाए शरीर के पूर्वार्द्ध भाग को सीधा और स्थिर करके दोनो कंधो को किंचित झुकाकर खिले हुए कमल के समान दोनों हथेलियों को ऊपर करके गोद में रखे हुए बैठे थे ॥ ४५ ॥

भुजङ्गमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम् ।
कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—भुजङ्गमोन्नद्धजटाकलापं कर्णाऽवसक्तद्विगुणाक्षसूत्रं कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां ग्रन्थिमतीं कृष्णत्वचं दधानं तं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—भुजङ्गमेति ॥ भुजङ्गमेनोन्नद्ध उन्नमय्य बद्धो जटाकलापो येन तं तथोक्तम् । कर्णावसक्तम् । कर्णावलम्बीत्यर्थः । अतएव द्विगुणं द्विरावृत्तमक्षमाला यस्य तं कण्ठप्रभाणां सङ्गेन मिश्रणेन विशेषनीलामतिनीलां ग्रन्थिमतीं बन्धनयुक्तां कृष्णत्वचं कृष्णमृगाजिनं दधानम् ॥ ४६ ॥

उनकी जटाएँ सर्पों से बँधी थी, कानों पर दुहरी रुद्राक्ष की माला झूल रही थी । वह काले मृगचर्म को गाँठ लगाकर पहिने हुए थे जो कंठ की नीली छाया पड़ने से और भी नीला दिखाई पड़ रहा था ॥ ४६ ॥

किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः ।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैः भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः अविस्पन्दितपक्ष्ममालैः अधोमयूखैः नेत्रैः लक्ष्यीकृतघ्राणं तं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः ॥ ४७ ॥

सञ्जी०—किञ्चिदिति ॥ किञ्चित्प्रकाशा ईषत्प्रकाशाः स्तिमिता निश्चला उग्राश्च ताराः कनीनिका येषां तैः । 'तारकाक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः । भ्रूविक्रियाम् भ्रूविक्षेपे विरतप्रसङ्गैः प्रसक्तिरहितैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैरचलितपक्ष्मपङ्क्तिभिरधः प्रसृता मयूखा येषां तैरधोमयूखैर्नेत्रैः । त्रिनेत्रत्वाद्बहुवचनम् । लक्ष्यीकृतघ्राणं नासाग्रनिविष्टदृष्टिमित्यर्थः । 'कारणान्यबहिष्कृत्य स्थाणुवन्निश्चलात्मकः । आत्मानं हृदये ध्यायेन्नासाग्रन्यस्तलोचनः' इति योगसारे ॥ ४७ ॥

नेत्रों की चमकती हुई पुतलियों को स्थिर करके पलकों को रोके हुए (निर्निमेष भाव से) नीचे की ओर तेज फैलाने वाली तीनों आँखों से वे नासिका के अग्र भाग को एक टक देख रहे थे ॥ ४७ ॥

अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम् ।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अन्तश्चराणां मरुतां निरोधात् अवृष्टिसंरम्भम् अम्बुवाहम् इव (स्थितम्), अनुत्तरङ्गम् अपाम् आधारम् इव (स्थितम्) निवातनिष्कम्पं प्रदीपम् इव (स्थितम्) तं ददर्शेति पूर्वश्लोकेनान्वयः ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—अवृष्टीति ।। अन्तश्चरन्तीत्यन्तश्चरास्तेषां मरुतां प्राणादीनां निरोधाद्धेतोरवृष्टिसंरम्भमविद्यमानवर्षसंभ्रममम्बुवाहमिव स्थितम् । एतेन प्राणनिरोधः सूचितः । अनुत्तरङ्गमनुद्भूततरङ्गमपामाधारं ह्रदमिव स्थितम् । एतेनापाननिरोधः सूचितः । तथा निवर्ति निर्वातदेशे निष्कम्पं निश्चलं प्रदीपमिव स्थितम् । एतेन शेषवायुनिरोधः सूचितः । 'निवातावाश्रयावातौ' इत्यमरः ।। ४८ ।।

प्राणायाम द्वारा शरीर के भीतर संचरण करनेवाले प्राणादि वायुओं को रोक कर स्थिर भाव से बैठे हुए वे ऐसा दिखाई पड़ रहे थे मानो कोई बादल हो जो शीघ्र ही बरसने को आतुर न हो अथवा तरंग-रहित कोई शांत सरोवर हो अथवा वायु-रहित स्थान में रखा हुआ कोई निष्कम्प लौ वाला दीपक हो ।। ४८ ।।

कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैर्ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः ।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः ।। ४९ ।।

अन्वयः—कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैः शिरस्तः उदितैः ज्योतिःप्ररोहैः मृणालसूत्राऽधिकसौकुमार्यां बालस्य इन्दोः लक्ष्मीं ग्लपयन्तं तं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः ।।४९।।

सञ्जी०—कपालेति ।। कपालनेत्रान्तरेण ब्रह्मकरोटिनेत्रविवरेण लब्धमार्गैः शिरस्तो ब्रह्मरन्ध्रात् । पञ्चम्यास्तसिल् । उदितैरुद्भूतैर्ज्योतिः प्ररोहैस्तेजोङ्कुरैर्मृणालसूत्राधिकं सौकुमार्यं मार्दवं यस्यास्तां बालस्येन्दोः शिरश्चन्द्रस्य लक्ष्मीं गल्पयन्तम् ।।

कपाल और नेत्रों के बीच से निकलती हुई प्रकाश की जो किरणें उनके मस्तक के ऊपर पड़ रही थीं वे कमल नाल के समान कोमल जटाजूट के अगले भाग में स्थित द्वितीया के चन्द्रमा की सूक्ष्म रश्मियों को भी लजाने वाली थीं ।।४९।।

मनोनवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ।। ५० ।।

अन्वयः—नवद्वारनिषिद्धवृत्ति समाधिवश्यं मनः हृदि व्यवस्थाप्य क्षेत्रविदः यम् अक्षरं विदुः तम् आत्मानम् आत्मनि अवलोकयन्तं तं ददर्शेति पूर्वेणान्वयः ।।५०।।

सञ्जी०—मन इति ।। नवभ्यो द्वारेभ्यो निषिद्धा निवर्तिता वृत्तिः संचारो यस्य तत्तथोक्तम् । समाधिना प्रणिधानेन वश्यं वशङ्गतम् । यत्प्रत्ययः । 'प्रणिधानं समाधानं समाधिश्च समाश्रयः' इति हलायुधः । मनोहृदि हृदयाख्येऽधिष्ठाने व्यवस्थाप्य । तथा च वसिष्ठः—'यतो निर्याति विषयाद्यस्मिंश्चैव प्रलीयते । हृदयं तद्विजानीयान्मनसः स्थितिकारणम् ।।' इति । क्षेत्रविदः क्षेत्रज्ञाः पुरुषाः । यं न क्षरतीत्यक्षरमविनाशिनं विदुर्विदन्ति । 'विदो लटो वा' इति झेर्जुस् । तमा-

त्मानमात्मनि स्वस्मिन्नवलोकयन्तं साक्षात्कुर्वन्तम् । स्वातिरेकेण परमात्मनोऽभावादिति भावः ॥ ५० ॥

शरीर के नवों द्वारों की वृत्तियों को रोक कर मन को समाधि द्वारा वश में करके तथा हृदय में स्थापित करके जिस सनातन शिव तत्व को ब्रह्मज्ञानी देखा करते हैं वही शिव अपने भीतर स्वयं अपने आप को देख रहे थे ॥ ५० ॥

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम् ।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—स्मरः, तथाभूतं मनसा अपि अधृष्यम् अयुग्मनेत्रम् अदूरात् पश्यन् साध्वससन्नहस्तः सन् स्वहस्तात् स्रस्तं शरं चापम् अपि न अलक्षयत् ॥ ५१ ॥

सञ्जी०—स्मरेति ॥ स्मरः कामस्तथाभूतं पूवोक्तरूपं मनसाप्यधृष्यमयुग्मनेत्रं विषमाक्षमदूरात्पश्यन् । साध्वसेन सन्नहस्तो विश्लथपाणिः सन् । स्वहस्तात्स्रस्तं शरं चापमपि चापं च नालक्षयन्न विवेद । भीतो मुह्यतीति भावः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार समाधि में मग्न तथा मन से भी अगम्य त्रिनेत्र भगवान शंकर जी को अति समीप से देखकर कामदेव इतना आतंकित हो उठा कि उसके काँपते हुए हाथ से धनुष बाण छूटकर कब नीचे गिर पड़ा, वह इसे भी न जान सका ॥५१॥

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन ।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥ ५२ ॥

अन्वयः—अथ निर्वाणभूयिष्टम् अस्य वीर्यं वपुर्गुणेन सन्धुक्षयन्ती इव स्थिता वनदेवताभ्याम् अनुप्रयाता स्थावरराजकन्या अदृश्यत् ॥ ५२ ॥

सञ्जी०—निर्वाणेति ॥ अथ निर्वाणेन नाशेन भूयिष्ठं निर्वाणभूयिष्ठम् । नष्टप्रायमित्यर्थः । अस्य स्मरस्य वीर्यं बलं वपुर्गुणेन सौन्दर्येण संधुक्षयन्तीव पुनरुज्जीवयन्तीव स्थिता वनदेवताभ्याम् सखीभूताभ्यामनुप्रयातानुगता स्थावरराजकन्या पार्वत्यदृश्यत दृष्टा ॥ ५२ ॥

(धनुष बाण गिर जाने के पश्चात्) भय के कारण कामदेव के नष्टप्राय बल को अपने अलौकिक सौन्दर्य से पुनरुज्जीवित सी करती हुई पर्वतराज हिमालय की कन्या पार्वती उसी ओर आती हुई दिखाई पड़ीं जिनके पीछे पीछे (विजया और मालती नाम की) दो वनदेवियाँ भी आ रही थीं ॥ ५२ ॥

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागम् आकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारं मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती स्थावरराजकन्या अदृश्यतेति पूर्वेणान्वयः ।५३।

सञ्जी०—अशोकेति ।। अशोकपुष्पेण निर्भर्त्सितास्तिरस्कृताः पद्मरागा येन तत्तथोक्तम् । आकृष्टहेमद्युतीन्याहृतस्वर्णाभरणवर्णानि कर्णिकाराणि यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । मुक्ताकलापीकृतानि सिन्धुवाराणि निर्गुंण्डीकुसुमानि यस्मिंस्तत् । 'सिन्धुवारेन्द्रसरसौ निर्गुण्डीन्द्राणिकेत्यपि' इत्यमरः । वसन्तपुष्पाण्येवाभरणं वहन्ती ।। ५३ ।।

पार्वती जी उस समय, पद्मरागमणि के समान लाल रंगवाले अशोक, सोने के समान पीले रंग के कनेर तथा मोती जैसे उजले सिन्धुवार के वसन्त कालीन फूलों के आभूषण अपने शरीर पर धारण किए हुए थीं ।। ५३ ।।

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ।। ५४ ।।

अन्वयः—स्तनाभ्यां किञ्चित् आवर्जिता इव तरुणार्करागं वासः वसाना, अतएव, पर्याप्तपुष्पस्तबकाऽवनम्रा पल्लविनी सञ्चारिणी लता इव (उत्प्रेक्ष्यमाणा) पार्वती अदृश्यतेति पूर्वेणान्वयः ।। ५४ ।।

सञ्जी०—आवर्जितेति ।। स्तनाभ्यां किञ्चिदावर्जितेवेषदानमितेव । तरुणार्कस्य राग इव रागो यस्य तत् । बालार्कारुणमित्यर्थः । उपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च । वासो वसानाच्छादयन्ती । अत एव पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा पल्लविनी किसलयवती सञ्चारिणी लतेव । स्थितेति शेषः ।। ५४ ।।

दोनों स्तनों के बोझ से कुछ कुछ झुके हुए शरीर वाली पार्वती प्रातःकालीन सूर्य की किरणों के समान लाल रंग का वस्त्र धारण किए हुए ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानों फूलों के गुच्छों से लदी हुई कोई चलती फिरती लता हो ।। ५४ ।।

स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयामिवकार्मुकस्य ।। ५५ ।।

अन्वयः—स्थानविदा स्मरेण न्यासीकृतां कार्मुकस्य द्वितीयां मौर्वीम् इव (उत्प्रेक्ष्यमाणां) नितम्बात् स्रस्तां केसरदामकाञ्चीं पुनः पुनः अवलम्बमाना 'पार्वती अदृश्यतेति' पूर्वेणान्वयः ।। ५५ ।।

सञ्जी०—स्रस्तामिति ।। स्थानविदा निक्षेपयोग्यस्थानवेदिना स्मरेणन्यासीकृताम् निक्षेपीकृताम् । कर्मणि प्रभवतीति कार्मुकं धनुः । 'कर्मण उकञ्' इत्युक-

ञ्प्रत्यय. । तस्य द्वितीयां मौर्वीमिव स्थिताम् । अत्र हि न्यस्ता मौर्व्युत्तरत्र हरवैरनिर्यातनायोपयुज्यत इति भावः । नितम्बात्स्रस्तां चलितां केसरदाम बकुलमाला सैवकाञ्ची तां पुनः पुनरवलम्बमाना हस्तेन धारयन्ती ।। ५५ ।।

धरोहर रखने के उचित स्थान को भलीभाँति जाननेवाले कामदेव की धरोहर रखी हुई धनुष की दूसरी डोरी के समान तथा चलने के कारण जघन स्थान से कुछ नीचे की ओर सरकती हुई, मौलसिरी की माला से निर्मित अपनी करधनी को बार-बार स्वयं ऊपर खिसका कर पार्वती जी ने हाथ से पकड़ रखा था, ताकि चलने में रुकावट न पड़े ।। ५५ ।।

सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाऽधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
प्रतिक्षणं सम्भ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ।। ५६ ।।

अन्वयः—सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाऽधरासन्नचरं द्विरेफं प्रतिक्षणं सम्भ्रमलोलदृष्टिः सती लीलारविन्देन निवारयन्ती 'पार्वती अदृश्यते'ति पूर्वेणान्वयः ।। ५६ ।।

सञ्जी०—सुगन्धीति । सुगन्धिभिर्निश्वासैर्विवृद्धतृष्णम् । बिम्बतुल्योऽधरो बिम्बाधरः । 'वृत्तौ मध्यपदलोपः स्यात्' इति वामनः । तस्यासन्नचरं सन्निकृष्टचरं द्विरेफं भृङ्गं प्रतिक्षणं सम्भ्रमेण लोलदृष्टिश्चञ्चलाक्षी सती लीलारविन्देन निवारयन्ती ।। ५६ ।।

सुगंधित निःस्वासों की गंध पाने के लिए ओठों के पास मड़राने वाले अत्यंत लालायित भ्रमरों को वह (पार्वती) घबराहट के कारण चंचल नेत्रों से देखती हुई अपने हाथ में लिए हुए लीला कमल से बारंवार उड़ाती चल रही थी ।।५६।।

तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम् ।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंसे ।। ५७ ।।

अन्वयः—सर्वावयवानवद्यां रतेः अपि ह्रीपदम् आदधानां तां वीक्ष्य पुष्पचापः जितेन्द्रिये शूलिनि स्वकार्यसिद्धि पुनः आशशंसे ।। ५७ ।।

सञ्जी०—तामिति ।। सर्वावयवेष्वनवद्यामगर्ह्याम् । 'अवद्यपण्य—' इति निपातः । रतेः कामकलत्रस्यापि ह्रीपदं लज्जानिमित्तमादधानाम् । न्यूनतामावहन्तीमित्यर्थः । तां पार्वतीं वीक्ष्य पुष्पचापः कामो जितेन्द्रिये । दुर्जयेऽपीत्यर्थः । शूलिनि शिवे विषये स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंसे चक्रमे । पूर्वं 'साध्वससन्नहस्तः' (३।५१) इत्यादिना कार्यसिद्धेरुन्मूलितत्वाभिधानादिह पुनरित्युक्तम् ।। ५७ ।।

सर्वाङ्ग सुन्दरी तथा अपने सौन्दर्य से रति को भी लज्जित करनेवाली उस पार्वती को देखकर कामदेव के मन में जितेन्द्रिय महादेव पर विजय प्राप्त करके अपने कार्य की सफलता के विषय में फिर से आशा बँध गई ॥ ५७ ॥

भविष्यतः पत्युरुमा च शम्भोः समाससाद प्रतिहारभूमिम् ।
योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम ॥ ५८ ॥

अन्वयः—उमा च भविष्यतः पत्युः शम्भोः प्रतिहारभूमिं समाससाद । स च अन्तः परमात्मसंज्ञं परं ज्योतिः दृष्ट्वा योगात् उपारराम ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—भविष्यत इति ॥ उमा च भविष्यतः पत्युः शम्भोः प्रतिहारभूमिं द्वारदेशं समाससाद । 'स्त्री द्वाद्वारिं प्रतीहारः' इत्यमरः । स शम्भुश्चान्तः परमात्मेति संज्ञा यस्य तत्परं मुख्यम् । 'परं दूरान्यमुख्येषु' इति यादवः । ज्योतिर्दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य योगाद्ध्यानात् । योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । उपाररामोपारतः । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् ॥ ५८ ॥

इधर पार्वती अपने भावी पति शंकर जी के आश्रम के द्वार पर पहुँची, उधर शंकर जी ने भी अपने अंतःकरण में परमात्मा नामक अलौकिक ज्योति का साक्षात्कार करके अपनी समाधि को समाप्त कर दिया ॥ ५८ ॥

ततो भुजङ्गाधिपतेः फणाग्रैरधः कथञ्चिद्धृतभूमिभागः ।
शनैः कृतप्राणविमुक्तिरीशः पर्यङ्कबन्धं निविडं बिभेद ॥ ५९ ॥

अन्वयः—ततः भुजङ्गाधिपतेः फणाग्रैरधः कथञ्चिद्धृतभूमिभागः शनैःकृतप्राणविमुक्तिः ईशः निविडं पर्यङ्कबन्धं बिभेद ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—तत इति ॥ ततो भुजङ्गाधिपतेः शेषस्य फणाग्रैरधो भूमेरधः कथञ्चिदतियत्नेन धृतो भूमिभागः स्वोपवेशनभूभागो यस्य स तथोक्तः । वायुधारणाहितलाघवनिवृत्त्या भगवतो गुरुत्वादिति भावः । शनैः कृता प्राणानां प्राङ्निरुद्धानां विमुक्तिः पुनः सञ्चारो येन स कृतप्राणविमुक्तिरीशो निविडं दृढं पर्यङ्कबन्धं वीरासनं बिभेद शिथिलीचकार ॥ ५९ ॥

(परमात्मज्योति के साक्षात्कार के) अनन्तर धीरे धीरे प्राणायाम का विसर्जन करके शंकर जी ने अपना वीरासन त्याग दिया । किन्तु इतने ही से (प्राण वायु के ब्रह्मरंध्र से उतर कर सारे शरीर में व्याप्त हो जाने के कारण) वे इतने अधिक भारी हो गए कि शेषनाग ने अपने फनों के अग्रभाग पर बड़ी कठिनाई से पृथ्वी का भार सहन किया ॥ ५९ ॥

तस्मै शशंस प्रणिपत्य नन्दी शुश्रूषया शैलसुतामुपेताम् ।
प्रवेशयामास च भर्तुरेनां भ्रूक्षेपमात्रानुमतप्रवेशाम् ॥ ६० ॥

अन्वयः—अथ नन्दी तस्मै प्रणिपत्य शुश्रूषया उपेतां शैलसुतां शशंस । भर्तुः भ्रूक्षेपमात्रानुमतप्रवेशाम् एनां प्रवेशयामास च ॥ ६० ॥

सञ्जी०—तस्मा इति ॥ अथ नन्दी तस्मै भगवते । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । प्रणिपत्य नमस्कृत्य शुश्रूषया सेवया निमित्तेनोपेताम् । सेवार्थमागतामित्यर्थः । शैलसुतां शशंस निवेदयामास । भर्तुः स्वामिनो भ्रूक्षेपमात्रेण भ्रूसंज्ञयैवानुमतप्रवेशामङ्गीकृतप्रवेशामेनां शैलसुतां प्रवेशयामास च ॥ ६० ॥

(समाधि टूटने के पश्चात्) नंदी ने शंकर जी के पास जाकर प्रणाम करके निवेदन किया कि पार्वती जी सेवा के लिए उपस्थित हैं। फिर उनकी (शंकर जी की) भौंहों के संकेत मात्र से अनुमति प्राप्त कर नन्दी बाहर चला गया और पार्वती जी को उनके भावी पति शंकर जी के पास लिवा ले गया ॥ ६० ॥

तस्याः सखीभ्यां प्रणिपातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्ययस्य ।
व्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले पुष्पोच्चयः पल्लवभङ्गभिन्नः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—तस्याः सखीभ्यां स्वहस्तलूनः पल्लवभङ्गभिन्नः शिशिरात्ययस्य पुष्पोच्चयः त्र्यम्बकपादमूले प्रणिपातपूर्वं व्यकीर्यत ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—तस्या इति ॥ तस्याः पार्वत्याः सखीभ्यां पूर्वोक्ताभ्यां स्वहस्तेन लूनः उपचितः पल्लवभङ्गभिन्नः किसलयशकलमिश्रः शिशिरात्यस्य वसन्तस्य सम्बन्धी पुष्पोच्चयः पुष्पप्रकरः । 'हस्तादाने चेरस्तेये' इति घञ्विषयत्वात्कवीनामयं प्रामादिकः प्रयोग इति वल्लभः । त्र्यम्बकपादमूले प्रणिपातपूर्वं नमस्कारपूर्वकं व्यकीर्यत विक्षिप्तः ॥ ६१ ॥

पार्वती की सखियों ने विनय पूर्वक प्रणाम करने के पश्चात् अत्यन्त भक्तिपूर्वक अपने हाथों से चुने हुए वसंतऋतु के नव पल्लवों के टुकड़ों और फूलों को शंकर जी के चरणों में बिखेर दिया ॥ ६१ ॥

उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम् ।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय ॥ ६२ ॥

अन्वयः—उमा अपि नीलालकमध्यशोभि नवकर्णिकारं विस्रंसयन्ती कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना वृषभध्वजाय प्रणामं चकार ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—उमेति ॥ उमापि नीलालकानां मध्ये शोभत इति तथोक्तम् ।

अलकन्यस्तमित्यर्थः। नवकर्णिकारं विस्रंसयन्ती कर्णाच्च्युतः पल्लवो यस्य तेन मूर्ध्ना वृषभध्वजाय प्रणामं चकार। क्रियाग्रहणात्सम्प्रदानत्वम् ॥ ६२ ॥

पार्वती जी ने भी अपना मस्तक झुका कर महादेव जी को प्रणाम किया। जिससे उनके काले काले बालों में सुशोभित कनेर के फूल तथा कानों पर रखे हुए नए पल्लव वहीं गिर पड़े ॥ ६२ ॥

अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति सा तथ्यमेवाभिहिता भवेन।
न हीश्वरव्याहृतयः कदाचित्पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—सा भवेन 'अनन्यभाजं पतिम् आप्नुहि' इति तथ्यम् एव अभिहिता। हि ईश्वरव्याहृतयः कदाचित् अपि लोके विपरीतम् अर्थं न पुष्णन्ति ॥ ६३ ॥

सञ्जी०—अनन्येति ॥ सा कृतप्रणामा देवी भवेन हरेण। अन्यां न भजतीति तमनन्यभाजम्। 'भजो ण्विः' इति ण्विप्रत्ययः। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पूर्वपदस्य पुंवद्भावः। पतिमाप्नुहीति तथ्यं सत्यमेवाभिहितोक्ता उत्तरत्र तथैव सम्भवादिति भावः। अभिदधातेर्न्नवर्थस्य दुहादित्वादप्रधाने कर्मणिक्तः। तथाहि। ईश्वरव्याहृतयो महापुरुषोक्तयः कदाचिदपि लोके भुवने। 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः। विपरीतं विसम्वादिनमर्थममिधेयं न पुष्णन्ति। न बोधयन्तीत्यर्थः ॥ ६३ ॥

प्रणाम करने के अनन्तर शंकर जी ने पार्वती को जो यह आशीर्वाद दिया कि तुम्हें सर्वथा एक पत्नीव्रती पति प्राप्त हो, वह नितान्त ही सत्य था। महापुरुषों की वाणी संसार में कभी भी मिथ्या नहीं हो सकती ॥ ६३ ॥

कामस्तु बाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवद्वह्निमुखं विविक्षुः।
उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यां मुहुराममर्श ॥ ६४ ॥

अन्वयः—कामस्तु बाणावसरं प्रतीक्ष्य पतङ्गवत् वह्निमुखं विविक्षुः, उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः सन्, शरासनज्यां मुहुः आममर्श ॥ ६४ ॥

सञ्जी०—काम इति ॥ कामस्तु बाणावसरं प्रतीक्ष्योमासन्निधानादयमेव बाणप्रयोगसमय इति ज्ञात्वा पतङ्गेन तुल्यं पतङ्गवच्छलभवत्। 'समौ पतङ्गशलभौ' इत्यमरः। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः। वह्निमुखं विविक्षुः प्रवेष्टुमिच्छुः। विशतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। उमायाः समक्षमक्ष्णः समीपमुमासमक्षम्। 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। हरे बद्धलक्ष्यः सन्। शरासनस्य ज्यां मौर्वीं मुहुराममर्श परामृष्टवान् ॥ ६४ ॥

(उधर) कामदेव बाण चलाने के उपयुक्त अवसर की ताक में लगा हुआ

था। आग में कूदने के इच्छुक फतिंगे की तरह वह पार्वती के सम्मुख बैठे हुए शंकर जी पर लक्ष्य-संधान करते हुए बार बार धनुष की डोरी पर हाथ फेरने लगा।

अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण।
विशोषितां भानुमतो मयूखैर्मन्दाकिनीपुष्करबीजमालाम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—अथ गौरी तपस्विने गिरिशाय ताम्ररुचा करेण भानुमतः मयूखैः विशोषितां मन्दाकिनीपुष्करबीजमालाम् उपनिन्ये ॥ ६५ ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथ गौरी। तपोऽस्यास्तीति तपस्वी। 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति विनिप्रत्ययः। तस्मै तपस्विने गिरिशाय ताम्ररुचा रक्तवर्णेन करेण भानुमतो अंशुमतो मयूखैर्विशोषितां मन्दाकिन्याः पुष्कराणि पद्मानि तेषां बीजानि तेषां मालां जपमालिकामुपनिन्ये समर्पितवती ॥ ६५ ॥

(प्रणाम करने के पश्चात्) पार्वती ने अपने ताँबे जैसे अरुण कांतिवाले हाथों से सूर्य की किरणों में सुखाए गए तथा गंगा में उत्पन्न कमलों के कमलगट्टे की माला तपश्चर्या करके उठे हुए शंकर जी को भेंट की ॥ ६५ ॥

प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात् त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च।
सम्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—त्रिलोचनश्च प्रणयिप्रियत्वात् तां प्रतिग्रहीतुम् उपचक्रमे। पुष्पधन्वा च सम्मोहनं नाम अमोघं बाणं धनुषि समधत्त ॥ ६६ ॥

सञ्जी०—प्रतिग्रहीतुमिति ॥ त्रिलोचनश्च प्रणयिप्रियत्वादर्थिप्रियत्वात्तामक्षमालां प्रतिग्रहीतुं स्वीकर्तुमुपचक्रमे। पुष्पं धनुर्यस्य स पुष्पधन्वा कामश्च। 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङादेशः। सम्मोह्यतेऽनेनेति सम्मोहनं नाम। नामेति प्रसिद्धौ। अमोघं बाणं सायकं धनुषि समधत्त संहितवान् ॥ ६६ ॥

भक्तवत्सल होने के कारण पार्वती की दी हुई उस माला को लेने के लिए शङ्कर जी ने ज्योंही हाथ बढ़ाया त्योंही कामदेव ने अपने पुष्प-धनुष पर उस सम्मोहन बाण को चढ़ा लिया, जो लक्ष्यवेध करने मे कभी नहीं चूकता था ॥६६॥

हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ ६७ ॥

अन्वयः—हरस्तु चन्द्रोदयारम्भे अम्बुराशिः इव किञ्चित् परिलुप्तधैर्यः सन् बिम्बफलाधरोष्ठे उमामुखे विलोचनानि व्यापारयामास ॥ ६७ ॥

सञ्जी०—हर इति ॥ हरस्तु हरोऽपि चन्द्रोदयारम्भेऽम्बुराशिरिव किञ्चिदीषत्परिलुप्तधैर्यः न तु प्राकृतजनवदत्यन्तलुप्तधैर्य इति भावः। बिम्बफलतुल्योऽधरोष्ठो

यस्य तस्मिन्नुमामुखे विलोचनानि व्यापारयामास। त्रिभिरपि लोचनैः साभिलाषमद्राक्षीदित्यर्थः। एतेन भगवतो रतिभावोदय उक्तः॥ ६७॥

जैसे चन्द्रोदय होने से अत्यंत गंभीर समुद्र भी क्षुब्ध हो उठता है। उसी प्रकार शंकर जी भी (काम के सम्मोहन नामक बाण के चढ़ाने के कारण) कुछ अधीर हो उठे। और बिम्बा फल के समान लाल ओठ वाली पार्वती के मुख को अपनी तीनों आँखों से देखने लगे॥ ६७॥

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥ ६८॥

अन्वयः—शैलसुता अपि स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः अङ्गैः भावं विवृण्वती चारुतरेण पर्यस्तविलोचनेन मुखेन साचीकृता तस्थौ॥ ६८॥

सञ्जी०—विवृण्वतीति॥ शैलसुतापि स्फुरद्बालकदम्बकल्पैर्विकसत्कोमलनीपसदृशैः। पुलकितैरित्यर्थः। 'ईषदसमाप्तौ—' इत्यादिना कल्पप्प्रत्ययः। अङ्गैर्भावं रत्याख्यं विवृण्वती प्रकाशयन्ती चारुतरेण पर्यस्तविलोचनेन व्रीडाविभ्रान्तनेत्रेण मुखेनासाचि साचि सम्पद्यमाना साचीकृता तिर्यक्कृता। 'तिर्यगर्थे साचि तिरः' इत्यमरः। तस्थौ। ह्रिया मुखं साचीकृत्य स्थितेत्यर्थः। न केवलं हरस्यैव देव्या अप्युदितो रतिभाव इति भावः॥ ६८॥

(इधर) शंकरजी की दृष्टि पड़ते ही पार्वती का सम्पूर्ण अंग प्रफुल्लित कोमल कदम्ब के पुष्प के समान रोमांचित हो उठा, जिससे उनके हृदय का (शंकर के प्रति) मधुर भाव छिपा न रह सका। उनकी आँखें लज्जा से झुक गईं और वह तनिक तिरछी सी होकर खड़ी रह गईं। उस समय उनका मुख और भी सुन्दर लगने लगा॥ ६८॥

अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्रः पुनर्वशित्वाद्बलवन्निगृह्य।
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम्॥ ६९॥

अन्वयः—अथ अयुग्मनेत्रः वशित्वात् इन्द्रियक्षोभं पुनः बलवत् निगृह्य स्वचेतोविकृतेः हेतुं दिदृक्षुः सन् दिशाम् उपान्तेषु दृष्टिं ससर्ज॥ ६९॥

सञ्जी०—अथेति॥ अथायुग्मानि नेत्राणि यस्य सोऽयुग्मनेत्रस्त्रिनेत्रो वशित्वाज्जितेन्द्रियत्वादिन्द्रियक्षोभं पूर्वोक्तमिन्द्रियविकारं पुनर्बलवद्दृढं निगृह्य निवार्य स्वचेतोविकृतेः स्वचित्तविकारस्य हेतुं कारणं दिदृक्षुर्द्रष्टुमिच्छुर्दिशामुपान्तेषु दृष्टिं ससर्ज प्रसारयामास॥ ६९॥

जितेन्द्रिय होने के कारण त्रिनेत्र भगवान शंकर ने बलपूर्वक अपनी इन्द्रियों की चंचलता का दमन कर दिया और अपने मन के इस प्रकार सहसा विकारग्रस्त हो जाने का कारण ढूँढ़ने के लिए अपनी दृष्टि चारों ओर दौड़ाई ॥ ६९ ॥

स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम् ।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥ ७० ॥

अन्वयः—सः दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसम् आकुञ्चितसव्यपादं चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्तुं अभ्युद्यतम् आत्मयोनिं ददर्श ॥ ७० ॥

सञ्जी०—स इति ॥ स भगवान्दक्षिणापाङ्गे निविष्टा स्थिता मुष्टिर्यस्य तं नतांसमाकुञ्चितो भुग्नः सव्यपादो यस्य तम् । आलीढाख्यस्थानके स्थितमित्यर्थः । चक्रीकृतचारुचापं मण्डलीकृतसौम्यकोदण्डं प्रहर्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिं मनोभवं ददर्श । आलीढलक्षणमाह यादवः—'स्थानानि धन्विनां पञ्च तत्र वैशाखमस्त्रियाम् । वितस्त्यन्तरगौ पादौ मण्डलं तोरणाकृती ॥ समानौ स्यात्समपदमालीढं पदमग्रतः । दक्षिणं वाममाकुञ्च्य प्रत्यालीढं विपर्ययः' ॥ ७० ॥

उन्होंने देखा कि कामदेव अपनी दाहिनी आँख के कोने तक मुट्ठी को खींचे हुए, निशाना साधने के लिए कंधे को तनिक झुकाए हुए तथा बाएं पैर के घुटने को टेढ़ा किए हुए धनुष की डोरी को पूरी तरह खींच कर उन्हीं पर बाण छोड़ने के लिए तैयार है ॥ ७० ॥

तपःपरामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य ।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात ॥ ७१ ॥

अन्वयः—तपःपरामर्शविवृद्धमन्योः भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य तृतीयात् अक्ष्णः स्फुरन् उदर्चिः कृशानुः सहसा निष्पपात किल ॥ ७१ ॥

सञ्जी०—तप इति ॥ तपः परामर्शेन तपस आस्कन्दनेन विवृद्धमन्योः प्रवृद्धकोपस्य भ्रूभङ्गेण दुष्प्रेक्ष्यं दुर्दर्शं मुखं यस्य तस्य हरस्य तृतीयादक्ष्णः स्फुरन्नुद्दीप्यमान उदर्चिरुद्भूतज्वालः कृशानुरग्निः सहसातर्कितमेव । 'अतर्कितं तु सहसा' इत्यमरः । निष्पपात किल निश्चक्राम खलु ॥ ७१ ॥

अपनी तपस्या में विघ्न पड़ने के कारण वे अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे, उनकी भौंहें टेढ़ी हो उठीं । उस समय उनके मुख की ओर देखना कठिन हो गया और उनके तीसरे नेत्र से एकाएक चिनगारियाँ बिखेरती हुई आग की लपट निकल पड़ी ।७१।

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत् स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्माऽवशेषं मदनञ्चकार ॥ ७२ ॥

अन्वयः—प्रभो ! क्रोधं 'संहर संहर', इति मरुतां गिरः खे यावत् चरन्ति, तावत् भवनेत्रजन्मा स वह्निः मदनं भस्माऽवशेषं चकार ॥ ७२ ॥

सञ्जी०—क्रोधमिति ॥ हे प्रभो स्वामिन्, क्रोधं संहर-संहर निवर्तय-निवर्तय । 'चापले द्वे भवत इति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन द्वित्वम् । 'सम्भ्रमेण वृत्तिश्चापलम्' इति काशिका । इत्येवं मरुतां देवानां गिरो वाचः खे व्योम्नि यावच्चरन्ति प्रवर्तन्ते तावत्तत्कालमेव भवस्य नेत्राज्जन्म यस्य स भवनेत्रजन्मा । 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः । स वह्निर्मदनं भस्मैवावशेषो यस्य तं भस्मावशेषं चकार । ददाहेत्यर्थ ॥ ७२ ॥

हे प्रभो क्रोध को रोकिए ! क्रोध को रोकिए !!—देवताओं की यह पुकार आकाश में गूँजती ही रह गई (शंकर के कानों के पास पहुँच भी न सकी) कि इतने में ही शंकर जी के नेत्र से उत्पन्न उस आग की लपट ने कामदेव को जलाकर भस्म कर दिया ॥ ७२ ॥

तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥ ७३ ॥

अन्वयः—तीव्राभिषङ्गप्रभवेण इन्द्रियाणां वृत्तिं संस्तम्भयता मोहेन रतिः मुहूर्तम् अज्ञातभर्तृव्यसना सती कृतोपकारा इव बभूव ॥ ७३ ॥

सञ्जी०—तीव्रेति ॥ तीव्राभिषङ्गप्रभवेणातिदुःसहाभिभवसम्भवेन । 'अभिषङ्गस्त्वभिभवे सङ्ग आक्रोशनेऽपि च' इति वैजयन्ती । इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां वृत्तिं व्यापारं संस्तम्भयता प्रतिबध्नता मोहेन मूर्च्छया कर्त्रा । रतिर्मदनभार्या मुहूर्तमज्ञातं भर्तृव्यसनं भर्तृनाशो यया सा तथोक्ता सती कृतोपकारेव बभूव । सहसा दुःखोपनिपातान्मुमूर्च्छेत्यर्थः । मोहेन दुःखसंवेदनाभावात्तस्योपकारकत्वोक्तिः ॥७३॥

अत्यंत असह्य विपत्ति के आ जाने से रति की सारी इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो गईं जिससे वह अचेत हो गई । ऐसा हो जाना उसके लिए अच्छा ही हुआ क्योंकि कम से कम उतनी ही देर के लिए सही, उसे अपने पति की मृत्यु का ज्ञान तो नहीं हो सका ॥ ७३ ॥

तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य ।
स्त्रीसन्निकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—तपस्वी भूतपतिः तपसः विघ्नं तम् आशु वज्रः वनस्पतिम् इव अवभज्य, स्त्रीसन्निकर्षं परिहर्तुं इच्छन् सन् सभूतः अन्तर्दधे ॥ ७४ ॥

सञ्जी०—तमिति ।। तपस्वी तपोनिष्ठो भूतपतिः शिवस्तपसो विघ्नमन्तरायभूतं तं काममाशु वज्रोऽशनिर्वनस्पतिं वृक्षमिवावमज्य भङ्क्त्वा स्त्रीसंनिकर्षं स्त्रीसन्निधानं परिहर्तुमिच्छन् । तस्यानर्थहेतुत्वादिति भावः । सभूतः सगणः सन्नन्तर्दधे ।।

तपोनिष्ठ भगवान शंकर तपस्या के मूर्तिमान विघ्न रूप कामदेव को भस्म कर स्त्री-साहचर्य के त्याग की इच्छा से सभी भूतगणों के साथ उसी प्रकार अन्तर्ध्यान हो गए जैसे आकाश से गिरने वाली बिजली वृक्ष को तोड़ कर तुरन्त लुप्त हो जाती है ।। ७४ ।।

शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं
व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा
शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथञ्चित् ।। ७५ ।।

अन्वयः—शैलात्मजा अपि उच्छिरसः पितुः अभिलाषम्, ललितम् आत्मनः वपुश्च व्यर्थं समर्थ्य सख्योः समक्षम् इति च अधिकजातलज्जा शून्या सती कथञ्चित् भवनाभिमुखी जगाम ।। ७५ ।।

सञ्जी०—शैलात्मजेति ।। शैलात्मजा पार्वत्यप्युच्छिरस उन्नतशिरसो महतः पितुरभिलाषं हरो वरोऽस्त्विति मनोरथं ललितं सुन्दरमात्मनो वपुश्च व्यर्थं निष्फलं समर्थ्य विचार्य सख्योः समक्षं पुर इति च हेतुनाधिकं जातलज्जा । समानजनसमक्षमवमानस्यातिदुःसहत्वादिति भावः । शून्या निरुत्साहा सती कथञ्चित्कृच्छ्रेण भवनस्याभिमुखी जगाम ।। ७५ ।।

पार्वती जी सखियों के सामने ही अपने मनस्वी पिता हिमालय की इच्छा तथा अपने सौन्दर्य दोनों ही को इस प्रकार निष्फल होते देख कर लज्जा से गड़ सी गईं । किन्तु किसी प्रकार अपने को सम्हाल कर खोए हुए मन से वह अपने भवन की ओर चल पड़ीं ।। ७५ ।।

सपदि मुकुलिताक्षीं रुद्रसंरम्भभीत्या
दुहितरमनुकम्प्यामद्रिरादाय दोर्भ्याम् ।
सुरगज इव बिभ्रत्पद्मिनीं दन्तलग्नां
प्रतिपथगतिरासीद् वेगदीर्घीकृताङ्गः ।। ७६ ।।

अन्वयः—सपदि अद्रिः रुद्रसंरम्भभीत्या मुकुलिताक्षीम् अनुकम्प्यां दुहितरं दोर्भ्याम् आदाय दन्तलग्नां पद्मिनीं बिभ्रत् सुरगज इव वेगदीर्घीकृताङ्गः सन् प्रतिपथगतिः आसीत् ।। ७६ ।।

सञ्जी०—सपदीति ॥ सपद्यद्रिर्हिमवान्रुद्रस्य संरम्भात्कोपाद्भीतया । 'संरम्भः सम्भ्रमे कोपे' इति विश्वः । मुकुलिताक्षीं निमीलितनेत्राम् । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' इति षच्प्रत्ययः । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । अनुकम्पितुमर्हामनुकम्प्याम् । 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्प्रत्ययः । दुहितरं दोर्भ्यामादाय दन्तयोर्लग्नां पद्मिनीं नलिनीं बिभ्रत्सुरगज इव वेगेन रयेण दीर्घीकृताङ्ग आयतीकृतशरीरः सन् । पन्थानं प्रतिगता प्रतिपथा मार्गानुसारिणी गतिर्यस्य स प्रतिपथगतिरासीत् । पन्थानमनुसृत्य जगामेत्यर्थः ॥ ७६ ॥

पर्वतराज हिमालय ने तत्काल ही वहाँ पहुँचकर शंकरजी के क्रोध से डरी हुई बंदनेत्रों वाली अपनी कन्या पार्वती को बाहुओं में उठा लिया और उसे लेकर तीव्र गति के कारण लंबे शरीर से वह इस प्रकार भाग खड़े हुए मानों दाँतों में उलझी हुई किसी कमलिनी को लिए हुए ऐरावत जा रहा हो ॥ ७६ ॥

॥ तृतीयः सर्गः समाप्तः ॥

चतुर्थः सर्गः

अथ मोहपरायणा सती विवशा कामवधूर्विबोधिता ।
विधिना प्रतिपादयिष्यता नववैधव्यमसह्यवेदनम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ मोहपरायणा सती विवशा कामवधूः असह्यवेदनं नववैधव्यं प्रतिपादयिष्यता विधिना विबोधिता ॥ १ ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथानन्तरं मोहो मूर्च्छा परमयनमाश्रयो यस्याः सा मोहपरायणा मोहैकशरणा सती । 'परायणमभिप्रेते तत्परे परमाश्रये' इति यादवः । विवशा मूढत्वान्निश्चेष्टा कामवधू रतिः । असह्या दुःसहा वेदना यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । विधवाया गतभर्तृकाया भावो वैधव्यम् । नवं च तद्वैधव्यं चेति नववैधव्यम् । नवग्रहणं दुःसहत्वद्योतनार्थम् । प्रतिपादयिष्यतानुभावयिष्यता । क्रियार्थक्रियायां लृट् । विधिना दैवेन । 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः । विबोधिता । वैधव्यानुफलोऽयं विधिरिति भावः । अस्मिन्सर्गे वियोगिनीवृत्तानि—'विषमे ससजा गुरुः समे समरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

इसके पश्चात् वेसुध होकर निश्चेष्ट पड़ी हुई कामपत्नी रति को नवीन वैधव्य की असह्य वेदना का अनुभव कराने के लिए विधाता ने उसे फिर से होश में ला दिया ॥ १ ॥

अवधानपरे चकार सा प्रलयान्तोन्मिषिते विलोचने ।
न विवेद तयोरतृप्तयोः प्रियमत्यन्तविलुप्तदर्शनम् ॥ २ ॥

अन्वयः—सा प्रलयान्तोन्मिषिते विलोचने अवधानपरे चकार । किन्तु प्रियम् अतृप्तयोः तयोः अत्यन्तविलुप्तदर्शनं न विवेद ॥ २ ॥

सञ्जी०—अवेति ॥ सा रतिः प्रलयान्ते मूर्च्छावसाने । 'प्रलयोनष्टचेष्टता' इत्यमरः । उन्मिषिते उन्मीलिते विलोचने । अवधानं परं प्रधानं ययोस्तेऽवधानपरे दिदृक्षयावहिते चकार । द्रष्टव्याभावात्तु न विवेदेत्याह—नेति । प्रियं काममतृप्तयोस्तृप्तिं न गतयोः । नित्यदिदृक्षमाणयोरित्यर्थः । तयोर्लोचनयोः । दर्शनक्रियापेक्षया सम्बन्धे षष्ठी । अत्यन्तविलुप्तं दर्शनं स्वलोचनयोः करणयोर्यस्य कर्मभूतस्य तमत्यन्तविलुप्तदर्शनं सन्तं न विवेद न ज्ञातवती । प्रियनाशापरिज्ञानाद्दिदृक्षाञ्चक्र इति तात्पर्यार्थः ॥ २ ॥

होश में आने पर रति ने अपने पति काम को देखने की इच्छा से आँखों को खोलकर खूब ध्यान से देखा किंतु शंकरजी के नेत्र से निकली हुई आग को देखते ही मूर्छित हो जाने के कारण वह यह न जान सकी थी कि अब मेरी इन तरसती हुईं आँखों के लिए प्रियतम कामदेव का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है ॥ २ ॥

अयि जीवितनाथ ! जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपाऽनलभस्म केवलम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—अयि जीवितनाथ ! जीवसि ? इति अभिधाय उत्थितया तया पुरः क्षितौ पुरुषाकृति केवलं हरकोपाऽनलभस्म ददृशे ॥ ३ ॥

सञ्जी०—अयीति ॥ अयीति प्रश्ने । 'अयि प्रश्नानुनययोः, इति विश्वः । अयि जीवितनाथ, जीवसि कच्चिदित्यभिधायोत्थितया तया रत्या पुरोऽग्रे क्षितौ पुरुषस्याकृतिरिवाकृतिर्यस्य तत्पुरुषाकृति केवलमेकं हरकोपानलभस्म ददृशे दृष्टम् । न तु पुरुष इति भावः ॥ ३ ॥

हे प्राणनाथ ! जीवित हो क्या ?–ऐसा कहती हुई, ज्योंही उठकर सामने की ओर उसने देखा त्यों ही उसे शंकर की क्रोधाग्नि में जले हुई कामदेव की पुरुष के आकार में केवल भस्म ही दिखाई पड़ी ॥ ३ ॥

अथ सा पुनरेव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी ।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वती स्थलीम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—अथ पुनः एव विह्वला वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी विकीर्णमूर्धजा सा स्थलीं समदुखां कुर्वती इव विललाप ॥ ४ ॥

सञ्जी०—अथेति ।। अथ भस्मदर्शनानन्तरं पुनरेव विह्वला विक्लवा वसुधालिङ्गनधूसरस्तनी वसुधालिङ्गनेन क्षितिलुण्ठनेन धूसरौ धूसरवर्णौ स्तनौ कुचौ यस्याः सा तथोक्ता । 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति ङीष् । विकीर्णमूर्धजा विकीर्णा विक्षिप्ता मूर्धजाः केशा यस्याः सा तथोक्ता सा रतिः स्थलीं वनभूमिम् । तत्रत्यान्प्राणिन इत्यर्थः । 'जानपदकुण्डगोणस्थल—' इत्यादिना ङीष् । समदुःखां स्वतुल्यशोकां कुर्वतीव विललाप परिदेवितवती । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः ।। ४ ।।

(कामदेव की मृत्यु का निश्चय हो जाने पर) वह अत्यन्त विह्वल होकर बालों को बिखेर करके पृथ्वी पर लोटती हुई विलाप करने लगी । जिससे उसके स्तन धूल से धूसरित हो उठे । उसके विलाप को सुनकर वह वनस्थली भी उसके इस दुःख में समान दुखवाली जैसी बन गई ।। ४ ।।

उपमानमभूद्विलासिनां करणं यत्तव कान्तिमत्तया ।
तदिदं गतमीदृशीं दशां न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः ।। ५ ।।

अन्वयः—तव यत् करणं कान्तिमत्तया विलासिनाम् उपमानम् अभूत् ; तत् इदम् ईदृशी दशां गतं, तथापि अहं न विदीर्ये, हि स्त्रियः कठिनाः खलु ।। ५ ।।

सञ्जी०—उपेति ।। तव यत्करणं गात्रम् । 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि' इत्यमरः । कान्तिमत्तया सौन्दर्येण हेतुना विलासिनाम् । विलसनशीलानाम् । 'वौकषलस—' इत्यादिना घिनुण्प्रत्ययः । उपमीयते येन तदुपमानमभूत् । तत्करणमिदमीदृशीं दशामवस्थां गतम् । भस्मीभूतमित्यर्थः । तथापि न विदीर्ये न विदीर्णा भवामि । कर्तरि लट् । तथाहि । स्त्रियः कठिनाः खलु । कठिनत्वादविदीर्यमाणत्वमित्यर्थः । कारणात्कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । 'धीरसंचारिणी दृष्टिर्गतिर्गोवृषभाञ्चिता । स्मितपूर्वं तथालापो विलास इति कीर्तितः ।।' इति ।। ५ ।।

हे प्रिय अपने अनुपम सौन्दर्य के कारण तुम्हारा जो शरीर विलासी पुरुषों का उपमान बना हुआ था, उसकी आज ऐसी दयनीय दशा देख कर भी मेरी छाती नहीं फटी ! हाय ! इसीलिए लोग कहते हैं कि स्त्रियाँ बड़ी कठोर होती हैं ।।५।।

क्व नु मां त्वदधीनजीवितां विनिकीर्य क्षणभिन्नसौहृदः ।
नलिनीं क्षतसेतुबन्धनो जनसङ्घात इवाऽसि विद्रुतः ।। ६ ।।

अन्वयः—हे प्रिय ! क्षतसेतुबन्धनः जलसङ्घातः नलिनीम् इव त्वदधीनजीवितां मां विनिकीर्य क्षणभिन्नसौहृदः सन् क्व नु विद्रुतः असि ।। ६ ।।

सञ्जी०—क्वेति ॥ हे प्रिय, क्षतसेतुबन्धनो भग्नसेतुबन्धो जलसङ्घातो जलौघो नलिनीमिव । जलैकायत्तजीवितामिति शेषः । त्वदधीनजीवितो त्वदायत्तप्राणां मां क्व नु विनिकीर्य कुत्र वा निक्षिप्य क्षणभिन्नसौहृदः क्षणत्यक्तसौहार्द्रः सन् । विद्रुतः पलायितोऽसि । सेतुसौहृदयोः स्थितिहेतुत्वेन साम्यम् । सुहृदो भावः सौहृदम् । गुणादित्वादण्प्रत्ययः । 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृदादेशः। अणि हृद्भावान्न हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः। हृद्गतस्याण्विधाने तूभयपदवृद्धिः स्यात् । यथा सुहृदो भावः सौहार्दमिति । तदेवाह वामनः—'सौहृददौर्हृदशब्दावनणि हृद्भावात्' इति ॥ ६ ॥

हे प्रिय ! जैसे जल का प्रवाह बाँध टूट जाने पर (जल के अधीन ही जीवित रहने वाली) कमलिनी को छोड़कर तेजी के साथ भाग खड़ा होता है उसी प्रकार तुम्हारे ही सहारे जीवन बिताने वाली मुझको छोड़ कर और क्षण भर में ही प्रेम का बन्धन तोड़कर तुम कहाँ चले गए हो ॥ ६ ॥

कृतवानसि विप्रियं न मे प्रतिकूलं न च ते मया कृतम् ।
किमकारणमेव दर्शनं विलपन्त्यै रतये न दीयते ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे प्रिय ! त्वं मे विप्रयं कृतवान् न असि, मया च ते प्रतिकूलं न कृतम्; अकारणम् एव विलपन्त्यै रतये किं दर्शनं न दीयते ॥ ७ ॥

सञ्जी०—कृतेति ॥ हे प्रिय, त्वं मे मम विप्रियमप्रियं कृतवान्नासि । मया च ते तव प्रतिकूलमप्रियं न कृतम् । अकारणं निष्कारणमेव । परस्परापकाररूपकारणाभावेऽपीत्यर्थः । क्रियाविशेषणमेतत् । विलपन्त्यै । त्वद्दर्शनार्थिन्या अपीति भावः । रतये किं कथं दर्शनं न दीयते । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी ॥ ७ ॥

हे प्रिय ! तुमने कभी भी ऐसा कोई कार्य नहीं किया जो मेरे लिए अप्रिय हो और मैंने भी तुम्हारे प्रतिकूल कोई आचरण नहीं किया । इसलिए बिना कारण ही मुझ बिलखती हुई रति को तुम अपना दर्शन क्यों नहीं दे रहे हो ॥ ७ ॥

स्मरसि स्मर ? मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम् ।
च्युतकेशरदूषितेक्षणान्यवतंसोत्पलताडनानि वा ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे स्मर ! गोत्रस्खलितेषु मेखलागुणैः बन्धनं स्मरसि उत ? च्युतकेसरदूषितेक्षणानि अवतंसोत्पलताडनानि वा स्मरसि ? ॥ ८ ॥

सञ्जी०—स्मरसीति ॥ हे स्मर, गोत्रस्खलितेषु नामव्यत्यासेषु । 'गोत्रं नाम्न्यचले कुले' इति विश्वः । मेखलागुणैर्बन्धनं स्मरस्युत स्मरसि वा । 'विकल्पे

किं किमुत च' इत्यमरः । च्युतकेशरैर्भ्रष्टकिञ्जलकैर्दूषिते ईक्षणे येषु तान्यवतंसोत्पलताडनानि । सधूलिक्षेपताडनानीत्यर्थः । स्मरसि वा । अपकारस्मरणादिदमदर्शनमिति भावः ॥ ८ ॥

हे स्मर ! एक बार तुमने मेरे सामने भूल से किसी अन्य स्त्री का नाम ले लिया था और मैंने प्रणय-कोप करके तुम्हें अपनी मेखला में बाँधकर अपने कान के आभूषण कमल से तुम्हारे मुख में मारा था जिससे उस कमल का पराग तुम्हारी आंखों में पड़ गया था और वे दुखने लगी थीं । कहीं उसी की याद करके तो तुम मुझसे नहीं रूठे हो ॥ ८ ॥

हृदये वससीति मत्प्रियं यदवोचस्तदवैमि कैतवम् ।
उपचारपदं न चेदिदं त्वमनङ्गः कथमक्षता रतिः ॥ ९ ॥

अन्वयः—'हृदये वससि' इति मत्प्रियं यत् अवोचः, तत् कैतवम् अवैमि ; इदम् उपचारपदं न चेत् त्वम् अनङ्गः, कथं रतिः अक्षता ॥ ९ ॥

सञ्जी०—हृदय इति ॥ हृदये वससीति स्मरवाक्यानुवादः । इत्येवं रूपं मत्प्रियं यदवोच उक्तवानसि । 'ब्रुवो लुङि 'वच उम्' इत्युमागमः । तत्कैतवमवैमि मिथ्येति मन्ये । इदं वचनमुपचारपदं परस्य रञ्जनार्थं यदसत्यभाषणं स उपचारस्तस्य पदं स्थानम् । कैतवस्थानमिति यावत् । न चेत्त्वमनङ्गोऽशरीरः । कथं रतिरक्षताऽविनष्टा । आश्रयनाशेऽप्याश्रितमविनष्टमिति विरोधादिति भावः ॥

तुम मुझसे जो यह कहा करते थे कि तुम मेरे हृदय में निवास करती हो, अब तो मैं समझ रही हूँ कि वह तुम्हारा छल था । यदि ऐसा न होता तो यह कैसे संभव था कि तुम्हारे भस्म हो जाने पर भी मैं इस प्रकार जीवित बची रह जाती ॥ ९ ॥

परलोकनवप्रवासिनः प्रतिपत्स्ये पदवीमहं तव ।
विधिना जन एष वञ्चितस्त्वदधीनं खलु देहिनां सुखम् ॥ १० ॥

अन्वयः—परलोकनवप्रवासिनः तव पदवीं प्रतिपत्स्ये, विधिना एष जनः वञ्चितः, देहिनां सुखं त्वदधीनं खलु ॥ १० ॥

सञ्जी०—परलोकेति ॥ परलोकं प्रति नवप्रवासिनोऽचिरप्रोषितस्य । अनेनानुगमनकालानतिपातः सूच्यते । तव पदवीं मार्गं प्रतिपत्स्ये । त्वामनुगमिष्यामित्यर्थः । अतो मे नास्ति विचार इति भावः । किन्तु विधिना दैवेनैष जनो लोको वञ्चितः प्रतारितः । देहिनां सुखं त्वदधीनं त्वय्यधीनं खलु । अधिशब्दस्य शौण्डा-

दिकत्वात् 'सप्तमी शौण्डैः' इति समासः। 'अध्युत्तरपदात्' इति खप्रत्ययः। एवमन्यत्रापि। सुखप्रदाभावे कुतः सुखमिति भावः॥ १०॥

हे प्रिय! तुमने अभी-अभी परलोक गमन किया है। मैं भी तुम्हारे ही रास्ते से उसी जगह आ रही हूँ, जहाँ तुम पहुँच चुके हो। विधाता ने मुझे (उस समय मूर्च्छित करके) धोका दे दिया अन्यथा मैं भी तुम्हारे साथ ही गई होती। क्योंकि यहाँ मेरा ही नहीं, संसार के सभी प्राणियों का सुख तो तुम्हारे ही हाथ में था॥ १०॥

रजनीतिमिरावगुण्ठिते पुरमार्गे घनशब्दविक्लवाः।
वसतिं प्रिय! कामिनां प्रियास्तत्वदृते प्रापयितुं क ईश्वरः॥ ११॥

अन्वयः—हे प्रिय! रजनीतिमिरावगुण्ठिते पुरमार्गे घनशब्दविक्लवाः प्रियाः कामिनां वसतिं प्रापयितुं त्वत् ऋते कः ईश्वरः॥ ११॥

सञ्जी०—रजनीति॥ हे प्रिय, रजनीतिमिरेणावगुण्ठित आवृते पुरमार्गे घनशब्दविक्लवा गर्जितभीताः प्रियाः कामिनां वसतिं प्रापयितुं त्वां विना। 'अन्यारादितरर्ते—' इत्यादिना पञ्चमी। क ईश्वरः शक्तः। न कश्चिदित्यर्थः। न हि कामान्धानां भीतिरस्तीति भावः॥ ११॥

वर्षाकाल में रात के गहरे अंधकार में ढँके हुए नगर मार्गों पर चलनेवाली तथा बादलों की गड़गड़ाहट से घबड़ाई हुई कामिनियों (अभिसार करनेवाली विलासिनियों) को अब उनके प्रियतमों के घरों तक पहुँचाने में सहायता तुम्हारे बिना कौन कर सकेगा॥ ११॥

नयनान्यरुणानि घूर्णयन् वचनानि स्खलयन् पदे पदे।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना॥ १२॥

अन्वयः—अरुणानि नयनानि घूर्णयन् पदे-पदे वचनानि स्खलयन् प्रमदानां वारुणीमदः अधुना त्वयि असति विडम्बना॥ १२॥

सञ्जी०—नयनानीति॥ अरुणानि नयनानि घूर्णयन्भ्रमयन्। तथा पदे पदे प्रतिपदम्। वीप्सायां द्विरुक्तिः। वचनानि स्खलयन्विपर्यासयन्प्रमदानां वारुणीमदो मद्यमदोऽधुना त्वय्यसति विडम्बनानुकृतिमात्रम्। मदनाभावे मदस्य निष्फलत्वादिति भावः। तथा च शिशुपालवधे—'तां मदो दयितसङ्गमभूषः' (१०।३३) इति॥ १२॥

जिस मदिरा के पीने से कामिनियों की लाल-लाल आँखे घूमने लगती हैं

और उनकी आवाज एक-एक शब्द पर लड़खड़ाने लगती है, अब तुम्हारे अभाव में उनका वह मदिरा-पान उनके लिए केवल विडम्बना मात्र बनकर रह जायगा ॥ १२ ॥

अवगम्य कथीकृतं वपुः प्रियबन्धोस्तव निष्फलोदयः ।
बहुलेऽपि गते निशाकरस्तनुतां दुःखमनङ्ग ! मोक्ष्यति ॥ १३ ॥

अन्वयः—हे अनङ्ग ! प्रियबन्धोः तव वपुः कथीकृतम् अवगम्य निष्फलोदयः, निशाकरः बहुले गते अपि तनुतां दुःखं मोक्ष्यति ॥ १३ ॥

सञ्जी०—अवगम्येति ॥ हे अनङ्ग ! अशरीर ! प्रियबन्धोः प्रियसखस्य तव वपुः शरीरं कथीकृतमकथा कथा सम्पद्यमानं कृतं शब्दमात्रावशिष्टमवगम्य ज्ञात्वा निष्फलोदयः । उद्दीप्याभावादुद्दीपनवैफल्यमिति भावः । निशाकरश्चन्द्रो बहुले कृष्णपक्षे गतेऽपि तनुतां कार्श्यं दुःखं यथा तथा कृच्छ्रान्मोक्ष्यति । वृथा वृद्धिरिति दुःखयिष्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

हे अनङ्ग ! तुम्हारा प्रियमित्र चन्द्रमा तुम्हारे शरीरान्त की बात जानकर अपना उदित होना व्यर्थ समझेगा । इसलिए कृष्ण पक्ष के बीत जाने पर भी वह बड़ी कठिनाई से अपनी क्षीणता को छोड़ पाएगा ॥ १३ ॥

हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्कोकिलशब्दसूचितः ।
वद सम्प्रति कस्य बाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति ॥ १४ ॥

अन्वयः—हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्कोकिलशब्दसूचितः नवचूतप्रसवः सम्प्रति कस्य बाणतां गमिष्यति ? वद ॥ १४ ॥

सञ्जी०—हरितेति ॥ हरितञ्चारुणञ्च । 'वर्णो वर्णेन' इति तत्पुरुषः । हरितारुणं चारु बन्धनं वृन्तं पुङ्खश्च यस्य स तथोक्तः । कलेन मधुरेण पुंस्कोकिलशब्देन पुरुषकोकिलनादेन सूचितोऽनुमापितश्च । चूतचर्वकार्यत्वात्कलशब्दस्येति भावः । नवचूतप्रसवो नवचूतकुसुमं सम्प्रति कस्य बाणतां शरत्वं गमिष्यति वद । अन्यस्य पुष्पबाणस्याभावादिति भावः ॥ १४ ॥

हे कुसुमायुध ! कोयल के मधुर शब्द सुनने से जिसके उदय का अनुमान किया जाता है, वह नीले एवं लाल रंग के सुन्दर बन्धनों से युक्त नया-नया आम का कुसुम तुम्हारे परलोक जाने पर अब किसका बाण बनेगा ? कहो ॥ १४ ॥

अलिपङ्क्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता ।
विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितीव माम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—त्वया अनेकशः धनुषः गुणकृत्ये नियोजिता इयम् अलिपङ्क्तिः करुणस्वनैः विरुतैः गुरुशोकां माम् अनुरोदिति इव ॥ १५ ॥

सञ्जी०—अलीति ॥ त्वयानेकशो बहुशो धनुषः कार्मुकस्य गुणकृत्ये मौर्वीकार्ये गुणत्वकर्मणि च नियोजिताधिकृतेयमलिपङ्क्तिः करुणस्वनैर्दीनस्वनैर्विरुतैः कूजितैर्गुरुशोकां दुर्भरदुःखाम् । 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णवः । मामनुरोदितीव । उपसर्गात्सकर्मकत्वम् । 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीडागमः ॥ १५ ॥

काले-काले भौंरों की यह पंक्ति, जिसे तुमने पहिले कई बार अपने पुष्प-धनुष की डोरी के स्थान पर प्रयुक्त किया था, इस समय अपने कारुणिक स्वर में अत्यंत शोक वाली मुझ अभागिनी के साथ रोती हुई सी लग रही है ॥ १५ ॥

प्रतिपद्य मनोहरं वपुः पुनरप्यादिश तावदुत्थितः ।
रतिदूतिपदेषु कोकिलां मधुरालापनिसर्गपण्डिताम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—तावत् पुनः अपि मनोहरं वपुः प्रतिपद्य उत्थितः सन् मधुरालापनिसर्गपण्डितां कोकिलां रतिदूतिपदेषु आदिश ॥ १६ ॥

सञ्जी०—प्रतिपद्येति ॥ तावत्पुनरपि मनोहरं वपुः शरीरं प्रतिपद्य प्राप्योत्थितः सन् । मधुरालापेषु प्रियोक्तिषु निसर्गपण्डितां स्वभावप्रगल्भां कोकिलां रतिदूतिपदेषु । सुरतदूतीस्थानेष्वादिशाज्ञापय । प्रगल्भानामेव दौत्याधिकार इति भावः । ङीवन्तस्यापि दूतीशब्दस्य छन्दोभङ्गभयाद्ध्रस्वः 'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिरम्' इति केचित् । 'उणादयो बहुलम्' इति बहुलग्रहणाद्ध्रस्व इति वल्लभः ॥ १६ ॥

हे प्रिय, तुम उठकर (इस भस्म रूप शरीर को छोड़कर) एक बार फिर अपना वही मनोहारी शरीर धारण कर लो और मधुर स्वर से कूकने में स्वभाव से ही निपुण इस कोकिल को आदेश दो कि वह कामी और कामिनियों के बीच सम्भोग-दूती का कार्य सम्पन्न करे ॥ १६ ॥

शिरसा प्रणिपत्य याचितान्युपगूढानि सवेपथूनि च ।
सुरतानि च तानि ते रहः स्मर ! संस्मृत्य न शान्तिरस्ति मे ॥ १७ ॥

अन्वयः—हे स्मर ! ते शिरसा प्रणिपत्य याचितानि सवेपथूनि उपगूढानि च, तानि रहः सुरतानि च संस्मृत्य मे शान्ति न अस्ति ॥ १७ ॥

सञ्जी०—शिरसेति ॥ हे स्मर, शिरसा प्रणिपत्य याचितानि सवेपथूनि सक-

म्पानि । 'ट्वितोऽथुच्' इत्यथुच्प्रत्ययः। सात्विकान्तरोपलक्षणमेततत् । 'स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू । अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ सात्विकाः परिकीर्तिताः ।।' इति उपगूढान्यालिङ्गनानि च । नपुंसके भावे क्तः । तान्यनुभूतप्रकाराणि रह एकान्ते सुरतानि च संस्मृत्य मे शान्तिर्नास्ति । अत्र समानकर्तृकत्वं दुर्घटं समानक्रियापेक्षास्तीति केचित् ।। १७ ।।

हे स्मर ! तुम मेरे चरणों पर शिर रखकर जो प्रेम की याचना किया करते और काँपते हुए मुझे कंठ से लगाकर जो एकांत में मुझसे रमण किया करते थे, जब मुझे उसकी याद आती है तब मुझे किसी भी प्रकार शांति नहीं मिल पाती है ।। १७ ।।

रचितं रतिपण्डित ! त्वया स्वयमङ्गेषु ममेदमार्तवम् ।
ध्रियते कुसुमप्रसाधनं तव तच्चारुवपुर्न दृश्यते ।। १८ ।।

अन्वयः—हे रतिपण्डित ! त्वया मम अङ्गेषु स्वयं रचितमार्तवं कुसुमप्रसाधनम् इदं ध्रियते, तव तत् चारु वपुः न दृश्यते ।। १८ ।।

सञ्जी०—रचितमिति ।। हे रतिपण्डित रतिकुशल ! त्वया ममाङ्गेष्ववयवेषु स्वयं रचितम् ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवं वासन्तम् । 'ऋतोरण्' इत्यण्प्रत्ययः । कुसुमप्रसाधनं पुष्पाभरणमिदं ध्रियतेऽवतिष्ठते । धृञ् अवस्थाने' इति धातोस्तौदादिकात्कर्तरि लट् । तव तत्प्रसाधक चारु सुन्दरं वपुस्तु न दृश्यते ।। १८ ।।

हे रतिकला में प्रवीण ! तुमने जिन वसंत के फूलों द्वारा अपने ही हाथों से मेरा शृङ्गार किया था, मैं अब भी उन्हीं फूलों के आभूषण ज्यों के त्यों धारण किए हूँ किन्तु तुम्हारा वह सुन्दर शरीर नहीं दिखाई पड़ रहा है ।। १८ ।।

विबुधैरसि यस्य दारुणैरसमाप्ते परिकर्मणि स्मृतः ।
तमिमं कुरु दक्षिणेतरं चरणं निर्मितरागमेहि मे ।। १९ ।।

अन्वयः—दारुणैः विबुधैः यस्य परिकर्मणि असमाप्ते स्मृतः असि, तम् इमं दक्षिणेतरं मे चरणं निर्मितरागं कुरु, एहि ।। १९ ।।

सञ्जी०—विबुधैरिति ।। दारुणैः क्रूरैः । प्राणान्तिके कर्मणि नियोगादिति भावः । विबुधैर्देवैः । अनभिज्ञत्वं च ध्वन्यते । यस्य मच्चरणस्य परिकर्मणि प्रसाधने । 'परिकर्म प्रसाधनम्' इत्यमरः । असमाप्ते सति स्मृतोऽसि तमिमं दक्षिणेतरं वामं मे चरणं निर्मितरागं कुर्वेह्यागच्छ ।। १९ ।।

तुम मेरे दाहिने चरण में ही महावर लगा पाए थे कि इतने ही में दु

देवताओं के स्मरण करने कारण तुम चले गए। अतएव अब आकर मेरे बाएं पैर में भी महावर लगाकर उस अधूरे काम को पूरा तो कर दो ॥ १९ ॥

अहमेत्य पतङ्गवर्त्मना पुनरङ्काश्रयणी भवामि ते।
चतुरैः सुरकामिनीजनैः प्रिय ! यावन्न विलोभ्यसे दिवि ॥ २० ॥

अन्वयः—अहं पतङ्गवर्त्मना एत्य पुनः ते अङ्काश्रयणी भवामि, हे प्रिय ! दिवि चतुरैः सुरकामिनीजनैः यावत् न विलोभ्यसे ॥ २० ॥

सञ्जी०—अहमिति ॥ अहं पतङ्गवर्त्मना शलभमार्गेण। अग्निप्रवेशेनेत्यर्थः। 'पतङ्गः शलभे चाग्नौ मार्जारेऽर्के शरे खगे' इति वैजयन्ती। एत्यागत्य पुनस्तेऽङ्काश्रयण्युत्सङ्गवर्तिनी भवामि सम्प्रत्येव भविष्यामि। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति लट्। हे प्रिय ! दिवि स्वर्गे चतुरैः सुरकामिनीजनैरप्सरोगणैर्यावन्न विलोभ्यसे विलोभयिष्यसे। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति लट् ॥ २० ॥

चतुर अप्सराएँ स्वर्ग में तुम्हे लुभा लेंगी, इसके पहिले ही मैं पतंगों की तरह आग में भस्म होकर तुम्हारे पास पहुँच जाऊँगी और फिर से तुम्हारी गोद में अपना आसन जमा लूँगी ॥ २० ॥

मदनेन विनाकृता रतिः क्षणमात्रं किल जीवितेति मे।
वचनीयमिदं व्यवस्थितं रमण ! त्वामनुयामि यद्यपि ॥ २१ ॥

अन्वयः—हे रमण ! त्वाम् अनुयामि यद्यपि, किन्तु रतिः मदनेन विनाकृता क्षणमात्रं जीविता किल इति इदं वचनीयं मे व्यवस्थितम् ॥ २१ ॥

सञ्जी०—मदनेनेति ॥ हे रमण ! त्वामनुयामि यद्यप्यनुगमिष्याम्येव। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति लट्। 'यद्यपीत्यवधारणे' इति केशवः। किन्तु रतिर्मदनेन विनाकृता। वियोजिता सतीत्यर्थः। सुप्सुपेति समासः। क्षणमात्रं जीविता किलेतीदं वचनीयं निन्दा मे मम व्यवस्थितं स्थिरमभूत् ॥ २१ ॥

हे प्रिय ! यद्यपि मैं तत्काल ही तुम्हारे पीछे-पीछे तुम्हारे पास पहुँच रही हूँ किन्तु यह लोकापवाद तो अमर हो गया कि रति कुछ क्षणों तक ही सही काम के बिना जीवित रही ॥ २१ ॥

क्रियतां कथमन्त्यमण्डनं परलोकान्तरितस्य ते मया।
सममेव गतोऽस्यतर्कितां गतिमङ्गेन च जीवितेन च ॥ २२ ॥

अन्वयः—परलोकान्तरितस्य ते मया अन्त्यमण्डनं कथं क्रियताम् ? अङ्ग- जीवितेन च समम् एव अतर्कितां गतिं गतः असि ॥ २२ ॥

सञ्जी०—क्रियतामिति ।। परलोकेऽन्तरितस्य व्यवहितस्य । मृतस्येत्यर्थः । ते तव मयान्त्यमण्डनं कथं केन प्रकारेण क्रियताम् । क्रियतामित्यत्र कामचारे लोट् बोध्यः । द्रुतदग्धस्य ते यथेच्छमण्डनमपि न संभवतीत्यर्थः । कुतः । अङ्गेन च जीवितेन च समं सहैवातर्कितामविचारितां गतिं गतोऽसि । इह मृतशरीरमपि नास्ति कस्य मण्डनमिति भावः ।। २२ ।।

परलोक चले जानेवाले तुम्हारे इस (भस्मीभूत) शरीर का अंतिम शृङ्गार भी मैं कैसे करूँ—यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है क्योंकि तुम शरीर और प्राण दोनों ही से एक साथ ही ऐसी विचित्र स्थिति में पहुँच गए हो ।। २२ ।।

ऋजुतां नयतः स्मरामि ते सरमुत्सङ्गनिषण्णधन्वनः ।
मधुना सह सस्मितां कथां नयनोपान्तविलोकितञ्च यत् ।। २३ ।।

अन्वयः—शरम् ऋजुतां नयतः उत्सङ्गनिषण्णधन्वनः ते मधुना सह सस्मितां कथां, यत् नयनोपान्तविलोकितं च, तच्च स्मरामि ।। २३ ।।

सञ्जी०—ऋजुतामिति ।। शरमृजुतामार्जवं नयत उत्सङ्गे निषण्णमङ्कगतं धनुर्यस्य तस्य । 'धनुषश्च' इत्यनङादेशः । ते तव मधुना वसन्तेन सह 'मधुर्दैत्ये वसन्ते च चैत्रे च' इति विश्वः । सस्मितां कथामालापं तथा यन्नयनोपान्तविलोकितमपाङ्गवीक्षणम् । त इत्यनुषङ्गः । तच्च स्मरामि ।। २३ ।।

तुम धनुषको अपनी गोद में रखकर बाणों को सीधा करते हुए वसन्त से वार्तालाप के समय भी बीच-बीच में जो तिरछी निगाहों से मुझे देख लिया करते थे, वह दृश्य मैं किसी प्रकार से भुला नहीं पा रही हूँ ।। २३ ।।

क्व नु ते हृदयङ्गमः सखा कुसुमायोजितकार्मुको मधुः ।
न खलूग्ररुषा पिनाकिना गमितः सोऽपि सुहृद्गतां गतिम् ।। २४ ।।

अन्वयः—हृदयङ्गमः ते सखा कुसुमायोजितकार्मुकः मधुः क्व नु । अथवा सः अपि उग्ररुषा पिनाकिना सुहृद्गतां गतिं न गमितः खलु ।। २४ ।।

सञ्जी०—क्वेति ।। हृदयं गच्छतीति हृदयङ्गमो हृद्यः । खच्प्रकरणे 'गमेः सुप्युपसङ्ख्यानम्' इति खच्प्रत्ययः 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः । ते तव सखा कुसुमैरायोजितमारचितं कार्मुकं येन कार्मुकनिर्माता मधुर्वसन्तः क्व नु क्व वा । गत इति शेषः । अथवा सोऽप्युग्ररुषा तीव्रकोपेन पिनाकिनेश्वरेण सुहृदा मदनेन गतां प्राप्तां गतिम् । भस्मतामित्यर्थः । न गमितः खलु न प्रापितः किम् । 'जिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः ।। २४ ।।

अपने फूलों से तुम्हारे धनुष की रचना करने वाला वह तुम्हारा प्रिय मित्र वसन्त भी तो नहीं दिखाई पड़ रहा है, वह कहाँ चला गया? कहीं क्रोधी शिव ने (अपने क्रोधानल में जलाकर) उसे भी तो तुम्हारी ही दशा को नहीं पहुँचा दिया है ॥ २४ ॥

अथ तैः परिदेविताक्षरैर्हृदये दिग्धशरैरिवाहतः ।
रतिमभ्युपपत्तुमातुरां मधुरात्मानमदर्शयत्पुरः ॥ २५ ॥

अन्वयः—अथ तैः परिदेविताक्षरैः हृदये दिग्धशरैः इव आहतः मधुः आतुरां रतिम् अभ्युपपत्तुम् आत्मानं पुरः अदर्शयत् ॥ २५ ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथ तैः परिदेवताक्षरैर्विलापवचनैर्हृदये दिग्धशरैर्विषलिप्तमुखैः शरैरिवाहतः सन् । 'विषाक्ते दिग्धलिप्तकौ' इत्यमरः । मधुर्वसन्त आतुरामापन्नां रतिमभ्युपपत्तुमनुग्रहीतुम् । आश्वासयितुमित्यर्थः । अभ्युपपत्तिरनुग्रहः' इत्यमरः । आत्मानं पुरोऽदर्शयत् । आविरभूदित्यर्थः ॥ २५ ॥

पतिविहीन रति के रुदन के ये शब्द कामदेव के मित्र वसन्त के हृदय में विष-बुझे वाण के समान चुभ गए, जिससे वह आहत-सा होकर अत्यन्त आतुर रति को सान्त्वना देने के लिए उसके सामने प्रकट हो गया ॥ २५ ॥

तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं स्तनसम्बाधमुरो जघान च ।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ॥ २६ ॥

अन्वयः—सा तम् अवेक्ष्य भृशं रुरोद, स्तनसम्बाधम् उरो जघान च; हि स्वजनस्य अग्रतः दुःखं विवृतद्वारम् इव उपजायते । २६ ॥

सञ्जी०—तमिति ॥ सा रतिस्तं मधुमवेक्ष्य दृष्ट्वा भृशं रुरोद । स्तनौ सम्बाध्य स्तनसम्बाधम् । 'परिक्लिश्यमाने च' इति णमुल् । उरो जघान ताडितवती च । तथाहि स्वजनस्याग्रतो दुःखं विवृतमपसारितं द्वारं कपाटं यस्य तदिवोपजायत आविर्भवति । उच्छृङ्खलं प्रवर्तत इत्युत्प्रेक्षाभिप्रायः ॥ २६ ॥

बसन्त को देखते ही रति छाती पीट-पीट कर और भी जोर से रुदन करने लगी क्योंकि अपने सामने प्रियजनों को देखकर दुख का द्वार एकाएक खुल सा पड़ता है ॥ २६ ॥

इति चैनमुवाच दुःखिता सुहृदः पश्य वसन्त किं स्थितम् ।
तदिदं कणशो विकीर्यते पवनैर्भस्म कपोतकर्बुरम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—दुःखिता सा एनम् इति उवाच—हे वसन्त ! पश्य, सुहृदः किं स्थितम् ? तत् इदं कपोतकर्बुरं भस्म पवनैः कणशः विकीर्यते ॥ २७ ॥

सञ्जी०—इतीति ॥ दुःखमस्याः संजातं दुःखिता। संजातदुःखेत्यर्थः। तारकादित्वादितच्। सा रतिरेनं वसन्तमित्युवाच च। चकारः पूर्वोक्तसमुच्चयार्थः। हे वसन्त, पश्य सुहृदस्त्वत्सखस्य किं स्थितं किमुपस्थितं तदिदं कपोतकर्बुरं पारावतशबलं कणशश्चूर्णीभूतम्। अल्पार्थाच्छस्प्रत्ययः। भस्म पवनैर्विकीर्यते विक्षिप्यते। पश्य भस्मीभूतस्ते सुहृदित्यर्थः ॥ २७ ॥

रति दुख से बावली-सी होकर बोली कि हे वसन्त देखो, तुम्हारे प्रियमित्र की यह कैसी दशा हो गई ? कबूतर के समान चितकबरे रंगवाली तुम्हारे मित्र की इस राख को वायु कण-कण करके इधर-उधर बिखेर रहा है ॥ २७ ॥

अयि सम्प्रति देहि दर्शनं स्मर ! पर्युत्सुक एष माधवः।
दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने ॥ २८ ॥

अन्वयः—अयि स्मर ! सम्प्रति दर्शनं देहि, एष माधवः पर्युत्सुकः अस्ति, नृणां दयितासु प्रेम अनवस्थितं, सुहृज्जने प्रेम तु न चलं खलु ॥ २८ ॥

सञ्जी०—अयीति ॥ अयि स्मर ! संप्रति, दर्शनं देहि। एष माधवो वसन्तः पर्युत्सुकस्त्वद्दर्शनोत्कण्ठितः। त्वामप्यनादृतवतोऽस्य को माधव इत्याशङ्क्याह—नृणां पुरुषाणां दयितासु प्रेमानवस्तिमस्थिरम्। चलमित्यर्थः। सुहृज्जने प्रेम तु न चलं खलु ॥ २८ ॥

हे काम ! तुम्हारा यह प्रियमित्र वसन्त तुम्हें देखने के लिए उत्कंठित है। अतः अब तो इसे दर्शन दे दो ! पुरुषों का प्रेम अपनी स्त्रियों के प्रति भले ही सुदृढ़ न हो किंतु मित्रों के प्रति तो उनका प्रेम अचल होता ही है ॥ २८ ॥

अमुना ननु पार्श्ववर्तिना जगदाज्ञां ससुरासुरं तव।
बिसतन्तुगुणस्य कारितं धनुषः पेलवपुष्पपत्रिणः ॥ २९ ॥

अन्वयः—पार्श्ववर्तिना अमुना ससुरासुरं जगत् बिसतन्तुगुणस्य पेलवपुष्पपत्रिणः तव धनुषः आज्ञां कारितं ननु ॥ २९ ॥

सञ्जी०—अमुनेति ॥ ननु मदन ! पार्श्ववर्तिना सहचरेणामुनावसन्तेन ससुरासुरं सुरासुरसहितं जगद्बिसतन्तुगुणस्य मृणालसूत्रमौर्वीकस्य पेलवानि कोमलानि पुष्पाण्येव पत्रिणो बाणा यस्य तस्य तव धनुष आज्ञां कारितम्। जगदाज्ञा कारितेत्यर्थः। 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इति जगतः कर्मत्वम् ॥ २९ ॥

तुम्हारे इसी सहायक मित्र वसन्त ने ही देवदानव सहित सारे संसार को मृणाल सूत्र की प्रत्यंचा तथा कोमल पुष्पों के बाणवाले तुम्हारे धनुष का आज्ञाकारी बना दिया था ।। २९ ।।

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः ।
अहमस्य दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम् ।। ३० ।।

अन्वयः—स ते सखा अनिलाहतः दीपः इव गतः एव, न निवर्तते, अहम् अस्य दशा इव 'तिष्ठामि' अविषह्यव्यसनेन धूमितां मां पश्य ।। ३० ।।

सञ्जी०—गत इति ।। स ते सखानिलाहतो वायुताडितो दीप इव गत एव न निवर्तते । अहमस्य दीपायमानस्य दशा वर्तिरिव । तिष्ठामीति शेषः । 'दशा वर्ताववस्थायां वस्त्रान्ते स्युर्दशा अपि' इति विश्वः । कुतः ? अविषह्यव्यसनेन सोढुमशक्यदुःखप्रकर्षेण धूमितां संजातधूमां मां पश्य । धूमवत्वान्नष्टदीपदशासाम्यं धूमश्च व्यसनमेवेत्यर्थः ।। ३० ।।

हे वसन्त ! तुम्हारा वह मित्र कामदेव वायु द्वारा बुझाए गए दीपक के समान जा चुका है । वह अब लौटने वाला नहीं है । मैं उस बुझे हुए दीपक की असहनीय विपत्ति के शोक रूपी धुएँ को उगलने वाली बत्ती के समान बच गई हूँ । अतः मुझे ही देखो ।। ३० ।।

विधिना कृतमर्धवैशसं ननु मां कामवधे विमुञ्चता ।
अनपायिनि संश्रयद्रुमे गजभग्ने पतनाय वल्लरी ।। ३१ ।।

अन्वयः—ननु कामवधे मां विमुञ्चता विधिना अर्धवैशसं कृतम्; अनपायिनि संश्रयद्रुमे गजभग्ने सति वल्लरी पतनाय 'भवति' ।। ३१ ।।

सञ्जी०—विधिनेति ।। ननु वसन्त ! कामवधे मदनवधे मां विमुञ्चता वर्जयता । अमारयतेत्यर्थः । विधिना दैवेन विशसति हिनस्तीति विशसो घातुकः । पचाद्यच् । विशसस्य कर्म वैशसम् । युवादित्वादण्प्रत्ययः । अर्धवैशसमर्धवधः कृतम् । 'अर्धो वा एप आत्मनो यत्पत्नी' इति श्रुतेः । पत्युः स्वस्य चाश्रयाश्रयिभूतयोरेकपदार्थत्वाभिप्रायेणार्धोक्तिः । तथा चैकदेशवधे देशान्तरस्यापि वधनियमनान्मामपि विधिरघ्नन्नेवहतवानिति तात्पर्यम् । एतदेवोपपादयति—अनपायिन्यनपायित्वेन विश्वस्ते संश्रयद्रुमे आश्रयवृक्षे गजभग्ने सति वल्लरी लता पतनाय । भवतीति शेषः । पतितुमेव सालमित्यर्थः । 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी ।। ३१ ।।

मुझे जीवित छोड़कर मेरे अर्द्धाङ्ग पति की हत्या करनेवाले दैव की प्रति-

हिंसा केवल आधी सफल हुई। किन्तु हाथी ने जब आश्रयभूत पेड़ को ही नष्ट कर दिया तब उसकी आश्रित लता भी अवश्य ही नाश को प्राप्त होगी ॥ ३१ ॥

तदिदं क्रियतामनन्तरं भवता बन्धुजनप्रयोजनम् ।
विधुरां ज्वलनातिसर्जनान्ननु मां प्रापय पत्युरन्तिकम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—तत् अनन्तरं भवता इदं बन्धुजनप्रयोजनं क्रियताम्। ननु विधुरां मां ज्वलनाऽतिसर्जनात् पत्युः अन्तिकं प्रापय ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—तदिति ॥ तत्तस्मात्कारणादुक्तप्रकारेण। अन्यथापि मरणस्यावश्यंभावादित्यर्थः। अनन्तरं भवतेदं वक्ष्यमाणं बन्धुजनप्रयोजनं बन्धुकृत्यं क्रियताम्। प्रार्थनायां लोट्। तदेवोपदिशति—ननु वसन्त! विधुरां विवशां मां ज्वलनातिसर्जनादग्निदानात्पत्युरन्तिकं प्रापय। अग्निप्रवेशनं कारयेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

यदि उस समय मेरी मृत्यु न हो सकी तो बाद ही में सही, तुम अपने मित्र का यह कार्य पूरा कर दो। तुम मेरे लिए अग्नि प्रज्वलित करके मुझे पति के पास तक पहुँचा दो ॥ ३२ ॥

शशिना सह याति कौमदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥ ३३ ॥

अन्वयः—कौमुदी शशिना सह याति, तडित् मेघेन सह प्रलीयते; प्रमदाः पतिवर्त्मगाः इति विचेतनैः अपि प्रतिपन्नम् ॥ ३३ ॥

सञ्जी०—शशिनेति ॥ कौमुदी चन्द्रिका शशिना सह याति। शशिन्यस्तमिते स्वयं नश्यतीत्यर्थः। तडित्सौदामिनी मेघेन सह प्रलीयते प्रणश्यति। कर्तरि लट्। प्रमदाः स्त्रियः पतिवर्त्म गच्छन्तीति पतिवर्त्मगाः पतिमार्गानुगामिन्य इत्येतद्विचेतनैः। अविवेकिभिरपीत्यर्थः। नाथस्तु 'पृथग्जनैः' इति पपाठ। प्रतिपन्नं ज्ञातम्। 'अलवणा यवागूः' 'अनुदरा कन्या' इतिवदल्पत्वाभिप्रायेण विचेतनैरपीति निर्देशः। पतिवर्त्मगा इत्यत्र स्मृतिः—'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृषा। मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥' इति ॥ ३३ ॥

चाँदनी चंद्रमा के साथ ही अस्त हो जाती है और बिजली भी बादलों के साथ ही विलीन हो जाती है। जब अचेतन भी यह समझते हैं कि स्त्रियों को अपने पति का ही अनुगमन करना चाहिए तो फिर मुझ चेतन को तो वैसा निश्चय ही करना चाहिए ॥ ३३ ॥

अमुनैव कषायितस्तनी सुभगेन प्रियगात्रभस्मना ।
नवपल्लवसंस्तरे यथा रचयिष्यामि तनुं विभावसौ ॥ ३४ ॥

अन्वयः——अमुना, सुभगेन प्रियगात्रभस्मना एव कषायितस्तनी नवपल्लवसंस्तरे यथा विभावसौ तनुं रचयिष्यामि ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—अमुनेति ॥ अमुना पुरोवर्तना सुभगेन शोभनेन प्रियगात्रभस्मनैव । एवकारो मण्डनान्तरनिवृत्यर्थः । कषायितस्तनी रञ्जितस्तनी । 'रागे क्वाथे कषायोऽस्त्री निर्यासे सौरभे रसे' इति वैजयन्ती । नवपल्लवसंस्तरे यथा नवपल्लवतल्प इव विभावसौ वह्नौ तनुं शरीरं रचयिष्यामि विधास्यामीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

मैं सम्मुख पड़ी हुई अपने प्रियतम की इस पवित्र भस्मी से स्तनों को रंगकर नूतन पल्लवों की शय्या के समान धधकती हुई चितापर अपने शरीर को सुला दूँगी ॥ ३४ ॥

कुसुमास्तरणे सहायतां बहुशः सौम्य ! गतस्त्वमावयोः ।
कुरु सम्प्रति तावदाशु मे प्रणिपाताञ्जलियाचितश्चिताम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—हे सौम्य ! त्वम् आवयोः बहुशः कुसुमास्तरणे सहायतां गतः असि, सम्प्रति प्रणिपाताऽञ्जलियाचितः तावत् आशु मे चितां कुरु ॥ ३५ ॥

सञ्जी०—कुसुमेति ॥ हे सौम्य साधो ! त्वमावयो रतिपञ्चबाणयोर्बहुशो बहुवारं कुसुमास्तरणे पुष्पशयने सहायतां गतः । संप्रति प्रणिपाताञ्जलिना याचितः । अञ्जलिपूर्वकं प्रार्थितः सन्नित्यर्थः । आशु मे चितां काष्ठचयं कुरु कुरुष्व । यथेह तथामुत्रोपकर्तव्यं मित्रेणेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

हे सौम्य ! (हम दोनों के सुरत-समय में) तुमने कई बार फूलों की शैय्या बनाने में हम दोनों की सहायता की है। मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ कि आज भी तुम मेरे लिए शीघ्र ही चिता की रचना कर दो ॥ ३५ ॥

तदनु ज्वलनं मदर्पितं त्वरयेर्दक्षिणवातवीजनैः ।
विदितं खलु ते यथा स्मरः क्षणमप्युत्सहते न मां विना ॥ ३६ ॥

अन्वयः—तदनु मदर्पितं ज्वलनं दक्षिणवातवीजनैः त्वरयेः । ते विदितं खलु, यथा स्मरः मां विना क्षणम् अपि न उत्सहते ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—तदन्विति ॥ तच्चिताकरणमन्वनन्तरं मय्यर्पितं मदर्पितं ज्वलनमग्निं दक्षिणवातवीजनैर्मलयमारुतसञ्चारणैस्त्वरयेः त्वरितं ज्वलयेत्यर्थः । त्वराहेतुमाह—ते तव विदितं खलु । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति वर्तमाने क्तः । तद्योगा-

त्कर्तरि षष्ठी । यथा येन प्रकारेण स्मरो मां विना क्षणमपि नोत्सहते न हृष्यति । तथा त्वया ज्ञातमेवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

जब मैं अपने शरीर को चिता की अग्नि में अर्पित कर दूं तब तुम दक्षिण की वायु चला कर शीघ्र ही उसे धधका देना । क्योंकि यह तो तुम्हें मालूम ही है कि कामदेव मेरे बिना क्षणभर के लिए नहीं रह सकते ॥ ३६ ॥

इति चापि विधाय दीयतां सलिलस्याञ्जलिरेक एव नौ ।
अविभज्य परत्र तं मया सहितः पास्यति ते स बान्धवः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—अपि च, इति विधाय नौ एक एव सलिलस्य अञ्जलिः दीयताम्; तं स ते बान्धवः परत्र मया सहितः अविभज्य पास्यति ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—इतीति ॥ अपि चेत्येवं विधाय कृत्वा नावावाभ्यामेक एव सलिलस्याञ्जलिर्दीयताम् । तमञ्जलिं स ते बान्धवः सखा स्मरः परत्र परलोके मया सहितोऽविभज्य पास्यति ॥ ३७ ॥

यह सब कर लेने के बाद तुम हम दोनों के लिए एक ही जलाञ्जलि से प्रेत-तर्पण भी करना । जिससे परलोकगत तुम्हारे बन्धु कामदेव मेरे साथ अभीष्ट जल का पान कर सकें ॥ ३७ ॥

परलोकविधौ च माधव ! स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः ।
निवपेः सहकारमञ्जरीः प्रियचूतप्रसवो हि ते सखा ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे माधव ! परलोकविधौ च स्मरम् उद्दिश्य विलोलपल्लवाः सहकारमञ्जरीः निवपेः, हि ते सखा प्रियचूतप्रसवः 'अस्ति' ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—परलोकेति ॥ किञ्च हे माधव वसन्त ! परलोकविधौ पिण्डोदकादिकर्मणि स्मरमुद्दिश्य विलोलाः पल्लवा यासु ताः सहकारमञ्जरीश्चूतवल्लरीर्निवपेर्देहि । हि यस्मात्कारणात्ते सखा स्मरः प्रियाश्चूतप्रसवा यस्य स तथोक्तः ॥ ३८ ॥

हे माधव ! कामदेव की और्ध्वदेहिक क्रियाएँ करते समय श्राद्ध में चञ्चल किसलययुक्त आम्र-मञ्जरी अवश्य देना, क्योंकि तुम्हारे सुहृद् मदन को वह अत्यंत प्रिय रही है ॥ ३८ ॥

इति देहविमुक्तये स्थितां रतिमाकाशभवां सरस्वती ।
शफरीं ह्रदशोषविक्लवां प्रथमा वृष्टिरिवान्वकम्पयत् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—इति देहविमुक्तये स्थितां रतिम् आकाशभवा सरस्वती ह्रदशोषविक्लवां शफरीं प्रथमा वृष्टिः इव अन्वकम्पयत् ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—इतीति ॥ इति देहस्य विमुक्तये शरीरस्य विसर्गाय स्थिताम् । कृतनिश्चयामिति यावत् । रतिमाकाशभवा सरस्वत्यशरीरावाग्ह्रदशोषविक्लवां ह्रदस्य जलधारस्य शोषेण विक्लवां शफरीं 'प्रोष्ठी तु शफरी द्वयोः' इत्यमरः । प्रथमा वृष्टिर्वर्षमिवान्वकम्पयदनुकम्पितवती । सदयमुवाचेत्यर्थः । 'कृपा दयानुकम्पा स्यात्' इत्यमरः ॥ ३९ ॥

जिस प्रकार अकस्मात् होने वाली प्रथम वर्षा की पहली बूंद सूखे हुए तालाब की अधमरी मछली में प्राण संचारित कर देती है, उसी तरह शरीर त्यागने के लिए तैयार होने वाली रति को अचानक होने वाली आकाशवाणी ने शान्ति प्रदान किया ॥ ३९ ॥

कुसुमायुधपत्नि ! दुर्लभस्तव भर्ता न चिराद्भविष्यति ।
श्रृणु येन स कर्मणा गतः शलभत्वं हरलोचनार्चिषि ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे कुसुमायुधपत्नि ! तव भर्ता चिरात् दुर्लभः न भविष्यति । श्रृणु, येन कर्मणा सः हरलोचनाऽर्चिषि शलभत्वं गतः ॥ ४० ॥

सञ्जी०—कुसुमेति ॥ हे कुसुमायुधपत्निरते ! तव भर्त्ता चिराच्चिरं दुर्लभो न भविष्यति । किन्त्वचिरमेव सुलभो भविष्यतीत्यर्थः । किञ्च श्रृणु । तत्कर्मेति शेषः । येन कर्मणा स ते भर्ता हरलोचनस्यार्चिर्ज्वालि । 'ज्वाला भासो नपुंस्यर्चिः' इत्यमरः । तस्मिञ्शलभत्वं पतङ्गत्वं गतः । 'समौ पतङ्गशलभौ' इत्यमरः ॥४०॥

हे कामदेव की प्रिये ! तुम्हारा पति तुम्हारे लिए शीघ्र ही दुर्लभ नहीं रहेगा अर्थात वह शीघ्र ही प्राप्त हो जायगा । वह जिस कारण से शंकर जी के नेत्रों की आग में जलकर भस्म हुआ है, उसे सुनो ॥ ४० ॥

अभिलाषमुदीरितेन्द्रियः स्वसुतायामकरोत्प्रजापतिः ।
अथ तेन निगृह्य विक्रियामभिशप्तः फलमेतदन्वभूत् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—उदीरितेन्द्रियः प्रजापतिः स्वसुतायाम् अभिलाषम् अकरोत् । अथ तेन विक्रियां निगृह्य अभिशप्तः सन् एतत् फलम् अन्वभूत् ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—अभिलाषेति ॥ उदीरितेन्द्रियः प्रेरितेन्द्रियः स्मरेणेतिशेषः । प्रजापतिर्ब्रह्मा स्वसुतायां सरस्वत्यामभिलाषमनुरागमकरोत् । अथ तेन प्रजापतिना विक्रियामिन्द्रियविकारं निगृह्य निरुध्याभिशप्तः सन् । एतत्फलं दाहात्मकं स्वकर्मफलमन्वभूत् ॥ ४१ ॥

एकबार कामदेव ने प्रजापति ब्रह्मा की इन्द्रियों को इतना विचलित कर दिया था कि उनके मन में अपनी पुत्री (सरस्वती) के प्रति कामभावना पैदा

हो गई थी। उसी समय ब्रह्मा ने अपने कामविकार का दमन किया था और कामदेव को शाप दिया था, यह उसी का परिणाम है ॥ ४१ ॥

परिणेष्यति पार्वतीं यदा तपसा तत्प्रवणीकृतो हरः।
उपलब्धसुखस्तदा स्मरं वपुषा स्वेन नियोजयिष्यति ॥ ४२ ॥

इति चाह स धर्मयाचितः स्मरशापावधिदां सरस्वतीम्।
अशनेरमृतस्य चोभयोर्वशिनश्चाम्बुधराश्च योनयः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—धर्मयाचितः सः 'तपसा तत्प्रवणीकृतः हरः यदा पार्वतीं परिणेष्यति, तदा उपलब्धसुखः सन् स्मरं स्वेन वपुषा नियोजयिष्यति' इति स्मरशापावधिदां सरस्वतीं च आह। वशिनः अम्बुधराश्च अशनेः अमृतस्य उभयोः योनयः 'भवन्ति' ॥ ४२-४३ ॥

सञ्जी०—परिणेष्यतीति। इतीति च ॥ धर्मेण धर्माख्यप्रजापतिना याचितः प्रार्थितः स भगवान्ब्रह्मा। तपसा कारणेन तस्यां पार्वत्यां प्रवणीकृतोऽभिमुखीकृतो हरः शिवो यदा पार्वतीं परिणेष्यत्युद्वक्ष्यति तदोपलब्धसुखः सन्। स्मरं कामं स्वेन वपुषा नियोजयिष्यति। इत्येवं स्मरशापस्यावधिदामवसानदायिनीं सरस्वतीं वाचं चाह। एवं शापावधिमप्युक्तवानित्यर्थः। ननु तथा क्रुद्धस्य कथमीदृशी शन्तिरत आह—वशिनो जितेन्द्रियाश्चाम्बुधराश्चाशनेरमृतस्य चेत्युभयोर्योनयः प्रभवः वशिपक्षेऽशन्यमृतशब्दौ कोपप्रसादपरौ। अन्यत्र वैद्युताग्न्युदकपरौ। युग्मकम् ॥ ४२-४३ ॥

(सृष्टि रक्षा के लिए) धर्मदेव के प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने कामदेव को दिए गए शाप की अवधि बताते हुए कहा कि जब पार्वती जी की तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी उनसे विवाह कर लेंगे तब आनन्दित होकर वह काम को उसके शरीर का दान कर देंगे। जैसे बादलों के बीच वज्र और अमृत दोनों रहते हैं उसी प्रकार संयमी महापुरुषों के हृदय में क्रोध और दया दोनों का निवास होता है ॥ ४२-४३ ॥

तदिदं परिरक्ष शोभने! भवितव्यप्रियसङ्गमं वपुः।
रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेण हि युज्यते नदी ॥ ४४ ॥

अन्वयः—हे शोभने! तत् भवितव्यप्रियसङ्गमम् इदं वपुः परिरक्ष। हि रविपीतजला नदी तपात्यये पुनः ओघेण युज्यते ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—तदिति ॥ हे शोभने, तत्तस्मात्करणाद्भवितव्यो भविष्यन्प्रियसङ्गमो यस्य तत्तथोक्तमिदं वपुः परिरक्ष। तथाहि। रविपीतजला नदी तपात्यये प्रावृषि। 'प्रावृट् तपात्यये' इति हलायुधः। पुनरोघेण प्रवाहेण युज्यते सङ्गच्छते हि ॥४४॥

इसलिए हे सुन्दरी ! तुम अपने इस शरीर की रक्षा करो क्योंकि तुम इसी शरीर से भविष्य में होने वाले प्रियतम के समागम को प्राप्त करोगी । ग्रीष्म काल में सूर्य द्वारा समस्त जल पी लेने पर नदी भले ही सूख जाय किन्तु वर्षा काल में वह जल से फिर भर जाती है ।। ४४ ।।

इत्थं रतेः किमपि भूतमदृश्यरूपं मन्दीचकार मरणव्यवसायबुद्धिम् ।
तत्प्रत्ययाच्च कुसुमायुधबन्धुरेनामाश्वासयत्सुचरितार्थपदैर्वचोभिः ।। ४५ ।।

अन्वयः—इत्थम् अदृश्यरूपं किमपि भूतं रतेः मरणव्यवसायबुद्धिं मन्दीचकार । अथ कुसुमायुधबन्धुश्च तत्प्रत्ययात् एनां सुचरितार्थपदैः वचोभिः आश्वासयत् ।। ४५ ।।

सञ्जी०—इत्थमिति ।। इत्थमनेन प्रकारेणादृश्यरूपं किमपि भूतं कश्चित्प्राणी । 'युक्ते क्ष्मादावृते भूतं प्राण्यतीते समे त्रिषु' इत्यमरः । रतेर्मदनदाराणां मरणव्यवसायबुद्धिं मरणोद्योगबुद्धिं मन्दीचकार । निवारयामासेत्यर्थः । 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः' इत्यमरः । अथ कुसुमायुधबन्धुर्वसन्तश्च तत्प्रत्ययात्तस्मिन्भूते विश्वासात् । 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः । एनां रतिं सुष्ठु चरितार्थानि पदानि येषां तैर्वचोभिर्वाक्यैराश्वासयत् । सर्वथा ते देवताप्रसादात्प्रियसङ्गमो भविष्यतीत्यादिवचनैरस्या दुःखमपाचकारेत्यर्थः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।। ४५ ।।

इस प्रकार किसी अदृश्य तत्व ने आकर रति के शरीर-त्याग करने के संकल्प को शिथिल कर दिया । उसी की सहायता लेकर काममित्र वसन्त ने भी अपनी अर्थ पूर्ण वाणी से रति को आश्वासन दिया ।। ४५ ।।

अथ मदनवधूरुपप्लवान्तं व्यसनकृशा परिपालयाम्बभूव ।
शशिन इव दिवातनस्य लेखा किरणपरिक्षयधूसरा प्रदोषम् ।। ४६ ।।

अन्वयः—अथ व्यसनकृशा मदनवधूः उपप्लवान्तं किरणपरिक्षयधूसरा दिवातनस्य शशिनः लेखा प्रदोषम् इव परिपालयाम्बभूव ।। ४६ ।।

सञ्जी०—अथेति ।। अथानन्तरं व्यसनेन दुःखेन कृशा मदनवधूरतिरुपप्लवान्तं विपदवधिं किरणपरिक्षयेण धूसरा मलिना दिवातनस्य दिनभवस्य । 'सायंचिरम्–' इत्यादिना ठ्युप्रत्ययः । शशिनश्चन्द्रस्य लेखा प्रदोषं रात्रिमिव परिपालयाम्बभूव प्रतीक्षाञ्चक्रे । पुष्पिताग्रा वृत्तम्—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ।। ४६ ।।

इसके पश्चात् पति-वियोग के दुख से दुर्बल शरीर वाली रति शाप की अवधि समाप्त होने की उसी प्रकार प्रतीक्षा करने लगी, जिस प्रकार दिन में निकली हुई तथा किरणों के अभाव में धुंधली और तेजहीन चंद्रमा की कला रात के आने की प्रतीक्षा करती है ॥ ४६ ॥

॥ चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥

पञ्चमः सर्गः

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥ १ ॥

अन्वयः—पार्वती तथा समक्षं मनोभवं दहता पिनाकिना भग्नमनोरथा सती हृदयेन रूपं निनिन्द, हि चारुता प्रियेषु सौभाग्यफला 'भवति' ॥ १ ॥

सञ्जी०—तथेति ॥ पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती तथा तेन प्रकारेणाक्ष्णोः समीपे समक्षं पुरतः । 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि—' इत्यादिनाव्ययीभावः । मनोभवं मन्मथं दहता भस्मीकुर्वता पिनाकिनेश्वरेण भग्नः खण्डितो मनोरथोऽभिलाषो यस्याः सा तथोक्ता सती हृदयेन मनसा रूपं सौन्दर्यं निनिन्द । धिङ्मे रूपं यद्धरमनोहरणाय नालमिति गर्हितवतीत्यर्थः । युक्तं चैतदित्याह—तथाहि । चारुता सौन्दर्यं प्रियेषु विषये सौभाग्यं प्रियवाल्लभ्यं फलं यस्याः सा तथोक्ता । सौन्दर्यस्य तदेव फलं यद्भर्तृसौभाग्यं लभ्यते । नो चेद्विफलं तदिति भावः । अस्मिन्सर्गे वंशस्थं वृत्तम् । 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

इस प्रकार अपनी आँखों के सामने ही शंकर जी द्वारा कामदेव को जलाते हुए देखकर पार्वती जी की अभिलाषा चूर-चूर हो गई। वह अपने रूप को धिक्कारने लगीं। क्योंकि सौन्दर्य की सफलता तभी है जब उससे प्रिय को मुग्ध किया जा सके ॥ १ ॥

इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ॥ २ ॥

अन्वयः—सा समाधिम् आस्थाय तपोभिः आत्मनः अवन्ध्यरूपतां कर्तुम् इयेष । अन्यथा तथाविधं प्रेम तादृशः पतिश्च तद् द्वयं कथं वा अवाप्यते ॥ २ ॥

सञ्जी०—इयेषेति ॥ सा पार्वती समाधिमेकाग्रतामास्थायावलम्ब्य तपोभिर्वक्ष्यमाणनियमैः करणभूतैरात्मनः स्वस्यावन्ध्यरूपतां सफलसौन्दर्यं कर्तुमियेषेच्छति स्म । तपसा शिवं वशीकर्तुमुद्युक्तेत्यर्थः । अन्यथा ततोऽन्यप्रकारेण कथं वा तद्द्वयमवाप्यते । किं तद्द्वयम् । तथाभूता विधा प्रकारो यस्य तत्तथाविधं प्रेम स्नेहः येनार्धाङ्गहरा हरस्य भवेदितिभावः । तादृशः पतिश्च । यो मृत्युञ्जय इति भावः । द्वयमेव खलु स्त्रीणामपेक्षितं यद्भर्तृवाल्लभ्यं जीवद्भर्तृकत्वञ्चेति । तच्च तपश्चर्यैकसाध्यमिति । निश्चिकायेत्यर्थः । अत्र मनुः—'यद्दुष्करं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुस्तरम् । तत्सर्वं तपसा प्राप्यं तपो हि दुरितक्रमम् ॥' इति ॥ २ ॥

उन्होंने समाधि लगाकर अपनी तपस्या से अपने रूप को सफल बनाने का विचार किया। क्योंकि किसी अन्य उपाय के द्वारा पति का वैसा उत्कृष्ट प्रेम तथा शंकर जी जैसा (मृत्युंजयी) पति–ये दोनों ही मिल भी कैसे सकते हैं ॥ २ ॥

निशम्य चैनां तपसे कृपोद्यमां सुतां गिरीशप्रतिसक्तमानसाम् ।
उवाच मेना परिरभ्य वक्षसा निवारयन्ती महतो मुनिव्रतात् ॥ ३ ॥

अन्वयः—मेना गिरीशप्रतिसक्तमानसां तपसे कृतोद्यमां सुतां च निशम्य एनां वक्षसा परिरभ्य महतः मुनिव्रतात् निवारयन्ती 'सती' उवाच ॥ ३ ॥

सञ्जी०–निशम्येति ॥ मेना मेनका च गिरीशप्रतिसक्तमानसां हरासक्तचित्तां तपसे तपश्चरणाय कृतोद्यमां कृतोद्योगां सुतां निशम्य श्रुत्वैनां पार्वतीं वक्षसा परिरभ्यालिङ्ग्य महतो मुनिव्रतात्तपसो निवारयन्त्युवाच । मुनिव्रतादित्यत्र यद्यपि मुनिव्रतस्य मेनकाया अनिप्सितत्वात् 'वारणार्थानामीप्सितः' इति नापादानत्त्वंमेव तथापि कृतोद्यमामिति मानसप्रवेशोक्तत्वात् 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इति अपादानत्वमेव स्यात् । यथाह भाष्यकारः—यच्च मिथ्या संप्राप्य निवर्तते तच्च ध्रुवमपायेऽपादानमिति प्रसिद्धम्' इति ॥ ३ ॥

जब (पार्वती की सखी के द्वारा) मेना को यह बात मालूम हुई कि पार्वती का चित्त शिवजी में आसक्त हो गया है और वह तपस्या करने के लिए कृतसङ्कल्प है, तब वह अपनी पुत्री को गले से लगाकर तपस्या से निवृत्त करने के लिए इस प्रकार कहने लगीं ॥ ३ ॥

मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः ।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्त्रिणः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे वत्से ! मनीषिताः देवताः गृहेषु सन्ति । तपः क्व ? तावकं वपुश्च क्व ? पेलवं शिरीषपुष्पं भ्रमरस्य पदं सहेत, पतत्त्रिणः पुनः पदं न सहेत ॥ ४ ॥

सञ्जी०—मनीषिता इति ॥ हे वत्से, मनस ईषिता इष्टा मनीषिताः । शकन्ध्वादित्वात्साधुः । देवताः शच्यादयो गृहेषु सन्ति । त्वं ता आराधयेति शेषः । तपः क्व ? तवेदं तावकम् । 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' इत्यणप्रत्ययः । तवकममकावेकवचन' इति तवकादेशः । वपुश्च क्व ? तथाहि । पेलवं मृदुलं शिरीषपुष्पं भ्रमरस्य भृङ्गस्य पदं पदस्थितिं सहेत । पतत्रिणः पुनः पक्षिणस्तु पदं न सहेत । अतिसौकुमार्याद्दिव्योपभोगभोग्यं ते वपुर्न दारुणतपःक्षममित्यर्थः । अत्र दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४ ॥

हे वत्से ! अभिलाषा पूर्ण करने वाले देवता तो तुम्हारे घर ही में विद्यमान हैं । (तुम उन्हीं की आराधना करो) । कहाँ कठोर तपस्या और कहाँ तुम्हारा इतना कोमल शरीर ? शिरीष का कोमल फूल भौंरों के सुकुमार चरण के भार को तो सहन कर सकता है किन्तु पक्षियों के चरण-भार को नहीं सहन कर सकता ।

इति ध्रुवेच्छामनुशासती सुतां शशाक मेना न नियन्तुमुद्यमात् ।
क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् ॥ ५ ॥

अन्वयः—इति अनुशासती मेना ध्रुवेच्छां सुताम् उद्यमात् नियन्तुं न शशाक । ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः निम्नाभिमुखं पयश्च कः प्रतीपयेत् ? ॥ ५ ॥

सञ्जी०—इतीति ॥ इत्येवमनुशासत्युपदिशन्ती मेना ध्रुवेच्छां स्थिरव्यवसायां सुतां पार्वतीमुद्यमादुद्योगात्तपोलक्षणान्नियन्तुं न शशाक समर्था नाभूत् । तथाहि । ईप्सितार्थे इष्टार्थे स्थिरनिश्चयं मनो निम्नाभिमुखं पयश्च कः प्रतीपयेत्प्रतिकूलयेत् । प्रतिनिवर्तयेदित्यर्थः । निम्नप्रवणं पय इवेष्टार्थाभिनिविष्टं मनो दुर्वारमिति भावः । अत्र दीपकानुप्राणितोऽर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥ ५ ॥

इस प्रकार समझा कर भी मेना अपनी दृढ़ संकल्पवाली पुत्री पार्वती को तपस्या करने के उद्यम से रोकने में समर्थ न हो सकीं । अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिए दृढ़ संकल्पवाले मन तथा नीचे की ओर बहते हुए जल-प्रवाह को घुमा देने में भला कौन समर्थ हो सकता है ॥ ५ ॥

कदाचिदासन्नसखीमुखेन सा मनोरथज्ञं पितरं मनस्विनी ।
अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपः समाधये ॥ ६ ॥

अन्वयः—कदाचित् मनस्विनी सा मनोरथज्ञं पितरम् आसन्नसखीमुखेन फलोदयान्ताय तपःसमाधये आत्मनः अरण्यनिवासम् अयाचत ॥ ६ ॥

सञ्जी०—कदाचिदिति ॥ अथ कदाचिन्मनस्विनी स्थिरचित्ता सा पार्वती मनोरथज्ञमभिलाषाभिज्ञं पितरं हिमवन्तमासन्नसख्याप्तसखी सैव मुखमुपायः । मुखं

नि:सरणे वक्त्रे प्रारम्भोपाययोरपि' इति विश्वः । तेन फलोदयः फलोत्पत्तिरन्तोऽवधिर्यस्य तस्मै तप:समाधये तपोनियमार्थमात्मनः स्वस्यारण्यनिवासं वनवासमयाचत । 'दुह्याच्—' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् ॥ ६ ॥

अवसर पाकर एक बार पार्वती ने अपने मन की अभिलाषा को जाननेवाले पिता से, अपनी समीपवर्तिनी सहेली द्वारा बन में जाकर तब तक तपस्या करने की अनुमति देने की प्रार्थना की जब तक कि अभीष्ट सिद्ध न हो जाये ॥६॥

अथानुरूपाभिनिवेशतोषिणा कृताभ्यनुज्ञा गुरुणा गरीयसा ।
प्रजासु पश्चात्प्रथितं तदाख्यया जगाम गौरी शिखरं शिखण्डिमत् ॥ ७ ॥

अन्वयः—अथ गौरी अनुरूपाभिनिवेशतोषिणा गरीयसा गुरुणा कृताभ्यनुज्ञा सती, पश्चात् प्रजासु तदाख्यया प्रथितं शिखण्डिमत् शिखरं जगाम ॥ ७ ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथ गौर्यनुरुपेण योग्येनाभिनिवेशेनानुग्रहेण तुष्यतीति तथोक्तेन गरीयसा पूज्यतमेन गुरुणा पित्रा कृताभ्यनुज्ञा तप:कुर्विति कृतानुमतिः सती पश्चात्तप:सिद्ध्युत्तरकाले प्रजासु जनेषु तदाख्यया तस्या गौर्याः संज्ञया प्रथितम् । गौरीशिखरमिति प्रसिद्धमित्यर्थः । शिखण्डिमत् । न तु हिंस्रप्राणिप्रचुरमिति भावः । शिखरं शृङ्गं जगाम ययौ ॥ ७ ॥

पार्वती के इस उचित आग्रह से संतुष्ट होकर पूज्य पिता हिमालय ने उसे बन में जाकर तपस्या करने की आज्ञा दे दी । पार्वती मयूरों के झुण्ड से भरी हुई हिमालय की उस चोटी पर चली गईं जो बाद में उन्हीं के नाम पर गौरी शिखर के नाम से प्रसिद्ध हुई ॥ ७ ॥

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम् ।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥ ८ ॥

अन्वयः—अहार्यनिश्चया सा विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनं हारं विमुच्य बालारुणबभ्रु पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति वल्कलं बबन्ध ॥ ८ ॥

सञ्जी०—विमुच्येति ॥ अहार्यनिश्चयानिवार्यनिश्चया सा गौरी विलोलाभिश्चलाभिर्यष्टिभिः प्रतिसरैः प्रविलुप्तं प्रमृष्टं चन्दनं स्तनान्तर्गतं येन तं तथोक्तं हारं मुक्तावलीं विमुच्य विहाय बालारुणबभ्रु बालार्कपिङ्गलं पयोधरयोः स्तनयोरुत्सेधेनोच्छ्रायेण विशीर्णा विघटिता संहतिरवयवसंश्लेषो यस्य तत्तथोक्तं वल्कलं कण्ठलम्बि स्तनोत्तरीयभूतं बबन्ध । धारयामासेत्यर्थः ॥ ८ ॥

दृढ़ निश्चय वाली पार्वती ने अपनी उस मोती की माला को उतार दिया जिसकी चंचल लड़ियों से उनके स्तनों का चंदन मिट गया था । अब उन्होंने उन

स्तनों पर प्रातः कालीन सूर्य के समान लाल रंग का बल्कल बाँध लिया जो उनके (स्तनों के) उभार के कारण कुछ फट सा गया था ॥ ८ ॥

यथा प्रसिद्धैर्मधुरं शिरोरुहैर्जटाभिरप्येवमभूत्तदाननम् ।
न षट्पदश्रेणिभिरेव पङ्कजं सशैवलासङ्गमपि प्रकाशते ॥ ९ ॥

अन्वयः—तदाननं प्रसिद्धैः शिरोरुहैः यथा मधुरम् अभूत्, जटाभिरपि एवं मधुरम् अभूत् । पङ्कजं षट्पदश्रेणिभिः इव न, किन्तु सशैवलासङ्गं सदपि प्रकाशते ॥९॥

सञ्जी०—यथेति ॥ तस्या देव्या आननं तदाननं प्रसिद्धैर्भूषितैः । 'प्रसिद्धो ख्यातभूषितौ' इत्यमरः । रोहन्तीति रुहाः । 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः । शिरसि रुहास्तैः शिरोरुहैर्मूर्धजैर्यथा मधुरं प्रियमभूत् । 'स्वादुप्रियौ तु मधुरौ' इत्यमरः । जटाभिरप्येवं मधुरमभूत् । तथाहि पङ्कजं पद्मं षट्पदश्रेणिभिर्भ्रमरपङ्क्तिभिरेव न किन्तु सहशैवालसङ्गेन सशैवलासङ्गमपि । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । प्रकाशते । शैवालेनापि शोभत एवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

पार्वती का मुख जैसे पहिले सजे सजाए बालों से सुन्दर लगा करता था वैसे ही जटाओं से भी सुशोभित लग रहा था । कमल भौंरों की पंक्तियों के साथ जितना सुन्दर लगता है उतना ही सेवारों से घिरा होने पर भी सुन्दर प्रतीत होता है ॥ ९ ॥

प्रतिक्षणं सा कृतरोमविक्रियां व्रताय मौञ्जीं त्रिगुणां बभार याम् ।
अकारि तत्पूर्वनिबद्धया तया सरागमस्या रसनागुणास्पदम् ॥ १० ॥

अन्वयः—सा प्रतिक्षणं कृतरोमविक्रियां त्रिगुणां यां मौञ्जी व्रताय बभार, तत्पूर्वनिबद्धया तया अस्याः रसनागुणास्पदं सरागम् अकारि ॥ १० ॥

सञ्जी०—प्रतीति ॥ सा देवी प्रतिक्षणं क्षणे क्षणे कृतरोमविक्रियां पारुष्यात्कृतरोमाञ्चां त्रिगुणां त्रिरावृतां यां मौञ्जीं मुञ्जमयीं मेखलां व्रताय तपसे बभार तदेव पूर्वं प्रथमं यस्य तत्पूर्वं यथा तथा निबद्धया तया मौञ्ज्यास्या देव्या रसनागुणस्यास्पदं स्थानं जघनम् । सह रागेण सरागं सलोहितमकारि कृतम् । सौकुमार्यातिशयादिति भावः ॥ १० ॥

व्रत पालन के लिये पार्वती ने करधनी के बदले में तीन लड़ों से बटी हुई मूंज की मेखला पहिन ली, जिसने उसके पूर्व प्रतिक्षण रोमांच पैदा कर देने वाली बाँधी गई करधनी के नितम्ब स्थित स्थान को लाल रंग का बना दिया ॥१०॥

विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥ ११ ॥

अन्वयः—तथा विसृष्टरागात् अधरात् निर्वर्तितः, स्तनाङ्गरागारुणितात् कन्दुकाच्च निर्वर्तितः, कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः करः अक्षसूत्रप्रणयी कृतः ।११।

सञ्जी०—विसृष्टेति ।। तथा देव्या विसृष्टरागात्त्यक्तलाक्षारसरञ्जनादधरादधरोष्ठान्निर्वर्तितः । 'निसृष्ट रागात्' इति पाठे नितरां त्यक्तलाक्षारागात् । रागत्यागेन निष्प्रयोजनत्वादिति भावः । तथा स्तनाङ्गरागेणारुणितादरुणीकृतात् । पतनसमये तस्यस्तनयोरुपरोधादिति भावः । कन्दुकाच्च निर्वर्तितः । कुशाङ्कुराणामादानेन लवनेन परिक्षता व्रणिता अङ्गुलयो यस्य स तथोक्तः करः पाणिरक्षसूत्रप्रणय्यक्षमालासहचरः कृतः ।। ११ ।।

पार्वती अपने जिस हाथ से ओठों में लाक्षा का रंग लगाया करतीं और स्तनों के अंगराग से रंगा हुआ गेंद खेला करती थीं अब उसी हाथ से उक्त दोनों कार्य छोड़कर रुद्राक्ष की माला जपने लगीं, जिसकी अँगुलियाँ कुश उखाड़ने के कारण कटफट गई थीं ।। ११ ।।

महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते ।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थण्डिल एव केवले ।। १२ ।।

अन्वयः—महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैः अपि या दूयते स्म सा बाहुलतोपधायिनी 'सती' केवले स्थण्डिले एव निषेदुषी सती अशेत ।। १२ ।।

सञ्जी०—महार्हेति ।। महानर्हो मूल्यं यस्याः सा महार्हा श्रेष्ठा या शय्या तस्यां परिवर्तनेन लुण्ठनेन च्युतैर्भ्रष्टैः स्वकेशपुष्पैरपि या देवी दूयते स्म क्लिश्यते स्म । पुष्पाधिकसौकुमार्यादिति भावः । सा देवी बाहुलतामुपधत्त उपधानीकरोतीति बाहुलतोपधायिनी सती केवले संस्तरणरहिते स्थण्डिले भूमावेवाशेत शयितवती । तथा निषेदुष्युपविष्टा च । 'क्वसुश्च' इति क्वसुः । 'उगितश्च' इति ङीप । भूमावेव शयनादिव्यवहारो न जातूपरीत्यर्थः ।। १२ ।।

बहुमूल्य शैय्या पर करवटें बदलते समय अपने ही बालों से गिरे हुए फूलों से भी जिस पार्वतीको कष्ट होता था, वही पार्वती अब केवल भूमि पर (बिना बिछौना बिछाये) अपनी बाहों की तकिया बनाकर बैठे ही बैठे सोने लगीं ।।१२।।

पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम् ।
लतासु तन्वीषु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च ।। १३ ।।

अन्वयः—नियमस्थया तया तन्वीषु लतासु विलासचेष्टितं, हरिणाङ्गनासु विलोलदृष्टं च, द्वये अपि द्वयं पुनः ग्रहीतुं निक्षेपः अर्पितम् इव ।। १३ ।।

सञ्जी०—पुनरिति ।। नियमस्थया व्रतस्थया तया देव्या द्वयेऽपि द्वयं पुनर्ग्रहीतुं पुनरानेतुं निक्षेपोऽर्पितमिव निक्षेपत्वेनार्पितं किमु । क्वचित् । 'द्वयीषु' इति प्रामादिकः पाठः । कुत्र द्वये किं द्वयमर्पितमित्याह—तन्वीषु लतासु विलास एव चेष्टितं विलासचेष्टितं हरिणाङ्गनासु विलासदृष्टं चञ्चलावलोकितं च । व्रतस्थायां तस्यां तयोरदर्शनाल्लतादिषु दर्शनाच्चार्पितमिवेत्युत्प्रेक्षा न तु वस्तुतोऽर्पणमस्तीति भावः ।। १३ ।।

व्रत धारण करने वाली पार्वती ने मानो अपनी विलास चेष्टाओं को कोमल लताओं तथा चंचल चितवन को हरिणियों के पास इसलिए धरोहर के रूप में रख दिया कि फिर प्रिय-समागम के समय उन्हे वापस लिया जा सके ।।१३

अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ।। १४ ।।

अन्वयः—सा स्वयम् एव अतन्द्रिता 'सती' वृक्षकान् घटस्तनप्रस्रवणैः व्यवर्धयत् । गुहः अपि प्रथमाप्तजन्मनां येषां पुत्रवात्सल्यं न अपाकरिष्यति ।। १४ ।।

सञ्जी०—अतन्द्रितेति ।। सा देवी स्वयमेवातन्द्रितासञ्जाततन्द्रा सती । तारकादित्वादितच्प्रत्ययः । वृक्षकान्स्वल्पवृक्षान् । 'अल्पे' इत्यल्पार्थे कप्रत्ययः । घटावेव स्तनौ तयोः प्रस्रवणैः प्रसृतपयोभिर्व्यवर्धयत् । गुहः कुमारोऽपि प्रथमाप्तजन्मनां प्रथमलब्धजन्मनाम् । अग्रजातानामित्यर्थः । येषां वृक्षकाणां संबन्धि पुत्रवात्सल्यं सुतप्रेम नापाकरिष्यति । उत्तरत्र कुमारोदयेऽपि न तेषु पुत्रवातसल्यं निवर्तिष्यत इत्यर्थः ।। १४ ।।

पार्वती ने छोटे-छोटे पौधों को लगाकर अपने स्तनों जैसे धड़ों से पय (जल) पिला-पिला (सींच-सींच) कर बड़ा बनाया । इसीलिए इन पहिले पैदा होने वाले पौधों के प्रति पार्वती के वात्सल्य भावको (बाद में पैदा होनेवाले) कुमार स्कन्द भी दूर न कर सके ।। १४ ।।

अरण्यवीजाञ्जलिदानलालितास्तथा च तस्यां हरिणा विशश्वसुः ।
यथा तदीयैर्नयनैः कुतूहलात् पुरः सखीनाममिमीत लोचने ।। १५ ।।

अन्वयः—अरण्यबीजाञ्जलिदानलालिताः हरिणाश्च तस्यां तथा विशश्वसुः, यथा कुतूहलात् तदीयैः नयनैः पुरः सखीनां लोचने अमिमीत ।। १५ ।।

सञ्जी०—अरण्येति ।। अरण्यवीजानां नीवारादीनामञ्जलयस्तेषां दानेन लालिता हरिणाश्च तस्यां देव्यां तथा विशश्वसुर्विस्रम्भं जग्मुः । 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः । यथा कुतूहलादौत्सुक्यात्तदीयैर्हरिणसंबन्धिभिर्नयनैर्नेत्रैः

करणैः। स्वकीये लोचने सखीनां पुरः पुरतः। अनेन तेषां सम्बन्धसहत्वमुक्तम्। अमिमीत। अक्षिपरिमाणतारतम्यज्ञानाय मानं चकारेत्यर्थः। केचित्तु सा पार्वती तदीयैर्नेत्रैः कुतूहलात्पुरोऽग्रे वर्तमानानां सखीनां लोचने अमिमीत व्रतस्थत्वान्नात्मन इत्याहुः। 'माङ्माने' इत्यस्माद्धातोर्लङ्। इयमेव खलु विश्वासस्य पराकाष्ठा यदक्षपीडनेऽपि न क्षुभ्यन्तीति भावः॥ १५॥

जंगली धान के बीजों की अंजुलियों से पाले पोसे गए हरिण उस पार्वती पर इतना विश्वास करते थे कि कभी-कभी उत्सुकतावश पार्वती उनके नेत्रों से अपनी सखियों के नेत्रों को नापा करती थीं (किन्तु ऐसा करने पर भी वे भागते नहीं थे) ॥ १५ ॥

कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीमधीतिनीम्।
दिदृक्षवस्तामृषयोऽभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते॥ १६॥

अन्वयः—कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्तरासङ्गवतीम् अधीतिनीं तां दिदृक्षवः ऋषयः अभ्युपागमन्। धर्मवृद्धेषु वयः न समीक्ष्यते॥ १६॥

सञ्जी०—कृतेति॥ कृताभिषेकां कृतस्नानां हुतजातवेदसं हुताग्निकाम्। कृतहोमामित्यर्थः। त्वचा वल्कलेनोत्तरासङ्गवतीमुत्तरीयवतीं त्वगुत्तरासङ्गवतीम्। अधीतमस्या अस्तीत्यधीतिनीं स्तुतिपाठादिकुर्वतीम्। 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्ययः। तां देवीं दिदृक्षवो द्रष्टुमिच्छव ऋषयो मुनयोऽभ्युपागमन्समुपागताः। न चात्र कनिष्ठसेवादोष इत्याह—धर्मवृद्धेषु वयो न समीक्ष्यते न प्रमाणीक्रियते। सति धर्मज्यैष्ठ्ये वयोज्यैष्ठ्यं न प्रयोजकमित्यर्थः। तथा च मनुः—'न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वा युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥' इति॥ १६॥

स्नान करने के पश्चात् पार्वती अग्नि में हवन करतीं और नूतन वल्कल का वस्त्र धारण करके स्तुतियों आदि का अध्ययन करने बैठ जाती थीं। उन्हें उस रूप में देखने के लिए ऋषिगण भी आते थे, क्योंकि धर्म-परायण तपस्वियों की आयु नहीं देखी जाती है॥ १६॥

विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैरभीष्टप्रसवार्चितातिथि।
नवोटजाभ्यन्तरसम्भृतानलं तपोवनं तच्च बभूव पावनम्॥ १७॥

अन्वयः—विरोधिसत्त्वोज्झितपूर्वमत्सरं द्रुमैः अभीष्टप्रसवार्चितातिथि नवोटजाभ्यन्तरसम्भृतानलं तच्च तपोवनं पावनं बभूव॥ १७॥

सञ्जी०—विरोधीति ॥ विरोधिभिः सत्त्वैर्गोव्याघ्रादिभिरुज्झितपूर्वमत्सरं त्यक्तपूर्ववैरम् । हिंसारहितमित्यर्थः । द्रुमैरभीष्टप्रसवेनेष्टफलेनार्चिताः पूजिता अतिथयो यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । नवानामुटजानां पर्णशालानामभ्यन्तरेषु सम्भृताः सञ्चिता अनला अग्नयो यस्मिंस्तत्तथोक्तं तच्च तपोवनम् । पावयतीति पावनं बभूव । अहिंसातिथिसत्काराग्निपरिचर्याभिर्जगत्पावनं बभूवेत्यर्थः ॥ १७ ॥

पार्वती का वह तपोवन इतना पवित्र बन गया था कि उसमें निवास करनेवाले परस्पर विरोधी जीवों का शत्रुभाव मिट गया था। वहाँ के वृक्ष भी अतिथियों के आने पर उनकी इच्छा के अनुसार फल देकर स्वागत करते थे। उसमें एक नवीन पर्णशाला के भीतर यज्ञ कुंड में अग्नि जलती रहती थी ॥१७॥

यदा फलं पूर्वतपःसमाधिना न तावता लभ्यममंस्त काङ्क्षितम् ।
तदानपेक्ष्य स्वशरीरमार्दवं तपो महत्सा चरितुं प्रचक्रमे ॥ १८ ॥

अन्वयः—सा यदा तावता पूर्वतपःसमाधिना काङ्क्षितं फलं लभ्यं न अमंस्त, तदा स्वशरीरमार्दवम् अनपेक्ष्य महत् तपः चरितुं प्रचक्रमे ॥ १८ ॥

सञ्जी०—यदेति ॥ सा देवी यदा यस्मिन्काले तावता तावत्प्रमाणेन पूर्वतपःसमाधिना पूर्वेणानुष्ठीयमानप्रकारेण तपोनियमेन काङ्क्षितं फलं लभ्यं लब्धुं शक्यं नामंस्त । अशक्यममंस्तेत्यर्थः । तदा तत्काले । अविलम्बेनेत्यर्थः । स्वशरीरस्य मार्दवं मृदुत्वं सौकुमार्यमनपेक्ष्याविगणय्य महद्दुश्चरं तपश्चरितुं साधयितुं प्रचक्रम उपचक्रमे ॥ १८ ॥

जब पार्वती ने देखा कि इस प्रारंभ किए गए तप से इच्छित फल की प्राप्ति होना संभव नहीं है, तब उन्होंने अपने शरीर की कोमलता का ध्यान किए बिना ही कठोर तप करना आरंभ कर दिया ॥ १८ ॥

क्लमं ययौ कन्दुकलीलयापि या तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत ।
ध्रुवं वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितं मृदु प्रकृत्या च ससारमेव च ॥ १९ ॥

अन्वयः—या कन्दुकलीलया अपि क्लमं ययौ, तया मुनीनां चरितं व्यगाह्यत । ध्रुवम् अस्याः वपुः काञ्चनपद्मनिर्मितम्, अत एव प्रकृत्या मृदु च ससारम् एव च ॥ १९ ॥

सञ्जी०—क्लममिति ॥ या देवी कन्दुकलीलया कन्दुकक्रीडयापि क्लमं ययौ ग्लानिं प्राप तया देव्या मुनीनां चरितं तीव्रं तपोव्यगाह्यत प्रविष्टम् । अत्रोत्प्रेक्षते ध्रुवमस्या वपुः काञ्चनपद्मेन सुवर्णकमलेन निर्मितं घटितम् । अत एव प्रकृत्या पद्मस्व-

भावेन मृदु च सुकुमारमपि काञ्चनस्वभावेन ससारं च कठिनमेव । तथा च तदुपादानकत्वाद्देव्या वपुषः सुकुमारस्यापि तीव्रतपः क्षमत्वमित्युत्प्रेक्षार्थः ॥ १९ ॥

जिस पार्वती का शरीर पहिले गेंद खेलने से भी थक जाया करता था, वही पार्वती (अत्यन्त कठोर शरीर वाले) मुनियों के समान कठोर तप करने लगीं । इससे यह प्रतीत होता है कि उनका शरीर निश्चित रूप से स्वर्ण-कमल से बना हुआ था, इसीलिए उसमें कमल जैसी स्वाभाविक कोमलता और स्वर्ण जैसी स्वाभाविक कठोरता दोनों थी ॥ १९ ॥

शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा ।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत ॥ २० ॥

अन्वयः—शुचौ शुचिस्मिता सुमध्यमा ज्वलतां चतुर्णां हविर्भुजां मध्यगता 'सती' नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभां विजित्य अनन्यदृष्टिः सती सवितारम् ऐक्षत ॥ २० ॥

सञ्जी०—शुचाविति ॥ शुचौ ग्रीष्मे शुचिस्मिता विशदमन्दहासा सुमध्यमा पार्वती ज्वलतां दीप्तिमतां चतुर्णां हविर्भुजामग्नीनां मध्यगता सती । नेत्रे प्रतिहन्तीति तां नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभां सावित्रं तेजो विजित्य न विद्यतेऽन्यत्र दृष्टिर्यस्याः सानन्यदृष्टिः सती सवितारं सूर्यमैक्षत ददर्श । 'ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः' इति स्मरणात् । पञ्चाग्निमध्ये तपश्चचारेत्यर्थः । तत्र सवितैव पञ्चमोऽग्निः—'अग्निः सविता सवितैवाग्निः' इति श्रौतलिङ्गात् ॥ २० ॥

अत्यन्त निर्मल हास्य करने वाली तथा क्षीण कटि वाली पार्वती ग्रीष्म काल में चारों ओर जलती हुई अग्नि के बीच बैठकर आँखों में चकाचौंध पैदा करनेवाली सूर्य की किरणों पर विजय प्राप्त करके निर्निमेष नेत्रों से सूर्य की ओर देखती रहती थीं ॥ २० ॥

तथातितप्तं सवितुर्गभस्तिभिर्मुखं तदीयं कमलश्रियं दधौ ।
अपाङ्गयोः केवलमस्य दीर्घयोः शनैः शनैः श्यामिकया कृतं पदम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—सवितुः गभस्तिभिः तथा अतितप्तं तदीयं मुखं कमलश्रियं दधौ, अस्य दीर्घयोः अपाङ्गयोः केवलं शनैः शनैः श्यामिकया पदं कृतम् ॥ २१ ॥

सञ्जी०—तथेति ॥ सवितुः सूर्यस्य गभस्तिभिः किरणैस्तथा पूर्वोक्तप्रकारेणातितप्तं सन्तप्तं तस्या इदं तदीयं मुखं कमलश्रियं कमलस्यशोभां दधौ प्राप । यथा रवितापात्कमलं न म्लायति प्रत्युत विकसति तथा तदीयं मुखमासीदिति भावः । किन्त्वस्य मुखस्य दीर्घयोरपाङ्गयोः केवलं नेत्रान्तयोरेव शनैः शनैर्मन्दंमन्दं श्यामिकया कालिम्ना पदं स्थानं कृतम् । तयोः सौकुमार्यादित्यर्थः ॥ २१ ॥

सूर्य की किरणों से इस प्रकार संतप्त होकर भी पार्वती का मुख कमल के समान विकसित हो उठा। किन्तु केवल उनकी आँखों के दीर्घ किनारों के भाग धीरे-धीरे कुछ-कुछ साँवले से पड़ गए ॥ २१ ॥

अयाचितोपस्थितमम्बु केवलं रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः।
बभूव तस्याः किल पारणाविधिर्न वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः ॥ २२ ॥

अन्वयः—अयाचितोपस्थितं केवलम् अम्बु, रसात्मकस्य उडुपतेः रश्मयश्च, तस्याः पारणाविधिः बभूव किल। वृक्षवृत्तिव्यतिरिक्तसाधनः पारणाविधिः न बभूव ॥ २२ ॥

सञ्जी०—अयाचितेति ॥ अयाचितोप्रस्थितमप्रार्थितोपनतं केवलम्बूदकं रसात्मकस्यामृतमयस्योडूनां नक्षत्राणां पतिश्चन्द्रस्तस्य रश्मयश्च तस्याः पार्वत्याः पारणाविधिरभ्यवहारकर्म बभूव। तावन्मात्रसाधनकोऽभूदित्यर्थः। साध्यसाधनयोरभेदेन व्यपदेशः साधनान्तरव्यावृत्त्यर्थः। किलेति प्रसिद्धौ। वृक्षाणां या वृत्तिर्जीवनोपायस्तद्व्यतिरिक्तं साधनमुपायो यस्य स तथोक्तः पारणाविधिर्न बभूव। वृक्षोऽप्ययाचितोपस्थितेन मेघोदकेनेन्दुकिरणैश्च जीवतीति प्रसिद्धम्। अम्बिकापि तावन्मात्रसाधनकोऽभूदित्यर्थः ॥ २२ ॥

बिना माँगे मिला हुआ केवल वर्षा का जल तथा अमृत मय चंद्रमा की किरणें- यही दो वस्तुएँ उनके व्रत के उपरान्त पारणा (व्रत के बाद का भोजन) थीं। इस प्रकार जिन साधनों से वृक्ष अपना जीवन निर्वाह करते हैं, पार्वती ने भी अपने जीवन के लिए उनके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं स्वीकार किए ॥२२॥

निकामतप्ता विविधेन वह्निना नभश्चरेणेन्धनसम्भृतेन सा।
तपात्यये वारिभिरुक्षिता नवैर्भुवा सहोष्माणममुञ्चदूर्ध्वगम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—विविधेन नभश्चरेण इन्धनसम्भृतेन वह्निना निकामतप्ता सा तपात्यये नवैः वारिभिः उक्षिता सती, भुवा सह ऊर्ध्वगम् ऊष्माणम् अमुञ्चत् ॥ २३ ॥

सञ्जी०—निकामेति ॥ विविधेन पञ्चविधेनेत्यर्थः। नभश्चरेण खेचरेण। आदित्यरूपेणेत्यर्थः। इन्धनसम्भृतेन काष्ठसमिद्धेन वह्निना निकाममत्यन्तं तप्ता साम्बिका तपात्यये ग्रीष्मान्ते। प्रावृषीत्यर्थः। नवैर्वारिभिरुक्षिता सिक्ता सती भुवा पञ्चाग्नितप्तया सहोर्ध्वगमूष्माणं बाष्पममुञ्चत्। 'ग्रीष्मोष्मबाष्पमूष्माणम्' इति यादवः ॥ २३ ॥

विविध प्रकार की (सूर्य तथा चारों ओर जलने वाली) अग्नि के कारण

अत्यन्त तप्त पार्वती का शरीर ग्रीष्म काल बीत जाने पर नए-नए बादलों की वर्षा से सिंचित होकर तपी हुई पृथ्वी के साथ ही ऊपर जानेवाली भाप छोड़ने लगा ।२३।

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥२४॥

अन्वयः—प्रथमोदबिन्दवः तस्याः पक्ष्मसु क्षणं स्थिताः ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः वलीषु स्खलिताः चिरेण नाभिं प्रपेदिरे ॥ २४ ॥

सञ्जी०—स्थिता इति ॥ उदकस्य बिन्दव उदबिन्दवः । 'मन्थौदन—' इत्यादिनोदकशब्दस्योदादेशः । प्रथम उदबिन्दवः । प्रथमविशेषणाद्बिन्दूनां विरलत्वं बहुवचनान्नाति विरलत्वं च गम्यते । तथा च चिरत्वनाभ्यन्तरगमनयोर्निवाहः । तस्याः पार्वत्याः पक्ष्मसु नेत्रलोमसु क्षणं स्थिताः स्थितिं गताः । स्थिता इत्यनेन पक्ष्मणां सान्द्रत्वं क्षणमिति स्नैग्ध्यं च गम्यते । अनन्तरं ताडितो व्यथितोऽधर ओष्ठो यैस्तैस्तथोक्तैः एतेनाधरस्य मार्दवं गम्यते । ततः पयोधरयोः स्तनयोरुत्सेध उपरिभागे निपातेन पतनेन चूर्णिता जर्जरिताः कुचकाठिन्यादिति भावः । तदनु वलीषूदररेखासु स्खलिताः । निम्नोन्नतत्वादिति भावः । इत्थं चिरेण न तु शीघ्रम् । प्रतिबन्धबाहुल्यादिति भावः । नाभिं प्रपेदिरे प्रविष्टा न तु निर्जग्मुः । एतेन नाभेर्गाम्भीर्यं गम्यते । अत्र प्रतिपदमर्थवत्त्वात्परिकरालङ्कारः ॥ २४ ॥

वर्षाकाल की पहली बूँदे पार्वती की पलकों पर क्षणभर टिकी रहीं, फिर वहाँ से गिरकर अधरों से टकराती हुई कठोर स्तनों पर पहुँच कर टुकड़े-टुकड़े होकर छिन्न-भिन्न हो गईं । इसके पश्चात् उदर पर स्थित त्रिवली से होती हुई बहुत देर के बाद नाभि में पहुँच कर विलीन हो गईं ॥ २४ ॥

शिलाशयां तामनिकेतवासिनीं निरन्तरास्वन्तरवातवृष्टिषु ।
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयैर्महातपःसाक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः ॥ २५ ॥

अन्वयः—निरन्तरासु अन्तरवातवृष्टिषु अनिकेतवासिनीं शिलाशयां तां महातपःसाक्ष्ये स्थिताः क्षपाः तडिन्मयैः उन्मिषितैः व्यलोकयन् इव ॥ २५ ॥

सञ्जी०—शिलाशयामिति ॥ निरन्तरासु नीरन्ध्रास्वन्तरे मध्ये वातो यासां तादृश्यो या वृष्टयस्तास्वन्तरवातवृष्टिषु । न निकेतेगृहे वसतीत्यनिकेतवासिनीम् । अनावृतदेशवासिनीमित्यर्थः । शिलायां शेते इति शिलाशयां शिलातलशायिनीम् । 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः । तां पार्वतीं साक्षाद्द्रष्टा साक्षी । साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' इतीनिप्रत्ययः । तस्य कर्म साक्ष्यं महातपसः साक्ष्ये स्थिताः क्षपास्त-

डिन्मयैर्विद्युद्रूपैरुन्मिषितैरवलोकनैर्व्यलोकयन्निव । इवेति चक्षुषा विलोकनमेवोत्प्रेक्ष्यते । साक्ष्यं तु आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च । अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥' इति प्रमाणसिद्धत्वान्नोत्प्रेक्ष्यमित्यनुसन्धेयम् ॥ २५ ॥

तीव्र-आँधी के साथ होने वाली घनघोर वर्षा में भी विना घर के (अर्थात बाहर खुली जगह में) रहने वाली तथा एक शिला पर लेटी हुई पार्वती की कठोर तपस्या के साक्षी रूप में रातें अपनी चमकती हुई बिजली रूपी आँखों से उन्हे देखा करती थीं ॥ २५ ॥

निनाय सात्यन्तहिमोत्किरानिलः सहस्यरात्रीरुदवासतत्परा ।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोः पुरो वियुक्ते मिथुने कृपावती ॥ २६ ॥

अन्वयः—सा अत्यन्तहिमोत्किरानिलाः सहस्यरात्रीः उदवासतत्परा परस्पराक्रन्दिनि पुरः वियुक्ते चक्रवाकयोः मिथुने कृपावती सती निनाय ॥ २६ ॥

सञ्जी०—निनायेति ॥ सा पार्वती । उत्किरन्ति क्षिपन्तीत्युत्किराः । 'इगुपधज्ञा—' इत्यादिना कः । अत्यन्तं हिमानामुत्किरा अनिला यासु ताः सहस्यरात्रीः 'पौषेतैषसहस्यौ द्वौ' इत्यमरः । उदके वासः उदवासः 'पेषंवासवाहनधिषु च' इत्युदादेशः । उदवासे तत्परा आसक्ता तथा परस्परमाक्रन्दिन्यन्योन्यमाक्रोशिनि पुरोऽग्रे वियुक्ते विरहिणि । वियोगं प्राप्त इति यावत् । चक्रवाकी च चक्रवाकश्च चक्रवाकौ तयोश्चक्रवाकयोर्मिथुने द्वन्द्वे कृपावती सती निनाय । दुःखिषु कृपालुत्वं महतां स्वभाव इति चक्रवाकमिथुने कृपा न तु कामितयेति वाच्यानवकाशः । 'अप्सु वासस्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयेत्तपः' इति मनुः ॥ २६ ॥

पौष मास की रातों में जब तेज बर्फीली हवा चलती रहती थी तब भी पार्वती जल में निवास करती हुई परस्पर विरह के कारण रुदन करने वाले चक्रवाक के जोड़ों पर कृपा भाव रखते हुए उन रातों को विता दिया करती थीं ॥२६

मुखेन सा पद्मसुगन्धिना निशि प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना ।
तुषारवृष्टिक्षतपद्मसम्पदां सरोजसन्धानमिवाकरोदपाम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—सा निशि पद्मसुगन्धिना प्रवेपमानाधरपत्रशोभिना मुखेन तुषारवृष्टिक्षतपद्मसम्पदाम् अपां सरोजसन्धानम् अकरोत् इव ॥ २७ ॥

सञ्जी०—मुखेनेति ॥ सा पार्वती निशि रात्रौ पद्मवत्सुगन्धिना सुरभिणा । 'गन्धस्येत्—' इत्यादिनेकारः । प्रवेपमानः कम्पमानोऽधर ओष्ठ एव पत्रं दलं तेन

शोभत इति तथोक्तेन मुखेन तुषारवृष्ट्या तुहिनवर्षेण क्षता नाशिताः पद्मसम्पदो यासां तासामपां सरोजसन्धानं पद्मसङ्घट्टनमकरोदिव। इत्युत्प्रेक्षालङ्कारः। पद्मान्तरं तुहिनेनोपहन्यते तन्मुखपद्मं तु न तथेति व्यतिरेकालङ्कारो व्यज्यत इत्युभयोः सङ्करः ॥ २७ ॥

रात्रि में कमल जैसे सुगंधित तथा काँपते हुए ओठों से सुशोभित अपने सुंदर मुख के कारण पार्वती हिमपात द्वारा नष्ट की गई कमल-सम्पदा वाले तालाब मे कमलो की उपस्थिति का भान सी कराती थीं ॥ २७ ॥

स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥ २८ ॥

अन्वयः—स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता तपसः परा काष्ठा हि। तया पुनः तत् अपि अपाकीर्णम्, अतः प्रियंवदां तां पुराविदः अपर्णा इति च वदन्ति ॥ २८ ॥

सञ्जी०—स्वयमिति ॥ स्वयं विशीर्णानि स्वतश्च्युतानि द्रुमपर्णान्येव वृत्तिर्जीवनं यस्य तस्य भावस्तत्ता तपसः परा काष्ठा परमुत्कर्षो हि। 'काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि' इत्यमरः। तया देव्या पुनस्तत्पर्णवर्तनमप्यपाकृतम्। अतः पर्णापाकरणाद्धेतोः। प्रियं वदतीति प्रियंवदा। 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः। तां पार्वतीं पुराविदः पुराणज्ञास्तपःकरणसमयेऽविद्यमानं पर्णभक्षणं यस्याः सापर्णेति वदन्ति। नामान्तरसमुच्चयार्थश्चकारः। अत्र 'अपर्णाम्' इत्यपपाठः। इतिशब्दाभिहिते द्वितीयानुपपत्तेः। यथाह वामनः—'निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः परिगणनस्य प्रायिकत्वात्' इति। स्वयं प्रियंवदाः परेषामपि प्रियवादभाजनानि भवन्तीति भावः ॥ २८ ॥

पेड़ों पर से अपने आप गिरे हुए पत्तों को खाकर जीवन-निर्वाह करना तपस्या की चरम सीमा कही जाती है; किन्तु पार्वती ने उन्हें भी खाना छोड़ दिया। इसीलिए पुराविद लोग उस मधुरभाषिणी पार्वती को बाद में अर्पणा नाम से पुकारने लगे ॥ २८ ॥

मृणालिकापेलवमेवमादिभिर्व्रतैः स्वमङ्गं ग्लपयन्त्यहर्निशम्।
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥ २९ ॥

अन्वयः—मृणालिकापेलवं स्वम् अङ्गम् एवमादिभिः व्रतैः अहर्निशं ग्लपयन्ती सा कठिनैः शरीरैः उपार्जितं तपस्विनां तपः दूरम् अधश्चकार ॥ २९ ॥

सञ्जी०—मृणालिकेति ॥ मृणालिकापेलवं पद्मिनीकन्दकोमलं स्वं स्वकीय-

मङ्गं शरीरमेवमुक्तप्रकारतोयाग्निमध्यवासव्रतमादिर्येषां तैर्व्रतैरहश्च निशा चाहर्निशम् । समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । ग्लपयन्ती कर्शयन्ती सा पार्वती कठिनैः क्लेशसहैरित्यर्थः । शरीरैरुपार्जितं सम्पादितं तपस्विनामृषीणां तपो दूरमत्यन्तमधश्चकार तिरश्चकार । अतिशिश्य इत्यर्थः । तपस्विभिरप्येवं तपः कर्तुं न शक्यत इति तात्पर्यार्थः ॥ २९ ॥

इस प्रकार उपर्युक्त व्रतों द्वारा कमलिनी के समान कोमल अपने शरीर को रात दिन सुखा कर पार्वती ने कठोर शरीर वाले तपस्वियों के तप को भी नीचा दिखा दिया ॥ २९ ॥

अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ॥ ३० ॥

अन्वयः—अथ अजिनाषाढधरः प्रगल्भवाक् ब्रह्ममयेन तेजसा ज्वलन् इव कश्चित् जटिलः शरीरबद्धः प्रथमाऽऽश्रमः यथा तपोवनं विवेश ॥ ३० ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथानन्तरमजिनं कृष्णमृगत्वक् । आषाढः प्रयोजनमस्येत्याषाढः पालाशदण्डः । 'पालाशो दण्ड आषाढः' इत्यमरः । 'विशाखाषाढादणमन्थदण्डयोः' इत्यण्प्रत्ययः । तयोर्धरस्तथोक्तः प्रगल्भवाक्प्रौढवचनो ब्रह्ममयेन वैदिकेन तेजसा । ब्रह्मवर्चसेनेत्यर्थः । ज्वलन्निव स्थितः । इवशब्दो निर्धारणार्थः । कश्चिदनिर्दिष्टो जटिलो जटावान् । ब्रह्मचारीति शेषः । पिच्छादित्वादिलच्प्रत्ययः । शरीरबद्धो बद्धशरीरः । शरीरवानित्यर्थः । वाहिताग्न्यादिषु पाठात्साधुः । प्रथमाश्रमो यथा ब्रह्मचर्याश्रम इव । यथाशब्द इवार्थे । तपोवनम् । देव्या इति शेषः । विवेश प्रविष्टवान् ॥ ३० ॥

एक दिन कृष्ण मृगचर्म एवं पलाश-दण्ड धारण किए हुए ब्रह्म तेज से प्रज्वलित तथा अग्नि के समान तेजस्वी एवं जटाधारी कोई तरुण तपस्वी पार्वती के तपोवन में आया । उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो ब्रह्मचर्याश्रम स्वयं शरीर धारण करके आ गया हो ॥ ३० ॥

तमातिथेयी बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय पार्वती ।
भवन्ति साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेष्वतिगौरवाः क्रियाः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—आतिथेयी पार्वती तं बहुमानपूर्वया सपर्यया प्रत्युदियाय । साम्येऽपि निविष्टचेतसां वपुर्विशेषेषु अतिगौरवाः क्रियाः भवन्ति ॥ ३१ ॥

सञ्जी०—तमिति ॥ अतिथिषु साध्व्यातिथेयी । 'पथ्यतिथि—' इत्यादिना

ढञ्प्रत्ययः । 'टिड्ढाणञ्'—इत्यादिना ङीप् । पार्वती तं ब्रह्मचारिणं बहुमानपूर्वया । बहुमानः पूर्वो यस्यास्तया । गौरवपूर्वयेत्यर्थः । सपर्ययार्चया । 'सपर्यार्चार्हणाः समाः' इत्यमरः । प्रत्युदियाय प्रत्युज्जगाम । कथं समानेऽपि तस्यास्तादृशी प्रतिपत्तिरत आह—साम्येसत्यपि निविष्टचेतसां स्थिरचित्तानां वपुर्विशेषेषु व्यक्तिविशेष्वतिशयितं गौरवं यासु ता अतिगौरवा अतिगौरवसहिताः क्रियाश्चेष्टा भवन्ति । प्रवर्तन्त इत्यर्थः । साधवो न साम्याभिनिवेशिन इति भावः ॥ ३१ ॥

अतिथि-सत्कार में प्रवीण पार्वती ने बड़े आदर एवं अत्यंत श्रद्धा के साथ उस तपस्वी का आगे बढ़ कर स्वागत किया । जो लोग अपने मन को भली-भाँति संयमित कर लेते हैं वे अपने समान वय वाले सत्पुरुषों से मिलते समय भी अत्यन्त आदर का व्यवहार करते हैं ॥ ३१ ॥

विधिप्रयुक्तां परिगृह्य सत्क्रियां परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम् ।
उमां स पश्यन्नृजुनैव चक्षुषा प्रचक्रमे वक्तुमनुज्झितक्रमः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—सः विधिप्रयुक्तां सत्क्रियां परिगृह्य क्षणं परिश्रमं च विनीय नाम, अथ उमाम् ऋजुना एव चक्षुषा पश्यन् अनुज्झितक्रमः 'सन्' वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—विधीति ॥ स ब्रह्मचारी विधिना प्रयुक्तामनुष्ठितां सत्क्रियां पूजां परिगृह्य स्वीकृत्य क्षणं परिश्रमं विश्रामं च विनीय नाम । नामेत्यपरमार्थे । अथोमामृजुनैव विलासरहितेनैव चक्षुषा पश्यन्ननुज्झितक्रमोऽत्यक्तोचितपरिपाटीकः सन् वक्तुं प्रचक्रमे प्रारेभे ॥ ३२ ॥

शास्त्रोक्त विधि से की गई पार्वती की पूजा स्वीकार करते हुए ब्रह्मचारी ने कुछ विश्राम कर लेने के बाद सरल दृष्टि से पार्वती को देखते हुए विना किसी प्रकार की भूमिका बाँधे ही इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ॥ ३२ ॥

अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशं जलान्यपि स्नानविधिक्षमाणि ते ।
अपि स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—क्रियार्थं समित्कुशं सुलभम् अपि ? जलानि ते स्नानविधिक्षमाणि अपि ? स्वशक्त्या तपसि प्रवर्तसे अपि ? खलु शरीम् आद्यं धर्मसाधनम् 'अस्ति' ॥ ३३ ॥

सञ्जी०—अपीति ॥ अत्रापिशब्दः प्रश्ने । क्रियार्थं होमादिकर्मानुष्ठानार्थम् । समिधश्च कुशाश्च समित्कुशम् । 'जातिरप्राणिनाम्' इति द्वन्द्वैकवद्भावः । सुलभमपि सुलभं कच्चित् । जलानि ते तव स्नानविधिक्षमाणि स्नानक्रियायोग्यान्यपि

कच्चित् । किञ्च स्वशक्त्या निजसामर्थ्यानुसारेण तपसि प्रवर्तसेऽपि । देहमपीडयित्वा तपश्चरसि कच्चिदित्यर्थः । युक्तं च नामैतत् । खलु यस्माच्छरीरमाद्यं धर्मसाधनम् । धर्मस्तु कायेन वाचा बुद्ध्या धनादिना च बहुभिः साध्यते तेषु च वपुरेव मुख्यं साधनम् । सति देहे धर्मार्थकाममोक्षलक्षणाश्चतुर्वर्गाः साध्यन्ते । अतएव 'सततमात्मानमेव गोपायीत' इति श्रुतिः ॥ ३३ ॥

आपको इस तपोवन में यज्ञ आदि के लिए समिधा और कुश सरलता से मिल तो जाते हैं न ? यहाँ का जल आपके स्नान के योग्य है न ? आप अपने शरीर की शक्ति के अनुसार ही तपस्या कर रही हैं न ? क्योंकि शरीर ही समस्त धर्मों की साधना का सर्वप्रथम साधन है ॥ ३३ ॥

अपि त्वदावर्जितवारिसम्भृतं प्रवालमासामनुबन्धि वीरुधाम् ।
चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तुलां यदारोहति दन्तवाससा ॥ ३४ ॥

अन्वयः—त्वदावर्जितवारिसम्भृतम् आसां वीरुधां प्रवालम् अनुबन्धि अपि ? यत् चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते दन्तवाससा तुलाम् आरोहति ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—अपीति ॥ त्वयावर्जितेन सिक्तेन वारिणा सम्भृतं जनितमासां वीरुधां लतानां प्रवालं पल्लवमनुबन्ध्यप्यनुस्यूतं किम् । यत्प्रवालं चिरोज्झितश्चिरकालत्यक्तोऽलक्तको लाक्षारागो येन तत्तथापि पाटलम् । स्वभावरक्तमित्यर्थः । तेन चिरोज्झितालक्तकपाटलेन ते तव दन्तवाससाधरेण । 'ओष्ठाधरौ तु रदनच्छदौ दशनवाससी' इत्यमरः । तुलां साम्यमारोहति । गच्छतीत्यर्थः । अत्र तुलाशब्दस्य सादृश्यवाचित्वात्तद्योगेऽपि 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्याम्—' इति न तृतीयाप्रतिषेधस्तत्र सूत्रे सदृशवाचिन एव ग्रहणादिति ॥ ३४ ॥

आप जिन लताओं को पानी दे दे कर सींचती रहती हैं उनमें चिर काल से रंग न लगाए जाने पर भी स्वभावत: अरुण रंग वाले आप के अधरों से स्पर्धा करने वाली लाल लाल नवीन कोपलें फूट आई हैं न ?

अपि प्रसन्नं हरिणेषु ते मनः करस्थदर्भप्रणयापहारिषु ।
य उत्पलाक्षि ! प्रचलैर्विलोचनैस्तवाक्षिसादृश्यमिव प्रयुञ्जते ॥ ३५ ॥

अन्वयः—करस्थदर्भप्रणायापहारिषु हरिणेषु ते मनः प्रसन्नम् अपि ? हे उत्पलाक्षि ! ये प्रचलैः विलोचनैः तव अक्षिसादृश्यं प्रयुञ्जते ॥ ३५ ॥

सञ्जी०—अपीति ॥ करस्थान् दर्भान्प्रणयेन स्नेहेनापहरन्तीति ते तथोक्तेषु । सापराधेष्विति भावः । 'करस्थदर्भप्रणयापराधिषु' इति पाठे दर्भाणां प्रणयेन

प्रार्थनयापराधिषु हरिणेषु विषये ते मनः प्रसन्नमपि न क्षुभितं किम् । सापराधेष्वपि न कोपितव्यं तपस्विभिरिति भावः । हे उत्पलाक्षि ! ये हरिणाः प्रचलैश्चञ्चलैर्विलोचनैर्नेत्रैस्तवाक्षिसादृश्यं प्रयुञ्जत इवाभिनयन्तीव । प्रसन्नत्वान्मृगनेत्राणि त्वन्नयनैः साम्यमुपयान्तीति भावः । 'उत्पलक्षेपचलैः' इति पाठान्तर उत्पलकम्पचलैः । भावानयने द्रव्यानयनमिति न्यायेन क्षिप्यमाणोत्पलचलैरित्यर्थः ॥३५॥

हे कमलनयने ! तुम्हारे हाथ से जबर्दस्ती छीनकर कुशों को खानेवाले इन हरिणों के विषय में तुम्हारा चित्त प्रसन्न तो रहता है न ? जिनकी चञ्चल दृष्टि तुम्हारी ही दृष्टि का अनुकरण करती है ॥ ३५ ॥

यदुच्यते पार्वति ! पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।
तथा हि ते शीलमुदारदर्शने ! तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे पार्वति ! 'रूपं पापवृत्तये न' इति यत् उच्यते, तत् वचः अव्यभिचारि । तथाहि हे उदारदर्शने ! ते शीलं तपस्विनाम् अपि उपदेशतां गतम् ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—यदिति ॥ हे पार्वती ! रूपं सौम्याकृतिः पापवृत्तये पापाचरणाय न भवतीति यदुच्यते । लोकैरिति शेषः । तद्वचो न व्यभिचरति न स्खलतीत्यव्यभिचारि सत्यम् । 'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः' 'न सुरूपाः पापसमाचारा भवन्ति' इत्यादयो लोकवादा न विसम्वादमासादयन्तीत्यर्थः । किमिति ज्ञायते–तथाहि । हे उदारदर्शने ! आयताक्षि ! सुरूपे इत्यर्थः । अथवोन्नतज्ञाने । विवेकवतीत्यर्थः । ते तव शीलं सद्वृत्तम् 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः । तपस्विनामप्युपादिश्यतेऽनेनेत्युपदेशः प्रवर्तकं प्रमाणं तत्तामुपदेशतां गतं प्राप्तम् । मुनयोऽपि त्वां वीक्ष्य स्ववृत्ते प्रवर्तन्त इति भावः ॥ ३६ ॥

हे पार्वति ! यह जो कहा गया है कि सुन्दर आकृति सदाचार से विच्छिन्न कभी नहीं होती है, यह बात बिलकुल ठीक है । हे सुशोभने ! तुम्हारा सद्व्यवहार मुनियों को भी शिक्षा देनेवाला है । अतः यह निश्चित है कि रूप शील के अनुसार ही होता है ॥ ३६ ॥

विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिस्तथा न गाङ्गैः सलिलैर्दिवश्च्युतैः ।
यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलैर्महीधरः पावित एष सान्वयः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—एष महीधरः विकीर्णसप्तर्षिबलिप्रहासिभिः दिवः च्युतैः गाङ्गैः सलिलैः तथा न पावितः, अनाविलैः त्वदीयैः चरितैः यथा सान्वयः पावितः ॥३७॥

सञ्जी०—विकीर्णेति ।। एष महीधरो हिमवान् । सप्त च ते ऋषयश्च सप्तर्षयः । 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति समासः । विकीर्णैः पर्यस्तैः सप्तर्षीणां सम्बन्धिभिर्बलिभिः पुष्पोपहारैः प्रहसन्ति ये तथोक्तैर्दिवोऽन्तरिक्षाच्च्युतैर्गाङ्गैः सलिलैस्तथा न पावितः । अनाविलैरकलुषैस्त्वदीयैश्चरितैर्यथा सान्वयः सपुत्रपौत्रः पावितः पवित्रीकृतः ।।३७।।

यह हिमालय सप्तर्षियों द्वारा पूजा में बिखेरे गए पुष्पों से, तथा स्वर्ग से गिरे हुए गङ्गाजल से भी उतना पवित्र नहीं हुआ जितना कि तुम्हारे इस निष्कलंक आचरण के द्वारा सपरिवार पवित्र बना दिया गया है ।। ३७ ।।

अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि ।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते ।। ३८ ।।

अन्वयः—हे भाविनि ! अनेन धर्मः सविशेषम् अद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति । यत् मनोनिर्विषयार्थकामया त्वया एकः धर्म एव प्रतिगृह्य सेव्यते ।।३८।।

सञ्जी०—अनेनेति ।। हे भाविनि ! प्रशस्ताभिप्राये ! अनेन कारणेन धर्मः सविशेषं सातिशयमद्य मे । त्रयाणां धर्मकामार्थानां वर्गस्त्रिवर्गः । 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः' इत्यमरः । तत्र सारः श्रेष्ठः प्रतिभाति । यद्यस्मात्कारणान्मनसो निर्विषयावर्थकामौ यस्यास्तया त्वयैको धर्म एव प्रतिगृह्य स्वीकृत्य सेव्यते । यत्त्वयार्थकामौ विहाय धर्म एवावलम्बितः, अतः सर्वेषां नः स श्रेयानिति प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।। ३८ ।।

हे सुन्दरी ! धर्म, अर्थ और काम-इन तीनो पुरुषार्थों में से आज केवल धर्म ही मुझे सबसे अधिक श्रेष्ठ प्रतीत होने लगा है क्यों कि तुम्हारी जैसी तपस्विनी भी (पितृगृह में ही सुलभ) अर्थ और काम से मन को हटाकर केवल धर्म की ही साधना में लगी हुई है ।। ३८ ।।

प्रयुक्तसत्कारविशेषमात्मना न मां परं सम्प्रतिपत्तुमर्हसि ।
यतः सतां सन्नतगात्रि ! सङ्गतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते ।। ३९ ।।

अन्वयः—आत्मना प्रयुक्तसत्कारविशेषं मां परं सम्प्रतिपत्तुं न अर्हसि, हे सन्नतगात्रि ! यतः मनीषिभिः सतां सङ्गतं साप्तपदीनम् उच्यते ।। ३९ ।।

सञ्जी०—प्रयुक्तेति ।। आत्मना त्वया प्रयुक्तः कृतः सत्कारविशेषः पूजातिशयो यस्य तं मां परमन्यं सम्प्रतिपत्तुमवगन्तुं नार्हसि । हे सन्नतगात्रि सन्नताङ्गि ! 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यः' इति वक्तव्यान्ङीप् । यतः कारणान्मनस ईषिभिर्मनीषिभिर्विद्वद्भिः । शकन्ध्वादित्वात्साधुः । सतां सङ्गतं सख्यं सप्तभिः पदैरापद्यत इति

साप्तपदीनं सप्तपदोच्चारणसाध्यमुच्यते । तच्चावयोस्त्वत्कृतसत्कारप्रयोगादेव सिद्धमित्यर्थः । 'साप्तपदीनं सख्यम्' इति निपातनात्साधु ॥ ३९ ॥

तुमने मेरा बड़ा स्वागत-सत्कार किया है इस लिए अब तुम मुझे अपने से पराया मत समझो । क्यों कि हे सुन्दरी ! मनीषियों का ऐसा कथन है कि सज्जनों की मैत्री केवल सात पदों (शब्दों) के परस्पर व्यवहार से ही हो जाती है ॥ ३९ ॥

अतोऽत्र किञ्चिद्भवतीं बहुक्षमां द्विजातिभावादुपपन्नचापलः ।
अयं जनः प्रष्टुमनास्तपोधने ! न चेद्रहस्यं प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥

अन्वयः—हे तपोधने ! अतः अत्र बहुक्षमां भवतीं द्विजातिभावात् उपपन्नचापलः अयं जनः किञ्चित् प्रष्टुमनाः अस्ति, रहस्यं न चेत् प्रतिवक्तुम् अर्हसि ॥ ४० ॥

सञ्जी०—अत इति ॥ हे तपोधने, अतः सख्याद्धेतोरत्र बहुक्षमाम् । बहूक्तिसहाम् यद्वा क्षमावतीम् । भवतीं त्वां द्विजातिभावाद्ब्राह्मणत्वादुपपन्नचापलः सुलभधार्ष्ट्योऽयं जनः । स्वयमित्यर्थः । किञ्चित्प्रष्टुं मनो यस्य स किञ्चित्प्रष्टुमनाः प्रष्टुकामः 'तु काममनसोरपि' इति मकारलोपः । रहसि भवं रहस्यं गोप्यं न चेत्प्रतिवक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥

अतः ब्राह्मण होने के कारण अपनी स्वाभाविक चंचलता के वशीभूत होकर मैं तुम जैसी अत्यंत क्षमाशील तपस्विनी से कुछ पूछना चाहता हूँ । यदि कोई छिपाने वाली बात न हो तो मेरे प्रश्न का उत्तर अवश्य देने की कृपा करो ॥४०॥

कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः ।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपःफलं स्यात्किमतः परं वद ॥ ४१ ॥

अन्वयः—प्रथमस्य वेधसः कुले प्रसूतिः, वपुः त्रिलोकसौन्दर्यम् इव उदितम्, ऐश्वर्यसुखम् अमृग्यम्, वयः नवम्, अतः परं किं तपःफलं स्यात् ? वद ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—कुल इति ॥ प्रथमस्य वेधसो हिरण्यगर्भस्य कुलेऽन्ववाये प्रसूतिरुत्पत्तिः । 'यज्ञार्थं हि मया सृष्टो हिमवानचलेश्वरः' इति ब्रह्मपुराणवचनात् । वपुः शरीरं त्रयाणां लोकानां सौन्दर्यमिवोदितमेकत्र समाहृतम् । ऐश्वर्यसुखं संपत्सुखममृग्यमन्वेषणीयं न भवति । किन्तु सिद्धमेवेत्यर्थः । वयो नवम् । यौवनमित्यर्थः । अतः परमतोऽन्यत्किं तपः फलं स्याद्वद । अस्ति चेदिति शेषः । न किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

सबसे पहिले तुम्हारा जन्म ही ब्रह्मा के (हिरण्यगर्भ नामक प्रजापति) कुल में हुआ है दूसरे तुम्हारा शरीर (पंचभूतों से निर्मित न हो कर) मानो तीनों लोकों के सौन्दर्य की समष्टि के ही रूप में अवतरित हुआ है, तीसरे तुम्हारे ऐश्वर्य-सुख के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है, चौथे अभी-अभी तुम्हारी यौवनावस्था प्रारंभ ही हुई है ! फिर यह सब होते हुए भी इससे अधिक और कौन सा फल चाहिए, जिसके लिए ऐसी कठोर तपस्या कर रही हो ।। ४१ ।।

भवत्यनिष्टादपि नाम दु:सहान्मनस्विनीनां प्रतिपत्तिरीदृशी ।
विचारमार्गप्रहितेन चेतसा न दृश्यते तच्च कृशोदरि ! त्वयि ।। ४२ ।।

अन्वयः—दु:सहात् अनिष्टात् अपि मनस्विनीनाम् ईदृशी प्रतिपत्तिः भवति नाम । हे कृशोदरि ! विचारमार्गप्रहितेन चेतसा तत् च त्वयि न दृश्यते ।। ४२ ।।

सञ्जी०—भवतीति ।। दु:सहात्सोढुमशक्यादनिष्टाद्भर्त्रादिकृतादपि मनस्विनीनां धीरस्त्रीणामीदृशी तपश्चरणलक्षणा प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिः । 'प्रतिपत्तिस्तु गौरवे । प्राप्तौ प्रवृत्तौ प्रागल्भ्ये' इति केशवः । भवति नाम । नामेति सम्भावनायाम् । विचारमार्गे प्रहितेन चेतसा चित्तेन तदनिष्टं च । हे कृशोदरि ! त्वयि न दृश्यते । विचार्यमाणे तदपि नास्त्यसम्भावितत्वादित्यर्थः ।। ४२ ।।

कभी-कभी किसी असह्य अनिष्ट की आशंका से भी प्राय: मनस्विनी स्त्रियाँ इस प्रकार के कठोर व्रत की साधना करने लगती है, किंतु हे कृशोदरि ! जब मैं इस विचार से सोचने लगता हूँ तव मुझे तुझमें किसी प्रकार के भावी अनिष्ट की संभावना नहीं प्रतीत होती ।। ४२ ।।

अलभ्यशोकाऽभिभवेयमाकृतिर्विमानना सुभ्रु ! कुतः पितुर्गृहे ।
पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं प्रसारयेत्पन्नगरत्नसूचये ।। ४३ ।।

अन्वयः—हे सुभ्रु ! इयम् आकृतिः अलभ्यशोकाऽभिभवा । पितुः गृहे विमानना कुतः ? पराभिमर्शः तव न अस्ति । पन्नगरत्नसूचये करं कः प्रसारयेत् ? ।। ४३ ।।

सञ्जी०—अलभ्येति ।। हे सुभ्रु ! इयं त्वदीयाकृतिर्मूर्तिरलभ्योलब्धुमनर्हः शोकेन भर्त्राद्यवमानजेन दु:खेनाभिभवस्तिरस्कारो यस्याः सा तथोक्ता । दृश्यत इति शेषः । असम्भावितश्चायमर्थ इत्याह—पितृगृहे विमाननावमाननः कुतः । न सम्भाव्यत एवेत्यर्थः । 'सुभ्रुः कुतस्तातगृहेऽवमाननम्' इति पाठान्तरकरणं तु साध्यसमेवोक्तोपपत्तिसम्भवात् । अन्यत्रापि 'सुभ्रु त्वं कुपितेत्यपास्तमशनं त्यक्ता

कथा योषिताम्' इत्यादिप्रयोगदर्शनाद्वंशस्थवृत्ते पादादौ जगणभङ्गप्रसङ्गाच्चेत्यलं गोष्ठीभिः। न चान्यस्माद्भावीत्याह—पराभिमर्शः परधर्षणं तु तव नास्ति। पन्नगरत्नसूचये फणिशिरोमणिशलाकां ग्रहीतुमित्यर्थः। 'क्रियार्थोपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इति चतुर्थी। करं हस्तं कः प्रसारयेत् 'सुभ्रु' इत्यत्र भ्रूशब्दस्योवङ्स्थानीयत्वात् 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति नदीसंज्ञाप्रतिषेधात् 'अम्वार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वं नास्ति। तेन ह्रस्वः प्रामादिक इति केचित्। अन्ये तु 'अप्राणिजातेश्चारज्वादीनाम्' इत्यत्र 'अलाबूः' 'कर्कन्धूः' इत्युकारान्तस्याप्यूङ्प्रत्ययमुदाजहार भाष्यकारः। एतस्मादेव ज्ञापकात्क्वचिदूकारान्तस्याप्यूङन्तत्वान्नदीत्वे ह्रस्वत्वमित्याहुः। अतएवाह वामनः—'ऊकारादप्यूङ्प्रकृतेः' इति ॥ ४३ ॥

हे सुन्दर भौंहों वाली, तुम्हारी यह मनोहर आकृति अपमानजन्य शोक तो पाही नहीं सकती अर्थात् तुम्हारे इस सौन्दर्य का कोई निरादर कर ही नहीं सकता और पिता के घर में तो तुम्हारा अपमान हो ही कैसे सकता है! इसके अतिरिक्त तुमसे कोई छेड़-छाड़ भी तो नहीं कर सकता! भला कौन ऐसा होगा जो सर्प के फन से मणि निकालने का दुस्साहस करे ॥ ४३ ॥

किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥४४॥

अन्वयः—(हे गौरि ?) किमिति यौवने त्वया आभरणानि अपास्य वार्धकशोभि वल्कलं धृतं, प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी अरुणाय कल्पते यदि वद ?

सञ्जी०—किमितीति ॥ हे गौरि! किमिति केन हेतुना यौवने त्वयाभरणान्यपास्य विहाय। वृद्धस्य भावो वार्धकम्। मनोज्ञादित्वाद्वुञ्प्रत्ययः। 'वार्धकं वृद्धसङ्घाते वृद्धत्वे वृद्धकर्मणि' इति विश्वः। तत्र शोभत इति वार्धकशोभि वल्कलं धृतम्। प्रदोषे रजनीमुखे स्फुटाः। प्रकटाश्चन्द्रस्तारकाश्च यस्याः सा स्फुटचन्द्रतारका विभावरी रात्रिररुणाय सूर्याय कल्पते यद्यरुणं गन्तुं कल्पते किम्। वद ब्रूहि। 'क्रियार्थोपपदस्य—' इत्यादिना चतुर्थी। दीप्यमानशशाङ्कतारके प्रदोषे यद्यरुण उदेति ततो विभूषणापहारेण तव वल्कलधारणं संघटत इति भावः ॥४४॥

बताओ तो सही इसी नवयौवन में ही तुमने आभूषणों का त्याग करके बुढ़ापे के योग्य यह वल्कल क्यों धारण कर लिया है? भला चन्द्रमा और तारों से भरी हुई रात्रि सायंकाल ही कहीं अरुणोदय की कामना करती है अर्थात् चन्द्र-तारों से सुशोभित रात प्रातः कालीन अरुणिमा धारण करने के लिए नहीं होती ॥ ४४ ॥

दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः ।
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—दिवं प्रार्थयसे यदि, तर्हि श्रमः वृथा, तव पितुः प्रदेशाः देवभूमयः । अथ उपयन्तारं प्रार्थयसे, (तर्हि) समाधिना अलं, रत्नं न अन्विष्यति, हि तत् मृग्यते ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—दिवमिति ।। दिवं स्वर्गं प्रार्थयसे कामयसे यदि तर्हि श्रमस्तपश्चरणप्रयासो वृथा निष्फलः । यदि स्वर्गार्थं तप्यसे ततः श्रमं मा कार्षीः । कुतः । तव पितुर्हिमवतः प्रदेशा देवभूमयः स्वर्गपदार्थाः । तत्रत्या इत्यर्थः । अथोपयान्तरं वरं प्रार्थयसे तर्हि समाधिना तपसालम् । न कर्तव्यमित्यर्थः । निषेध्यस्य निषेधं प्रतिकरणत्वात्तृतीया । तथाहि । रत्नं कर्तृ । नान्विष्यति न मृगयते । ग्रहीतारमिति शेषः । किन्तु तद्रत्नं मृग्यते गृहीतृभिरितिशेषः । न हि वरार्थ त्वया वर्तितव्यं किन्तु तेनैव त्वदर्थमिति भावः ॥ ४५ ॥

यति तुम स्वर्ग की कामना रखती हो तो फिर उसके लिए तुम्हारा यह तप का प्रयत्न व्यर्थ ही है क्यों कि तुम्हारे पिता का यह सारा प्रदेश ही देवताओं की निवास भूमि है । और यदि योग्य पति की कामना से तप करती हो तो भी वह व्यर्थ ही है क्यों कि रत्न स्वयं किसी को (ग्रहण करने वाले को) नहीं ढूंढ़ता बल्कि लोग ही रत्न को ढूंढते हैं ॥ ४५ ॥

निवेदितं निश्वसितेन सोष्मणा मनस्तु मे संशयमेव गाहते ।
न दृश्यते प्रार्थयितव्य एव ते भविष्यति प्रार्थितदुर्लभः कथम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—सोष्मणा निश्वसितेन निवेदितं, मनस्तु मे संशयम् एव गाहते, ते प्रार्थयितव्यः एव न दृश्यते प्रार्थितदुर्लभः कथं भविष्यति ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—निवेदितमिति ।। सोष्मणा निश्वसितेन निश्वासवायुना निवेदितम् । चिन्तानुभावेनोष्णोच्छ्वासेन ते वरार्थित्वं सूचितमित्यर्थः । तर्हि किं प्रश्नव्यसनेनेत्याह—मनस्तु तथापि मे संशयमेव गाहते प्राप्नोति । कुतः । ते तव । 'कृत्यानां कर्तरि वा' इति षष्ठी । प्रार्थयितव्यः प्रार्थयितुमर्ह एव न दृश्यते । प्रार्थितदुर्लभः प्रार्थितो यो दुर्लभः स कथं भविष्यति । नास्त्येवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

तुम्हारी इन गरम गरम लंबी साँसों ने मुझे तुम्हारे मन की कामना बता दी हैं किन्तु मेरा मन संशय में पड़ गया है । क्यों कि जब ऐसा कोई है ही नहीं कि तुम उससे पति बनने की प्रार्थना करो तो फिर ऐसा कौन है जो तुम्हारी प्रार्थना पर तुम्हें न मिले ॥ ४६ ॥

अहो ! स्थिरः कोऽपि तवेप्सितो युवा चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते ।
उपेक्षते यः श्लथलम्बिनीर्जटाः कपोलदेशे कलमाग्रपिङ्गलाः ।।४७।।

अन्वयः—अहो ! तव ईप्सितः युवा कोऽपि स्थिरः । यः चिराय कर्णोत्पलशून्यतां गते कपोलदेशे श्लथलम्बिनीः कलमाग्रपिङ्गलाः जटाः उपेक्षते ।। ४७ ।।

सञ्जी०—अहो इति ।। अहो चित्रम् । तवेप्सित आप्तुमिष्टो युवा कोऽपि स्थिरः कठिनः । वर्तत इति शेषः । कुतः । यो युवा चिराय चिरात्प्रभृति कर्णोत्पलशून्यतां गते प्राप्ते कपोलदेशे गण्डस्थले श्लथाः शिथिलबन्धना अत एव लम्बिन्यस्ताः श्लथलम्बिनीः कलमाः शालिविशेषास्तेषामग्राणि तद्वत्पिङ्गला जटा उपेक्षते । यस्त्वामीदृशीं दृष्ट्वा न व्यथते स नूनं वज्रहृदय इत्यर्थः ।। ४७ ।।

आश्चर्य की बात है कि तुम जिसे चाहती हो वह युवक कोई बहुत ही कठोर हृदय है, जो बहुत दिनों से कर्णभूषण से विहीन तुम्हारे कानों तथा कपोलों पर पके हुए धान की बालियों जैसी लटकी हुई पीली जटाओं की भी उपेक्षा कर रहा है ।। ४७ ।।

मुनिव्रतैस्त्वामतिमात्रकर्शितां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदाम् ।
शशाङ्कलेखामिव पश्यतो दिवा सचेतसः कस्य मनो न दूयते ।। ४८ ।।

अन्वयः—मुनिव्रतैः अतिमात्रकर्शितां दिवाकराप्लुष्टविभूषणास्पदां दिवा शशाङ्कलेखाम् इव त्वां पश्यतः कस्य मनः न दूयते ।। ४८ ।।

सञ्जी०—मुनिव्रतैरिति ।। मुनिव्रतैश्चान्द्रायणादिभिरतिमात्रमत्यन्तं कर्शितां कृशीकृतां दिवाकरेण सूर्येणाप्लुष्टानि दग्धानि वातातपसंस्पर्शान्मृदुत्वाच्च श्यामीकृतानि विभूषणास्पदानि भूषणस्थानानि यस्यास्तां तथोक्ताम् । अत एव दिवाहनि शशाङ्करेखामिव स्थितां त्वां पश्यतः सचेतसो जीवतः कस्य पुंसो मनो न दूयते न परितप्यते । अपि तु सर्वस्यैवेत्यर्थः ।। ४८ ।।

मुनियों की तरह कठोर व्रत करते-करते तुम अत्यंत ही क्षीणकाय हो गई हो तथा तुम्हारा आभूषण योग्य शरीर शीत, धूप एवं वायु के कारण झुलस सा उठा है । इस प्रकार दिन में चद्रकला जैसी तुम्हारी ऐसी दयनीय दशा देख कर किस सहृदय का मन दुखी न हो उठेगा ।। ४८ ।। ?

अवैमि सौभाग्यमदेन वञ्चितं तव प्रियं यश्चतुरावलोकिनः ।
करोति लक्ष्यं चिरमस्य चक्षुषो न वक्त्रमात्मीयमरालपक्ष्मणः ।। ४९ ।।

अन्वयः—तव प्रियं सौभाग्यमदेन वञ्चितम् अवैमि । यः चतुरावलोकिनः अरालपक्ष्मणः अस्य चक्षुषः आत्मीयं वक्त्रं चिरं लक्ष्यं न करोति ।। ४९ ।।

सञ्जी०—अवैमीति ।। तव प्रियं वल्लभं सौभाग्यमदेन सौन्दर्यगर्वेण कर्त्रा । वञ्चितं विप्रलब्धमवैमि वेद्मि । यः प्रियश्चतुरं मधुरमवलोकत इति चतुरावलोकिनोऽरालपक्ष्मणः कुटिलरोम्णः । 'अरालं वृजिनं जिह्मम्' इत्यमरः । अस्य त्वदीयस्य चक्षुष आत्मीयं वक्त्रं मुखं चिरं लक्ष्यं विषयं न करोति । दृष्टिपथं न गच्छतीत्यर्थः । तदयं गर्वेण हतो निष्फलात्मलाभो जात इति भावः ।। ४९ ।।

मैं ऐसा समझता हूँ कि वह तुम्हारा प्रिय निश्चय ही अपने सौन्दर्य के अभिमान में भूला हुआ है जो मधुर दृष्टि तथा कुटिल भौहों वाले तुम्हारे नेत्रों के समक्ष अपने मुख को सदा के लिए लक्ष्य नहीं बना रहा है अर्थात् तुम्हारे सामने उपस्थित होकर तुम्हारे नेत्रों की शोभा नहीं देख रहा है ।। ४९ ।।

कियच्चिरं श्राम्यसि गौरि ! विद्यते ममाऽपि पूर्वाश्रमसञ्चितं तपः ।
तदर्धभागेन लभस्व काङ्क्षितं वरं तमिच्छामि च साधु वेदितुम् ।। ५० ।।

अन्वयः—हे गौरि ! कियत् चिरं श्राम्यसि ? मम अपि पूर्वाश्रमसञ्चितं तपः विद्यते । तदर्धभागेन काङ्क्षितं वरं लभस्व । तं साधु वेदितुम् इच्छामि ।।

सञ्जी०—कियदिति ।। हे गौरि । कियत्किम्प्रमाणकम् । किमवधिकमित्यर्थः । चिरं श्राम्यसि तपस्यसि । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । ममापि पूर्वाश्रमः प्रथमाश्रमो ब्रह्मचर्याश्रमस्तत्र सञ्चितं सम्पादितं तपो विद्यते अर्धश्चासौ भागश्च तेन तस्य तपसोऽर्धभागेनैकदेशेन काङ्क्षितमिष्टं वरमुपयन्तारं लभस्व । तं वरं साधु सम्यग्वेदितुं ज्ञातुमिच्छामि । यद्यसौ योग्यो भवति तदा ममापि सम्मतिरिति भावः ।

हे गौरि ! तुम कब तक इस तपस्या का कष्ट सहन करती रहोगी ? मैंने भी अपने ब्रह्मचर्याश्रम में कुछ तपस्या संचित कर रखी है । उसके आधे भाग से तुम अपने वर (पति) को प्राप्त कर लो किन्तु मैं केवल इतना ही जानना चाहूँगा कि तुम्हारा वह वर है कौन ? ।। ५० ।।

इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना मनोगतं सा न शशाक शंसितुम् ।
अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीं विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत ।। ५१ ।।

अन्वयः—इति द्विजन्मना प्रविश्य अभिहिता सा मनोगतं शंसितुं न शशाक । अथो परिपार्श्ववर्तिनीं वयस्यां विवर्तितानञ्जननेत्रम् ऐक्षत ।। ५१ ।।

सञ्जी०—इतीति ।। इतीत्थं द्विजन्मना द्विजेन प्रविश्यान्तर्गत्वा । आप्तवद्रहस्यमुद्भाव्येत्यर्थः । अभिहितोक्ता सा पार्वती मनोगतं हृदिस्थं वरं शंसितुं वक्तुं न शशाक समर्था नाभूत् । लज्जयेति शेषः । अथोऽनन्तरं परिपार्श्ववर्तिनीं

वयस्यां सखीं विवर्तितं विचालितमनञ्जनं व्रतवशाद्वर्जितकज्जलं नेत्रं यस्मिन्कर्मणि तत्तथैक्षत । नेत्रसंज्ञयैव प्रत्युत्तरं वाचयाञ्चकारेत्यर्थः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार उस ब्राह्मण ने पार्वती के हृदय में प्रविष्ट सा होकर उनके मन की थाह लेने के लिए प्रश्न पूछा किन्तु जब वह लज्जा के कारण अपनी मनोकामना प्रकट करने में किसी प्रकार समर्थ न हो सकीं तब उन्होंने अपने काजल-रहित नेत्रों को घुमाकर पास में बैठी हुई सखी की ओर देखा ॥ ५१ ॥

सखी तदीया तमुवाच वर्णिनं निबोध साधो ! तव चेत्कुतूहलम् ।
यदर्थमम्भोजमिवोष्णवारणं कृतं तपःसाधनमेतया वपुः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—तदीया सखी तं वर्णिनम् उवाच । हे साधो ! तव कुतूहलं चेत् निबोध । यदर्थम् एतया अम्भोजम् उष्णवारणम् इव वपुः तपःसाधनं कृतम् ॥५२॥

सञ्जी०—सखीति ॥ तस्याः पार्वत्या इयं तदीया सखी वयस्या तम् । 'वर्णः प्रशस्तः, इति क्षीरस्वामी । सोऽस्यास्तीति वर्णिनं ब्रह्मचारिणम् । 'वर्णाद्ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः । उवाच ब्रूते स्म । किमिति । हे साधो विद्वन्, तव कुतूहलं चेत् । श्रोतुमस्तीति शेषः । तर्हि निबोधावगच्छ । आकर्णयेत्यर्थः । 'बुध अवगमने' इति धातोर्भौवादिकाल्लोट् । श्रोतव्यं किं तदाह—यस्मै लाभायेदं यदर्थम् । 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिकं नियमात्क्रियाविशेषणम् । एतया पार्वत्याम्भोजं पद्ममुष्णवारणमातपत्रमिव वपुः शरीरं तपः साधनं कृतम् । तपःप्रवृत्तिकारणमुच्यते श्रूयतामित्यर्थः ॥ ५२ ॥

पार्वती की सखी ने ब्रह्मचारी से कहा कि—महानुभाव ! यदि तुम्हें कौतूहल है तो सुनो, मैं बता रही हूँ कि किस लिए मेरी सखी ने अपने इस कोमल शरीर को उसी प्रकार तप का साधन बनाया है जैसे कोई धूप रोकने के लिए कमल को छतरी बनाए ॥ ५२ ॥

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी ।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥ ५३ ॥

अन्वयः—मानिनी इयम् अधिश्रियः महेन्द्रप्रभृतीन् चतुर्दिगीशान् अवमत्य, मदनस्य निग्रहात् अरूपहार्यं पिनाकपाणिं पतिम् आप्तुम् इच्छति ॥ ५३ ॥

सञ्जी०—इयमिति ॥ मानिनीन्द्राणीप्रभृतीरतिशय्य वर्तितव्यमित्यभिमानवतीयं पार्वत्यधिश्रियोऽधिकैश्वर्यान्महेन्द्रप्रभृतीनिन्द्रादींश्चतसृणां दिशामीशानिन्द्रय-

मवरुणकुबेरान् । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । अवमत्यावधूय मदनस्य निग्रहान्निवर्हणाद्धेतोः । अकामुकत्वादित्यर्थः । रूपेण सौन्दर्येण हार्यो वशीकरणीयो न भवतीत्यरूपहार्यं पिनाकः पाणौ यस्य तं पिनाकपाणिं हरम् । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' इति साधु । पतिं भर्तारमाप्तुमिच्छति । एतेन सङ्कल्पावस्थासूचिता ॥ ५३ ॥

यह मेरी सखी इन्द्र आदि महान ऐश्वर्यशाली दिग्पालों की उपेक्षा करके उस पिनाकपाणि महादेव जी को अपने पति के रूप में प्राप्त करना चाहती है, जिन्हें अब कामदेव को नष्ट कर देने के कारण यह केवल अपने सौन्दर्य से मुग्ध नहीं बना सकती ॥ ५३ ॥

असह्यहुङ्कारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः ।
इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—पुरा असह्यहुङ्कारनिवर्तितः पुरारिम् अप्राप्तमुखः विशीर्णमूर्तेः अपि पुष्पधन्वनः शिलीमुखः इमां हृदि व्यायतपातम् अक्षिणोत् ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—असह्येति ॥ पुरा पूर्वमसह्येन सोढुमशक्येन हुङ्कारेण रौद्रेण निवर्तितः । अतएव पुरारिं हरमप्राप्तमुखोऽप्राप्तफलो विशीर्णमूर्तेर्नष्टशरीरस्यापि पुष्पधन्वनः कामस्य शिलीमुखो बाण इमां पार्वतीं हृदि व्यायतः । सुदूरावगाढ इति यावत् । तादृक्पातः प्रहारो यस्मिन्कर्मणि तत्तथाक्षिणोदकर्शत् । दग्धदेहस्यापि मार्गणो लग्नः । 'मृदुः सर्वत्र बाध्यते' इति भावः । अनेन 'विवृण्वती शैलसुतापि भावम् (३।६८) इत्यत्रोक्तं चक्षुःप्रीतिमनःसङ्गाख्यमवस्थाद्वयमनन्तरावस्थोपयोगितयानूद्य कार्श्यावस्था सूचिता ॥ ५४ ॥

फूल के धनुष वाले कामदेव ने जो बाण पहिले शिव जी पर चलाया था, वह उनके असह्य हुंकार के कारण उनके पास तक न पहुँच कर वापस लौट गया किंतु कामदेव का शरीर जल जाने के बाद भी उसने मेरी इस सखी के हृदय में गहरी चोट पहुँचा दी ॥ ५४ ॥

तदाप्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसरालका ।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसङ्घातशिलातलेष्वपि ॥ ५५ ॥

अन्वयः—तदाप्रभृति पितुः गृहे उन्मदना ललाटिकाचन्दनधूसरालका बाला जातु तुषारसङ्घातशिलातलेषु अपि निर्वृतिं न लभते स्म ॥ ५५ ॥

सञ्जी०—तदेति ॥ तदेति छेदः । तदाप्रभृति । ततः आरभ्येत्यर्थः । सप्तम्यर्थस्यापि दाप्रत्ययस्य पञ्चम्यर्थे लक्षणा प्रभृतियोगे पञ्चमीनियमात् । पितु-

गृह उन्मदनोत्कटमन्मथा ललाटस्थालङ्कारो ललाटिका तिलकः। 'कर्णललाटात्कनलङ्कारे' इति कन्प्रत्ययः। तस्याश्चन्दनेन धूसरा धूसरवर्णा अलकाश्चूर्णकुन्तला यस्याः सा तथोक्ता बाला पार्वती जातु कदाचिदपि तुषारसङ्घातास्तुषारघनास्त एव शिलास्तासां तलेषूपरिभागेष्वपि निर्वृतिं सुखं न लभते स्म। एतेनारत्यपरसंज्ञा विषयविद्वेषावस्था द्वादशावस्थापक्षे सञ्ज्वरश्च व्यज्यते ॥ ५५ ॥

तभी से यह हमारी सखी पिता के घर में भी काम से इतनी उन्मत्त हो गई कि ललाट पर बार-बार लगाए गए तिलक के चंदन से उसके केश मटमैले हो गए और बर्फ की शिलाओं पर लेटने से भी इसे चैन नही मिल-सका ॥ ५५ ॥

उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सबाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम्।
अनेकशः किन्नरराजकन्यका वनान्तसङ्गीतसखीररोदयत् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—इयं पिनाकिनः चरिते उपात्तवर्णे सबाष्पकण्ठस्खलितैः पदैः वनान्तसङ्गीतसखीः किन्नरराजकन्यकाः अनेकशः अरोदयत् ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—उपात्तेति ॥ पिनाकिनः शंभोश्चरिते त्रिपुरविजयादिचेष्टित उपात्तवर्णे प्रारब्धगीतक्रमे। 'गीतक्रमे स्तुतौ वेदे वर्णशब्दः प्रयुज्यते' इति हलायुधः। सबाष्पे गद्गदे कण्ठे स्खलितैर्विशीर्णैः पदैः सुप्तिङन्तरूपैः करणैः। वनान्ते सङ्गीतेन निमित्तेन सखीर्वयस्याः किन्नरराजकन्यका अनेकशो बहुशोऽरोदयदश्रुमोक्षमकारयत्। हरचरितगानजनितमदनवेदनामेनां वीक्ष्य किन्नर्योऽपि रुरुदुरिति भावः। अत्र वर्णस्खलनलक्षणकार्योक्त्या पुनःपुनस्तत्कारणीभूतमूर्च्छावस्थाप्रादुर्भावो व्यज्यते अन्यथा सखीरोदनानुपपत्तेरिति। द्वादशावस्था पक्षे तु प्रलयावस्था व्यज्यते। 'प्रलापो गुणकीर्तनम्' इत्यालङ्कारिकाः ॥ ५६ ॥

जब कभी यह हमारी सखी वाष्पगद्गद कण्ठ से पिनाकधारी शिव के गुणों का गान करने लगती थी, उस समय अपने गीतों से अपनी वनवासिनी संगीत-सखियों किन्नर कुमारियों को प्रायः रुला देती थी ॥ ५६ ॥

त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत।
क्व नीलकण्ठ ! व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥ ५७ ॥

अन्वयः—त्रिभागशेषासु निशासु क्षणं नेत्रे निमील्य, सहसा 'हे नीलकण्ठ ! 'क्व व्रजसि' इति अलक्ष्यवाक् असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना च सती व्यबुध्यत ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—त्रिभागेति ॥ किञ्चेति चार्थः शिष्यत इति शेषः । कर्मणि घञ् । त्रिभ्यो भागेभ्यः शेषास्ववशिष्टासु । यद्वा रात्रेस्त्रियामत्वेन प्रसिद्धत्वात्तृतीयो भागस्त्रिभागः । संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वमिष्यते । यथा 'शतांशः' 'सहस्रांशः' इति । त्रिभागः शेषो यासां तासु निशासु क्षणं क्षणमात्रं नेत्रे निमील्य मीलयित्वा सहसा सद्यः । हे नीलकण्ठ ! क्व व्रजसि कुत्र गच्छसीत्यलक्ष्या निर्विषया वाग्वचनं यस्याः सा तथोक्ता । तथासत्ये मिथ्याभूते कण्ठेऽर्पितं बाहुबन्धनं यस्याः सा तथा सती व्यबुध्यत विबुद्धवती । एतेन जागरोन्मादौ सूचितौ ॥ ५७ ॥

कभी-कभी रात के तीन भाग शेष रहजाने पर अर्थात् पहले ही पहर में यह जब क्षण मात्र के लिए सोती थी तो अकस्मात् चौंक कर जाग उठती और बरबराने लगती थी कि हे नीलकंठ ! तुम कहाँ जा रहे हो तथा अपनी बाहों को इस प्रकार फैलाती थी मानों शिव जी के गले में डाल कर उन्हें जाने से रोक रही हो ॥ ५७ ॥

यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम् ।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—यदा त्वं बुधैः सर्वगतः उच्यसे, ततः भावस्थम् इमं जनं कथं न वेत्सि ? इति मुग्धया स्वहस्तोल्लिखितः चन्द्रशेखरः रहसि उपालभ्यत ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—यदेति ॥ यदा यत इत्यर्थः । यदेति हेतावित्युक्त्वा गणव्याख्यानेऽस्योदाहृतत्वात् । त्वं बुधैर्मनीषिभिः सर्वगतः सर्वव्यापीत्युच्यसे । तत इत्यध्याहारः भावे रत्याख्ये तिष्ठतीति भावस्थम् । त्वय्यनुरागिणमित्यर्थः । इमं जनम् । इममित्यात्मनिर्देशः । कथं न वेत्सि न जानासीति मुग्धया मूढया । अकिञ्चित्करश्चित्रगतोपालम्भ इत्यजानानयेत्यर्थः । तया स्वहस्तेनोल्लिखितश्चित्रे लिखितश्चन्द्रशेखरो रहस्येकान्ते । सखीमात्रसमक्षमित्यर्थः । उपालभ्यत साधिक्षेपमुक्तश्च । उक्तसमुच्चयार्थश्चकारः । यद्यपि रहसीत्युक्तं तथापि सखीसमक्षकरणाल्लज्जात्यागो व्यज्यत एव ॥ ५८ ॥

यह भोली भाली मेरी सखी अपने हाथों से चित्रित शंकर के चित्र को सचमुच शिव ही समझ कर एकान्त में उलाहना देती थी कि हे हर ! जब मनीषी लोग तुम्हें सर्वान्तरयामी बताते हैं तब फिर तुम अपने प्रेम में तल्लीन मेरे हृदय के भावों को क्यों नहीं समझ पाते ॥ ५८ ॥

यदा च तस्याधिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती ।
तदा सहास्माभिरनुज्ञया गुरोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥ ५६ ॥

अन्वयः—जगत्पतेः तस्य अधिगमे विचिन्वती अन्यं विधिं यदा न अपश्यत्, तदा इयं गुरोः अनुज्ञया अस्माभिः सह तपसे तपोवनं प्रपन्ना ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—यदेति ॥ जगत्पतेस्तस्येश्वरस्याधिगमे प्राप्तावन्यं विधिमुपायं विचिन्वती मृगयमाणा यदा नापश्यत्तदेयं पार्वती गुरोः पितुरनुज्ञयास्माभिः सह तपसे तपश्चरितुं तपोवनं प्रपन्ना प्राप्ता ॥ ५९ ॥

जब इसे संसार के स्वामी शिव के पाने का कोई अन्य उपाय नहीं दिखाई दिया तब यह अपने पिताकी आज्ञा लेकर हम लोगों के साथ इस तपोवन में तप करने चली आई ॥ ५९ ॥

द्रुमेषु सख्या कृतजन्मसु स्वयं फलं तपःसाक्षिषु दृष्टमेष्वपि ।
न च प्ररोहाभिमुखोऽपि दृश्यते मनोरथोऽस्याः शशिमौलिसंश्रयः ॥ ६० ॥

अन्वयः—सख्या स्वयं कृतजन्मसु तपःसाक्षिषु एषु द्रुमेषु फलम् अपि दृष्टम् अस्याः शशिमौलिसंश्रयः मनोरथः च प्ररोहाऽभिमुखोऽपि न दृश्यते ॥ ६० ॥

सञ्जी०—द्रुमेष्विति ॥ सख्या पार्वत्या स्वयं कृतं जन्म येषां तेषु । स्वयं रोपितेष्वित्यर्थः । तपसः साक्षिषु साक्षाद्द्रष्टृष्वेषु द्रुमेष्वपि फलं दृष्टं लब्धम् । जनितमित्यर्थः । अस्याः पार्वत्याः शशिमौलिसंश्रयश्चन्द्रशेखरविषयो मनोरथस्तु प्ररोहाभिमुखोऽङ्कुरोन्मुखोऽपि न दृश्यते । 'प्ररोहस्त्वङ्कुरोऽङ्कुरः' इति वैजयन्ती । स्वयं रोपितवृक्षफलकालेऽप्यस्या मनोरथस्य नाङ्कुरोदयोऽप्यस्ति । फलाशा तु दूरापास्त्येत्यर्थः ॥ ६० ॥

इसने अपने हाथों से लगाए गए तपस्या के साक्षीभूत इन वृक्षों में फल लगते तो देख लिखा किन्तु यह अभी तक शंकर को पति रूपमें पाने के अपने मनोरथ रूपी बीज में अंकुर फूटते हुए भी नहीं देख पाई ॥ ६० ॥

न वेद्मि स प्रार्थितदुर्लभः कदा सखीभिरस्रोत्तरमीक्षितामिमाम् ।
तपःकृशामभ्युपपत्स्यते सखीं वृषेव सीतां तदवग्रहक्षताम् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—प्रार्थितदुर्लभः स तपःकृशां सखीभिः अस्रोत्तरम् ईक्षिताम् इमां, सखीं, वृषा तदवग्रहक्षतां सीताम् इव, कदा अभ्युपपत्स्यते इति न वेद्मि ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—नेति ॥ प्रार्थितः सन्दुर्लभः स देवस्तपःकृशां तपसा कृशां क्षीणामतएव सखीभिरस्रोत्तरमश्रुप्रधानं यथा भवति तथेक्षितामिमां नः सखीं तस्येन्द्र-

स्यावग्रहेणानावृष्ट्या क्षतां पीडिताम् । 'वृष्टिर्वर्षं तद्विघातोऽवग्रहावग्रहौ समौ' इत्यमरः । अवग्रहः । वर्षप्रतिबन्ध इत्यर्थः । सीतां कृष्टभुवम् । 'सीता लाङ्गलपद्धतिः' इत्यमरः । वृषा वासव इव । 'वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यमरः । कदाभ्युपपत्स्यते कदानुग्रहीष्यति न वेद्मि । अत्र वाक्यार्थः कर्म । तदवग्रहक्षतामित्यत्रावग्रहक्षतामित्यनेनैव गतार्थत्वे तत्पदस्य वैयर्थ्यापत्तेस्तदिति भिन्नं पदं वेद्मीत्यस्य कर्मेति युक्तमुत्पश्यामः ॥ ६१ ॥

प्रार्थना करने पर भी दुर्लभ वह भगवान् शिव तप के कारण अत्यंत क्षीण एवं सखियों द्वारा अश्रुपूरित नेत्रों से देखी जाने वाली मेरी इस सखी पर उसी प्रकार पता नहीं कब कृपावृष्टि करेंगे जैसे जलके बिना सूखी जुती हुई भूमि पर इन्द्र वृष्टि करते हैं ॥ ६१ ॥

अगूढसद्भावमितीङ्गितज्ञया निवेदितो नैष्ठिकसुन्दरस्तया ।
अपीदमेवं परिहास इत्युमामपृच्छदव्यञ्जितहर्षलक्षणः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—इङ्गितज्ञया तया इति अगूढसद्भावं निवेदितः नैष्ठिकसुन्दरः अव्यञ्जितहर्षलक्षणः सन्, अयि ! इदम् एवम् परिहासः वा ? इति उमाम् अपृच्छत् ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—अगूढेति ॥ इङ्गितज्ञया पार्वतीहृदयाभिज्ञया । 'इङ्गितं हृद्गतो भावः' इति सज्जनः । तया गौरीसख्येत्येवमगूढसद्भावं प्रकाशितसदभिप्रायं यथा तथा निवेदितो ज्ञापितो निष्ठा मरणमवधिर्यस्य स नैष्ठिको यावज्जीवब्रह्मचारी सुन्दरो विलासी नैष्ठिकश्चासौ सुन्दरश्चेति तथोक्तः । द्वयोरन्यतरस्य विशेषणत्वविवक्षायां विशेषणसमासः । किन्तु नैष्ठिकत्वविशेषणेन कामित्वविरोधः । अथवा देवस्यालौकिकमहिमत्वादुभयं तात्त्विकमिति न विरोधः । अव्यञ्जितं हर्षलक्षणं मुखरागादि हर्षलिङ्गं यस्य तथाभूतः सन् । अयि गौरि ! अयीति कोमलामन्त्रणे । इदं त्वत्सखीभाषितमेवम् । सत्यं किमित्यर्थः । परिहासः केलिर्वा । 'द्रवकेलिपरीहासाः' इत्यमरः । इत्येवमुमामपृच्छत्पृष्टवान् ॥ ६२ ॥

जब पार्वती के मन को जानने वाली सखी ने ब्रह्मचारी से उसके तप करने का ठीक-ठीक कारण बता दिया, तब भी उस सुन्दर ब्रह्मचारी ने हर्ष का कोई चिह्न प्रकट किए बिना ही पार्वती से पूछा कि—तुम्हारी सखी जो कुछ कह रही है क्या वह सत्य है, अथवा तुम्हारा परिहास मात्र है ॥ ६२ ॥

अथाग्रहस्ते मुकुलीकृताङ्गुलौ समर्पयन्ती स्फटिकाक्षमालिकाम् ।
कथञ्चिदद्रेस्तनया मिताक्षरं चिरव्यवस्थापितवागभाषत ॥ ६३ ॥

अन्वयः—अथ मुकुलीकृताङ्गुलौ अग्रहस्ते स्फटिकाक्षमालिकां समर्पयन्ती चिरव्यवस्थापितवाक् अद्रेः तनया मिताक्षरम् कथञ्चित् अभाषत ॥ ६३ ॥

सञ्जी०—अथेति । अथानन्तरमद्रेस्तनया पार्वती मुकुलीकृताङ्गुलौ सम्पुटीकृताङ्गुलौ । अग्रश्चासौ हस्तश्चेति समानाधिकरणसमासः । हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदादिति वामनः । तस्मिन्नग्रहस्ते स्फटिकानामक्षमालिकां जपमालिकामर्पयन्त्यामुञ्चती कथञ्चिन्महता कष्टेन चिरव्यवस्थापित वाक्चिरेण स्वीकृतवाक् । एतेन लज्जोपरोधौ व्यज्यते । मिताक्षरं परिमितवर्णं यथा तथाभाषत बभाषे ॥६३

ब्रह्मचारी की यह बात सुनकर पार्वती ने अपनी स्फटिक की माला को अँगुलियों से समेट कर मुट्ठी में ले लिया । कुछ देर तक तो वह लज्जा के कारण कुछ भी न कह सकी किंतु किसी प्रकार अपनी वाणी को संयमित करके नपे तुले शब्दों में बोली ॥ ६३ ॥

यथा श्रुतं वेदविदां वर ! त्वया जनोऽयमुच्चैःपदलङ्घनोत्सुकः ।
तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥ ६४ ॥

अन्वयः—हे वेदविदां वर ! त्वया यथा श्रुतं तथा अयं जनः उच्चैः पदलङ्घनोत्सुकः, अस्ति । इदं तपः तदवाप्तिसावनं किल; मनोरथानाम् अगतिः न विद्यते ॥ ६४ ॥

सञ्जी०—यथेति ॥ हे वेदविदां वर ! वैदिकश्रेष्ठ ! त्वया यथा श्रुतं सम्यक्श्रुतम् । श्रुतार्थमेवाह—अयं जनः । स्वयमित्यर्थः । उच्चैः पदस्य शिवलाभरूपोन्नतस्थानस्य लङ्घन आक्रमण उत्सुकः । किमत्रायुक्तमित्यत्राह—इदं तपस्तदवाप्तेस्तस्योच्चैः पदस्यावाप्तेः प्राप्तेः साधनं किलेत्यलीके । अतितुच्छत्वादसाधकमेवेत्यर्थः । तर्हि त्यज्यतामित्याशङ्क्य दुराशा मां न मुञ्चतीत्याशयेनाह—मनोरथानां कामानामगतिरविषयो न विद्यते । न हि स्वशक्तिपर्यालोचनया कामाः प्रवर्तन्त इति भावः ॥ ६४ ॥

हे वेदज्ञानियों में श्रेष्ठ ! आपने मेरी सखी के मुख से जो भी सुना है वह ठीक हो है । मैं उसी उच्च पद की अभिलाषिणी हूँ । यह मेरी तपस्या उसी पद को प्राप्त करने के लिए ही है । अब आप से क्या कहूँ, मनुष्य के मनोरथों की कोई सीमा नहीं होती ॥ ६४ ॥

अथाहवर्णी विदितो महेश्वरस्तदर्थिनी /त्वं पुनरेव वर्तसे ।
अमङ्गलाभ्यासरतिं विचिन्त्य तं तवानुवृत्तिं न कर्तुमुत्सहे ॥ ६५ ॥

अन्वयः—अथ वर्णी आह, महेश्वरः विदितः, पुनः त्वं तदर्थिनी एव वर्तसे। अमङ्गलाभ्यासरतिं तं विचिन्त्य तव अनुवृत्तिं कर्तुं न उत्सहे॥ ६५॥

सञ्जी०—अथेति॥ अथ वर्णी ब्रह्मचारी। 'वर्णिनो ब्रह्मचारिणः' इत्यमरः। आह। उवाचेत्यर्थः। 'आहेति भूतार्थे लट्प्रयोगो भ्रान्तिमूलः' इत्याह वामनः। किमित्याह—महेश्वरो महादेवो विदितः। मया ज्ञायत इत्यर्थः। बुध्यर्थत्वाद्वर्तमाने क्तप्रत्ययः तद्योगात्षष्ठी च। येन त्वं प्राग्भग्नमनोरथा कृतेति भावः। पुनरेव त्वं तमीश्वरमर्थयसे तदर्थिन्येव तत्कामैव प्रवर्तसे। तत्प्रभावमनुभूयापीति भावः। अनुसरणे को दोषस्तत्राह—अमङ्गलाभ्यासेऽमङ्गलाचारे रतिर्यस्य तं तथोक्तमीश्वरं विचिन्त्य विचार्य तवानुवृत्तिमनुसरणं कर्तुं नोत्सहे। नानुमन्तुं शक्नोमीत्यर्थः।६५।

(पार्वती की बात सुनकर) ब्रह्मचारी ने कहा—शंकर जी को तो मैं जानता हूँ (कि उन्होंने तुम्हारा मनोरथ नष्ट कर दिया था) फिर भी तुम उन्हें प्राप्त करने के लिए तपस्या कर रही हो। अतः उनकी अमांगलिक आचारों के प्रति आसक्ति का विचार करके मुझमें आप की इच्छा का अनुमोदन करने के लिए उत्साह ही नहीं हो रहा है॥ ६५॥

अवस्तुनिर्बन्धपरे! कथं नु ते करोऽयमामुक्तविवाहकौतुकः।
करेण शम्भोर्वलयीकृताहिना सहिष्यते तत्प्रथमावलम्बनम्॥ ६६॥

अन्वयः—हे अवस्तुनिर्बन्धपरे! आमुक्तविवाहकौतुकः ते अयं करः वलयीकृताहिना शम्भोः करेण तत्प्रथमावलम्बनं कथं नु सहिष्यते?॥ ६६॥

सञ्जी०—अवस्त्विति॥ अवस्तुनि तुच्छवस्तुनि निर्बन्धोऽभिनिवेशः परं प्रधानं यस्यास्तस्याः संबुद्धिरवस्तुनिर्बन्धपरे पार्वति, आमुक्तमासञ्जितं विवाहे यत्कौतुकं हस्तसूत्रं तद्यस्य स तेऽयं करः। 'कौतुकं मङ्गले हर्षे हस्तसूत्रे कुतूहले,' इति शाश्वतः। वलयीकृताहिना भूषणीकृतसर्पेण शंभोर्महादेवस्य करेण करणभूतेन। तदेव प्रथमं तत्प्रथमम्। अपरिचितत्वादति भयङ्करमिति भावः। तच्च तदवलम्बनं ग्रहणं चेति कथं नु सहिष्यते। न कथञ्चिदपि सहिष्यत इत्यर्थः। अग्रतो यद्भावि तद्दूरेऽवतिष्ठतां प्रथमं करग्रह एव दुःसह इति भावः॥ ६६॥

हे तुच्छ वस्तु के लिए हठ करने वाली पार्वती! विवाह कालीन मंगलसूत्र से सुसज्जित तुम्हारा यह हाथ पाणिग्रहण के समय महादेव जी के उस हाथ का प्रथम स्पर्श कैसे सहन करेगा जिसमें कंकण के स्थान पर सर्प लिपटा होगा॥ ६६॥

त्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च ॥ ६७ ॥

अन्वयः—हे गौरि ! त्वमेव स्वयं तावत् परिचिन्तय, कलहंसलक्षणं वधूदुकूलं तथा शोणितबिन्दुवर्षि गजाजिनं च एते कदाचित् योगम् अर्हतः यदि ? ॥६७॥

सञ्जी०—त्वमेति ॥ हे गौरि ! त्वमेव स्वयमात्मना । तावदिति मात्रार्थे । यावन्मात्रं विचारणीयं तावन्मात्रमित्यर्थः । इदमेवोदाहृतं च गणव्याख्याने । परिचिन्तय पर्यालोचय । किमिति । कलहंस लक्षणम् कलहंसचिह्नम् । 'चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः । वध्वा नवोढाया दुकूलं वधूदुकूलम् । 'वधूः स्नुषा नवोढा स्त्री' इति विश्वः । तथा शोणितबिन्दून्वर्षतीति यथोक्तम् । आर्द्रमित्यर्थः । गजाजिनं च कृत्तिवासश्च । तत्पिनाकिन इत्याशयः । एते कदाचिज्जात्वपि योगं संगतिमर्हतो यद्यर्हतः किम् । एतत्त्वमेव चिन्तयेति । पूर्वेणान्वयः । पाणिग्रहणकाले वधूवरयोर्वस्त्रान्तग्रन्थिः क्रियते । कृत्तिवाससा पाणिपीडने तु दूकूलधारिण्यास्तव कथं संघटिष्यत इति भावः ॥ ६७ ॥

हे पार्वती ! तुम्हीं सोचो, कलहंसों से चित्रित नव वधू का दुकूल एवं रक्त की बूंदे टपकाने वाला गज चर्म ये दोनों क्या कभी एक साथ रहने योग्य हैं (अर्थात् पाणिग्रहण काल में दोनों का ग्रन्थिवंधन क्या समुचित होगा) ? ॥ ६७ ॥

चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः परोऽपि को नाम तवानुमन्यते ।
अलक्तकाङ्कानि पदानि पादयोर्विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु ॥ ६८ ॥

अन्यवः—चतुष्कपुष्पप्रकरावकीर्णयोः तव पादयोः अलक्ताङ्कानि पदानि विकीर्णकेशासु परेतभूमिषु परोऽपि को नाम अनुमन्यते ॥ ६८ ॥

सञ्जी०—चतुष्केति ॥ चतुष्के गृहविशेषे यः पुष्पप्रकरस्तत्रावकीर्णयोर्न्यस्तयोः । कुसुमास्तृतदिव्यभवनभूसञ्चारोचितयोरित्यर्थः । तव पादयोरलक्तकाङ्कानि लाक्षारञ्जितानि पदानि पादाकाराणि पादन्यासचिह्नानि । 'पदं शब्दे च वाक्ये च व्यवसायापदेशयोः । पादतच्चिह्नयोः, इति विश्वः । विकीर्णा विक्षिप्ताः केशाः शवशिरोरुहा यासु तासु विकीर्णकेशासु । 'अतत्स्थं तत्र दृष्टं च', इति वचनात् 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति विकल्पान्न ङीष् । परेतभूमिषु प्रेतभूमिषु । श्मशानेष्वित्यर्थः । परोऽपि शत्रुरपि को नामानुमन्यते । न कोऽपीत्यर्थः । नामेति कुत्सायाम् । पिनाकपाणिग्रहणे तस्य परेतभूसञ्चारित्वेन साहचर्यात्तवापि तत्र सञ्चारोऽवश्यंभावीति भावः ॥ ६८ ॥

तुम अपने जिन चरणों में महावर लगा कर फूलों से सजे हुए आँगन में आज तक विचरण करती रही हो उन्हीं से मुर्दों के बिखरे हुए बालों से भरी हुई श्मशान भूमि पर चलो--यह तो तुम्हारा कोई शत्रु भी नहीं चाहेगा ॥ ६८ ॥

अयुक्तरूपं किमतः परं वद त्रिनेत्रवक्षः सुलभं तवापि यत् ।
स्तनद्वयेऽस्मिन्हरिचन्दनास्पदे पदं चिताभस्मरजः करिष्यति ॥ ६९ ॥

अन्वयः—त्रिनेत्रवक्षः तव सुलभम् अपि, अतः परम् अयुक्तरूपं किं? वद । यत् हरिचन्दनास्पदे अस्मिन् स्तनद्वये चिताभस्मरजः पदं करिष्यति ॥ ६९ ॥

सञ्जी०—अयुक्तेति ॥ त्रिनेत्रवक्षः त्र्यम्बकालिङ्गनमित्यर्थः । तव तत्संबन्धितया सुलभमपि सुप्रापं च । भवतीति शेषः । तवेति शेषे षष्ठी । 'न लोकव्यय—' इत्यादिना कृद्योगलक्षणषष्ठ्या निषेधात् । अतः परमस्मात्त्रिनेत्रवक्षोलाभादन्यदयुक्तरूपमत्यन्तायुक्तं किं वद । न किञ्चिदित्यर्थः । 'प्रशंसायां रूपप्, इति रूपप्प्रत्ययः । कुतः । यद्यस्मात्कारणाद्धरिचन्दनास्पदे हरिचन्दनस्यास्पदे स्थानभूतेऽस्मिन्स्तनद्वये चिताभस्म श्मशानभस्म तदेव रजश्चूर्णं कर्तृ । पदं करिष्यति पदं निधास्यति । भर्तुर्भवस्य भस्माङ्गरागादिति भावः ॥ ६९ ॥

यदि महादेव जी सरलता से तुम्हें मिल भी जायँ तो इससे बढ़कर अशोभन कार्य क्या हो सकेगा कि हरिचंदन से लिप्त तुम्हारे स्तनों पर उनके वक्षस्थल पर पुता हुआ चिताभस्म लग जाय ॥ ६९ ॥

इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना यदूढया वारणराजहार्यया ।
विलोक्य वृद्धोक्षमधिष्ठितं त्वया महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति ॥ ७० ॥

अन्वयः—इयं च ते पुरतः अन्या विडम्बना अस्ति । ऊढया वारणराजहार्यया त्वया अधिष्ठितं वृद्धोक्षं विलोक्य महाजनः स्मेरमुखः भविष्यति ॥ ७० ॥

सञ्जी०—इयमिति ॥ इयं च ते तव पुरत आदावेवान्या विडम्बना । परिहास इत्यर्थः । का सेत्यत्राह—ऊढया परिणीतया । वहेः कर्मणि क्तः । वारणराजहार्यया त्वयाधिष्ठितमारूढं वृद्धमुक्षाणं वृद्धोक्षम् । 'अचतुर—' इत्यादिना निपातः । विलोक्य महाजनः साधुजनः स्मेरमुखः स्मितमुखो भविष्यत्युपहसिष्यति यत् । इयमिति पूर्वेण संबन्धः । स्मेरेति 'नमिकम्पिस्म्यजस'—इत्यादिना रप्रत्ययः ॥७०॥

तुम अब तक तो श्रेष्ट हाथी पर चढ़ती रही हो किंतु विवाह के पश्चात् तुम्हें शिव जी के साथ बूढ़े बैल पर बैठे हुए देखकर सभी साधुजन हँसने लगेंगे इससे बढ़कर तुम्हारे लिए और दूसरी कौन विडम्बना हो सकती है? ॥७०॥

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥ ७१ ॥

अवन्य—पिनाकिनः समागमप्रार्थनया सम्प्रति द्वयं शोचनीयतां गतं, सा कान्तिमती कलावतः कला, अस्य लोकस्य नेत्रकौमुदी त्वं च ॥ ७१ ॥

सञ्जी०—द्वयमिति ॥ पिनाकिन ईश्वरस्य समागमप्रार्थनया प्राप्तिकामनया । क्रियमाणयेति शेषः । संप्रति द्वयं शोचनीयतां शोच्यत्वं गतम् । किं तदाह—सा प्रागेव हरशिरोगता । अत्र सेति प्रसिद्धार्थत्वान्न यच्छब्दापेक्षया । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यदुपादानं नापेक्षते' इति । कान्तिमती । नित्ययोगे मतुप् । कलावतश्चन्द्रस्य कला षोडशो भागश्चास्य लोकस्य नेत्रकौमुदी । नेत्रानन्दिनीत्यर्थः । त्वं च । कान्तिमतीत्वनेत्रकौमुदीत्वविशेषणयोरुभयत्राप्यन्वयः । प्रागेकैव शोच्या । सम्प्रति तु त्वमप्यपरेति द्वयं शोच्यमिति पिण्डितार्थः । शोच्यत्वं च निकृष्टाश्रयणादिति भावः ॥ ७१ ॥

महादेव को प्राप्त करने की कामना रखने वाली दोनों ही आज अत्ययंत शोचनीय अवस्था में पहुँच गई हैं । उनमें से एक तो उनके मस्तक पर स्थित चंन्द्रकला है और दूसरी संसार के नेत्रों को तृप्त करने वाली कौमुदी के समान तुम हो ॥ ७१ ॥

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद् बालमृगाक्षि ! मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ॥ ७२ ॥

अन्वयः—वपुः विरूपाक्षम्, अलक्ष्यजन्मता, वसु दिगम्बरत्वेन निवेदितम् । हे बालमृगाक्षि ! वरेषु यत् मृग्यते तत् त्रिलोचने व्यस्तम् अपि अस्ति किम् ? ॥ ७२ ॥

सञ्जी०—वपुरिति ॥ वपुस्तावदस्य विरूपाणि विकृतरूपाण्यक्षीणि नेत्राणि यस्य तद्विरूपाक्षम् । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्, इति षच्प्रत्ययः । वैरूप्यं च त्रिनेत्रत्वादिति क्षीरस्वामी । अतो न सौन्दर्यवार्तापीत्यर्थः । अलक्ष्यमज्ञातं जन्म यस्य तस्य भावस्तत्ता । कुलमपि न ज्ञायत इत्यर्थः । 'अलक्षिता जनिः' इति पाठे जनिरुत्पत्तिरलक्षिता न ज्ञाता । 'जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः । वसु वित्तं दिगम्बरत्वेनैव निवेदितम् । नास्तीति ज्ञापितमित्यर्थः । यदि वित्तं भवति तदा कथं दिगम्बरो भवति । अतो ज्ञेयं निर्धनोऽयमिति । किं बहुना हे बालमृगाक्षि ! पार्वति ! वरेषु वोढृषु । 'वरौ जामातृवोढारौ' इति विश्वः । यद्रूपवित्तादिकं मृग्यते । कन्यात-

द्वन्धुभिरन्विष्यते तत्त्रिलोचने त्र्यम्बके व्यस्तम्। एकमपि समस्तं मा भूदिति: भाव:। अस्ति किम्। नास्त्येवेत्यर्थ: ।। ७२ ।।

एक तो महादेव जो का शरीर त्रिनेत्रधारी है दूसरे उनके कुल परिवार का भी तो कोई पता नहीं है। उनकी सम्पत्ति का अनुमान तो इसी से लग जाता है कि वस्त्र के अभाव में नंगे रहते हैं। हे मृगशावक नयनी! तुम्हीं कहो—बर में जो गुण (रूप, कुल, सम्पत्ति) देखे जाते हैं, क्या एक भी उनमें हैं? ।।७२।।

निवर्तयास्मादसदीप्सितात्मन: क्व तद्विधस्त्वं क्व च पुण्यलक्षणा।
अपेक्ष्यते साधुजनेन वैदिकी श्मशानशूलस्य न यूपसत्क्रिया ।। ७३ ।।

अन्वय:—अस्मात् असदीप्सितात् मन: निवर्तय। तद्विध: क्व? पुण्यलक्षणा त्वं च क्व? साधुजनेन श्मशानशूलस्य वैदिकी यूपसत्क्रिया न अपेक्ष्यते ।। ७३ ।।

सञ्जी०—निवर्तयेति ।। अस्मादसदीप्सितादनिष्टमनोरथान्मनो निवर्तय निवारय। सा पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य तथोक्त:। अमङ्गलशील इत्यर्थ.। क्व। महदन्तरमित्यर्थ:। पुण्यलक्षणा प्रशस्तभाग्यचिह्ना त्वं च क्व। अतो न तवायमर्ह इत्यर्थ:। तथाहि। साधुजनेन। 'साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चाभिधेयवत्' इति विश्व:। श्मशानशूलस्य श्मशानभूमिनिखातस्य वध्यशङ्कोर्वैदिकी वेदोक्ता। यूपो नाम पशुबन्धनसाधनभूत: सस्कृतदारुविशेषस्तस्य सत्क्रिया प्रोक्षणाभ्युक्षणादिसंस्कारो यूपसत्क्रिया नापेक्ष्यते नेष्यते। यथा श्मशानशूले यूपसत्क्रिया न क्रियते तथा त्वमपि तस्मै न घटस इति तात्पर्यार्थ: ।। ७३ ।।

अत: तुम शिवप्राप्ति जैसी अशुभ कामना से अपने चित्त को मोड़ दो। क्यों कि कहाँ सभी अशुभ लक्षणों से युक्त महादेव और कहाँ सभी शुभ लक्षणों से युक्त तुम! सज्जन लोग यज्ञस्तम्भ बनाने के लिए श्मशान की लकड़ी का प्रयोग नहीं करते ।। ७३ ।।

इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया।
विकुञ्चितभ्रूलतमाहिते तया विलोचने तिर्यगुपान्तलोहिते ।। ७४ ।।

अन्वय:—इति द्विजातौ प्रतिकूलवादिनि सति प्रवेपमानाधरलक्ष्यकोपया तया उपान्तलोहिते विलोचने विकुञ्चितभ्रूलतं यथा तथा तिर्यक् आहिते ।। ७४ ।।

सञ्जी०—इतीति ।। इत्येवं प्रकारेण द्विजातौ द्विजे प्रतिकूलवादिनि सति प्रवेपमानेन चञ्चलेनाधरेणाधरोष्ठेन लक्ष्योऽनुमेय: कोप: क्रोधो यस्यास्तथोक्तया तया पार्वत्योपान्तलोहिते प्रान्तरक्ते विलोचने विकुञ्चिते कुटिलिते भ्रूलते यस्मिंस्तत्तथा। सभ्रूभङ्गमित्यर्थ:। तिर्यक्साच्याहिते निहिते अनादरात्तिर्यगैक्ष्यतेत्यर्थ:।

इस प्रकार शंकर जी के विषय में ब्रह्मचारी द्वारा कहे गए प्रतिकूल वचनों को सुनकर पार्वती के अधर क्रोध से फड़फड़ाने लगे, उनकी भौंहें टेढ़ी हो गईं, आँखों में लाली दौड़ गई तथा वह टेढ़ी निगाहों से उसकी ओर देखने लगीं ॥ ७४ ॥

उवाच चैनं परमार्थतो हरं न वेत्सि नूनं यत एवमात्थ माम् ।
अलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—अथ एनम् उवाच च । त्वं परमार्थतः हरं न वेत्सि नूनं । यतः माम् एवम् आत्थ । मन्दाः अलोकसामान्यम् अचिन्त्यहेतुकं महात्मनां चरितं द्विषन्ति ॥ ७५ ॥

सञ्जी०—उवाचेति ॥ अथैनं ब्रह्मचारिणमुवाच च । किमिति । परमार्थतस्तत्त्वतो हरं न वेत्सि न जानासि नूनम् । कुतः । यतो मामेवमुक्तया रीत्यात्थ ब्रवीषि । 'ब्रुवः पञ्चानामादितः—इति रूपसिद्धिः । अज्ञानादेवायं शिवद्वेषस्तवेत्याशयेनाह मन्दा मूढाः । 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः' इत्यमरः । लोकसामान्यमितरजनसाधारणं न भवतीत्यलोकसामान्यमचिन्त्यहेतुकं दुर्बोधकारणकं महात्मनां चरितम् । द्विषन्ति हेत्वपरिज्ञानाद्दूषयन्ति । विद्वांसस्तु कोऽप्यत्र हेतुरस्तीति बहु मन्यन्त इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

फिर उन्होंने उससे कहा—वास्तव में तुम उन शंकर जी को भली भाँति नहीं जानते हो । तभी तो मुझसे ऐसा कह रहे हो । मूर्ख लोग असाधारण महापुरुषों के चरित्र से अकारण ही शत्रुता रखते हैं ॥ ७५ ॥

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ।
जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतःकिमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—विपत्प्रतीकारपरेण भूतिसमुत्सुकेन वा मङ्गलं निषेव्यते । जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः आशोपहतात्मवृत्तिभिः एभिः किम् (प्रयोजनम्) ॥ ७६ ॥

सञ्जी०—विपदिति ॥ विपत्प्रतीकारपरेण । अनर्थपरिहारार्थिनेत्यर्थः । 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः । भूतिसमुत्सुकेनैश्वर्यकामेन वा मङ्गलं गन्धमाल्यादिकं निषेव्यते ! शरणे रक्षणे साधुः शरण्यः । 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । जगतः शरण्यस्तस्य जगच्छरण्यस्य निराशिषो निरभिलाषस्य सतः शिवस्य । आशीरुरगदंष्ट्रायां विप्रवाक्याभिलाषयोः' इति शाश्वतः । आशया तृष्णयोपहता दूषितात्मवृत्तिरन्तःकरणवृत्तिर्येषां तैरेभिर्मङ्गलैः

किम् । वृथेत्यर्थः । पूर्वं मङ्गलमित्येकवचनस्य जात्यभिप्रायत्वादेभिरिति बहुवचनेन परामर्शो न विरुध्यते । इष्टावाप्त्यनिष्टपरिहारार्थिनो हि मङ्गलाचारनिर्बन्धः । तदुभयासंसृष्टस्य तु यथाकथञ्चिदास्ताम् । को दोष इत्यर्थः । एतेन 'अमङ्गलाभ्यासरतिम्' । (५।६५) इत्युक्तं प्रत्युक्तं ॥ ७६ ॥

विपत्तियों का प्रतिकार करने में तत्पर अथवा ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए उद्यत लोग ही माङ्गलिक वस्तुओं का सेवन करते हैं किन्तु जो समस्त संसार को शरण देने वाले तथा सभी कामनाओं से शून्य हैं उन्हे (शंकर जी को) अंतः-कारण की वासना से दूषित मांगलिक पदार्थों की क्या आवश्यकता है ।। ७६ ।।

अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः ।
स भीमरूपः शिव इत्युदीर्यते न सन्ति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः ।। ७७ ।।

अन्वयः—स अकिञ्चनः सन् सम्पदां प्रभवः, पितृसद्मगोचरः सन् त्रिलोकनाथः, भीमरूपः सन् शिवः इति उदीर्यते । अतः पिनाकिनः याथार्थ्यविदः न सन्ति ।। ७७ ।।

सञ्जी०—अकिञ्चनेति ।। स हरः । न विद्यते किञ्चन द्रव्यं यस्य सोऽकिञ्चनो दरिद्रः सन् । सम्पदां प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । पितृसद्मगोचरः श्मशानाश्रयः सन् । त्रयाणां लोकानां नाथः । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिनोत्तरपदसमासः । स देवो भीमरूपो भयङ्कराकारः सन् । शिवः सौम्यरूप इत्युदीर्यते उच्यते । अतः पिनाकिनो हरस्य यथाभूतोऽर्थो यथार्थस्तस्य भावो याथार्थ्यं तत्त्वं तस्य विदो न सन्ति । लोकोत्तरमहिम्नो निर्लेपस्य यथाकथञ्चिदवस्थानं न दोषायेति भावः । एतेन 'अवस्तुनिर्बन्धपरे' (५।६६) इति परिहृतं वेदितव्यम् ।। ७७ ।।

वे स्वयं दरिद्र होते हुए भी समस्त सम्पत्तियों के जन्मदाता हैं, श्मशान-भूमि में निवास करते हुए भी तीनों लोकों के स्वामी हैं, भयङ्कर रूप वाले होने पर भी शिव (कल्याणकारी) शब्द से पुकारे जाते हैं । वास्तव में उनके यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला इस संसार में कोई है ही नहीं ।। ७७ ।।

विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा ।
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः ।। ७८ ।।

अन्वयः—विश्वमूर्तेः वपुः विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा, गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा, कपालि वा अथवा इन्दुशेखरं स्यात्, इति न अवधार्यते ।

सञ्जी०—विभूषणेति ।। विश्वं मूर्तिर्यस्येति विश्वमूर्तेरष्टमूर्तेः शिवस्य वपुः

शरीरं भूषणैरुद्भासत इति भूषणोद्भासि स्यात् । पिनद्धभोग्यामुक्तभुजङ्गमं वा स्यात् । पिनद्धेति नह्यतेरपिपूर्वात्कर्मणि क्तः । 'वष्टि मागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः । गजाजिनालम्बि स्यात् । अथवा दुकूलधारि स्यात् । कपालमस्यास्तीति कपालि ब्रह्मशिरः कपालशेखरं वा स्यात् । इन्दुशेखरं वा स्यात् । नावधार्यते न निर्धार्यते । सर्वं सम्भवतीत्यर्थः । एतेन 'त्वमेव तावत्' (५।६७) इति श्लोकोक्तं प्रत्युक्तमिति ज्ञेयम् ॥ ७८ ॥

वे तो विश्वरूप हैं (संसार के सभी रूप उन्हीं के रूप हैं) अतः उनके रूप के विषय में यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि वह आभूषणधारी हैं अथवा सांपो से लिपटा हुआ है, गर्जचर्मधारी है, अथवा दुकूलधारी है, नरमुंडो से युक्त है अथवा शिर पर चन्द्रमा धारण करनेवाला है ॥ ७८ ॥

तदङ्गसंसर्गमवाप्य कल्पते ध्रुवं चिताभस्मरजो विशुद्धये ।
तथाहि नृत्याभिनयक्रियाच्युतं विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—तदङ्गसंसर्गम् अवाप्य चिताभस्मरजः विशुद्धये कल्पते ध्रुवं, तथा हि—नृत्याभिनयक्रियाच्युतं तत् अम्बरौकसां मौलिभिः विलिप्यते ॥ ७९ ॥

सञ्जी०—तदिति ॥ तस्य शिवस्याङ्गं तस्य संसर्गमवाप्यासाद्य चिताभस्मैव रजोविशुद्धये कल्पते । अलं पर्याप्नोतीत्यर्थः । अलमर्थयोगात् 'नमः स्वस्तिस्वाहा—' इत्यादिना चतुर्थी । ध्रुवं शोधकत्वम् । प्रमाणसिद्धमित्यर्थः । प्रमाणमेवाह—तथाहि । प्रसिद्धमेवेत्यर्थः । नृत्ये ताण्डवे योऽभिनयोऽर्थव्यञ्जकचेष्टाविशेषः स एव क्रिया तया निमित्तेन च्युतं पतितम् । चिताभस्मरज इति शेषः । अम्बरौकसां देवानां मौलिभिर्विलिप्यते ध्रियते । अशुद्धं चेत्कथमिन्द्रादिभिर्ध्रियेतेत्यर्थापत्तिरनुमानं वा प्रमाणमित्यर्थः ॥ ७९ ॥

उनके शरीर का स्पर्श पाकर चिता की भस्म भी पवित्रता प्रदान करने वाली बन जाती है । इसी लिए ताण्डव नृत्य करते समय उनके शरीर से झड़कर गिरी हुई चिताभस्म को देवता लोग भी अपने शिर पर धारण करते हैं ॥ ७९ ॥

असम्पदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा ।
करोति पादावुपगम्य मौलिना विनिद्रमन्दाररजोऽरुणाङ्गुली ॥ ८० ॥

अन्वयः—प्रभिन्नदिग्वारणवाहनः वृषा असम्पदः वृषेण गच्छतः तस्य पादौ मौलिना उपगम्य विनिद्रमन्दाररजोऽरुणाङ्गुली करोति ॥ ८० ॥

सञ्जी०—असम्पद इति ।। प्रभिन्नो मदस्रावी दिग्वारणो दिग्गजो वाहनं यस्य सः । ऐरावतेनोढ इत्यर्थः । वृषा देवेन्द्रोऽसम्पदो दरिद्रस्य वृषेण गच्छतो वृषाभारूढस्य तस्येश्वरस्य पादौ मौलिना मुकुटेनोपगम्य । प्रणम्येत्यर्थः । विनिद्राणां विकसितानां मन्दाराणां कल्पतरुकुसुमानां रजोभिः परागैररुणा अङ्गुलयो ययोस्तौ तथोक्तौ करोति । दिग्गजारोहिणामिन्द्रादीनामपि वन्द्यस्येन्दुमौलेः किं सम्पदा, वृषारोहणे वा को दोष इत्यर्थः ।। ८० ।।

मदस्रावी दिग्गजों पर सवारी करने वाले इन्द्र आदि भी सम्पत्ति रहित तथा बैल पर चढ़कर चलने वाले शंकर जी के चरणों पर अपना मस्तक रखते और उस पर (मस्तक पर) स्थित खिले हुए मंदार पुष्प के पराग से उन चरणों की उँगलियों को लाल लाल बना देते हैं ।। ८० ।।

विवक्षता दोषमपि च्युतात्मना त्वयैकमीशं प्रति साधु भाषितम् ।
यमामनन्त्यात्मभुवोऽपि कारणं कथं स लक्ष्यप्रभवो भविष्यति ।। ८१ ।।

अन्वयः—च्युतात्मना दोषं विवक्षता अपि त्वया ईशं प्रति एकं साधु भाषितम् । यम् आत्मभुवः अपि कारणम् आमनन्ति, स कथं लक्ष्यप्रभवः भविष्यति ।। ८१ ।।

सञ्जी०—विवक्षतेति ।। च्युतात्मना नष्टस्वभावेनातएव दोषं दूषणं विवक्षता वक्तुमिच्छतापि त्वयेशं प्रत्येकम् 'अलक्ष्यजन्मता' इत्येतदेकम् । वच इत्यर्थः ।। साधु भाषितं सम्यगुक्तम् । कुतः । यमीश्वरमात्मभुवोऽपि ब्रह्मणोऽपि । 'ब्रह्मात्मभूः सुरज्येष्ठः' इत्यमरः । कारणमामनन्त्युदाहरन्ति । विद्वांस इति शेषः । 'पाघ्राध्मास्थाम्नादाण—' इत्यादिना मनादेशः । स ईश्वरः कथं लक्ष्यप्रभवो लक्ष्यजन्मा भविष्यति । अनादिनिधनस्य भगवतः कारणशङ्काकलङ्कश्च नान्विष्यत इत्यर्थः ।। ८१ ।।

अपने दुष्ट स्वभाव के कारण दोषों को गिनाते समय भी तुमने महादेव जी के विषय में एक बात सत्य ही कही है कि उनके कुल का कोई पता नहीं है । जिन्हें ब्रह्मा को भी उत्पन्न करने वाला बताया जाता है उन महेश्वर की उत्पत्ति मालूम ही कैसे हो सकती है ।। ८१ ।।

अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः ।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ।। ८२ ।।

अन्वयः—(अथवा) विवादेन अलं स त्वया यथा श्रुतः अशेषं तथाविधः अस्तु, मम मनः अत्र भावैकरसं स्थितं, कामवृत्तिः वचनीयं न ईक्षते ।। ८२ ।।

सञ्जी०—अलमिति । अथवा विवादेन कलहेनालम् । त्वया यथा येन प्रकारेण स ईश्वरः । श्रुतोऽशेषं कार्त्स्न्येन तथाविधस्तावत्प्रकार एवास्तु । मम मनस्त्वत्रेश्वरेभावः श्रृङ्गार एकोऽद्वितीयो रस आस्वाद्यो यस्य तत्तथा स्थितम् । तथाहि । कामवृत्तिः स्वेच्छाव्यवहारी वचनीयमस्थानसङ्गापवादं नेक्षते न विचारयति । न हि स्वेच्छासञ्चारिणो लोकापवादाद्विभ्यन्तीति भावः ।। ८२ ।।

अथवा इस प्रकार के विवाद से प्रयोजन ही क्या है ? तुमने शिव के विषय में जो कुछ सुन रखा है यदि वह यथार्थ ही हो तो भी मेरा मन तो एक मात्र उन्हीं शिव में दृढ़ता के साथ रम गया है । अपनी इच्छा से व्यवहार करनेवाला (प्रेम करनेवाल) निन्दा से कभी नहीं डरता ।। ८२ ।।

निवार्यतामालि ! किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः ।
न केवलं यो महतोऽपभाषते श्रृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ।। ८३ ।।

अन्वयः—हे आलि ! स्फुरितोत्तराधरः पुनः किमपि विवक्षुः अयं बटुः निवार्यताम् । तथा हि यः महतः अपभाषते न केवलं सः पापभाक्, अपि तु तस्मात् यः श्रृणोति, सोऽपि पापभाक् भवति ।। ८३ ।।

सञ्जी०—निवार्यतामिति ।। हे आलि सखि । 'आलिः सखी वयस्या च इत्यमरः । स्फुरितोत्तराधरः स्फुरणभूयिष्ठोष्ठोऽयं बटुर्माणवकः पुनः किमपि विवक्षुर्वक्तुमिच्छुः । ब्रुवः सन्नन्तादुप्रत्ययः । निवार्यताम् । तर्हि वक्तुमेव कथं न ददासीत्याह—तथाहि । यो महतः पूज्यानपभाषतेऽपवदति न केवलं स पापभाग्भवति । किन्तु तस्मादपभाषमाणात्पुरुषाद्यः श्रृणोति सोऽपि पापभाक् । भवतीति शेषः । अत्र स्मृतिः—'गुरोः प्राप्तः परीवादो न श्रोतव्यः कथञ्चन । कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ।।' इति ।। ८३ ।।

हे सखी ! देखो, इस ब्रह्मचारी का अधर फिर हिल रहा है, संभवतः वह फिर कुछ कहना चाहता है । अतः उसे मना कर दो कि अब कुछ भी न कहे । क्योंकि बड़ों का निन्दक ही पाप का भागी नहीं होता उसे सुननेवाला भी पाप का भागी होता है ।। ८३ ।।

इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला ।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः ।। ८४ ।।

अन्वयः—'अथवा इतः गमिष्यामि' इति वादिनी स्तनभिन्नवल्कला बाला चचाल । वृषराजकेतनश्च स्वरूपम् आस्थाय कृतस्मितः सन् तां समाललम्बे ।।८४।।

सञ्जी०—इत इति ॥ अथवेतोऽन्यत्र गमिष्यामिति वादिनी वदन्ती स्तनाभ्यां भिन्नवल्कला रयवशात्कुचस्रस्तचीरा बाला पार्वती चचाल। वृषराजकेतनो वृषभध्वजश्च स्वरूपमास्थाय निजरूपमाश्रित्य कृतस्मितः सन् तां पार्वतीं समालम्ब्ये जग्राह ॥ ८४ ॥

अथवा मैं ही यहाँ से हट जाती हूँ ऐसा कहकर पार्वती इतने झटके से घूमीं कि उनके स्तनों पर से वल्कल का आँचल हट गया। उसी समय भगवान शंकर ने अपने वास्तविक रूप को धारण करके मुस्कराते हुए जाती हुई पार्वती को पकड़ लिया ॥ ८४ ॥

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥८५॥

अन्वयः—तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिः निक्षेपणाय उद्धृतं पदं तथैव उद्वहन्ती शैलाधिराजतनया, मार्गाचलव्यतिकराकुलिता सिन्धुः इव न ययौ न तस्थौ ॥ ८५ ॥

सञ्जी०—तमिति ॥ तं देवं वीक्ष्य वेपथुमती कम्पवती सरसाङ्गयष्टिः खिन्नगात्री। महादेवदर्शनेन देव्याः सात्त्विकभावोदय उक्तः। निक्षेपणायान्यत्र विन्यासायोद्धृतमुत्क्षिप्तं पदमङ्घ्रिमुद्वहन्ती शैलाधिराजतनया पार्वती मार्गेऽचलस्तस्य व्यतिकरेण समाहत्या। अवरोधनेति यावत्। आकुलिता सम्भ्रमिता सिन्धुर्नदीव। 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इत्यमरः। न ययौ न तस्थौ। लज्जयेति भावः। वसन्ततिलकावृत्तमेतत् ॥ ८५ ॥

शंकर जी को देखकर पर्वतराज हिमालय की पुत्री पार्वती का शरीर काँपने लगा। वह पसीने पसीने हो गईं। उन्होंने जाने के लिए अपना एक चरण उठा तो लिया था किन्तु जैसे नदी के मार्ग में पहाड़ आ जाने से न वह आगे बढ़ती न पीछे लौट पाती है उसी तरह वह भी न तो जा ही सकीं न ठहर ही सकीं ॥ ८५ ॥

अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि ! तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ॥ ८६ ॥

अन्वयः—'हे अवनताङ्गि ! अद्य प्रभृति तव तपोभिः क्रीतः दासः अस्मि'

इति चन्द्रमौलौ वादिनि सति, सा अह्नाय नियमजं क्लमम् उत्ससर्ज । हि क्लेशः फलेन पुनः नवतां विधत्ते ॥ ८६ ॥

सञ्जी०—अद्येति ॥ चन्द्रमौलौ शिवे । हे अवनताङ्गि पार्वति, अद्य प्रभृति । अस्माद्दिनादारभ्येत्यर्थः । प्रभृतियोगादद्येति सप्तम्यर्थवाचिना पञ्चम्यर्थो लक्ष्यते । तव तपोभिः क्रीतः । दासृ दाने । दासत आत्मानं ददातीति दासोऽस्मीति वादिनि वदति सति । सा देव्यह्नाय सपदि । 'स्रग्झटित्यञ्जसाह्नाय द्राङ्मङ्क्षु सपदि द्रुतम्' इत्यमरः । नियमजं तपोजन्यं क्लमं क्लेशमुत्ससर्ज । फलप्राप्त्या क्लेशं विसस्मारेत्यर्थः । तथाहि । क्लेशः फलेन फलसिद्ध्या पुनर्नवतां विधत्ते पूर्ववदेवाक्लिष्टतामापादयतीत्यर्थः । सफलः क्लेश इति भावः ॥ ८६ ॥

हे सुंदर अंगों वाली पार्वती आज से मैं तपस्या द्वारा खरीदा गया तुम्हारा दास हूँ। शंकर जी के इस प्रकार कहते ही पार्वती ने अपने समस्त तपस्याजन्य कष्टों को भुला दिया। क्योंकि अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाने पर सारा क्लेश मिट जाता और नवीनता सी आ जाती है ॥ ८६ ॥

॥ पञ्चम सर्ग समाप्त ॥

षष्ठः सर्गः

अथ विश्वात्मने गौरी सन्दिदेश मिथः सखीम् ।
दाता मे भूभृतां नाथः प्रमाणीक्रियतामिति ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ गौरी विश्वात्मने मिथः सखीं 'भूभृतां नाथः मे दाता प्रमाणीक्रियताम्' इति सन्दिदेश ॥ १ ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथ देवदेवानुग्रहानन्तरं गौरी पार्वती विश्वमात्मा स्वरूपं यस्येति । विश्वस्यात्मेति वा । विश्वात्मने शिवाय मिथो रहसि । 'मिथोऽन्योऽन्यं रहस्यापि' इत्यमरः । सखीं सन्दिदेशातिससर्ज । क्रियामात्रयोगेऽपि सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । किमिति । भूभृतां नाथो हिमवान्मे मम दाता सन् । प्रमाणीक्रियतामिति । दातृत्वेन प्रमाणीक्रियतामित्यर्थः । प्रार्थनायां लोट् । पित्रा दीयमानायाः परिग्रहो मम महाननुग्रह इति भावः ॥ १ ॥

इसके पश्चात् पार्वती ने अपनी सखी द्वारा एकान्त में विश्वात्मा शङ्कर

जी से कहलाया कि मेरे पिता पर्वतराज हिमालय ही मुझे आपको दे सकते हैं। अतः इसके लिए उन्हीं से अनुरोध कीजिए।

तया व्यहृतसन्देशा सा बभौ निभृता प्रिये ।
चूतयष्टिरिवाभ्याशे मधौ परभृतोन्मुखी ॥ २ ॥

अन्वयः—तया व्याहृतसन्देशा प्रिये निभृता सा, मधौ निभृता परभृतोन्मुखी चूतयष्टिः इव अभ्याशे बभौ ॥ २ ॥

सञ्जी०-तयेति ॥ तया सखीमुखेनेत्यर्थः । व्याहृतसंदेशोक्तवाचिका प्रिये हरविषये निभृता निश्चला । परमासक्तेत्यर्थः । सा गौरी । मधौ वसन्ते निभृता स्थिरा परभृतया कोकिलयोन्मुखी मुखरा परभृतोन्मुखी । मुखशब्देनाभिभाषणव्यापारो लक्ष्यते । तथा च परभृतामुखेन व्याहरन्तीत्यर्थः । परभृतेति क्रियाशब्दविवक्षायाम् 'जातेरस्त्री—' इति ङीष्प्रत्ययो न भवति । तयेत्युपमेयस्य व्यस्तत्वादुपमानवाचिपरभृताशब्दस्य समासः सोढव्यः । अथवा भृद्भरणम् । सम्पदादित्वात्क्विप् । परैर्भृद्यस्यास्तया परभृतेति व्यासेन व्याख्येयम् । पदमञ्जरीकारस्तु परैर्भ्रियत इति कर्मणि क्विपमाह । चूतयष्टिश्चूतशाखेवाभ्याशेऽन्तिके बभौ । 'सदेशाभ्याशसविधसमर्यादसवेशवत् । उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम् ॥' इत्यमरः ॥ २ ॥

इस प्रकार अपनी सखी द्वारा सन्देश भेजकर पार्वती जी शंकर जी के प्रेम में इतनी मग्न हो गईं जैसे आम की शाखा अपने प्रिय वसन्त के पास कोकिल द्वारा संदेश भेजकर खिल उठती है ॥ २ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय विसृज्य कथमप्युमाम् ।
ऋषीञ्ज्योतिर्मयान्सप्त सस्मार स्मरशासनः ॥ ३ ॥

अन्वयः— सः स्मरशासनः तथा इति प्रतिज्ञाय, उमां कथमपि विसृज्य, ज्योतिर्मयान् सप्त ऋषीन् सस्मार ॥ ३ ॥

सञ्जी०—स इति ॥ स प्रकृतः । शास्तीति शासनः । बहुलग्रहणात्कर्तरि ल्युट् । स्मरस्य शासन ईश्वरस्तथेति प्रतिज्ञाय । तथा करिष्यामीत्युक्त्वेत्यर्थः । उमां कथमपि कृच्छ्रेण विसृज्य । तत्र गाढानुरागत्वादिति भावः । ज्योतिर्मयांस्तेजोरूपान्सप्तर्षीनङ्गिरः प्रभृतीन्सस्मार स्मृतवान् ॥ ३ ॥

कामदेव के भस्म करने वाले शंकर ने, "अच्छा ऐसा ही करूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करके किसी प्रकार पार्वती को वहां से विदा करने के पश्चात् परम तेजस्वी सप्त ऋषियों का स्मरण किया ॥ ३ ॥

ते प्रभामण्डलैर्व्योम द्योतयन्तस्तपोधनाः ।
सारुन्धतीकाः सपदि प्रादुरासन्पुरः प्रभोः ॥ ४ ॥

अन्वयः—ते तपोधनाः प्रभामण्डलैः व्योम द्योतयन्तः सारुन्धतीकाः सन्तः सपदि प्रभोः पुरः प्रादुरासन् ॥ ४ ॥

सञ्जी०—त इति ॥ ते तप एव धनं येषां ते तपोधनाः सप्तर्षयः प्रभामण्डलैस्तेजःपुञ्जैर्व्योमाकाशं द्योतयन्तः प्रकाशयन्तः अरुन्धत्या सह वर्तन्त इति सारुन्धतीकाः सन्तः । 'नद्यृतश्च' इति कप् । सपदि प्रभोरीश्वरस्य पुरः पुरोभागे प्रादुरासन्प्रत्यक्षा बभूवुः ॥ ४ ॥

वे तपस्वी सप्तऋषि अपने कांतिमंडल से आकाश को प्रकाशित करते हुए अरुन्धती के साथ तत्काल ही शंकर जी के सामने आकर प्रकट हो गए ॥ ४ ॥

आप्लुतास्तीरमन्दारकुसुमोत्किरवीचिषु ।
व्योमगङ्गाप्रवाहेषु दिङ्नागमदगन्धिषु ॥ ५ ॥

अन्वयः—तीरमन्दारकुसुमोत्किरवीचिषु दिङ्नागमदगन्धिषु व्योमगङ्गाप्रवाहेषु आप्लुताः ते प्रादुरासन् इति पूर्वेणान्वयः ॥ ५ ॥

सञ्जी०—आप्लुता इति ॥ उत्किरन्ति विक्षिपन्तीत्युत्किराः । 'इगुपध—' इत्यादिना कप्रत्ययः । तीरे ये मन्दाराः कल्पवृक्षास्तेषां कुसुमानामुत्किरा वीचयस्तरङ्गा येषां तेषु दिङ्नागानां दिग्गजानां मदगन्धो येष्विति तथोक्तेषु व्योमगङ्गाप्रवाहेष्वाकाशगङ्गास्रोतः स्वाप्लुताः स्नाताः ॥ ५ ॥

वे सप्तर्षिगण उस आकाश गंगा में स्नान किये हुए थे जिसके किनारे पर स्थित मंदार वृक्षों के गिरे हुए फूल लहरों पर बहते रहते हैं तथा जिसका जल दिग्गजों के मद की सुगन्ध से सुगंधित रहता है ॥ ५ ॥

मुक्तायज्ञोपवीतानि बिभ्रतो हैमवल्कला ।
रत्नाक्षसूत्राः प्रव्रज्यां कल्पवृक्षा इवाश्रितः ॥ ६ ॥

अन्वयः—मुक्तायज्ञोपवीतानि विभ्रतः हैमवल्कलाः रत्नाक्षसूत्राः प्रव्रज्याम् आश्रितः कल्पवृक्षाः इव स्थिताः ते प्रादुरासन् इति पूर्वेणान्वयः ॥ ६ ॥

सञ्जी०—मुक्तेति ॥ मुक्तानां मौक्तिकानां यज्ञोपवीतानि मुक्तामयानीत्यर्थः । बिभ्रतो दधानाः । हेममयानि वल्कलानि येषां ते हैमवल्कलाः । रत्नमयान्यक्षसूत्राणि येषां ते रत्नाक्षसूत्राः । प्रव्रज्यां प्रव्रजनम् । 'व्रजयजोर्भावे क्यप्' इति क्यप् । आश्रिताः कल्पवृक्षा इव स्थिताः । अत्र चतुर्थाश्रमवाचिना प्रव्रज्याशब्देन

वानप्रस्थाश्रमो लक्ष्यते । 'जहुः परिग्रहव्रीडां प्राजापत्यस्तपस्विनः' (६।३४) इति सपत्नीकत्वाभिधानात् 'सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वानुगतोऽपि सन्' इति वानप्रस्थस्योभयथा स्मरणात् ॥ ६ ॥

उन ऋषियों ने मोती से बने यज्ञोपवीत एवं स्वर्णमय वल्कल धारण कर रखा था। उनकी अक्षमाला रत्नों से बनी हुई थी। (इस प्रकार उन्हें देखकर) ऐसा प्रतीत होता था मानो कल्पवृक्षों ने ही सन्यास ले लिया हो ॥ ६ ॥

अधः प्रस्थापिताश्वेन समावर्जितकेतुना ।
सहस्ररश्मिना साक्षात्सप्रणाममुदीक्षिताः ॥ ७ ॥

अन्वयः—अघ प्रस्थापिताश्वेन समावर्जितकेतुना सहस्ररश्मिना साक्षात् सप्रणामम् उदीक्षिताः ते प्रादुरासन् इति पूर्वेणान्वयः ॥ ७ ॥

सञ्जी०—अघ इति ॥ अधः प्रस्थापिताश्वेन । सूर्यमण्डलोपरिवर्तित्वात्सप्तर्षिमण्डलस्येति भावः । समावर्जितकेतुना तन्मण्डलाघातशङ्कया नामितध्वजेन सहस्ररश्मिना सूर्येण साक्षात्स्वयमेव सप्रणाममुदीक्षिताः । गमनाभ्यनुज्ञादानपर्यन्तमित्यर्थः । भगवतः सूर्यस्याप्युपास्या इति भावः ॥ ७ ॥

उन सप्तर्षियों के मंडल के नीचे से जाते हुए हजार किरणों वाले सूर्य देव भी अपने रथ के घोड़ों को रोक कर तथा रथ की पताका को झुका कर बड़ी नम्रता के साथ आँखे उठा कर उन्हें प्रणाम करते हैं ॥ ७ ॥

आसक्तबाहुलतया सार्धमुद्धृतया भुवा ।
महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्ताः प्रलयापदि ॥ ८ ॥

अन्वयः—प्रलयापदि आसक्तबाहुलतया उद्धृतया भुवा सार्धं महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्ताः ते प्रादुरासन् इति पूर्वेणान्वयः ॥ ८ ॥

सञ्जी०—आसक्तेति ॥ पुनः किंविधाः प्रलयापदि कल्पान्तसङ्कट आसक्तबाहुलतया । दंष्ट्रायामिति शेषः । उद्धृतया । दंष्ट्रयेति शेषः । भुवा सार्धं धरण्या सह महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्ताः । महाप्रलयेऽप्यविनाशिन इत्यर्थः ॥ ८ ॥

वे सप्तर्षि गण प्रलयकालीन विपत्ति में भी महावाराह द्वारा दांतों पर रखी गई पृथ्वी को अपनी बाहों से पकड़ कर उसी पर विश्राम करते हैं ॥ ८ ॥

सर्गशेषप्रणयनाद्विश्वयोनेरन्तरम् ।
पुरातनाः पुराविद्भिर्धातार इति कीर्तिताः ॥ ९ ॥

अन्वयः—विश्वयोनेः अनन्तरं सर्गशेषप्रणयनात् पुराविद्भिः पुरातनाः धातार इति कीर्तिताः ते प्रादुरासन् इति पूर्वेणान्वयः ॥ ९ ॥

सञ्जी०—सर्गेति ॥ विश्वयोनेर्ब्रह्मणोऽनन्तरं सर्गशेषस्य प्रणयनात् । ब्रह्मसृष्टावशिष्टसृष्टेः करणाद्धेतोरित्यर्थः । पुराविद्भिः पुराणवेदिभिर्व्यासादिभिः पुरातना धातार इति कीर्तिताः । विश्वयोनेरिति सम्बन्धमात्रे षष्ठी । तस्यानन्तरमिति भाष्ये दर्शनात् । अपादानत्वविवक्षायां तु पञ्चमी । अयमदः शब्दो यथाशब्दावृत्तादनन्तरस्येति शाबर भाष्ये दर्शनात् । तथा 'अथातो धर्मजिज्ञासा वेदाध्यायादनन्तरम्' इत्याचार्याः । कविश्च 'पुराणपत्त्रापगमादनन्तरम्' इति । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

विश्वयोनि ब्रह्माके पश्चात् शेष सृष्टि की रचना ये ही सप्तर्षि करते हैं। इसी लिये पुराविद लोग इन्हें प्राचीन विधाता के नाम से पुकारते हैं ॥ ९ ॥

प्राक्तनानां विशुद्धानां परिपाकमुपेयुषाम् ।
तपसामुपभुञ्जानाः फलान्यपि तपस्विनः ॥ १० ॥

अन्वयः—प्राक्तनानां विशुद्धानां परिपाकम् उपेयुषां तपसां फलानि उपभुञ्जानाः अपि तपस्विनः ते प्रादुरासन् इति पूर्वेणान्वयः ॥ १० ॥

सञ्जी०—प्राक्तनानामिति ॥ प्राक्तनानां जन्मान्तरभवानां विशुद्धानां निर्मलानां परिपाकं फलदानोन्मुखत्वमुपेयुषां गतानां तपसां फलान्युपभुञ्जाना अपि तपस्विनस्तपोनिष्ठाः । प्रारब्धभोगिनो निस्पृहाश्चेति भावः । कुलकम् ॥ १० ॥

ये सप्तर्षिगण अपने पूर्व जन्म में किए गए पुण्य कर्मों एवं तपस्या के फलों का उपभोग कर रहे हैं किंतु आज भी ये लोग उसी प्रकार तपस्या में लीन हैं ॥ १० ॥

तेषां मध्यगता साध्वी पत्युः पादार्पितेक्षणा ।
साक्षादिव तपःसिद्धिर्बभासे बह्वरुन्धती ॥ ११ ॥

अन्वयः— तेषां मध्यगता साध्वी पत्युः पादर्पितेक्षणा अरुन्धती साक्षात् तपःसिद्धिः इव बहु बभासे ॥ ११ ॥

सञ्जी०—तेषामिति ॥ तेषामृषीणां मध्यगता साध्वी पतिव्रता । अतएव पत्युर्वसिष्ठस्य पादयोरर्पितेक्षणा निविष्टदृष्टिररुन्धती साक्षात्प्रत्यक्षा तपःसिद्धिरिव तेषामेवेति शेषः । तेषां मध्यगतेति लिङ्गवचनादिसाम्यादियमुपमा । बहु भूयिष्ठं बभासे भाति स्म ॥ ११ ॥

इन सप्तर्षियोंके बीच में अपने पति के चरणों की ओर दृष्टि लगाए हुए अरुन्धती इस प्रकार सुशोभित हो रही थीं मानो तपस्या की मूर्तिमती सिद्धि हों ।११।

तामगौरवभेदेन मुनींश्चापश्यदीश्वरा ।
स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—ईश्वरः तां मुनीन् च अगौरवभेदेन अपश्यत् । हि यतः स्त्री पुमान् इति एषा अनास्था । किन्तु सतां वृत्तं महितं भवति ॥ १२ ॥

सञ्जी०—तामिति ॥ ईश्वरो भगवांस्तामरुन्धतीं मुनींश्चागौरवभेदेन समानप्रतिपत्यापश्यद्दृष्टवान् । न चायमविवेक इत्याह—हि यस्मात्स्त्रीपुमांश्चेत्येषानास्था स्त्रीपुंसभेदो न विवक्षितः । किन्तु सतां साधूनां वृत्तं चरित्रमेव महितं पूज्यम् । 'गुणाः पूज्यस्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः' इति भावः ॥ १२ ॥

शंकर जी ने उन सप्तर्षियों के बीच में स्थित अरुन्धती तथा ऋषियों को समान गौरव की दृष्टि से देखा । क्योंकि महान लोग स्त्री-पुरुष का भेद नहीं करते, वे केवल उनके चरित्र को ही महत्व देते हैं ॥ १२ ॥

तद्दर्शनादभूच्छम्भोर्भूयान् दारार्थमादरः ।
क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—तद्दर्शनात् शम्भोः दारार्थम् आदरः भूयान् अभूत् । धर्म्याणां क्रियाणां सत्पत्न्यः मूलकारणं खलु ॥ १३ ॥

सञ्जी०—तदिति ॥ तद्दर्शनादरुन्धतीदर्शनाच्छंभोर्दारार्थं परिग्रहार्थमादरो भूयान्बहुतरोऽभूत् । ननु दाराः कुत्रोपयुज्यन्त इत्यत्राह—धर्म्याणां धर्मादनपेतानाम् । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः । क्रियमाणानामिज्यादीनां सत्यः पतिव्रताः पत्न्यः सत्पत्न्यः । 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इति ङीप् । नकारश्च । मूलकारणं खलु ॥

उन सप्तर्षियों के बीच में अरुन्धतीको देखकर शंकर जी के मन में दारपरिग्रहण (स्त्री के प्रति) के प्रति अत्यंत आदर भाव बढ़ गया । क्योंकि साधु स्वभाव की पत्नियाँ हीं सभी धार्मिक कृत्यों का मूल कारण होती हैं ॥ १३ ॥

धर्मेणापि पदं शर्वे कारिते पार्वतीं प्रति ।
पूर्वापराधभीतस्य कामस्योच्छ्वसितं मनः ॥ १४ ॥

अन्वयः—धर्मेण अपि शर्वे पार्वतीं प्रति पदं कारिते सति, पूर्वापराधभीतस्य कामस्य मनः उच्छ्वसितम् ॥ १४ ॥

सञ्जी०—धर्मेणेति ॥ धर्मेण दारसंजिघ्रक्षालक्षणेनापि कर्त्रा । शर्वे ईश्वरे

पार्वतीं प्रति पदं कारिते सति । 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इति शर्वस्याणिकर्तुः कर्मत्वम् । पुरापराधभीतस्य कामस्य मन उच्छ्वसितम् । पुनरुज्जीवनावकाशो भवतीति सप्रत्याशमभूदित्यर्थः ।। १४ ।।

यद्यपि शंकर जी के मन में पार्वती को ग्रहण करने की यह इच्छा धर्म के कारण उत्पन्न हुई थी तथापि पहले के अपराध से डरे हुए कामदेव के मन में पुनर्जीवन की आशा जाग उठी ।। १४ ।।

अथ ते मुनयः सर्वे मानयित्वा जगद्गुरुम् ।
इदमूचुरनूचानाः प्रीतिकण्टकितत्वचः ।। १५ ।।

अन्वयः—अथ अनूचानाः प्रीतिकण्टकितत्वचः ते सर्वे मुनयः जगद्गुरुं मानयित्वा इदम् ऊचुः ।। १५ ।।

सञ्जी०—अथेति ।। अथानूचानाः । साङ्गवेदप्रवक्तारः । 'अनूचानः प्रवचने साङ्गेऽधीती गुरोस्तु यः' इत्यमरः । 'उपेयिवाननश्वाननूचानश्च' इति निपातः । प्रीत्या कण्टकिताः पुलकितास्त्वचो येषां ते तथोक्ताः । ते सर्वे मुनयो जगद्गुरुं हरं मानयित्वा पूजयित्वेदं वक्ष्यमाणमूचुः ।। १५ ।।

सामवेद के प्रवक्ता तथा प्रेम से रोमाञ्चित शरीर वाले उन सप्तर्षियों ने जगद्गुरु शिव की पूजा करके उनसे इस प्रकार कहा ।। १५ ।।

यद् ब्रह्म सम्यगाम्नातं यदग्नौ विधिना हुतम् ।
यच्च तप्तं तपस्तस्य विपक्वं फलमद्य नः ।। १६ ।।

अन्वयः—ब्रह्म सम्यक् आम्नातं यत्, अग्नौ विधिना हुतं यत्, तपः तप्तं यत्, तस्य फलम् अद्य नः विपक्वम् ।। १६ ।।

सञ्जी०—यदिति ।। ब्रह्म वेदः । 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म' इत्यमरः । सम्यङ्नियमपूर्वकमाम्नातमधीतमिति यत् । अग्नौ विधिना हुतमिति यत् । तपश्चान्द्रायणादिकं तप्तमिति च यत्तस्याध्ययनेज्यातपोरूपस्य आश्रमत्रयसाध्यस्य कृत्स्नस्यापि कर्मणि इत्यर्थः । समुदायाभिप्रायकमेकवचनमन्यथावृत्त्यान्वयप्रसङ्गात् । न च नपुंसकैकवद्भावोऽनपुंकेनेति नियमात् । फलं कार्यमद्य नोऽस्माकं विपक्वम् । सुनिष्पन्नमित्यर्थः । कर्मणि क्तः । 'पचो वः' इति निष्ठातस्य वत्वम् ।। १६ ।।

हम लोगों ने अब तक जो नियम पूर्वक वेदों का अध्ययन किया, अग्नि में आहुतियाँ दीं एवं तपस्याएँ की, आज उन सबका फल हमें प्राप्त हो गया ।।१६।।

यदध्यक्षेण जगतां वयमारोपितास्त्वया ।
मनोरथस्याविषयं मनोविषयमात्मनः ॥ १७ ॥

अन्वयः—यत् जगताम् अध्यक्षेण त्वया वयं मनोरथस्य अविषयम् आत्मनः मनोविषयम् आरोपिताः ॥ १७ ॥

सञ्जी०—यदिति ॥ यद्यस्मात्कारणाज्जगतामध्यक्षेणाधिपेन त्वया वयं मनोरथस्याभिलाषस्याविषयमगोचरमात्मनः स्वस्य मनोविषयं मनोदेशमारोपिताः प्रापिताः । तस्माद्विपक्वं फलमिति पूर्वेण सम्बन्धः । सकलजगदन्वेष्टव्यस्य भगवतोऽपि वयमन्वेष्या भवाम इति परमोत्कृष्टा वयमिति भावः ॥ १७ ॥

क्योंकि आप इस समस्त जगत के स्वामी हैं और आपके जिस मन तक कोई भी अभिलाषा नहीं पहुँच पाती, उसी मन से आपने हम लोगों का स्मरण किया है ॥ १७ ॥

यस्य चेतसि वर्तेथाः स तावत्कृतिनां वरः ।
किं पुनर्ब्रह्मयोनेर्यस्तव चेतसि वर्तते ॥ १८ ॥

अन्वयः—यस्य चेतसि वर्तेथाः स तावत् कृतिनां वरः अस्ति, ब्रह्मयोनेः तव चेतसि यः वर्तते स किं पुनः ॥ १८ ॥

सञ्जी०—यस्येति ॥ यस्य जनस्य चेतसि वर्तेथाः येन स्मर्यस इत्यर्थः । स तावत्स एव कृतिनां कृतकृत्यानां वरः श्रेष्ठः । ब्रह्मणो वेदस्य वेधसो वा योनेः कारणस्य यद्वावेदप्रमाणकस्य । तव चेतसि यो वर्तते । त्वया स्मर्यत इत्यर्थः । किं पुनः । स कृतिनां वर इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

जिसके हृदय में आप विद्यमान रहते हैं, वह कृत्कृत्यों में सर्वश्रेष्ठ होता है किंतु वेदों के जन्मदाता आपके चित्त में जो बसे उसकी श्रेष्ठता के विषय में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है ॥ १८ ॥

सत्यमर्काच्च सोमाच्च परमध्यास्महे पदम् ।
अद्य तूच्चैस्तरं ताभ्यां स्मरणानुग्रहात्तव ॥ १९ ॥

अन्वयः—अर्कात् सोमात् च परं पदम् अध्यास्महे सत्यम् । अद्य तु तव स्मरणानुग्रहात् ताभ्याम् उच्चैस्तरं पदम् अध्यास्महे ॥ १९ ॥

सञ्जी०—सत्यमिति ॥ अर्कात्सूर्याच्च सोमाच्चन्द्राच्च परमुच्चैः पदं स्थानमध्यास्महे तिष्ठामः । वयमिति शेषः । सत्यम् । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति कर्मत्वम् । अद्य तु तव कर्तुः । स्मरणमेवानुग्रहः प्रसादस्तस्माद्धेतोः । ताभ्या-

मर्केन्दुभ्यामुच्चैस्तरमत्युच्चं पदम् । अध्यास्महे इति सम्बन्धः । उच्चैस्तरमिति द्रव्यप्रकर्षत्वान्नामुप्रत्ययः ।। १९ ।।

यह सच है कि हम लोगों का स्थान सूर्य तथा चन्द्रमा से भी ऊपर है किंतु आपने कृपा करके आज जो मेरा स्मरण किया है, उससे तो हम लोगों का पद और भी अधिक ऊँचा हो गया है ।। १९ ।।

त्वत्सम्भावितमात्मनं बहु मन्यामहे वयम् ।
प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः ।। २० ।।

अन्वयः—वयं त्वत्सम्भावितम् आत्मानं बहु मन्यामहे । उत्तमादरः स्वगुणेषु प्रायः प्रत्ययम् आवत्ते ।। २० ।।

सञ्जी०—त्वदिति ।। वयं त्वया सम्भावितं सत्कृतं त्वत्सम्भावितमात्मानमात्मस्वरूपं बह्वधिकं यथा तथा मन्यामहे । तथाहि । उत्तमादरः सत्पुरुषकर्तृकः सत्कारः स्वगुणेषु विषये प्रायेण भूम्ना प्रत्ययं विश्वासमाधत्ते जनयति । सर्वस्यापि महाजनपरिग्रह एव पूज्यताहेतुरित्यर्थः ।। २० ।।

आपने हम लोगों को जो आदर दिया है उससे हम लोग अपने आपको बहुत ही धन्य धन्य समझ रहे हैं । क्योंकि प्रायः बड़े लोगों का सम्मान पाने से ही अपने गुणों में विश्वास होता है ।। २० ।।

या नः प्रीतिर्विरूपाक्ष ! त्वदनुध्यानसम्भवा ।
सा किमावेद्यते तुभ्यमन्तरात्माऽसि देहिनाम् ।। २१ ।।

अन्वयः— हे विरूपाक्ष ! नः त्वदनुध्यानसम्भवा या प्रीतिः, सा तुभ्यं किम् आवेद्यते । त्वं देहिनाम् अन्तरात्मा असि ।। २१ ।।

सञ्जी०—येति ।। हे विरूपाक्ष ! त्वदनुध्यानसम्भवा त्वत्कर्तृकस्मरणजन्या नोऽस्माकं या प्रीतिः सा प्रीतिस्तुभ्यं किमावेद्यते किमर्थं निवेद्यते । तथाहि । देहिनां प्राणिनामन्तरात्मान्तर्याम्यसि । सर्वसाक्षिणा त्वयास्मत्प्रीतिरनावेदितापि ज्ञायत एव यतस्ततो न बुद्धबोधनं सम्भवतीति भावः ।। २१ ।।

हे त्रिलोचन ! आपके स्मरण करने से हमलोगो को जो आनन्द मिला है, उसे आप के सामने प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि आप तो सभी प्राणियों के हृदय की बातें जानते हैं ।। २१ ।।

साक्षाद् दृष्टोऽसि न पुनर्विद्मस्त्वां वयमञ्जसा ।
प्रसीद कथयात्मानं न धियां पथि वर्तसे ।। २२ ।।

अन्वयः—हे देव ! साक्षात् दृष्टः असि, अञ्जसा पुनः त्वां वयं न विद्मः, अतः प्रसीद, आत्मानं कथय, धियां पथि न वर्तसे ॥ २२ ॥

सञ्जी०—साक्षादिति ॥ हे देव, साक्षात्प्रत्यक्षेण दृष्टोऽसि । अञ्जसा पुनस्तत्त्वस्तु त्वां वयं न विद्मः । दृश्यमानस्य रूपस्यातात्त्विकत्वादिति भावः । अतः प्रसीदानुगृहाण । आत्मानं निजस्वरूपं कथय । न चाकथितं तत्सुबोधमित्याह—धियां बुद्धीनां पथि न वर्तसे । अतस्त्वयैव त्वद्रूपं कथनीयमित्यर्थः ॥ २२ ॥

यद्यपि हम लोग आपको प्रत्यक्ष देख रहे हैं तथापि आपके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते हैं । क्योंकि आप तो बुद्धि द्वारा भी अगम्य हैं । अतः कृपा करके अपना स्वरूप हमें बताइए ॥ २२ ॥

किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत् ।
अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते ॥ २३ ॥

अन्वयः—हे देव ! एष ते भागः, किं येन व्यक्तं सृजसि सः, उत येन तत् बिभर्षि सः, अथ यः विश्वस्य संहर्ता सः, कतमः ? ॥ २३ ॥

सञ्जी०—किमिति ॥ हे देव, एष दृश्यमानस्ते भागो मूर्तिः किम् । येन भागेन व्यक्तं प्रपञ्चं सृजसि सः । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात्सर्वत्र तच्छब्दोऽध्याहार्यः । उत येन भागेन तद्व्यक्तं बिभर्षि पालयसि स वा । अथ यो भागस्तस्य विश्वस्य संहर्ता स वा । किमादयः सन्देहे । कतमः । ब्रह्मविष्णुमहेश्वरेष्वयं कतमो भागस्तदुच्यतामित्यर्थः ॥ २३ ॥

हे देव, प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली आप की यह मूर्ति, क्या वही है जिससे आप संसार की सृष्टि करते हैं, अथवा वह है जिससे संसार को धारण करते हैं अथवा वह है जिससे संसार का संहार करते हैं ॥ २३ ॥

अथवा सुमहत्येषा प्रार्थना देव ! तिष्ठतु ।
चिन्तितोपस्थितांस्तावच्छाधि नः करवाम किम् ? ॥ २४ ॥

अन्वयः—अथवा हे देव ! सुमहती एषा प्रार्थना तिष्ठतु । चिन्तितोपस्थितान् नः तावत् शाधि, किं करवाम् ? ॥ २४ ॥

सञ्जी०—अथवेति ॥ अथवा हे देव, सुमहती । गुह्यतमत्वादतिदुर्लभेत्यर्थः । एषा प्रार्थना निजरूपनिरूपणप्रार्थना तिष्ठतु । किन्तु चिन्तितेम चिन्तिता एवोपस्थिताश्चिन्तितोपस्थितास्तान्नोऽस्मांस्तावच्छाध्याज्ञापय किं करवाम । प्रार्थनायां लोट् । अलमप्रस्तुतेन प्रस्तुते तावन्नियुङ्क्ष्वेत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथवा हे देव, हमारी यह प्रार्थना तो बहुत लम्बी हो सकती है, अतः इसे अभी रहने दिया जाय। पहले यह बताइए कि आपने मुझे किस लिए स्मरण किया है और हमें क्या करना हैं ॥ २४ ॥

अथ मौलिगतस्येन्दोर्विशदैर्दशनांशुभि ।
उपचिन्वन्प्रभां तन्वीं प्रत्याह पमेश्वरः ॥ २५ ॥

अन्वयः—अथ परमेश्वरः मौलिगतस्य इन्दोः तन्वीं प्रभां विशदैः दशनांशुभिः उपचिन्वन् प्रत्याह ॥ २५ ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथ परमेश्वरो मौलिगतस्येन्दोस्तन्वीमल्पाम्। कलामात्रत्वादिति भावः। प्रभां कान्ति विशदैः शुभ्रैर्दशनांशुभिरुपचिन्वन्वर्धयन्प्रत्याह। प्रत्युवाचेत्यर्थः ॥ २५ ॥

(सप्तर्षियों की यह प्रार्थना सुन कर) परमेश्वर महादेव अपने मस्तक पर स्थित चन्द्रकला की क्षीण कांति को अपने दाँतों की उज्ज्वल किरणों से बढ़ाते हुए बोले ॥ २५ ॥

विदितं वो यथा स्वार्था न मे काश्चित्प्रवृत्तयः ।
ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थंभूतोऽस्मि सूचितः ॥ २६ ॥

अन्वयः—हे मुनयः! काश्चित् मे प्रवृत्तयः यथा स्वार्था न तथा वः विदितम्। अष्टाभिः मूर्तिभिः इत्थम्भूतः सूचितः अस्मि ॥ २६ ॥

सञ्जी०—विदितमिति ॥ हे मुनयः, काश्चिदपि मे प्रवृत्तयो व्यापाराः स्वार्था न भवन्ति यथा तथा वो युष्माकं विदितम्। वाक्यार्थः कर्म। बुद्ध्यर्थत्वाद्वर्तमाने क्तः तद्योगात्षष्ठी। प्रवृत्तिपारार्थ्ये प्रमाणमाह—अष्टाभिर्मूर्तिभिरित्थंभूतं इमं प्रकारं परार्थप्रवृत्तिरूपं प्राप्तः। 'भू प्राप्तौ' इति धातो कर्तरि क्तः। सूचितो ज्ञापितोऽस्मि। मत्स्वमूर्तिचेष्टया स्वपारार्थ्यमनुमेयमित्यर्थः ॥ २६ ॥

आप लोग तो यह जानते ही हैं कि मेरी कोई भी प्रवृत्ति स्वार्थ से प्रेरित नहीं होती है। यही बात मेरी आठों मूर्तियों द्वारा भी सूचित होती है ॥ २६ ॥

सोऽहं तृष्णातुरैर्वृष्टिं विद्युत्वानिव चातकैः ।
अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रति याचितः ॥ २७ ॥

अन्वयः—सः अहं 'तृष्णातुरैः चातकैः वृष्टिं विद्युत्वान् इव' अरिविप्रकृतैः देवैः प्रसूतिं प्रति याचितः अस्मि ॥ २७ ॥

सञ्जी०—सोऽहमिति ॥ स परार्थवृत्तिरहं तृष्णातुरैश्चातकैर्वृष्टिं विद्युत्वान्मेघ

इवारिविप्रकृतैः शत्रुपीडितैर्देवैः प्रसूतिं पुत्रोत्पादनं प्रतियाचितः । याचतेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः ॥ २७ ॥

जिस प्रकार प्यास से व्याकुल चातक (स्वाती के) बादलों से वृष्टि की याचना करते हैं उसी प्रकार शत्रुओं से व्याकुल देवताओं ने मुझसे सन्तान की याचना की है ॥ २७ ॥

अत आहर्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने ।
उत्पत्तये हविर्भोक्तुर्यजमान इवारणम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—अतः आत्मजन्मने पार्वतीं यजमानः हविर्भोक्तुः उत्पत्तये अरणिम् इव आहर्तुम् इच्छामि ॥ २८ ॥

सञ्जी०—अत इति ॥ अतः सुरप्रार्थितत्वाद्धेतोरात्मने पुत्राय । पुत्रमुत्पादयितुमित्यर्थः । 'क्रियार्थोपपदस्य—' इत्यादिना चतुर्थी । पार्वतीं यजमानो यष्टा । 'पूङ्यजोः शानन्' इति शानन्प्रत्ययः । हविर्भोक्तुरग्नेरुत्पत्तयेऽरणिमग्निमन्थनदारुविशेषमिव । 'निर्मन्थ्यदारुणि त्वरणिर्द्वयोः' इत्यमरः । आहर्तुं संग्रहीतुमिच्छामि ॥ २८ ॥

इस लिये जैसे यजमान अग्नि उत्पन्न करने के लिए अरणि (अग्नि मन्थन करने की विशेष प्रकार की लकड़ी) लाने की इच्छा करता है वैसे ही मैं भी संतानप्राप्ति के लिए पार्वती को अपने घर में लाने की इच्छा कर रहा हूँ ॥ २८ ॥

तामस्मदर्थे युष्माभिर्याचितव्यो हिमालयः ।
विक्रियायै न कल्पन्ते सम्बन्धाः सदनुष्ठिताः ॥ २९ ॥

अन्वयः—अस्मदर्थे युष्माभिः तां हिमालयः याचितव्यः, सदनुष्ठिताः सम्बन्धाः विक्रियायै न कल्पन्ते ॥ २९ ॥

सञ्जी०—तामिति ॥ अस्मदर्थेऽस्मत्प्रयोजने निमित्ते सति युष्माभिस्तां पार्वतीं हिमालयो हिमवान्याचितव्यः । याचेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि तव्यप्रत्ययः । आवश्यकं चैतदित्याह—सद्भिः सत्पुरुषैरनुष्ठिताः सङ्घटिताः सम्बन्धाः यौनादयो विक्रियायै वैकल्योत्पादनाय न कल्पन्ते न पर्याप्नुवन्ति । न समर्था इत्यर्थः । अलमर्थयोगाच्चतुर्थी ॥ २९ ॥

इस लिए आप लोग मेरी ओर से जाकर हिमालय से पार्वती की याचना कीजिए । क्योंकि सज्जनों द्वारा स्थापित किए गए संबंध में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होने पाता है ॥ २९ ॥

उन्नतेन स्थितिमता धुरमुद्वहता भुवः ।
तेन योजितसम्बन्धं वित्त मामप्यवञ्चितम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—उन्नतेन स्थितिमता भुवः धुरम् उद्वहता तेन योजितसम्बधं मामपि अवञ्चितं वित्त ॥ ३० ॥

सञ्जी०—उन्नतेनेति ॥ उन्नतेन प्रांशुना प्रसिद्धेन च स्थितिमता प्रतिष्ठावता भुवो धुरं भारमुद्वहता । निर्वाहकेणेत्यर्थः । तेन हिमवता योजितः संघटितः सम्बन्धो यौनसंबन्धो यस्य तं मामप्यवञ्चितमव्यामोहितं वित्त जानीत । 'विद् ज्ञाने' इति धातोर्लोट् ॥ ३० ॥

अत्यंत उच्च, सुप्रतिष्ठित एवं सम्पूर्ण पृथ्वी का भार धारण करने वाले हिमालय से यदि मेरा संबंध हो जाय तो आप लोग मुझको भी कृतार्थ ही समझिए ॥ ३० ।'

एवं वाच्यः स कन्यार्थमिति वो नोपदिश्यते ।
भवत्प्रणीतमाचारमामनन्ति हि साधवः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—'कन्यार्थं स एवं वाच्यः' इति वः न उपदिश्यते । हि साधवः भवत्प्रणीतम् आचारम् आमनन्ति ॥ ३१ ॥

सञ्जी०—एवमिति ॥ कन्यार्थं कन्याप्रदानाय स हिमवानेवं वाच्य इति वो युष्मभ्यं नोपदिश्यते । कुतः । हि यस्मात्साधवो विद्वांसो भवद्भिः प्रणीतं स्मृतिरूपेण निबद्धमाचारमामनन्त्युपदिशन्ति । न हि स्वयमुपदेष्टारः परोपदेशमपेक्षन्त इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

आप लोग कन्यादान के लिये हिमालय से किस प्रकार कहेंगे—यह मैं आप लोगों से क्या कहूँ, क्योंकि सज्जन लोग आप लोगों के बनाए हुए आचार नियमों का ही तो पालन करते हैं ॥ ३१ ॥

आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापारं कर्तुमर्हति ।
प्रायेणैवंविधे कार्ये पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता ॥ ३२ ॥

अन्वयः—आर्या अरुन्धती अपि तत्र व्यापारं कर्तुम् अर्हति । प्रायेण एवंविधे कार्ये पुरन्ध्रीणां प्रगल्भता भवति ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—आर्येति ॥ आर्या पूज्यारुन्धत्यपि तत्र विवाहकृत्ये व्यापारं साहाय्यं कर्तुमर्हति । तथाहि । प्रायेण प्राचुर्येणैवंविधे कार्ये विवाहादिकार्ये । दुर्घट इत्यर्थः । पुरन्ध्रीणां कुटुम्बिनीनाम् । 'स्यात्तु कुटुम्बिनी । पुरन्ध्री' इत्यमरः । प्रगल्भता चातुर्यम् । स्त्रीप्रधानेषु कृत्येषु स्त्रीणामेव घटनापाटवमिति भावः ॥३२॥

इस कार्य में आर्या अरुन्धती को भी कुछ सहायता करनी होगी। क्यों कि प्रायः इस प्रकार के विवाह आदि कार्यों में कुटुम्बिनी स्त्रियाँ अधिक कुशल होती हैं।

तत्प्रयातौषधिप्रस्थं सिद्धये हिमवत्पुरम्।
महाकोशीप्रपातेऽस्मिन्सङ्गमः पुनरेव नः॥ ३३॥

अन्वयः—तद् ओषधिप्रस्थं हिमवत्पुरं सिद्धये प्रयात। अस्मिन् महाकोशीप्रपाते एव नः पुनः सङ्गमः भवतु॥ ३३॥

सञ्जी०—तदिति॥ तत्तस्मात्कारणादोषधिप्रस्थं नाम हिमवत्पुरं हिमवन्नगरं सिद्धये कार्यसिद्ध्यर्थं प्रयात गच्छत। अस्मिन्पुरोवर्तिनि। महाकोशी नाम तत्रत्या काचिन्नदी तस्याः प्रपाते भृगावेव। सा नदी यत्र पतति तस्मिन्नित्यर्थः। 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः, इत्यमरः। नोऽस्माकं पुनः सङ्गमः। अस्त्विवति शेषः। भवत्समागमं प्रतिपालयन्नहमिहैव निवत्स्यामीत्यर्थः॥ ३३॥

अब आप लोग इस कार्य की सिद्धि के लिए हिमालय के ओषधिप्रस्थ नामक नगर को जाइए। महाकोशी नामक नदी के झरने के निकट ही हमलोगों की फिर मुलाकात होगी॥ ३३॥

तस्मिन्संयमिनामाद्ये जाते परिणयोन्मुखे।
जहुः परिग्रहव्रीडां प्राजापत्यास्तपस्विनः॥ ३४॥

अन्वयः—संयमिनाम्। आद्ये तस्मिन् परिणयोन्मुखे जाते सति प्राजापत्याः तपस्विनः परिग्रहव्रीडां जहुः॥ ३४॥

सञ्जी०—तस्मिन्निति॥ संयमिनां योगिनामाद्ये तस्मिन्नीश्वरे परिणयोन्मुखे विवाहोत्सुके जाते सति प्रजापतेरिमे प्राजापत्याः। ब्रह्मपुत्रा इत्यर्थः। तपस्विनो मुनयः परिग्रहैः पत्नीभिर्व्रीडाम्। गार्हस्थ्यनिमित्तामित्यर्थः। 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः। जहुस्तत्यजुः। जहातेर्लिटि रूपम्। न हि समानगुणदोषेषु व्रीडागमोऽस्तीति भावः॥ ३४॥

संयमियों में सर्वश्रेष्ठ महादेवजी को इस प्रकार विवाह के लिये उत्सुक देख कर उन सप्तर्षियों में स्वयं अपने विवाह के कारण उत्पन्न होने वाली लज्जा समाप्त हो गई॥ ३४॥

ततः परममित्युक्त्वा प्रतस्थे मुनिमण्डलम्।
भगवानपि सम्प्राप्तः प्रथमोद्दिष्टमास्पदम्॥ ३५॥

अन्वयः—ततः मुनिमण्डलं परमम् इति उक्त्वा प्रतस्थे। भगवान् अपि प्रथमोद्दिष्टम् आस्पदं सम्प्राप्तः॥ ३५॥

सञ्जी०—तत इति ।। ततोऽनन्तरं मुनिमण्डलं मुनिसमूहः परममित्युक्त्वा ओमित्युक्त्वा अनुमन्येत्यर्थः । अव्ययमेतत् 'ओमेवं परमं मतम्' इत्यमरः । प्रतस्थे । भगवानीश्वरोऽपि प्रथमोद्दिष्टं पूर्वसङ्केतितमास्पदं स्थानं महाकोशीप्रपातं संम्प्राप्तः ।। ३५ ।।

इसके पश्चात् बहुत अच्छा—यह कहकर सप्तर्षियों का मंडल वहाँ से चल पड़ा और भगवान शिव भी पहले बताए गए स्थान पर पहुँच गए ।। ३५ ।।

ते चाकाशमसिश्याममुत्पत्य परमर्षयः ।
आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः ।। ३६ ।।

अन्वयः—मनसा समरंहसः ते परमर्षयश्च असिश्यामम् आकाशम् उत्पत्य ओषधिप्रस्थम् आसेदुः ।

सञ्जी०—त इति । मनसा समरंहसो मनस्तुल्यवेगास्ते परमर्षयश्च । पूर्वश्लोकोक्तेश्वरसमुच्चयार्थश्चकारः । असिवच्छ्यामं नीलमाकाशं खं प्रत्युत्पत्यौषधिप्रस्थंहिमवत्पुरमासेदुः । सद्यः प्रापुरित्यर्थः ।। ३६ ।।

मन के समान तीव्र गति वाले वे सप्तर्षि नीले आकाश में उड़ते हुए उस ओषधिप्रस्थ नामक नगर में पहुँच गए ।। ३६ ।।

अलकामतिवाह्येव वसतिं वसुसम्पदाम् ।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशितम् ।। ३७ ।।

अन्वयः—वसुसम्पदां वसतिम् अलकाम् अतिवाह्य इव, स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वा इव उपनिवेशितम् ओषधिप्रस्थमासेदुरिति पूर्वेणान्वयः ।। ३७ ।।

सञ्जी०—अलकामिति ।। वसुसम्पदां धनसमृद्धीनां वसतिं स्थानमलकां कुबेरनगरीमतिवाह्य । परिच्छिद्येति यावत् । उपनिवेशितमिव स्थितम् । तथा स्वर्गस्याभिष्यन्दोऽतिरेकः । अतिरिक्तजन इति यावत् । तस्य वमनं निःसारणं कृत्वोपनिवेशितमिव स्थितम् । उभयत्रापि कौटिल्यः— 'भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवादेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्' इति । अलकामरावत्यतिशयितसमृद्धिकमित्यर्थः ।। ३७ ।।

वह ओषधिप्रस्थ नगर धन-सम्पदा में कुबेर की नगरी अलका से भी बढ़ चढ़ कर था । ऐसा प्रतीत होता था कि स्वर्ग में न अँट सकने वाली अतिरिक्त धन सम्पदा और समस्त विभूतियाँ यहाँ लाकर रख दी गई हों ।। ३७ ।।

गङ्गास्रोतःपरिक्षिप्तं वप्रान्तर्ज्वलितौषधि ।
बृहन्मणिशिलासालं गुप्तावपि मनोहरम् ।। ३८ ।।

अन्वयः—गङ्गास्रोतः परिक्षिप्तं वप्रान्तर्ज्वलितौषधि बृहन्मणिशिलासालं गुप्तौ अपि मनोहरम् ओषधिप्रस्थमासेदुरिति पूर्वेणान्वयः ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—गङ्गेति ॥ गङ्गायाः स्रोतोभिः प्रवाहैः परिक्षिप्तं परिवेष्टितम् । तैरेव सपरिखमित्यर्थः । वप्रश्चयः । प्राकारचैत्यमिति यावत् । 'स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम्' इत्यमरः । तस्यान्तर्मध्ये ज्वलिताः प्रकाशमाना ओषधयो यस्य तत्तथोक्तम् । ज्वलितौषधित्वाद्रात्रिषु सञ्चारिणां दीपनिरपेक्षमित्यर्थः । बृहद्विपुलो मणिशिलानां माणिक्यानां सालः प्राकारो यस्य तत्तथोक्तम् । 'प्राकारो वरणः सालः' इत्यमरः । अतएव गुप्तावपि संवरणेऽपि मनोहरम् । अकृतिमदुर्गसंवरणमिति भावः ॥ ३८ ॥

उस नगरी के चारों ओर परिखा (खाई) के रूप में गंगा की धारा बह रही थी, चारों ओर बनी हुई चहार दीवारी पर ओषधियाँ चमक रही थीं और मणियों के बने परकोटों में छिपे रहने पर भी वह अत्यन्त मनोरम लगता था ॥३८

जितसिंहभया नागा यत्राश्वा बिलयोनयः ।
यक्षाः किम्पुरुषाः पौरा योषितो वनदेवताः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—यत्र नागाः जितसिंहभयाः, अश्वाः बिलयोनयः, यक्षाः किम्पुरुषाः पौराः, वनदेवताः योषितः ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—जितेति ॥ यत्र पुरे नागा गजा जितं सिंहेभ्यो भयं यस्ते तथोक्ताः । सिंहाधिकबला इत्यर्थः । नाथस्तु 'पदं तुषारस्रुतिधौतरक्तम्' (१।६) इत्येतद्विरोधभयात् 'वीतवीतभयाः' इति पपाठ । तथा न भेतव्यं तत्र वनगजानां सिंहहतत्वाभिधानात् । अत्र त्वोषधिप्रस्थगजानां हिमवन्महिम्ना सिंहातिरेकसम्भवेनाविरोधादिति । 'वीतवीतभयाः' इति पाठे वीतं विगतं वीतात्पादाङ्कुशकर्मभ्यां भयं येषां ते तथोक्ताः । स्वभावविनीता इत्यर्थः । 'पादकर्मयुतं प्रोक्तं यातमङ्कुशवारणम् । 'उभयं वीतमाख्यातम्' इति यादवः । अश्वा बिलयोनयो बिलसम्भवाः । अन्यत्र तु न तथेति वैचित्र्यम् । उक्तं च—'अमृताद्बाष्पतो वह्नेर्वेदेभ्योऽण्डाच्च गर्भतः । साम्नो हयानामुत्पत्तिः सप्तधा परिकीर्तिता ॥' इति । यक्षाः प्रसिद्धाः । किम्पुरुषाः किन्नराश्च पौराः पुरजनाः वनदेवता एव योषितः । न तु मानुष्य इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

वहाँ के हाथी सिंहों के भय को जीत लेने वाले (सिंहों से निर्भय) तथा घोड़े बिल जाति के थे । यक्ष और किन्नर ही वहाँ के नागरिक तथा वनदेवियाँ ही स्त्रियाँ थीं ॥ ३९ ॥

शिखरासक्तमेघानां व्यज्यन्ते यत्र वेश्मनाम् ।
अनुगर्जितसन्दिग्धाः करणैर्मुरजस्वनाः ॥ ४० ॥

अन्वयः—अत्र शिखरासक्तमेघानां वेश्मनाम् अनुर्गजितसन्दिग्धा मुरजस्वनाः करणैः व्यज्यन्ते ॥ ४० ॥

सञ्जी०—शिखरेति ॥ यत्र पुरे शिखरेष्वासक्ता मेघा येषां तेषां वेश्मनां सम्बन्धिनः अनुगर्जितानि प्रतिगर्जितानि तैः संदिग्धा मुरजस्वनाः करणैस्तालव्यवस्थापकैस्ताडनविशेषैः। तदुक्तं राजकन्दर्पेण—नृत्यवादित्रगीतानां प्रयोगवशभेदिनाम्। संस्थानं ताडनं रोधः करणानि प्रचक्षते ॥' इति। व्यज्यन्ते स्फुटीक्रियन्ते ॥ ४० ॥

उस नगर के महलों पर सदा बादल छाये रहते थे। अतः जब कभी उन महलों में मृदंग बजने लगते थे तब पहले तो लोगों को यह भ्रम हो जाता था कि बादल ही गरज रहे हैं, किंतु बाद में उन्हें लय ताल आदि से यह पता चल जाता था कि मृदंग बज रहे हैं ॥ ४० ॥

यत्र कल्पद्रुमैरेव विलोलविटपांशुकैः।
गृहयन्त्रपताकाश्रीरपौरादरनिर्मिता ॥ ४१ ॥

अन्वयः—यत्र विलोलविटपांशुकैः कल्पद्रुमैः एव अपौरादरनिर्मिता गृहयन्त्रपताका श्रीः भवति ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—यत्रेति ॥ यत्र नगरे विलोलानि चञ्चलानि विटपेष्वंशुकानि येषां तैः कल्पद्रुमैरेवापौरादरेण पौरादरं विनैव निर्मिता। अयत्नसिद्धेत्यर्थः। गृहेषु यानि यन्त्राण्याधारदारूणि तेषु पताकास्तासां श्रीः सम्भवतीति शेषः। तत्र लम्बाम्बराः कल्पतरव एव वैजयन्तीति संभाव्यन्त इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

पल्लवों से युक्त कल्पवृक्ष की चंचल डालियाँ हीं उस नगर की पताकाएँ थीं। यद्यपि नागरिकों ने उन्हें बनाया नहीं था फिर भी ऐसा लगता था मानो घरों पर डंडे खड़े करके उनमें पताकाएँ बाँध दी गई हों ॥ ४१ ॥

अत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु।
ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—यत्र नक्तं स्फटिकहर्म्येषु आपानभूमिषु ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि उपहारतां प्राप्नुवन्ति ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—यत्रेति। यत्र पुरे नक्तं रात्रौ स्फटिकहर्म्येष्वापानभूमिषु पानगोष्ठीप्रदेशेषु ज्योतिषां नक्षत्राणां प्रतिबिम्बान्युपहारतां पुष्पोपहारत्वं मौक्तिकोपहारत्वं वा प्राप्नुवन्ति ॥ ४२ ॥

उस नगर के मदिरालय स्फटिक के बने हुए भवनों में स्थित थे। जिनपर

रात्रि के समय पड़ने वाले तारों के प्रतिबिम्ब मुक्ताहार की तरह प्रतीत होते थे ।। ४२ ।।

यत्रौषधिप्रकाशेन नक्तं दर्शितसञ्चराः ।
अनभिज्ञास्तमिस्राणां दुर्दिनेष्वभिसारिकाः ।। ४३ ।।

अन्वयः—यत्र दुर्दिनेषु नक्तम् ओषधिप्रकाशेन दर्शितसञ्चराः अभिसारिकाः तमिस्राणाम् अनभिज्ञाः भवन्ति ।। ४३ ।।

सञ्जी०—यत्रेति । यत्र पुरे दुर्दिनेषु मेघाच्छन्नदिवसेषु नक्तमोषधीनां तृणज्योतिषां प्रकाशेन संचरन्त एभिरिति सञ्चराः पन्थानः 'गोचरसञ्चर'—इत्यादिना घप्रत्ययान्तो निपातः । दर्शितसञ्चराः प्रकाशितमार्गा अभिसारिकाः कान्तार्थिन्यः । 'कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केतं साभिसारिका' इत्यमरः । तमिस्राणां तमसाम् । कृद्योगात्कर्मणि षष्ठी । अनभिज्ञाः तमांसि नाभिजानन्तीत्यर्थः ।। ४३ ।।

रात्रि के समय वहाँ के मार्ग ओषधियों के प्रकाश से इतने साफ साफ दिखाई पड़ते थे कि बरसात की अँधेरी रात में भी अभिसारिकाओं को अन्धकार का अनुभव नहीं होता था ।। ४३ ।।

यौवनान्तं वयो यस्मिन्नान्तकः कुसुमायुधात् ।
रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा संज्ञाविपर्ययः ।। ४४ ।।

अन्वयः—यस्मिन् वयः यौवनान्तं, कुसुमायुधाद् (अन्यः) अन्तकः न, रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा एव संज्ञाविपर्ययः ।। ४४ ।।

सञ्जी०—यौवनान्तमिति ।। यस्मिन्पुरे वयो यौवनान्तं यौवनावधिकम् । सर्वेऽप्यजरा इत्यर्थः । तथा कुसुमायुधात्कामात् । अन्य इति शेषः । अन्तको मृत्युर्न । अस्तीति शेषः । विरहिणां तादृग्दुःखोत्पादकत्वादन्तकत्वोपचारः । कामं विना मृत्युर्नास्तीत्यर्थः । अतएव तत्कार्यभूतमरणाभाव इत्याशयेनाह—रतीति । रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रा सुप्तिरेव संज्ञाविपर्ययश्चेतनापगमः । न तु दीर्घनिद्रारूप इत्यर्थः । अत्रत्याः सर्वेऽजरामरा इति श्लोकतात्पर्यार्थः । अन्तयत्यन्तं करोतीत्यन्तकः । अन्तयतेस्तत्करोतीति ण्यन्ताद्यत्प्रत्ययः ।। ४४ ।।

उस नगर में आयु के अंत तक यौवन ही रहता था, कामदेव को छोड़ कर और कोई किसी का वध करने वाला नहीं था तथा सम्भोग की थकावट से आने वाली नींद के अतिरिक्त अन्य कोई चेतनाशून्यता नहीं थी ।। ४४ ।।

भ्रूभेदिभिः सकम्पोष्ठैर्ललिताङ्गुलितर्जनैः ।
यत्र कोपैः कृताः स्त्रीणामाप्रसादार्थिनः प्रियाः ।। ४५ ।।

अन्वयः—यत्र प्रियाः भ्रूभेदिभिः सकम्पोष्ठैः ललिताङ्गुलितर्जनैः स्त्रीणां कोपैः आप्रसादार्थिनः कृताः ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—भ्रूभेदिभिरिति ॥ तत्र पुरे प्रिया युवानो भ्रूभेदिभिर्भ्रूभङ्गवद्भिः सकम्पा ओष्ठा येषु तैर्ललितान्यङ्गुलितर्जनानि येषु तैः स्त्रीणां कोपैर्मानाख्यैरा-प्रसादार्थिन आप्रसादं प्रसादपर्यन्तमर्थिनो याचकाः कृताः । न तु शत्रुकोपैरिति भावः ॥ ४५ ॥

वहाँ की रमणियाँ हीं भौंहें टेंढ़ी करके होठों को कँपा-कँपा कर तथा उँगलियाँ चमका-चमका कर धमकाती हुई अपने प्रेमियों के प्रति तब तक क्रोध दिखलाती थीं जब तक वे प्रेमी उन्हें मनाकर प्रसन्न नहीं कर लेते (इसके अतिरिक्त वहाँ क्रोध का दर्शन भी नहीं होता) ॥ ४५ ॥

सन्तानकतरुच्छायासुप्तविद्याधराध्वगम् ।
यस्य चोपवनं बाह्यं गन्धवद्गन्धमादनम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—सन्तानकतरुच्छायासुप्तविद्याधराध्वगं गन्धवद् गन्धमादनं यस्य बाह्यम् उपवनम् अस्ति ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—सन्तानकेति ॥ किञ्चेति चार्थः । सन्तानकतरोश्छायासु सुप्ता विद्याधरा देवताविशेषास्त एवाध्वगा यस्मिंस्तत्तथोक्तं गन्धवद्गन्धाढ्यं गन्धमादनं नाम गिरिर्यस्य पुरस्य बहिर्भवं बाह्यमुपवनमारामः । सन्तानकतरुच्छायेत्यत्र पूर्वपदार्थबाहुल्यसम्भवेऽपि 'शलभच्छायम्' 'इक्षुच्छायम्' इतिवत्समर्थच्छायानिष्पत्ते-स्तदपेक्षाभावात् 'छाया बाहुल्ये' इति नपुंसकत्वं नास्तीत्यनुसन्धेयम् । अत्र 'गन्ध-वद्गन्धमादनम्' इत्यागन्तुकः पाठः । प्राचीनपाठस्तु 'सुगन्धिर्गन्धमादनः' इति पुंलिङ्गान्तः । अतएव क्षीरस्वामिना 'गन्धमादनमन्ये च, इत्यत्र गन्धेन मादय-तीति गन्धमादन इति व्याख्याय प्रयोगे च पुंलिङ्गता दृश्यत इत्याशयेनोक्तं 'सुगन्धिर्गन्धमादनः' इति कालिदास इति ॥ ४६ ॥

गन्धमादन नामक पर्वत ही उस नगर का उपवन है, जहाँ कल्पवृक्षों की छाया में पथिक विद्याधर सोकर विश्राम किया करते हैं ॥ ४६ ॥

अथ मुनयो दिव्याः प्रेक्ष्य हैमवतं पुरम् ।
स्वर्गाभिसन्धिसुकृतं वञ्चनामिव मेनिरे ॥ ४७ ॥

अन्वयः—अथ ते दिव्याः मुनयः हैमवतं पुरं प्रेक्ष्य स्वर्गाभिसन्धिसुकृतं वञ्चनाम् इव मेनिरे ॥ ४७ ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथ ते दिवि भवा दिव्या मुनयो हिमवत इदं हैमवतं

पुरं प्रेक्ष्य स्वर्गाभिसन्धिना स्वर्गोद्देशेन यत्सुकृतं ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठानं तत्स्वर्गाभिसन्धिसुकृतं वञ्चनां प्रतारणामिव मेनिरे । हिमवन्नगरमवेक्ष्य स्वर्गस्य पुण्यफलत्वं वदता वेदेन वयं विप्रलब्धा इत्यर्थः । स्वर्गादतिरमणीयमिति भावः ॥ ४७ ॥

हिमालय के उस नगर को देखकर उन दिव्य सप्तर्षियों को ऐसी अनुभूति हुई कि स्वर्गप्राप्ति के लिए हम लोगों ने जो उतना पुण्य अर्जित किया, उसमें हम लोग ठगे ही गए हैं ॥ ४७ ॥

ते सद्मानि गिरेर्वेगादुन्मुखद्वाःस्थवीक्षिताः ।
अवतेरुर्जटाभारैर्लिखितानलनिश्चलैः ॥ ४८ ॥

अन्वयः—लिखितानलनिश्चलैः जटाभारैः उपलक्षिताः ते उन्मुखद्वाःस्थवीक्षिताः सन्तः गिरेः सद्मनि वेगाद् अवतेरुः ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—त इति ॥ लिखितानलनिश्चलैः । चित्रगतज्वलननिष्पन्दैरिति वेगप्रकर्षोक्तिः । जटाभारैरुपलक्षितास्ते मुनयः । द्वारि तिष्ठन्तीति द्वाःस्था द्वारपालकाः 'प्रतिहारे द्वारपालद्वाःस्थद्वाःस्थितदर्शकाः' इत्यमरः । गिरेर्हिमवतः सद्मनि वेगादवतेरुरवतीर्णवन्तः ॥ ४८ ॥

चित्र में लिखित अग्नि की निश्चल लपटों के समान जटाओं से युक्त वे सप्तर्षि जब अत्यन्त वेग के साथ हिमालय के भवन पर उतरे तब द्वारपालों ने मुख उठाकर उन्हें आश्चर्य के साथ देखा ॥ ४८ ॥

गगनादवतीर्णा सा यथावृद्धपुरःसरा ।
तोयान्तर्भास्करालीव रेजे मुनिपरम्परा ॥ ४९ ॥

अन्वयः—गगनाद् अवतीर्णा यथावृद्धपुरःसरा सा मुनिपरम्परा तोयान्तः भास्कराली इव रेजे ॥ ४९ ॥

सञ्जी०—गगनादिति ॥ गगनादवतीर्णावरूढा यथावृद्धं वृद्धानुक्रमेण स्थिताः पुरःसरा अग्रेसरा यस्यां सा तथोक्ता । अनुपसर्जनाधिकारान्न ङीप् । सा मुनिपरम्परा मुनिपङ्क्तिस्तोयान्त स्तोयाभ्यन्तरे भास्कराली प्रतिबिम्बितार्कपङ्क्तिरिव रेजे । एतेन मुनीनां तेजस्वित्वेऽपि सुखसन्दर्शनं सूचयति । भास्कराणां भूयिष्ठत्वसम्भावनार्थं तोयान्तरित्युक्तम् । अतएव बहुत्वसिद्धिश्च ॥ ४९ ॥

बड़े छोटे के क्रम से उतरती हुई वह ऋषि परम्परा ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो बहते हुए जल के बीच सूर्य के प्रतिबिम्बों की पंक्तियां हों ॥ ४९ ॥

तानर्घ्यानर्घ्यमादाय दूरात्प्रत्युद्ययौ गिरिः ।
नमयन्सारगुरुभिः पादन्यासैर्वसुन्धराम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—गिरिः अर्घ्यम् आदाय सारगुरुभिः पादन्यासैः वसुन्धरां नमयन् अर्घ्यान् तान् दूरात् प्रत्युद्ययौ ॥ ५० ॥

सञ्जी०—तानिति ॥ गिरिर्हिमवानर्घ्यमर्घार्थं जलमादाय सारगुरुभिरन्तःसारदुर्भरैः पादन्यासैर्वसुन्धरां नमयन्नधः प्रापयन् । अर्घमर्हन्तीत्यर्घ्यान्पूज्यान् । दण्डादित्वाद्यप्रत्ययः । तान्मुनीन्दूरात्प्रत्युद्ययौ ॥ ५० ॥

उन पूज्य ऋषियों के लिए अर्घ्य लेकर हिमालय ने दूर तक आकर उनका स्वागत किया । उस समय उसके ठोस एवं भारयुक्त पैरों के बोझ से धरती पग पग पर धसकने सी लगी ॥ ५० ॥

धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः ।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥ ५१ ॥

अन्वयः—धातुताम्राधरः प्रांशुः देवदारुबृहद्भुजः प्रकृत्या एव शिलोरस्कः अतः हिमवान् इति सुव्यक्तः अभूत् ॥ ५१ ॥

सञ्जी०—धात्विति ॥ धातुवत्ताम्रोऽधरो यस्य स तथोक्तः । अन्यत्र धातुरेव ताम्रोऽधरो यस्य । प्रांशुरुन्नतः । उभयत्रापि समानम् । देवदारुवद्बृहन्तौ भुजौ यस्य स तथोक्तः । देवदारव एव बृहन्तौ भुजौ यस्येत्यन्यत्र । प्रकृत्या स्वभावेनैव शिलावदुरो यस्य स शिलोरस्कः । शिलैवेत्यन्यत्र । 'उरः प्रभृतिभ्यः कप्' इति कप् । अतो हिमवानिति सुव्यक्तः ।वर्तमाने क्तः । सत्यं स एवायं हिमवानिति तद्धर्मप्रत्यभिज्ञानादवधारित इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

गेरु आदि धातुओं की लाल चट्टानों के से अधरों वाले, देवदारु के बड़े-बड़े बड़े वृक्षों की लम्बी भुजाओं वाले तथा स्वभावतः पत्थर की चट्टानों की चौड़ी एवं पुष्ट छाती वाले उसे देखते ही सप्तर्षियों ने पहिचान लिया कि यही हिमालय है ॥ ५१ ॥

विधिप्रयुक्तसत्कारैः स्वयं मार्गस्य दर्शकः ।
स तैराक्रमयामास शुद्धान्तं शुद्धकर्मभिः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—सः विधिप्रयुक्तसत्कारैः शुद्धकर्मभिः तैः स्वयं मार्गस्य दर्शकः सन् शुद्धान्तम् आक्रमयामास ॥ ५२ ॥

सञ्जी०—विधीति ॥ स हिमवान्विधिना शास्त्रेण प्रयुक्तसत्कारैः कृतार्चनैः शुद्धकर्मभिरदुष्टचरितैः । शुद्धान्तप्रवेशार्हैरित्यर्थः । तैर्मुनिभिः स्वयं मार्गस्य दर्शयतीति दर्शको दर्शयिता सन् । पश्यतेर्ण्यन्तादण्प्रत्ययः । शुद्धान्तमन्तःपुर-

माक्रमयामास। प्रवेशयामासेत्यर्थः। अत्र क्रमेरगत्यर्थत्वात् 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना तैँरित्यस्य न कर्मत्वम् ॥ ५२ ॥

हिमालय ने विधि-विधान के साथ अतिथि सत्कार करके उन सत्कर्म करने वाले सप्तर्षियों को स्वयं मार्ग दिखाते हुए अपने अन्तःपुर में उन्हें प्रविष्ट किया ॥ ५२ ॥

तत्र वेत्रासनासीनान् कृतासनपरिग्रहः।
इत्युवाचेश्वरान्वाचं प्राञ्जलिर्भूधरेश्वरः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—तत्र वेत्रासनासीनान् ईश्वरान् भूधरेश्वरः कृतासनपरिग्रहः प्राञ्जलिः सन् इति उवाच ॥ ५३ ॥

सञ्जी०—तत्रेति ॥ वेत्रं लताविशेषः तत्र शुद्धान्ते वेत्रासनासीनान्वेत्रमयविष्टरोपविष्टानीश्वरान्प्रभून्मुनीन्भूधरेश्वरो हिमवान्कृतासनपरिग्रहः। उपविष्टः सन्नित्यर्थः। प्राञ्जलिः कृताञ्जलिः सन्। इत्येवं वाचमुवाच ॥ ५३ ॥

वहाँ पहुँचकर वेत के आसन पर उन ऋषियों के बैठ जाने के पश्चात् स्वयं एक आसन पर बैठकर पर्वतराज हिमालय ने हाथ जोड़कर उन प्रभुत्वशाली ऋषियों से इस प्रकार कहा ॥ ५३ ॥

अपमेघोदयं वर्षमदृष्टकुसुमं फलम्।
अतर्कितोपपन्नं वो दर्शनं प्रतिभाति मे ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अतर्कितोपपन्नं वः दर्शनं मे अपमेघोदयं वर्षम्, अदृष्टकुसुमं फलं प्रतिभाति ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—अपेति ॥ अतर्कितोपपन्नमविचारितमेवोपगतम्। अत्यन्तासम्भावितमित्यर्थः। वो युष्माकं दर्शनमपमेघोदयं वर्षमनभ्रा वृष्टिस्तथादृष्टं कुसुमं यस्य तत्तथोक्तं फलं च तन्मे प्रतिभाति। अतिदुर्लभलाभः संवृत्त इत्यर्थः। अत्र मेघोदयकुसुमरूपकारणयोरभावेऽपि वर्षफलरूपकार्ययोरुदयाभिधानाद्विभावना। मुनिदर्शनस्य विशिष्टवृत्तित्वेन च रूपणाद्रूपकालङ्कारश्चेत्युभयोः संसृष्टिः ॥ ५४ ॥

आप लोगों का यह आकस्मिक दर्शन मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे बिना बादलों के वर्षा हो गई हो अथवा बिना फूलों के फल लग गए हों ॥५४॥

मूढं बुद्धमिवात्मानं हैमीभूतमिवायसम्।
भूमेर्दिवमिवारूढं मन्ये भवदनुग्रहात् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—भवदनुग्रहाद् आत्मानं मूढं बुद्धम् इव, आयसं हैमीभूतम् इव भूमेः दिवम् आरूढम् इव, मन्ये ॥ ५५ ॥

सञ्जी०—मूढमिति । भवदनुग्रहादात्मानं मां मूढं बुद्धि विना कृतं बुद्धमिव मूढो भूत्वा यो बुद्धवांस्तमिव । कर्तरि क्तः । आयसमयोविकारं हैमीभूतम् । आयसत्वं विहाय सौवर्णत्वं प्राप्तमिवेत्यर्थः । भूमेर्भूलोकाद्दिवं स्वर्गमारूढमिव मन्ये । ज्ञानरूपस्थानान्यद्य मे परमुत्कृष्यन्त इति भावः ॥ ५५ ॥

आप लोगों की इस कृपा से मैं अपने आप को ऐसा समझ रहा हूँ कि आज मैं मूढ़ से ज्ञानी बन गया हूँ, लोहे से सोना हो गया हूँ तथा अकस्मात् भूलोक से स्वर्ग में पहुँच गया हूँ ॥ ५५ ॥

अद्यप्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये ।
यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अद्यप्रभृति भूतानां शुद्धये अधिगम्यः अस्मि । हि यद् अर्हद्भिः अध्यासितं, तत् तीर्थं प्रचक्षते ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—अद्येति ॥ अद्यप्रभृतीति आरभ्य भूतानां प्राणिनां शुद्धयेऽधिगम्योऽस्मि । शुद्ध्यर्थिनां तीर्थभूतोऽस्मीत्यर्थः । भवदागमनादिति शेषः । हि यस्मात् । यदर्हद्भिः सद्भिरध्यासितमधिष्ठितम् । जुष्टमिति यावत् । तत्तीर्थं प्रचक्षते । 'निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ' इत्यमरः ॥ ५६ ॥

मैं आज से सचमुच सभी प्राणियों के लिए आत्मशुद्धि का पवित्र स्थान बन गया हुँ। क्योंकि जिस स्थान पर महान लोगों का निवास होता है, वही तीर्थस्थान कहा जाता है ॥ ५६ ॥

अवैमि पूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः ! ।
मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन धौतपादाम्भसा च वः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—हे द्विजोत्तमाः ! मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन वः धौतपादाम्भसा च द्वयेन एव आत्मानं पूतम् अवैमि ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—अवैमीति ॥ हे द्विजोत्तमाः ! आत्मानं मां द्वयेनैव पूतं शुद्धमवैम्यवगच्छामि । केन द्वयेन । मूर्ध्नि गङ्गाप्रपातेन मन्दाकिनीपातेन वो युष्माकं धौतयोः क्षालितयोः पादयोरम्भसा च । गङ्गाजलवत्पादाम्भसः पावनत्वमित्यौपम्यं गम्यते । तच्च 'प्रस्तुताप्रस्तुतयोः' इति दीपकालङ्कारः । 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' इति लक्षणात्प्रेयोऽलङ्कार इति केचित् ॥ ५७ ॥

हे ब्रह्मर्षियो ! मैं अपने आप को दो प्रकार से पवित्र मानता हूँ। एक तो शिर पर गिरने वाली गंगा की धारा से, दूसरे आप लोगों के धोए हुए चरणों के जल से ॥ ५७ ॥

जङ्गमं प्रैष्यभावे वः स्थावरं चरणाङ्कितम् ।
विभक्तानुग्रहं मन्ये द्विरूपमपि मे वपुः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—हे मुनयः ! द्विरूपम् अपि मे वपुः, जङ्गमं वः प्रैष्यभावे, स्थावरं चरणाङ्कितम्, अतः विभवतानुग्रहं मन्ये ॥ ५८ ॥

सञ्जी०–जङ्गममिति ॥ हे मुनयः ! द्विरूपं जङ्गमस्थावरात्मकत्वाद्द्विप्रकारकमपि मे वपुर्विभक्तानुग्रहं विभज्य कृतप्रसादं मन्ये । कुतः । जङ्गमं वपुर्वो युष्माकं प्रैष्यभावे कैङ्कर्ये । स्थितमिति शेषः । 'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु वृद्धिर्वक्तव्या' इति वृद्धिः । 'नियोज्यकिङ्करप्रैष्यभुजिष्यपरिचारकाः' इत्यमरः । स्थावरं वपुश्चरणाङ्कितम् । अयमेव हि महाननुग्रहो दासजनस्य यत्कर्मसु नियोजनं मूर्धनि पादन्यासश्चेति तात्पर्यार्थः ॥ ५८ ॥

हे सप्तर्षियो ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आप लोगों ने मेरे चल, अचल दोनों ही रूपों पर अलग-अलग विशेष कृपा की है । क्योंकि अपनी सेवा का अवसर देकर आपने मेरे चल शरीर को दास बना लिया है तथा मेरे अचल शरीर पर अपने चरण रख दिए हैं ॥ ५८ ॥

भवत्सम्भावनोत्थाय परितोषाय मूर्च्छते ।
अपि व्याप्तदिगन्तानि नाङ्गानि प्रभवन्ति मे ॥ ५९ ॥

अन्वयः—व्याप्तदिगन्तानि अपि मे अङ्गानि भवत्सम्भावनोत्थाय मूर्च्छते परितोषाय न प्रभवन्ति ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—भवदिति ॥ व्याप्ता दिगन्ता यैस्तानि व्याप्तदिगन्तानि । महान्त्यपीत्यर्थः । मे ममाङ्गानि भवत्सम्भावनोत्थाय युष्मदनुग्रहजन्याय मूर्च्छते व्याप्नुवते परितोषाय न प्रभवन्ति न पर्याप्नुवन्ति । अलमर्थयोगाच्चतुर्थी । यथा महत्स्वपि मद्गात्रेषु न माति तथा मे हर्षो वर्धत इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

आप लोगों के आगमन की इस कृपा के कारण मुझमें इतना हर्ष उत्पन्न हो गया है कि वह सुदूर दिशाओं तक फैले हुए मेरे इतने बड़े शरीर में भी नहीं समा पा रहा है ॥ ५९ ॥

न केवलं दरीसंस्थं भास्वतां दर्शनेन वः ।
अन्तर्गतमपास्तं मे रजसोऽपि परं तमः ॥ ६० ॥

अन्वयः—भास्वतां वः दर्शनेन केवलं दरीसंस्थं तमः न अपास्तं, किन्तु मे अन्तर्गतं रजसः परं तमः अपि अपास्तम् ॥ ६० ॥

सञ्जी०—नेति ॥ भास्वतां तेजस्वितां च वो युष्माकं दर्शनेन केवलं दरीसंस्थं गुहागतं तमो ध्वान्तरूपमेव नापास्तम् । किन्तु मेऽन्तर्गतमन्तरात्मगतं रजसो रजोगुणात्परमनन्तरं तमोऽज्ञानरूपमप्यपास्तम् । रजस्तु पादन्यासैरेवापास्तमिति भावः । प्रसिद्धैर्भास्वद्भिर्बाह्यं तमोऽपास्यत एभिस्त्वान्तरमपीति व्यतिरेको व्यज्यते ॥ ६० ॥

आप जैसे तेजस्वियों के दर्शन से केवल मेरी गुफाओं के भीतर का अंधकार ही नहीं दूर हो गया बल्कि मेरे हृदय में स्थित अज्ञान का अंधकार भी मिट गया ॥ ६० ॥

कर्यव्यं वो न पश्यामि स्याच्चेत्किं नोपपद्यते ।
मन्ये मत्पावनायैव प्रस्थानं भवतामिह ॥ ६१ ॥

अन्वयः—कर्तव्यं वः न पश्यामि, अथ स्यात् चेत् किं न उपपद्यते । मत्पावनाय एव भवताम् इह प्रस्थानं मन्ये ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—कर्तव्यमिति । कर्तव्यं कार्यं वो युष्माकं न पश्यामि । निस्पृहत्वादितिभावः। अथ स्याच्चेद्विद्येत यदि किं नोपपद्यते किं नाम न सम्भवति । सर्वं सुलभमेवेत्यर्थः । अथवा किमत्र प्रयोजनचिन्तयेत्याह—मत्पावनाय मच्छोधनायैव भवतामिह विषये प्रस्थानम् । इमं देशमुद्दिश्येदं प्रयाणमित्यर्थः । मन्ये तर्कयामि ॥६१

मैं समझता हूँ कि आप लोग किसी कार्य-विशेष के लिए तो यहाँ नहीं हीं आए होंगे क्योंकि यदि कोई कार्य हो भी तो आप लोग उसे पूरा करने में स्वयं समर्थ हैं। अतः मैं तो केवल यही समझता हूँ कि मुझे पवित्र बनाने के लिए ही आप लोगों ने यहाँ आने की कृपा की है ॥ ६१ ॥

तथापि तावत्कस्मिंश्चिदाज्ञां मे दातुमर्हथ ।
विनियोगप्रसादा हि किङ्कराः प्रभविष्णुषु ॥ ६२ ॥

अन्वयः—तथापि कस्मिंश्चिद् आज्ञां तावद् मे दातुम् अर्हथ । हि किङ्कराः प्रभविष्णुषु विनियोगप्रसादाः भवन्ति ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—तथापीति ॥ तथापि भवतां निस्पृहत्वेऽपि कस्मिंश्चित् । कर्मणीति शेषः । आज्ञामिदं कुर्वित्यादेशं तावदिदानीं मे मह्यं दातुमर्हथ । मदनुग्रहबुद्ध्येति भावः । हि यस्मात्किङ्करा भृत्याः प्रभवन्तीति प्रभविष्णुषु प्रभुषु विषये । 'भुवश्च' इतीष्णुच्प्रत्ययः । विशेषेण नियोगो विनियोगः प्रेषणमेव प्रसादोऽनुग्रहो येषां ते तथोक्ताः । अन्यथा स्वामिभावो निष्फल इति भावः ॥ ६२ ॥

फिर भी मैं चाहता हूँ कि आप लोग मुझे कोई न कोई आज्ञा अवश्य दें । क्योंकि सेवकों पर स्वामी की प्रसन्नता तभी प्रकट होती है, जब वे उन्हें किसी कार्य में नियुक्त करते हैं ।। ६२ ।।

एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम् ।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ।। ६३ ।।

अन्वयः—एते वयम्, अमी दाराः, इयं कुलजीवितं कन्या, अत्र येन वः कार्यं भवति, ब्रूत, बाह्यवस्तुषु अनास्था ।। ६३ ।।

सञ्जी०—एत इति ।। किं बहुना एते वयममी दारा इयं कुलस्य जीवितं प्राणभूता परमप्रेमास्पदमित्यर्थः । कन्या । अत्रैषां मध्ये येन जनेन वः कार्यं प्रयोजनं ब्रूत । तमिति शेषः । येन सोऽपि दीयत इति भावः । रत्नहिरण्यादिकं तु न मे गण्यमित्याह—बाह्यवस्तुषु कनकरत्नादिष्वनास्थानादरः । प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते । अदेयं न किञ्चिदस्तीति भावः ।। ६३ ।।

यह मैं हूँ, ये मेरी स्त्रियाँ हैं और मेरे कुल का जीवन यह मेरी कन्या है । बताइए इनमें से किससे आप लोगों का प्रयोजन है । बाहरी वस्तुओं (रत्नादि) से आप लोगों का कोई प्रयोजन होगा, ऐसा मुझे विश्वास ही नहीं है ।। ६३ ।।

इत्यूचिवांस्तमेवार्थं गुहामुखविसर्पिणा ।
द्विरिव प्रतिशब्देन व्याजहार हिमालयः ।। ६४ ।।

अन्वयः—इति ऊचिवान् हिमालयः गुहामुखविसर्पिणा प्रतिशब्देन तम् एव अर्थं द्विः व्याजहार इव ।। ६४ ।।

सञ्जी०—इतीति ।। इत्यूचिवानुक्तवान् । वचेः क्वसुप्रत्ययः । हिमालयो हिमवान्गुहानां मुखेषु विवरेषु विसर्पतीति तथोक्तेन प्रतिशब्देन तमेव पूर्वोक्तमेवार्थं द्विर्द्विवारम् । 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति सुच्प्रत्ययः । व्याजहार बभाषे ।। ६४ ।।

हिमालय के इतना कह चुकने पर उसकी गुफाओं से जो प्रतिध्वनि उत्पन्न हुई उससे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसने अपनी कही हुई बात को ही फिर से दुहरा दिया हो ।। ६४ ।।

अथाङ्गिरसमग्रण्यमुदाहरणवस्तुषु ।
ऋषयो नोदयामासुः प्रत्युवाच स भूधरम् ।। ६५ ।।

अन्वयः—अथ ऋषयः उदाहरणवस्तुषु अग्रण्यम् अङ्गिरसं नोदयामासुः । सः भूधरं प्रत्युवाच ।। ६५ ।।

सञ्जी०—अथेति ॥ अथानन्तरमृषय उदाहरणानि कथाप्रसङ्गास्त एव वस्तून्यर्थास्तेष्वग्रं नयतीत्यग्रणीस्तमग्रण्यं प्रगल्भम् । 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेरिति वक्तव्यम्' इति णत्वम् । अङ्गिरसं नामर्षिं नोदयामासुः प्रतिवक्तुं प्रेरयामासुः । सोऽङ्गिरा भूधरं हिमवन्तं प्रत्युवाच ॥ ६५ ॥

सप्तर्षियों ने बातचीत करने में अत्यन्त कुशल अंगिरा ऋषि को बात करने के लिए प्रेरित किया । तब उन्होंने हिमालय से इस प्रकार कहा ॥ ६५ ॥

उपपन्नमिदं सर्वमतः परमपि त्वयि ।
मनसः शिखराणां च सदृशी ते समुन्नतिः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—इदं सर्वम् अतः परम् अपि त्वयि उपपन्नम् । ते मनसः शिखराणां च समुन्नतिः सदृशी ॥ ६६ ॥

सञ्जी०—उपपन्नमिति ॥ इदम् 'एते वयममी दाराः' (६।६३) इत्याद्युक्तं सर्वमतः परमतोऽधिकमपि त्वय्युपपन्नं युज्यते । तथाहि । ते मनसः शिखराणां च समुन्नतिः सदृशी । शिखराणीव मनो महोन्नतमित्यर्थः । किं नाम दुष्करमुन्नतचित्तानामिति भावः । प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्मनःशिखरयोरौपम्यस्य गम्यत्वाद्दीपकालङ्कारः ॥ ६६ ॥

हे हिमालय तुमने जो कुछ कहा है वह तो ठीक ही है और उससे भी अधिक जो कुछ भी कहा जाय वह भी तुम्हारे योग्य ही है । क्योंकि तुम्हारा मन भी उतना ही ऊँचा है, जितनी तुम्हारी चोटियाँ ॥ ६६ ॥

स्थाने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथा हि ते ।
चराचराणां भूतानां कुक्षिराधारतां गतः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—स्थावरात्मानं त्वां विष्णुम् आहुः, स्थाने । तथा हि ते कुक्षिः चराचराणां भूतानाम् आधारतां गतः अस्ति ॥ ६७ ॥

सञ्जी०—स्थान इति ॥ त्वं स्थावरात्मानं स्थावररूपिणं विष्णुमाहुः । 'स्थावराणां हिमालयः' इति गीतावचनात् । स्थाने युक्तम् । युक्तार्थेऽव्ययमेतत् । 'युक्ते द्वे सांप्रतं स्थाने' इत्यमरः । तथाहि । ते तव कुक्षिश्चराचराणां जङ्गमस्थावररूपिणां भूतानां पृथिव्यादीनामाधारतां गतः । तवेव विष्णोः कुक्षिरेवंभूत इति भावः ॥ ६७ ॥

तुम्हें जो स्थावर रूप धारी विष्णु कहा गया है वह बिल्कुल ही उचित है । क्यों कि तुमने चर अचर सभी प्रकार के भूतों को अपने अङ्क में स्थान दिया है ॥ ६७ ॥

गामधास्यत् कथं नागो मृणालमृदुभिः फणैः ।
आ रसातलमूलात् त्वमवालम्बिष्यथा न चेत् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—नागः मृणालमृदुभिः फणैः गां कथम् अधास्यात् ? त्वम् आ रसातलमूलाद् न अवालम्बिष्यथाः चेत् ॥ ६८ ॥

सञ्जी०—गामिति ॥ नागः शेषाहिर्मृणालमृदुभिर्बिसकोमलैः फणैर्गां भुवं कथमधास्यद्धारयेत् । त्वमारसातलमूलात्पातालपर्यन्तम् । विकल्पादसमासः । नावालम्बिष्यथाश्चेत्पादैर्नात्रलम्बेथा यदि । त्वदवलम्बनादेव भुजगराजोऽपि भुवं बिभर्तीत्यर्थः । अत्र क्रियातिपत्त्यभावाल्लृङ्प्रयोगश्चिन्त्यः ॥ ६८ ॥

यदि तुम रसातल की जड़ तक इस पृथ्वी को न थामे रखते तो अपने कमल नाल जैसे कोमल फनों पर शेषनाग उसे किस प्रकार धारण कर सकते ॥ ६८ ॥

अच्छिन्नामलसन्तानाः समुद्रोर्म्यनिवारिताः ।
पुनन्ति लोकान्पुण्यत्वात्कीर्तयः सरितश्च ते ॥ ६९ ॥

अन्वयः—अच्छिन्नामलसन्तानाः समुद्रोर्म्यनिवारिताः ते कीर्तयः सरितश्च पुण्यत्वात् लोकान् पुनन्ति ॥ ६९ ॥

सञ्जी०—अच्छिन्नेति ॥ अच्छिन्ना अवच्छिन्ना अमलाश्च सन्तानाः प्रबन्धाः प्रवाहाश्च यासां तास्तथोक्ताः समुद्रोर्मिभिरनिवारिताः । पारगमनादन्तः प्रवेशाच्चेति भावः । ते तव कीर्तयः सरितश्च गङ्गादयः पुण्यत्वात्पवित्रत्वाल्लोकान्पुनन्ति पावयन्ति । लोकपावनाः खलु पुण्यश्लोका इति भावः । केवलप्रकृतविषयस्तुल्ययोगितालङ्कारः ॥ ६९ ॥

जिस तरह निरन्तर एवं निर्मल प्रवाह से युक्त तथा समुद्र की लहरों तक पहुँची हुई तुमसे निकलने वाली नदियाँ अपनी पवित्रता से सभी लोकों को पवित्र बनाती हैं उसी तरह तुम्हारी कीर्ति भी लोकों को पवित्र करने वाली है ॥६९॥

यथैव श्लाघ्यते गङ्गा पादेन परमेष्ठिनः ।
प्रभवेण द्वितीयेन तथैवोच्छिरसा त्वया ॥ ७० ॥

अन्वयः—गङ्गा प्रभवेण परमेष्ठिनः पादेन यथा एव श्लाघ्यते, तथा एव द्वितीयेन प्रभवेण उच्छिरसा त्वया श्लाघ्यते ॥ ७० ॥

सञ्जी०—यथैवेति ॥ गङ्गा भागीरथी । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवस्तेन कारणेन परमें तिष्ठतीति परमेष्ठिनो विष्णोः । परमे कित्प्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्'

इत्यलुक । '—परमेबर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः' इति षत्वम् । पादेन चरणेन यथैव श्लाघ्यते प्रशस्यते तथैव द्वितीयेन प्रभवेणोच्छिरसा त्वया श्लाघ्यते । हरिचरणवत्तीर्थस्यापि तीर्थभूतस्त्वमिति भावः ।। ७० ।।

जिस प्रकार गंगा विष्णु के चरण से निकलने के कारण अपने आपको आदर का पात्र मानती है उसी प्रकार वह तुम्हारे शिर से (ऊँचे शिखरों से) निकलने के कारण भी अपने को पूजनीय समझती है ।। ७० ।।

तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च व्यापको महिमा हरेः ।
त्रिविक्रमोद्यतस्यासीत्स तु स्वाभाविकस्तव ।। ७१ ।।

अन्वयः—तिर्यग् ऊर्ध्वम् अधस्ताच्च व्यापकः महिमा हरेः त्रिविक्रमोद्यतस्य आसीत् । तव तु सः व्यापकः महिमा स्वाभाविकः अस्ति ।। ७१ ।।

सञ्जी०—तिर्यगिति ।। तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च व्यापकः । सर्वव्यापीत्यर्थः । महिमा महत्त्वं हरेर्विष्णोस्त्रिषु विक्रमेषूद्यतस्य सत् आसीत् । त्रिविक्रमोद्यतस्य कदाचिदेव न तु सर्वदेत्यर्थः । तव तु व्यापका महिमा स्वाभाविकः नित्यसिद्ध इत्यर्थः ।। ७१ ।।

भगवान विष्णु की महिमा संसार में उस समय फैली जब उन्होंने वामन अवतार धारण करके ऊपर, नीचे तथा तिरछे तीन ही पगों में तीनों लोकों को माप लिया किन्तु इतनी महिमा तो तुम्हें स्वाभाविक रूप से ही मिली हुई है ।।७१।।

यज्ञभागभुजां मध्ये पदमातस्थुषा त्वया ।
उच्चैर्हिरण्मयं शृङ्गं सुमेरोर्वितथीकृतम् ।। ७२ ।।

अन्वयः—यज्ञभागभुजां मध्ये पदम् आतस्थुषा त्वया सुमेरोः हिरण्यम् उच्चैःशृङ्गं वितथीकृतम् ।। ७२ ।।

सञ्जी०—यज्ञेति ।। यज्ञभागभुजामिन्द्रादीनां मध्ये पदमातस्थुषा निहितवता त्वयोच्चैरुन्नतं हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयम् । 'दाण्डिनायनहास्तिनायन—' इत्यादिनिपातनात्साधुः । सुमेरोः शृङ्गं शिखरम् । प्राधान्यं च ध्वन्यते । 'शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च' इत्यमरः । वितथीकृतं व्यर्थीकृतम् । तस्य यज्ञभागाभावादिति भावः । अस्य तु तत्सद्भावे प्रमाणम्—'हिमवतो हस्ती' इति श्रुतिः ।। ७२ ।।

यज्ञ का भाग पाने वाले देवताओं के बीच स्थान प्राप्त करके तुमने सुमेरु पर्वत की ऊँची एवं सुनहरी चोटियों को भी नीचा दिखा दिया ।। ७२ ।।

काठिन्यं स्थावरे काये भवता सर्वमर्पितम् ।
इदं तु ते भक्तिनम्रं सतामाराधनं वपुः ।। ७३ ।।

अन्वयः—भवता सर्वं काठिन्यं स्थावरे काये अर्पितम् । सताम् आराधनं ते इदं वपुस्तु भक्तिनम्रम् अस्ति ॥ ७३ ॥

सञ्जी०—काठिन्यमिति ॥ भवता सर्वं काठिन्यम् । अनम्रत्वमित्यर्थः । स्थावरे स्थिरे काये । शिलामय इत्यर्थः । अर्पितं न्यस्तम् । सतामर्हतामाराधनं पूजासाधनं त इदं वपुस्तु जङ्गममित्यर्थः । भक्तिनम्रम् । काठिन्यलेशोऽप्यत्र नास्त्यन्यथा नम्रत्वासम्भवादित्यर्थः । तथा चासाधारण्यं ध्वन्यते ॥ ७३ ॥

तुमने अपनी सारी कठोरता अपने अचल शरीरको समर्पित कर दी है । किन्तु सज्जनों की सेवा का साधन बना हुआ तुम्हारा यह चल शरीर तो भक्ति के कारण अत्यन्त ही विनम्र (कोमल) है ॥ ७३ ॥

तदागमनकार्यं नः शृणु कार्यं तवैव तत् ।
श्रेयसामुपदेशात्तु वयमत्रांशभागिनः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—तद् नः आगमनकार्यं शृणु । तत् तव एव कार्यम् । वयं तु श्रेयसाम् उपदेशाद् अत्र अंशभागिनः स्मः ॥ ७४ ॥

सञ्जी०—तदिति ॥ तत्तस्मान्नोऽस्माकमागमनस्य कार्यं प्रयोजनं शृणु । तत्कार्यं च तवैव न त्वस्माकमित्यवधारणार्थ एवकारः । वयं तु श्रेयसामुपदेशादत्र कार्ये अंशभागिनः । त्वमेवात्र फलभाग्वयमुपदेष्टार इति भावः ॥ ७४ ॥

अच्छा, अब हम लोग जिस काम से आए हैं उसे सुनो और सच पूछो तो वह तुम्हारा ही काम है । हाँ, तुम्हारे लिए श्रेयस्कर सम्मति देने के कारण, उसका थोड़ा सा अंश हम लोगों को भी मिल जायगा ॥ ७४ ॥

अणिमादिगुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम् ।
शब्दमीश्वर इत्युच्चैः सार्धचन्द्रं बिभर्ति यः ॥ ७५ ॥

अन्वयः—यः अणिमादिगुणोपेतम् अस्पृष्टपुरुषान्तरम् उच्चैः ईश्वर इति शब्दं सार्धचन्द्रं बिभर्ति ॥ ७५ ॥

सञ्जी०—अणिमेति ॥ यः शम्भुरणिमादिगुणोपेतमणिमादिभिरष्टभिर्गुणैर्वाच्यभूतैरुपेतम् । अष्टैश्वर्यवाचकमित्यर्थः । अतएवास्पृष्टं पुरुषान्तरं येन तं तथोक्तं पुरुषान्तरस्यानभिधायकम् । तस्यैवैवं गुणत्वादित्यर्थः । उच्चः परममीश्वर इति शब्दम् । निरुपपदेश्वरशब्दमित्यर्थः । सार्धचन्द्रमर्धचन्द्रयुक्तम् । अर्धचन्द्रं चेत्यर्थः । बिभर्ति ॥ ७५ ॥

जो भगवान शिव अणिमादि आठो सिद्धियों से युक्त एवं मस्तक पर अर्द्ध

चन्द्रमा को धारण करने वाले हैं, तथा जिन्हें छोड़कर अन्य और कोई भी ईश्वर शब्द से नहीं पुकारा जा सकता ।। ७५ ।।

कलितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिरात्मभिः ।
येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनि ।। ७६ ।।

अन्वयः—येन कलितान्योन्यसामर्थ्यैः पृथिव्यादिभिः आत्मभिः इदं विश्वं धुर्यैः अध्वनि यानम् इव ध्रियते ।। ७६ ।।

सञ्जी०—कलितेति ।। येन शम्भुना कलितं धृतिसङ्ग्रहादिस्वस्वगुणसम्पादितमन्योन्यसामर्थ्यं परस्परसहकाररूपं यैस्तथोक्तैः । स्वस्वरूपसामर्थ्यमन्योन्याधेयमेवेति भावः । पृथिव्यादिभिरात्मभिः । अष्टाभिर्मूर्तिभिरित्यर्थः । इदं व्यक्तं विश्वं धुरं वहन्तीति धुर्यैरश्वैः । 'धुरो यड्ढकौ' इति यत्प्रत्ययः । अध्वनि यानं रथ इव ध्रियते ।

वही पृथ्वी-जल आदि अपनी उन आठों मूर्तियों द्वारा इस विश्व को धारण करते हैं, जो परस्पर एक दूसरे को उसी प्रकार सहारा देकर संसार को गतिमान बनाती हैं जैसे मार्ग में कई घोड़े मिलकर रथ को गतिशील बनाते हैं ।। ७६ ।।

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम् ।
अनावृत्तिभयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ।। ७७ ।।

अन्वयः—योगिनः क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनं यं विचिन्वन्ति, मनीषिणः यस्य पदम् अनावृत्तिभयम् आहुः ।। ७७ ।।

सञ्जी०—योगिन इति ।। योगिनोऽध्यात्मवेदिनः क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनं शरीरान्तश्चरं सर्वभूतान्तर्यामिणम् । परमात्मस्वरूपिणमित्यर्थः । 'क्षेत्रं पत्नीशरीरयोः' इत्यमरः । यं शम्भुं विचिन्वन्ति मृगयन्ते । मनीषिणो विद्वांसो यस्य शम्भोः पदं स्थानमविद्यमानमावृत्तेः पुनः संसारापत्तेर्भयं यत्र तत्तथाभूतमाहुः ।। ७७ ।।

योगी लोग अपने शरीर के भीतर विद्यमान उन्हीं भगवान शंकर की खोज करते रहते हैं तथा विद्वान् लोग उनके स्वरूप को जन्म-मरणादि बंधनों से मुक्त करके मोक्ष देने वाला बताते हैं ।। ७७ ।।

स ते दुहितरं साक्षात्साक्षी विश्वस्य कर्मणाम् ।
वृणुते वरदः शम्भुरस्मत्संक्रामितैः पदैः ।। ७८ ।।

अन्वयः—विश्वस्य कर्मणां साक्षी वरदः स शम्भुः अस्मत्संक्रामितैः पदैः ते दुहितरं साक्षात् वृणुते ।। ७८ ।।

सञ्जी०—स इति ।। विश्वस्य जगतः कर्मणां साक्षी द्रष्टा । 'साक्षाद्द्रष्टरि

संज्ञायाम्' इतीनिप्रत्ययः। वरानिष्टान्ददातीति वरदः। आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः। स पूर्वोक्तः शम्भुरस्मत्संक्रामितैः पदैरस्मासु निवेशितैर्वाक्यैस्ते दुहितरं साक्षाद्वृणते। अस्मन्मुखेन स्वयमेव याचत इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

समस्त संसार के भले बुरे सभी कर्मों के साक्षात द्रष्टा तथा वर देने वाले उन्हीं शंकर जी ने हम लोगों के मुँह से संदेशा भेजकर स्वयं अपने लिए तुम्हारी पुत्री पार्वती की याचना की है ॥ ७८ ॥

तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि ।
अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृ प्रतिपादिता ॥ ७९ ॥

अन्वयः—तं 'भारत्या अर्थम् इव' सुतया योक्तुम् अर्हसि। हि सद्भर्तृ प्रतिपादिता कन्या पितुः अशोच्या भवति ॥ ७९ ॥

सञ्जी०—तमिति ॥ तं शम्भुं भारत्या वाचार्थमभिधेयमिव सुतया दुहित्रा योक्तुं सङ्घटयितुमर्हसि। अत्र वागर्थयोरुपमानत्वसामर्थ्याच्छिवयोर्नित्ययोगो विवक्षित इत्युक्तम्। 'वागर्थाविव संपृक्तौ' (रघुवंशे १।१) इत्यत्रापि। तथाहि सद्भर्त्रे प्रतिपादिता दत्ता कन्या पितुरशोच्या ॥ ७९ ॥

इसलिए जिस प्रकार वाणी का सम्बन्ध अर्थ से हुआ है, उसी प्रकार तुम भी अपनी कन्या का सम्बन्ध शिव जी से कर दो। क्योंकि अच्छे पति के साथ यदि कन्या का विवाह हो जाय तो पिता उसकी चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है ॥७९॥

यावन्त्येतानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
मातरं कल्पयन्त्वेनामीशो हि जगतः पिता ॥ ८० ॥

अन्वयः—स्थावराणि चराणि च यावन्ति एतानि भूतानि एनां मातरं कल्पयन्तु। हि ईशः जगतः पिता अस्ति ॥ ८० ॥

सञ्जी०—यावन्तीति ॥ स्थावराणि चराणि च यावन्त्येतानि भूतानि सन्तीति शेषः। सर्वाणि भूतानीत्यर्थः। एनां ते दुहितरं मातरं कल्पयन्तु। हि यस्मादीशो जगतः पिता। पितृदारेषु मातृभावो न्याय्य इति भावः ॥ ८० ॥

(ऐसा हो जाने से) संसार के ये समस्त चर, अचर प्राणी तुम्हारी कन्या पार्वती को अपनी माता समझेंगे। क्योंकि शिव जी ही तो समस्त चराचर विश्व के पिता हैं ॥ ८० ॥

प्रणम्य शितिकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम् ।
चरणौ रञ्जयन्त्वस्याश्चूडामणिमरीचिभिः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—विबुधाः शितिकण्ठाय प्रणम्य, तदनन्तरम् अस्याः चरणौ चूडामणिमरीचिभिः रञ्जयन्तु ॥ ८१ ॥

सञ्जी०—प्रणम्येति ॥ विबुधा देवाः शितिकण्ठाय शिवाय प्रणम्य तदन्तरं नीलकण्ठप्रणामानन्तरमस्याश्चरणौ चूडामणिमरीचिभी रञ्जयन्तु । ईश्वरपरिग्रहादखिलदेवतावन्द्या भवत्वित्यर्थः ॥ ८१ ॥

(और वह तुम्हारी कन्या फिर तो इतनी पूज्य बन जायगी कि) देवता लोग शिव जी को प्रणाम करने के पश्चात अपने शिर की मणियों की किरणों से इसके भी (तुम्हारी कन्या के भी) चरणों को रंगा करेंगे ॥ ८१ ॥

उमा वधूर्भवान्दाता याचितार इमे वयम् ।
वरः शम्भुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—उमा वधूः, भवान् दाता, इमे वयं याचितारः, शम्भुः वरः, एषः विधिः त्वत्कुलोद्भूतये अलं हि ॥ ८२ ॥

सञ्जी०—उमेति ॥ उमा वधूः इमे वयं याचितारः प्रार्थकाः । शम्भुर्वरो वोढा । एष विधिरेषा सामग्री त्वत्कुलस्योद्भूतये उच्छ्रायायालं पर्याप्तं हि । 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधा—' इत्यादिना चतुर्थी ॥ ८२ ॥

पार्वती बहू बनेंगी, तुम कन्यादान करोगे, हम लोग प्रार्थना करनेवाले हैं और शंकर जी वर बनेंगे । इससे बढ़कर तुम्हारे कुल की प्रतिष्ठा के लिए और क्या हो सकता है ॥ ८२ ॥

अस्तोतुः स्तूयमानस्य वन्द्यस्यानन्यवन्दिनः ।
सुतासम्बन्धविधिना भव विश्वगुरोर्गुरुः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—अस्तोतुः स्तूयमानस्य वन्द्यस्य अनन्यवन्दिनः विश्वगुरोः सुतासम्बन्धविधिना गुरुः भव ॥ ८३ ॥

सञ्जी०—अस्तोतुरिति ॥ स्वयमन्यस्तोता न भवतीत्यस्तोतुः किन्तु स्तूयमानस्य सर्वस्तुत्यस्य वन्द्यस्य जगद्वन्द्यस्य स्वयमन्यं न वन्दत इत्यनन्यवन्दिनो विश्वगुरोर्देवस्य सुतासम्बन्धविधिना यौवनसम्बन्धाचरणेन गुरुर्भव । यो नान्यं स्तौति न वन्दते तस्यापि त्वं स्तुत्यो वन्द्यश्चेत्यहो तव भाग्यवत्तेत्यर्थः ॥ ८३ ॥

जो स्वयं किसी की स्तुति नहीं करते किन्तु संसार जिनकी स्तुति करता है, जो किसी की वन्दना नहीं करते किन्तु संसार जिनकी वंदना करता है—ऐसे जगद्गुरु शंकर के साथ अपनी कन्या का सम्बन्ध करके तुम उनके भी गुरु बन जाओगे ॥ ८३ ॥

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ ८४ ॥

अन्वयः—देवर्षौ एवंवादिनि सति, पार्वती पितुः पार्श्वे अधोमुखी सती लीलाकमलपत्राणि गणयामास ॥ ८४ ॥

सञ्जी०—एवमिति ॥ देवर्षावङ्गिरस्येवंवादिनि सति पार्वती पितुः पार्श्वेऽधोमुखी सती । लज्जयेतिशेषः । लीलाकमलपत्राणि गणयामास संचख्यौ । लज्जावशात्कमलदलगणनाव्याजेन हर्षं जुगोपेत्यर्थः । अनेनावहित्थाख्यः सञ्चारी भाव उक्तः । तदुक्तम्—'अवहित्था तु लज्जादेर्हर्षादाकारगोपनम्' इति ॥ ८४ ॥

जिस समय अङ्गिरा ऋषि इस प्रकार कह रहे थे उस समय नम्रमुखी पार्वती अपने पिता के पास बैठकर लज्जावश लीला-कमल-पत्रों को गिन रही थी ॥ ८४ ॥

शैलः सम्पूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत ।
प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—शैलः सम्पूर्णकामः अपि मेनामुखम् उदैक्षत । तथा हि प्रायेण कुटुम्बिनः कन्यार्थेषु गृहिणीनेत्राः भवन्ति ॥ ८५ ॥

सञ्जी०—शैल इति ॥ शैलो हिमवान्सम्पूर्णकामोऽपि । दातुं कृतनिश्चयोऽपीत्यर्थः । मेनामुखमुदैक्षत । उचितोत्तरजिज्ञासयेति भावः । तथाहि । प्रायेण कुटुम्बिनो गृहस्थाः कन्यार्थेषु कन्याप्रयोजनेषु गृहिण्येव नेत्रं कार्यज्ञानकारणं येषां ते तथोक्ताः । कलत्रप्रधानवृत्तय इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

यद्यपि हिमालय ने पार्वती को शंकरजी के लिए देने का निश्चय बहुत पहले ही कर लिया था किंतु फिर भी (अंगिरा ऋषि की बातें सुनकर) उन्होंने अपनी पत्नी मेना की ओर देखा । प्रायः गृहस्थ लोग कन्यादान के विषय में अपनी स्त्री की ही प्रधानता रखते हैं ॥ ८५ ॥

मेने मेनापि तत्सर्वं पत्युः कार्यमभीप्सितम् ।
भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—मेना अपि पत्युः तत् सर्वम् अभीप्सितं कार्यं मेने । तथा हि—पतिव्रताः भर्तुः इष्टे अव्यभिचारिण्यः भवन्ति ॥ ८६ ॥

सञ्जी०—मेन इति ॥ मेनापि पत्युर्हिमालयस्य तत्सर्वमभीप्सितं कार्यं मेनेऽङ्गीचकार । तथाहि । पतिरेव व्रतं यासां ता भर्तुरिष्टेऽभीप्सिते न विद्यते व्यभिचारो यासां ता अव्यभिचारिण्यो भवन्ति । भर्तृचित्ताभिप्रायज्ञा भवन्तीति भावः ॥ ८६ ॥

मेना ने भी अपने पति की इच्छा के अनुकूल ही शङ्करजी के साथ पार्वती के विवाह की स्वीकृति दे दी क्योंकि सती स्त्रियाँ अपने पति के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करती हैं ॥ ८६ ॥

इदमत्रोत्तरं न्याय्यमिति बुद्धचा विमृश्य सः ।
आददे वचसामन्ते मङ्गलालङ्कृतां सुताम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—सः वचसाम् अन्ते 'अत्र इदं न्यायम् उत्तरम्' इति बुद्धचा विमृश्य मङ्गलालङ्कृतां सुताम् आददे ॥ ८७ ॥

सञ्जी०—इदमिति ॥ स हिमवान्वचसामन्ते मुनिवाक्यावसानेऽत्र मुनिवाक्यः इदमुत्तरश्लोके वक्ष्यमाणं दानमेव न्याय्यं न्यायादनपेतमुत्तरमिति बुद्ध्या चित्तेनं विमृश्य विचिन्त्य मङ्गलं यथा तथालङ्कृतां मङ्गलालङ्कृतां सुतामाददे हस्ताभ्यां जग्राह ॥ ८७ ॥

अंगिरा की बातचीत के पश्चात् 'उन्हें किस प्रकार का उत्तर देना उचित होगा'—यह सोच समझ कर हिमालय ने मांगलिक वस्त्रों से अलंकृत अपनी कन्या पार्वती को सम्बोधित करते हुए कहा ॥ ८७ ॥

एहि विश्वात्मने वत्से ! भिक्षाऽसि परिकल्पिता ।
अर्थिनो मुनयः प्राप्तं गृहमेधिफलं मया ॥ ८८ ॥

अन्वयः—हे वत्से ! एहि । त्वं विश्वात्मने भिक्षा परिकल्पिता असि । मुनयः अर्थिनः; मया गृहमेधिफलं प्राप्तम् ॥ ८८ ॥

सञ्जी०—एहीति ॥ हे वत्से पुत्रि, एह्यागच्छ । त्वं विश्वात्मने शिवाय भिक्षा परिकल्पितासि निश्चितासि । 'रत्नादिस्तम्बपर्यन्तं सर्वं भिक्षा तपस्विनः' इति वचनादिति भावः । अर्थिनो याचितारो मुनयः । मया गृहमेधिनो गृहस्थस्य फलं प्राप्तम् । इह परत्र च तारकत्वात्पात्रे कन्यादानं गार्हस्थ्यस्य फलमित्यर्थः ॥ ८८ ॥

हे वत्से ! मेरे पास आओ, तुम शङ्कर के लिये भिक्षा माँगी गई हो, ये सप्तर्षि तुम्हें माँगने के लिये ही आए हुए हैं । आज गृहस्थ होने का फल मुझको मिल गया ॥ ८८ ॥

एतावदुक्त्वा तनयामृषीनाह महीधरः ।
इयं नमति वः सर्वांस्त्रिलोचनवधूरिति ॥ ८९ ॥

अन्वयः—महीधरः तनयाम् एतावद् उक्त्वा, 'इयं त्रिलोचनवधूः वः सर्वान् नमति' इति ऋषीन् आह ॥ ८९ ॥

सञ्जी०—एतावदिति ।। महीधरो हिमवांस्तनयामेतावत्पूर्वोक्तमुक्त्वार्षीनाह—किमिति । इयं त्रिलोचनवधूस्त्र्यम्बकपत्नी वः सर्वान्नमति । त्रिलोचनवधूरितिसिद्धवदभिधानेनाविप्रतिपन्नं दानमिति सूचयति ॥ ८९ ॥

हिमालय ने इस तरह अपनी कन्या से कहकर ऋषियों से कहा कि—यह महेश्वर की भावी पत्नी आप सब लोगों को प्रणाम करती है ॥ ८९ ॥

ईप्सितार्थक्रियोदारं तेऽभिनन्द्य गिरेर्वचः ।
आशीर्भिरेधयामासुः पुरः पाकाभिरम्बिकाम् ॥ ९० ॥

अन्वयः—ते ईप्सितार्थक्रियोदारं गिरेः वचः अभिनन्द्य, अम्बिकां पुरःपाकाभिः आशीर्भिः एधयामासुः ॥ ९० ॥

सञ्जी०—ईप्सितार्थेति ॥ ते मुनयः । इप्सितार्थक्रिययेष्टार्थकरणेनोदारं महत् । 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः । गिरेर्हिमवतो वचो वचनमभिनन्द्य साध्विति संस्तुत्याम्बिकामम्बाम् । पच्यत इति पाकः फलम् । पुरः पाकाभिः पुरस्कृतफलाभिराशीर्भिराशीर्वादैरेधयामासुः संवर्धयामासुः ॥ ९० ॥

अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि को सूचित करने वाली हिमालय की वाणी का अभिनन्दन करके सप्तर्षियों ने पार्वती को ऐसा आशीर्वाद दिया जो तत्काल ही सफल होने वाला हो ॥ ९० ॥

तां प्रणामादरस्रस्तजाम्बूनदवतंसकाम् ।
अङ्कमारोपयामास लज्जमानामरुन्धती ॥ ९१ ॥

अन्वयः—प्रणामादरस्रस्तजाम्बूनदवतंसकां लज्जमानां ताम् अरुन्धती अङ्कम् आरोपयामास ॥ ९१ ॥

सञ्जी०—तामिति ॥ प्रणामादरेण नमस्कारासक्त्या स्रस्ते जाम्बूनदे सुवर्णविकारी वतंसके कनककुण्डले यस्यास्तां लज्जमानां तामाम्बिकामरुन्धत्यङ्कमारोपयामास । 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' इति पकारः ॥ ९१ ॥

प्रणाम करते समय आदर के साथ शिर झुकाने पर पार्वती के स्वर्णनिर्मित कर्णाभरण नीचे गिर पड़े । इस प्रकार (विवाह वार्ता से) अत्यन्त लज्जित पार्वती को अरुंधती ने अपनी गोद में बिठा लिया ॥ ९१ ॥

तन्मातरं चाश्रुमुखीं दुहितृस्नेहविक्लवाम् ।
वरस्यानन्यपूर्वस्य विशोकामकरोद् गुणैः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—दुहितृस्नेहविक्लवाम् अश्रुमुखीं तन्मातरं च अनन्यपूर्वस्य वरस्य गुणैः विशोकाम् अकरोत् ॥ ९२ ॥

सञ्जी०—तदिति ॥ दुहितृस्नेहेन पुत्रिकाप्रेम्णा विक्लवां वियोक्ष्यत इति भीताम् । अत एवाश्रूणि मुखे यस्यास्तामश्रुमुखीं तस्या अम्बिकाया मातरं तन्मातरं मेनां च । अन्या पूर्वं यस्यास्ति सोऽन्यपूर्वः । 'सर्वनाम्नो वृत्तिविषये पुंवद्भावः' इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । स न भवतीत्यनन्यपूर्वस्तस्यानन्यपूर्वस्य । सापत्न्यदुःखमकुर्वत इत्यर्थः । वरस्य वोढुर्गुणैर्मृत्युञ्जयत्वादिभिर्विशोकां निर्दुःखामकरोत् ॥९२॥

मेना कन्या के स्नेह में अत्यंत विह्वल हो उठीं । उनकी आँखों में आँसू भर गए । किन्तु अरुन्धती ने उन्हें वर (शंकर जी) के दुर्लभ गुणों का बखान करके शोकरहित कर दिया ॥ ९२ ॥

वैवाहिकीं तिथिं पृष्टास्तत्क्षणं हरबन्धुना ।
ते त्र्यहादूर्ध्वमाख्याय चेरुश्चीरपरिग्रहाः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—चीरपरिग्रहाः ते तत्क्षणं हरबन्धुना वैवाहिकीं तिथिं पृष्टाः सन्तः त्र्यहाद् ऊर्ध्वम् आख्याय चेरुः ॥ ९३ ॥

सञ्जी०—वैवाहिकीमिति ॥ चोरपरिग्रहा वल्कलमात्रवसनास्ते तपस्विनस्तत्क्षणं तस्मिन्नेव क्षणे हरबन्धुना हिमवता वैवाहिकीं विवाहयोग्यां तिथिं पृष्टाः केत्यनुयुक्ताः सन्तः । त्रयाणामह्नां समाहारस्त्र्यहः । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासः—'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच्प्रत्ययः । द्विगुत्वादेकवचनम् । 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुलिङ्गता । तस्मात् त्र्यहादूर्ध्वमुपर्याख्याय चतुर्थेऽहनि विवाह इत्युक्त्वा चेरुश्चलिताः ॥ ९३ ॥

हिमालय द्वारा विवाह की तिथि पूछने पर वे वल्कलधारी सप्तर्षि विवाह की तिथि चौथे दिन उचित होगी, यह कह कर आसन से उठ कर चल पड़े ॥ ९३ ॥

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्राप्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—ते हिमालयम् आमन्त्र्य, पुनः शूलिनं प्राप्य, सिद्धम् अर्थम् अस्मै निवेद्य च, तद्विसृष्टाः खम् उद्ययुः ॥ ९४ ॥

सञ्जी०—त इति ॥ ते मुनयो हिमालयमामन्त्र्य साधु यामेत्यापृच्छ्य पुनः शूलिनं हरं सङ्केतस्थानस्थं प्राप्य सिद्धं निष्पन्नमर्थं प्रयोजनमस्मै निवेद्य च ज्ञापयित्वा च तद्विसृष्टास्तेन शूलिना विसृष्टा खमाकाशं प्रत्युद्ययुरुत्पेतुः । अत्र संक्षिप्तार्थाभिधानात्संक्षेपो नाम गुण उक्तः । तदुक्तम्—'संक्षिप्तार्थाभिधानं यत्संक्षेपः परिकीर्तितः' इति ॥ ९४ ॥

वे सप्तर्षि हिमालय से विदा लेकर पुनः महादेव जी के पास पहुँचे और उनसे कहा कि आपने हमें जिस काम के लिए भेजा था वह पूरा हो गया। इसके पश्चात् वे महादेव जी से विदा लेकर आकाश में उड़ गए ॥ ९४ ॥

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—अद्रिसुतासमागमोत्कः पशुपतिः अपि तानि अहानि कृच्छ्राद् अगमयत्। अमी भावाः अवशम् अपरं कं न विप्रकुर्युः, यद् विभुं तम् अपि स्पृशन्ति ॥ ९५ ॥

सञ्जी०—पशुपतिरिति ॥ उत्कं मनो यस्य स उत्कः। 'उत्कः उन्मनाः' इति निपातः। आद्रिसुतासमागमोत्कः पार्वतीपरिणयोत्सुकः पशुपतिरपि तानि। त्रीणीति शेषः। अहानि कृच्छ्रादगमयदयापयत्। कविराह—अमी भावा औत्सुक्यादयः सञ्चारिणोऽवशमिन्द्रियपरतन्त्रमपरं पृथग्जनं कं न विप्रकुर्युर्न विकारं नयेयुः। यद्यस्माद्विभुं समर्थम्। जितेन्द्रियमिति यावत्। तं स्मरहरमपि स्पृशन्ति। विकुर्वन्तीत्यर्थः। अत्र विभुविकारसमर्थनादर्थादितरजनविकारः कैमुतिकन्यायादापततीत्यर्थापत्तिरलङ्कारः। तथा च सूत्रम्—'दण्डापूपिकयार्थान्तरपतनमर्थापत्तिः' इति। अर्थान्तरन्यास इति। अर्थान्तरन्यास इति केचित्, तदुपेक्षणीयम्। युक्तिस्तु विस्तरभयान्नोच्यते। पुष्पिताग्रावृत्तम्— 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ॥ ९५ ॥

पर्वतराज की पुत्री पार्वती जी से मिलने की उत्सुकता में महादेव जी ने उन तीन दिनों को बड़ी कठिनाई से बिताया। भला जब सांसारिक भाव जितेन्द्रिय भगवान शंकर को इस प्रकार विकल बना सकते हैं तो फिर दूसरा ऐसा कौन हो सकता है जो उससे अधीर न हो सके ॥ ९५ ॥

षष्ठः सर्गः समाप्तः।

●

सप्तमः सर्गः।

अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम् ।
समेतबन्धुर्हिमवान्सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ हिमवान् ओषधीनाम् अधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायां समेतबन्धुः सन् सुतायाः विवाहदीक्षाविधिम् अन्वतिष्ठत् ॥ १ ॥

सञ्जी०—अथेति ॥ अथ त्र्यहानन्तरं हिमवानोषधीनामधिपस्य चन्द्रस्य वृद्धौ। शुक्ल पक्ष इत्यर्थः। शुभकर्मस्वापूर्यमाणपक्षस्य प्राशस्यात्। तिथौ च जामित्रं लग्नात्सप्तमं स्थानं तस्य गुणः शुद्धिः सा च ग्रहराहित्यं तेनान्वितायां सत्याम्। यद्यपि जामित्र शुद्धिर्लग्नधर्मस्तथापि तद्द्वारा तिथेरपि तथा व्यपदेशे न दोषः। समेतबन्धुर्युक्तबन्धुः सन्। सुताया दुहितुर्विवाहदीक्षा विवाहसंस्कारः सैव विधिः कर्म तमन्वतिष्ठत्कृतवान् ॥ १ ॥

इसके पश्चात् (तीन दिन के बाद) पर्वतराज हिमालयने चन्द्रमा के शुक्ल पक्ष में आने पर लग्न के सातवें स्थान की शुद्धि से युक्त मांगलिक तिथि को अपने बान्धवों को एकत्रित करके पुत्री पार्वती के विवाह संस्कार की विधि आरम्भ कर दी ॥ १ ॥

वैवाहिकैः कौतुकसंविधानैर्गृहे गृहे व्यग्रपुरन्ध्रिवर्गम्।
आसीत्पुरं सानुमतोऽनुरागादन्तःपुरं चैककुलोपमेयम् ॥ २ ॥

अन्वयः—अनुरागाद् गृहे-गृहे वैवाहिकैः कौतुकसंविधानैः व्यग्रपुरन्ध्रिवर्गं सानुमतः पुरम् अन्तःपुरं च एककुलोपमेयम् आसीत् ॥ २ ॥

सञ्जी०—वैवाहिकैरिति ॥ अनुरागात्प्रीतिवशात्। गृहे-गृहे प्रतिगृहम्। वीप्सायां द्विर्भावः। विवाहः प्रयोजनमेषामिति वैवाहिकानि तैः। 'प्रयोजनम्' इति ठक्। कौतुकसंविधानैर्मङ्गलार्थसंपादनैर्व्यग्रो व्याकुलः पुरन्ध्रिवर्गः कुटुम्बिनीसंघो यस्मिंस्तत्तथोक्तं सानुमतोऽद्रेः पुरं बाह्यमोषधिप्रस्थमन्तःपुरमवरोधनं चैककुलेनैकगृहेण वोपमेयमासीत्। 'सजातीयगणे गोत्रे गृहेऽपि कथितं कुलम्' इति विश्वः। सर्वेषामपि स्वगृहं एवेदं शोभनं वर्तत इत्यभिमानोऽभूदित्यर्थः। एतेन हिमाद्रेः प्रजाराग उक्तः। अत्र सर्वं सम्पन्नमेवेत्यर्थः ॥ २ ॥

पार्वती के प्रति अत्यन्त प्रेम-भाव रखने के कारण उस नगर के घर-घर में मांगलिक तोरण-पताका आदि बाँध दिए गए तथा वैवाहिक कार्यों में व्यस्त नागरिकों की स्त्रियाँ उत्सव मनाने में तल्लीन हो गईं। इस प्रकार पर्वतराज हिमालय का वह नगर तथा उनका अंतःपुर दोनों एक ही परिवार जैसा प्रतीत होने लगा ॥ २ ॥

सन्तानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।
भासोज्ज्वलत्काञ्चनतोरणानां स्थानान्तरं स्वर्ग इवाबभासे ॥ ३ ॥

अन्वयः—सन्तानकाकीर्णमहापथं चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालं काञ्चनतोरणानां भासा उज्ज्वलत् तत् स्थानान्तरं गतः स्वर्ग इव आबभासे ॥ ३ ॥

सञ्जी०—सन्तानकैरिति ॥ सन्तानकैर्मन्दारकुसुमैराकीर्णा आस्तृता महापथा राजकीयपथा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । चीनांशुकैः पट्टवस्त्रैः कल्पिता विरचिताः केतुमाला ध्वजपङ्क्तयो यस्य तत्तथोक्तम् । काञ्चनतोरणानां भासा प्रभयोज्ज्वलद्दीप्यमानं तत्पुरं स्थानान्तरं मेरोरन्यत्र स्थितः स्वर्ग इवाबभासे । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ३ ॥

उस नगर के राज मार्गों पर मन्दार के फूल बिछा दिए गये, चीनी रेशम के वस्त्रों की पताकाएँ सजाकर टाँग दी गईं तथा स्थान-स्थान पर स्वर्णनिर्मित बन्दनवार चमकने लगे । इस प्रकार वह नगर ऐसा प्रतीत होने लगा मानो स्वर्ग ही उतर कर वहाँ चला आया हो ॥ ३ ॥

एकैव सत्यामपि पुत्रपङ्क्तौ चिरस्य दृष्टेव मृतोत्थितेव ।
आसन्नपाणिग्रहणेति पित्रोरुमा विशेषोच्छ्वसितं बभूव ॥ ४ ॥

अन्वयः—पुत्रपङ्क्तौ सत्याम् अपि उमा एका एव चिरस्य दृष्टा इव, मृतोत्थिता इव, आसन्नपाणिग्रहणा इति पित्रोः विशेषोच्छ्वसितं बभूव ॥ ४ ॥

सञ्जी०—एकैवेति ॥ पुत्राश्च दुहितरश्च पुत्राः । 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' इत्येकशेषः । 'पुत्री पुत्रश्च दुहिताच' इत्यमरः । तेषां पङ्क्तौ संघे सत्यामप्युमैकैव चिरस्य दृष्टेव चिरान्नष्टलब्धेव मृतोत्थितेव मृत्वा पुनरुत्पन्नेवासन्नपाणिग्रहणासन्नविवाहेति । भर्तृगृहं गमिष्यतीतिहेतोरित्यर्थः । पित्रोर्मातापित्रोः । 'पिता मात्रा' इत्येकशेषः । विशेषेणोच्छ्वसितं प्राणभूता बभूव । पुमपत्यादपि अधिकप्रेमास्पदमभूदित्यर्थः ॥ ४ ॥

यद्यपि हिमालय की अनेक सन्तानें थीं फिर भी उस समय अकेली कन्या पार्वती का पाणिग्रहण समीप होने के कारण वह माता-पिता को इतनी प्यारी लगने लगी मानो उसे उन्होंने बहुत समय बाद देखा हो अथवा वह मरकर फिर से जीवित हो गई हो ॥ ४ ॥

अङ्काद्ययावङ्कमुदीरिताशीः सा मण्डनान्मण्डनमन्वभुङ्क्त ।
सम्बन्धिभिन्नोऽपि गिरेः कुलस्य स्नेहस्तदेकायतनं जगाम ॥ ५ ॥

अन्वयः—सा उदीरिताशीः सती अङ्काद् अङ्कं ययौ । मण्डनाद् मण्डनम् अन्वभुङ्क्त । सम्बन्धिभिन्नः अपि गिरेः कुलस्य स्नेहः तदेकायतनं जगाम ॥ ५ ॥

सञ्जी०—अङ्कादिति ॥ सा पार्वत्युदीरिताशीः प्रयुक्ताशीर्वादा सत्यङ्कादङ्कमुत्सङ्गं ययौ । मण्डनान्मण्डनान्तरमन्यन्मण्डनमन्वभुङ्क्त । तदा सर्वे बन्धवः प्रत्येकमेव तामङ्कमारोप्य मण्डनं प्रायच्छन्नित्यर्थः । तच्च स्नेहनिबन्धनमेवेत्याह सम्वन्धिभिन्नः स्वपुत्रादिभिर्भिन्नो विभक्तोऽपि गिरेः कुलस्य वंशस्य स्नेहस्तदेकायतनं सैवैकमायतनं स्थानं तज्जगाम । तदिति छेदेऽप्ययमेवार्थः । विधेयप्राधान्यान्नपुंसकत्वमिति । सर्वे बन्धवः स्वापत्येभ्योऽपि तस्यामधिकं स्निह्यन्तीति तात्पर्यार्थः ॥ ५ ॥

सभी कुटुम्बियों ने पार्वती को बारी-बारी से अपनी गोद में बिठाया, उसे अनेक प्रकार के आशीर्वाद दिए तथा विविध अलंकारों से अलंकृत किया । यद्यपि हिमालयका परिवार पुत्रादिकों से भरा-पुरा था किन्तु उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों सभी कुटुम्बियों का स्नेह एक मात्र पार्वती में ही केन्द्रित हो गया हो ॥ ५ ॥

मैत्रे मुहूर्ते शशलाञ्छनेन योगं गतासूत्तरफल्गुनीषु ।
तस्याः शरीरे प्रतिकर्म चक्रुर्बन्धुस्त्रियो याः पतिपुत्रवत्यः ॥ ६ ॥

अन्वयः—अथ मैत्रे मुहूर्त्ते उत्तरफल्गुनीषु शशलाञ्छनेन योगं गतासु तस्याः शरीरे याः पतिपुत्रवत्यः, ताः बन्धुस्त्रियः प्रतिकर्म चक्रुः ॥ ६ ॥

सञ्जी०—मैत्र इति ॥ अथ मैत्रे मित्रदैवत्ये मुहूर्ते । उदयमुहूर्तात्तृतीयमुहूर्त इत्यर्थः । 'आर्द्रः सार्दस्तथा मैत्रः शुभो वासव एव च' इति वृहस्पतिस्मरणात् । उत्तरफल्गुनीषु फल्गुनीनक्षत्रे । फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे' इत्येकस्मिन्नपि बहुवचनम् । शशलाञ्छनेन चन्द्रेण योगं गतासु सतीषु तस्याः पार्वत्याः शरीरे बन्धुस्त्रियः प्रतिकर्म प्रसाधनम् । 'प्रतिकर्म प्रसाधनम्' इत्यमरः । चक्रुः । कीदृश्यः । याः पतिपुत्रवत्यः । जीवद्भर्तृका जीवदपत्याश्चेत्यर्थः ॥ ६ ॥

इसके पश्चात् सूर्योदय से तीन मुहूर्त बीतने के बाद उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से चन्द्रमा का योग होने पर हिमालय के परिवारकी पुत्रवती एवं सौभाग्यवती स्त्रियों ने पार्वती के शरीर का शृङ्गार किया ॥ ६ ॥

सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभम् ।
निर्नाभिकौशेयमुपात्तबाणमभ्यङ्गनेपथ्यमलञ्चकार ॥ ७ ॥

अन्वयः—सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिः दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभं निर्नाभिकौशेयम् उपात्तबाणम् अभ्यङ्गनेपथ्यम् अलञ्चकार ॥ ७ ॥

सञ्जी०—सेति ॥ सा गौरी गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिः श्वेतसर्षपप्रक्षेपवद्भिर्दूर्वाप्रवालैर्दूर्वाङ्कुरैः प्रतिभिन्नशोभं विशेषितशोभं निर्नाभ्यतिक्रान्तनाभि कौशेयं वस्त्रविशेषो यस्मिस्तत्तथोक्तम् । 'कौशेयं कृमिकोशोत्थम्' इत्यमरः । उपात्तबाणं गृहीतशरम् । 'शरः क्षत्रियया ग्राह्यः' इति मनुस्मरणात् । अभ्यङ्गनेपथ्यमभ्यङ्गवेशमलञ्चकार । अलंकारमप्यलंचकारेत्यर्थः ॥ ७ ॥

सबसे पहिले पीली सरसो को सिर के चारो ओर घुमाकर फेंक दिया गया । फिर नाभि तक ऊँची रेशमी साड़ी पहिनाई गई जिसमें दूब के अंकुरों और एक बाण को खोंस दिया गया । इस प्रकार स्नान कालीन शृङ्गार पूरा हो गया ॥ ७ ॥

बभौ च सम्पर्कमुपेत्य बाला नवेव दीक्षाविधिसायकेन ।
करेण भानोर्बहुलावसाने सन्धुक्ष्यमाणेव शशाङ्करेखा ॥ ८ ॥

अन्वयः—बाला नवेव दीक्षाविधिसायकेन सम्पर्कम् उपेत्य बहुलावसाने भानोः करेण सन्धुक्ष्यमाणा शशाङ्करेखा इव बभौ ॥ ८ ॥

सञ्जी०—बभाविति ॥ किञ्चेति चार्थः । बाला नवेव दीक्षाविधौ विवाहकृत्ये यः सायकस्तेन सम्पर्कमुपेत्य बहुलावसाने कृष्णपक्षात्यये । शुक्लपक्षादावित्यर्थः । भानोः करेण किरणेन सन्धुक्ष्यमाणोपचीयमाना । 'सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम् । 'क्षपयन्ति' इत्यादिवचनात् । शशाङ्करेखेव बभौ ॥ ८ ॥

विवाह संस्कार के समय खोंसे गये उस बाण से पार्वती जी उसी प्रकार सुशोभित हुईं जैसे शुक्ल पक्ष में सूर्य की किरणों के सम्पर्क में चन्द्रकला सुशोभित हो उठती है ॥ ८ ॥

तां लोध्रकल्केन हृताङ्गतैलामाश्यानकालेयकृताङ्गरागाम् ।
वासो वसानामभिषेकयोग्यं नार्यश्चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः ॥ ९ ॥

अन्वयः—लोध्रकल्केन हृताङ्गतैलाम् आश्यानकालेयकृताङ्गरागाम् अभिषेकयोग्यं वासः वसानां तां नार्यः चतुष्काभिमुखं व्यनैषुः ॥ ९ ॥

सञ्जी०—तामिति ॥ लोध्रकल्केन लोध्रचूर्णेन हृतमङ्गतैलं यस्यास्ताम् । कृतोद्वर्तनामित्यर्थः । आश्यानमीषच्छुष्कं तेन कालेयेन गन्धद्रव्येण कृताङ्गरागाम् । 'कृतस्नैग्ध्यामित्यर्थः । अथ जायकम् । कालेयकं च कालानुसार्यं च' इत्यमरः । अभिषेकयोग्यं वासो वस्त्रं वसानां स्नानशाटीमाच्छादयन्तीं तां पार्वतीं नार्यश्चतुष्कं चतुःस्तम्भगृहं तदभिमुखं व्यनैषुः । स्नानगृहं निन्युरित्यर्थः ॥ ९ ॥

इसके बाद सुहागिनी स्त्रियों ने उबटन लगाया, सुगन्धित द्रव्यों से स्निग्ध किया, तथा नहाने योग्य वस्त्र पहना कर वे पार्वती को स्नानगृह में ले गईं ॥ ९ ॥

विन्यस्तवैदूर्यशिलातलेऽस्मिन्नाबद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे ।
आवर्जिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यमेनां स्नपयाम्बभूवुः ॥ १० ॥

अन्वयः—विन्यस्तवैदूर्यशिलातले आबद्धमुक्ताफलभक्तिचित्रे अस्मिन् एनाम् आर्वजिताष्टापदकुम्भतोयैः सतूर्यं स्नपयाम्बभूवुः ॥ १० ॥

सञ्जी०—विन्यस्तेति ॥ विन्यस्तं वैदूर्यशिलातलं मरकतशिलातलं मरकतशिलाप्रदेशो यस्मिस्तस्मिन्नाबद्धानां मुक्ताफलानां भक्तिभी रचनाभिश्चित्रेऽस्मिश्चतुष्के एनां पार्वतीमावर्जितानामानमितानामष्टापदकुम्भानां कनककलशानां तोयैः सतूर्यं मङ्गलवाद्ययुक्तं यथा तथा स्नपयाम्बभूवुः । अष्टसु लोहेषु पदं प्रतिष्ठा यस्येत्यष्टापदम् । 'अष्टनः संज्ञायाम्' इति दीर्घः । 'अष्टापदं स्यात्कनकम्' इति विश्वः ॥

उन स्त्रियों ने मोती के तोरणों से चित्रित चतुःस्तम्भ वाले मण्डप में मरकत मणि की शिला पर बिठा कर सोने के घड़ों के जल से बजते हुए मङ्गल बाजाओं के बीच पार्वती को स्नान कराया ॥ १० ॥

सा मङ्गलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा ।
निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधेव रेजे ॥ ११ ॥

अन्वयः—मङ्गलस्नानविशुद्धगात्री गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा सा, निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधा इव रेजे ॥ ११ ॥

सञ्जी०—सेति ॥ मङ्गलार्थस्नानेन विशुद्धगात्री निर्मलाङ्गी पत्युर्वरस्योद्गमनीयवस्त्रं धौतवस्त्रम् । 'धौतमुत्गमनीयं स्यात्' इति हलायुधः । 'तत्स्यादुद्गमनीयं यद्धौतयोर्वस्त्रयोर्युगम्' इत्यमरः । युगग्रहणंतु प्रायिकाभिप्रायम् । अत एवात्र क्षीरस्वामी—'युगं प्रायशो यल्लक्ष्यं तदेव' इति व्याख्याय 'गृहीतपत्युद्गमनीयवस्त्रा' इत्येतदेवोदाहृतवान् । गृहीतं पतिं प्रत्युद्गमनीयवस्त्रं यया सा । धौतवस्त्रमाच्छादितवतीत्यर्थः । सा पार्वती निर्वृत्तो निष्पन्नः पर्जन्यस्य जलेनाभिषेको यस्याः सा तथोक्ता । प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं काशं काशपुष्पं यस्याः सा तथोक्ताः वसुधेवरेजे शुशुभे ॥ ११ ॥

इस प्रकार मंगल स्नान करने से अत्यन्त निर्मल शरीरवाली पार्वती ने विवाह का वस्त्र (धौत वस्त्र) धारण कर लिया । उस समय वह इस प्रकार सुशोभित होने लगीं मानों बादलों के जल से धुल जाने के पश्चात् कास के फूलों से भरी हुई पृथ्वी सुशोभित हो रही हो ॥ ११ ॥

तस्मात्प्रदेशाच्च वितानवन्तं युक्तं मणिस्तम्भचतुष्टयेन ।
पतिव्रताभिः परिगृह्य निन्ये क्लृप्तासनं कौतुकवेदिमध्यम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—सा तस्मात् प्रदेशाद् वितानवन्तं मणिस्तम्भचतुष्टयेन युक्तं क्लृप्तासनं कौतुकवेदिमध्यं पतिव्रताभिः परिगृह्य निन्ये ॥ १२ ॥

सञ्जी०—तस्मादिति । किंचेति चार्थः । तस्मात्प्रदेशात्स्नानप्रदेशाद्वितानवन्तमुल्लोचयुक्तम् । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । मणिस्तम्भचतुष्टयेन युक्तं क्लृप्तं सज्जमानमासनं यस्मिस्तं कौतुकवेदिमध्यं पतिव्रताभि : परिगृह्य दोर्भ्यामालिङ्ग्य निन्ये नीता । प्रसाधनार्थमित्यर्थः ॥ १२ ॥

इसके पश्चात् पतिव्रता स्त्रियाँ पार्वती को अपनी भुजाओं के बीच करके स्नान गृह से मंगल वेदी पर ले गईं जिसके चारों ओर चार मणियों से बने हुए खम्भे लगे हुए थे, जिन पर चँदोवा बना हुआ था और उस वेदी के बीच में आसन लगा हुआ था ॥ १२ ॥

तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥ १३ ॥

अन्वयः—नार्यः तां तन्वीं तत्र प्राङ्मुखीं निवेश्य पुरो निषण्णाः प्रसाधने सन्निहिते अपि भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः सत्यः क्षणं व्यलम्बन्त ॥ १३ ॥

सञ्जी०—तामिति ॥ नार्यः प्रसाधिकास्तां तन्वीं पार्वतीं तत्र वेदिमध्ये प्राङ्मुखीं निवेश्योपवेश्य पुरोनिषण्णा अग्रेस्थिताः । प्रसाध्यतेऽनेनेति प्रसाधनेऽलङ्कार साधनवर्गे सन्निहितेऽपि भूतार्था सत्यरूपा । स्वाभाविकीति यावत् । या शोभा रामणीयकं तया ह्रियमाणान्याकृष्यमाणानि नेत्राणि यासां तास्तथोक्ताः क्षणं व्यलम्बन्त । स्वभावसुन्दर्याः किमस्याः प्रसाधनेनेति तूष्णीं तस्थुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

उन स्त्रियों ने कृशाङ्गी पार्वती को पूर्वाभिमुख करके उस वेदी पर बिठा दिया और स्वयं उसके सामने बैठ गईं । यद्यपि उनके सामने शृङ्गार के सभी साधन मौजूद थे फिर भी वे सभी कुछ देर तक पार्वती के मोहक सौन्दर्यको एक टक देखती ही रह गईं ।

धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तमन्तःकुसुमं तदीयम् ।
पर्याक्षिपत्काचिदुदारबन्धं दूर्वावता पाण्डुमधूकदाम्ना ॥ १४ ॥

अन्वयः—काचिद् धूपोष्मणा आर्द्रभावं त्याजितम् अन्तःकुसुमं तदीयं केशान्तं दूर्वावता पाण्डुमधूकदाम्ना उदारबन्धं पर्याक्षिपत् ॥ १४ ॥

सञ्जी०—धूपेति ॥ काचित्प्रसाधिका धूपोष्मणा करणेनाद्रभावमार्द्रत्वं त्याजितम् । पचादिषु पाठाद्द्विकर्मकत्वम् । त्यजतेर्ण्यन्तादप्रधाने कर्मणि क्तः । अन्तः कुसुममन्तर्निक्षिप्तकुसुमं तस्या इमं तदीयं केशान्तं केशपाशं दूर्वावता मध्ये मध्ये ग्रथितदूर्वेण पाण्डुमधूकदाम्ना हरितमधुद्रुमकुसुममाल्येन । 'मधूके तु गुडपुष्पमधुद्रुमौ' इत्यमरः । उदारबन्धं यथा तथा पर्याक्षिपद्बबन्ध ॥ १४ ॥

किसी प्रसाधिका ने धूप का धुँवा देकर उसकी गर्मी से पार्वती के गीले बालों को सुखा दिया, किसी ने बालों में फूल गूँथ दिया तथा किसी ने हरी दूब में गुथी हुई पीले महुए की माला से उसके जूड़ों को सुन्दरता के साथ सजा दिया ॥ १४ ॥

विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभक्तमस्याः ।
सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥ १५ ॥

अन्वयः—ताः अस्याः अङ्गं विन्यस्तशुक्लागुरु गोरोचनापत्रविभक्तं चक्रुः । सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायाः त्रिस्रोतसः कान्तिम् अतीत्य तस्थौ ॥ १५ ॥

सञ्जी०—विन्यस्तेति ॥ अस्या गौर्या अङ्गं गात्रं विन्यस्तं विरचितं शुक्लागुरु यस्मिस्तद्गोरोचनायाः पत्रैः पात्ररचनाभिर्विभक्तं विशेषितं च चक्रुः । सा तथाभूता गौरी चक्रवाकैरङ्कितं सैकतं यस्यास्तस्यास्त्रिस्रोतसो गङ्गायाः । कान्ति शोभामतीत्यतिक्रम्य तस्थौ । अत्र गोरोचनाचक्रवाकयोः पीतत्वेन साम्यं, त्रिस्रोतसो धावल्यं तु प्रसिद्धत्वान्न स्वपदेनोपात्तम् ॥ १५ ॥

इसके पश्चात् उन स्त्रियों ने पार्वती के शरीर पर श्वेत अगरु का लेप करके उसपर लाल गोरोचन से नाना प्रकार की फूल-पत्तियाँ चित्रित कर दीं । उस समय पार्वती की शोभा ने चक्रवाकों से सुशोभित पुलिनों वाली गंगा की शोभा को भी तुच्छ बना दिया ॥ १५ ॥

लग्नद्विरेफं परिभूय पद्मं समेघलेखं शशिनश्च बिम्बम् ।
तदाननश्रीरलकैः प्रसिद्धैश्चिच्छेद सादृश्यकथाप्रसङ्गम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—प्रसिद्धैः अलकैः तदाननश्रीः लग्नद्विरेफं पद्मं, समेघलेखं शशिनः बिम्बं च परिभूय सादृश्यकथाप्रसङ्गं चिच्छेद ॥ १६ ॥

सञ्जी०—लग्नेति ॥ प्रसिद्धैर्भूषितैः । 'प्रसिद्धौ ख्यातभूषितौ' इत्यमरः । अलकैरुपलक्षिता तस्या गौर्याः आननश्रीर्लग्नद्विरेफं पद्मं समेघलेखं मेघरेखायुक्तं शशिनो बिम्बं च परिभूय तिरस्कृत्य सादृश्यमुपमा तस्या कथोक्तिस्तस्याः प्रसङ्गं

प्रसक्ति सादृश्यं वाङ्मात्रप्रसक्तमपि चिच्छेदाभिनत् । प्रसक्तयोः पद्मचन्द्रयोः परिभूतत्वादन्यत्र चाप्रसङ्गादित्यर्थः । अत्र पूर्वार्धवाक्यार्थस्य सादृश्यकथाच्छेदं प्रति हेतुत्वेनोपपन्यासात्काव्यलिङ्गमलंकारः । लक्षणं तूक्तम् ॥ १६ ॥

पुष्पों से अलंकृत केशपाशों से युक्त पार्वती के मुख की शोभा ने भ्रमर युक्त कमल एवं मेघ के परदे में लिपटे हुए चंद्र विम्ब की शोभा को पराजित कर अपने योग्य अन्य सभी उपमानों की चर्चा ही समाप्त कर दी ॥ १६ ॥

कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे ।
तस्याः कपोले परभागलाभाद् बबन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥ १७ ॥

अन्वयः——तस्याः कर्णार्पितः यवप्ररोहः लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनाक्षेपनितान्तगौरे कपोले परभागलाभात् चक्षूंषि बबन्ध ॥ १७ ॥

सञ्जी०——कर्णेति ॥ तस्या गौर्याः कर्णेऽर्पितो निक्षिप्तो यवप्ररोहो यवाङ्कुरो लोध्रस्य वृक्षविशेषस्य कषायेण विलेपनेन रूक्षे विशदे । उद्वर्तिते इत्यर्थः । 'कषायो रसभेदे स्यादङ्गरागे विलेपने' इति विश्वः । गोरोचनायाः क्षेपेण विन्यासेन नितान्तगौरेऽत्यन्तारुणे । 'गौरः श्वेतेऽरुणे पीते' इति विश्वः । कपोले गण्डस्थले परभागलाभाद्वर्णोत्कर्षप्राप्तेश्चक्षूंषि । द्रष्टॄणामिति शेषः । बबन्ध जहार । आचकर्षेत्यर्थः । गोरोचनारुणे गण्डस्थले पाण्डुरो यवाङ्कुरो विजातीयवर्णसन्निधानाल्लब्धवर्णोत्कर्षः संश्चक्षुराकर्षकोऽभूदिति भावः ॥ १७ ॥

लोध्र के लेप से उज्ज्वल तथा गोरोचन के लेप से नितान्त रक्त वर्ण वाले पार्वती के कपोलों के ऊपरी भागों पर उसके कानों से लटक कर झूलते हुए यव के अंकुर देखने वालों की आँखों को अपने में बाँध से लेते थे ॥ १७ ॥

रेखाविभक्तः सुविभक्तगात्र्याः किञ्चिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः ।
कामप्यभिख्यां स्फुरितैरपुष्यदासन्नलावण्यफलोऽधरोष्ठः ॥ १८ ॥

अन्वयः–सुविभक्तगात्र्याः रेखाविभक्तः किञ्चिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागः आसन्नलावण्यफलः अधरोष्ठः, स्फुरितैः काम् अपि अभिख्याम् अपुष्यद् ॥ १८ ॥

सञ्जी०——रेखेति ॥ सुविभक्तगात्र्याः सुसंश्लिष्टावयवायाः पार्वत्या रेखया मध्यगतया विभक्तः सुश्लिष्टः किञ्चिदीषन्मधूच्छिष्टेन सिक्थकेन विमृष्टो विशेषेण निर्मलीकृतो रागो यस्य स तथोक्तः । 'मधूच्छिष्टं तु सिक्थकम्' इति, 'निर्णिक्तं शोधितं मृष्टम्' इति चामरः । अन्यत्रोक्तम्—'अलौहित्यापगमायाधरेषु सिक्थलेपः क्रियते ।' आसन्नं सन्निहितं लावण्यफलं सौन्दर्यप्रयोजनं मुखचुम्बनादिरूपं यस्य स

तथोक्तोऽधरोष्ठः स्फुरितैर्माविशुभशंसिभिः स्पन्दैः कामप्यनिर्वाच्यामभिख्यां शोभामपुष्यत्पुपोष । 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः ॥ १८ ॥

सुन्दर एवं सुगठित अंगों वाली पार्वती के दोनों अधरों के बीच एक रेखा सी दिखाई पड़ती थी, जिनकी ललाई लगी हुई चिकनाई से और भी चमचमा उठी थी। अपनी सुन्दरता का फल (चुम्बनादि) शीघ्र ही पानेवाले वे अधर जब फड़कते थे तो उनकी शोभा अकथनीय ढंग से बढ़ जाती थी ॥ १८ ॥

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥ १९ ॥

अन्वयः—सख्या चरणौ रञ्जयित्वा 'अनेन पत्युः शिरश्चन्द्रकलां स्पृश' इति परिहासपूर्वं कृताशीः सा तां माल्येन निर्वचनं जघान ॥ १९ ॥

सञ्जी०—पत्युरिति ॥ सख्या कर्त्र्या । चरणौ रञ्जयित्वा लाक्षारसाक्तौ कृत्वा । कृताशीरिति करोतिना समानकर्तृकत्वम् । अनेन चरणेन रञ्जने द्वयोरपि नियमाच्चरणावित्युक्त्वाप्यौचित्यात्ताडनविधावेकतरपरामर्श इत्याहुः । पत्युरीश्वरस्य शिरश्चन्द्रकलाम् । सुरतविशेष इति शेषः । स्पृश ताडयेति परिहासपूर्वं कृताशीः प्रयुक्ताशीर्वादा सा पार्वती तां सखीं माल्येन मालया । 'माल्यं मालास्रजौ' इत्यमरः । निर्वचने यथा तथा । तूष्णीमित्यर्थः । जघान ताडयामास । निर्वचनमित्यनेन विहृताख्यः शृङ्गारानुभाव उक्तः । तदुक्तम्—'प्राप्तकाले तु यद्ब्रूयात्कुर्याद्वा विहृतं हि तत्' इति ॥ १९ ॥

एक सखी ने पार्वती के दोनों चरणों को महावर से रंगकर परिहास के साथ उसे आशीर्वाद दिया कि तुम अपने इन चरणों से (सुरत विशेष की क्रिया द्वारा) अपने पति भगवान शंकर के शिर पर विद्यमान चन्द्रकला का स्पर्श करो। यह सुनकर पार्वती ने बिना कुछ कहे ही माला से उस सखी को मार दिया ॥ १९ ॥

तस्याः सुजातोत्पलपत्रकान्ते प्रसाधिकाभिर्नयने निरीक्ष्य ।
न चक्षुषोः कान्तिविशेषबुद्ध्या कालाञ्जनं मङ्गलमित्युपात्तम् ॥ २० ॥

अन्वयः—प्रसाधिकाभिः सुजातोत्पलपत्रकान्ते तस्याः नयने निरीक्ष्य-कालाञ्जनं चक्षुषोः कान्तिविशेषबुद्ध्या न उपात्तं, किन्तु मङ्गलम् इति उपात्तम् ॥ २० ॥

सञ्जी०—तस्या इति ॥ प्रसाधिकाभिरलङ्कर्त्रीभिः सुजाते सम्यगुत्पन्ने उत्पल-

पत्र इव कान्ते रम्ये तस्या नयने निरीक्ष्य कालाञ्जनमञ्जनविशेषश्चक्षुषोः कान्तिविशेष बुद्ध्या । शोभातिशयो भविष्यतीति बुद्ध्येत्यर्थः । नोपात्तं न गृहीतं किन्तु मङ्गलं शुभमिति हेतोरुपात्तम् । निसर्गसुभगस्य किमाहार्यकाडम्वरेणेति भावः ॥२०

पार्वती का शृङ्गार करने वाली उन स्त्रियों ने खिले हुए नीलकमल की पंखुड़ियों के समान उसके रमणीय नेत्रों में शोभा बढ़ाने की दृष्टि से अंजन नहीं लगाया अपितु इस लिए लगाया कि उसका लगाना भी एक मांगलिक कृत्य था ॥ २० ॥

सा सम्भवद्भिः कुसुमैर्लतेव ज्योतिर्भिरुद्यद्भिरिव त्रियामा ।
सरिद्विहङ्गैरिव लीयमानैरामुच्यमानाभरणा चकासे ॥ २१ ॥

अन्वयः—आमुच्यमानाभरणा सा सम्भवद्भिः कुसुमैः लता इव, उद्यद्भिः ज्योतिर्भिः त्रियामा इव लीयमानैः विहङ्गैः सरिद् इव, चकासे ॥ २१ ॥

सञ्जी०—सेति ॥ आमुच्यमानाभरणा निबन्धमानाभरणा सा गौरी सम्भवद्भिरुत्पद्यमानैः कुसुमैर्लतेव । अनेन पद्मरागेन्द्रनीलादीन्याभरणानि सूचितानि लताकुसुमानां नानावर्णत्वात् । उद्यद्भिरुदयं गच्छद्भिर्ज्योतिर्भिरुडुभिस्त्रियामा रात्रिरिव । अनेन मौक्तिकानि कथितानि । लीयमानैराश्रयद्भिः निषीदद्भिरित्यर्थः । विहङ्गैश्चक्रवाकैः सरिदिव । अनेन सुवर्णाभरणानि सूचितानि । विहङ्गाश्च तत्सूचनाय चक्रवाका अभिमताः । चकासे रेजे । अत्र लताकुसुमादीनां सहजसंबन्धिनामुपमानत्वेनोपादानादाहार्यकमपि तस्याः सहजमिवाशोभतेति भावः ॥ २१ ॥

जिस प्रकार फूलों से भरी पुरी लता या तारों से जगमगाती हुई रात अथवा रंग-बिरंगे पक्षियों के आ जाने से नदी अत्यन्त सुहावनी लगने लगती है उसी प्रकार विभिन्न आभूषणों को धारण करने पर पार्वती की शोभा और भी खिल उठी ॥ २१ ॥

आत्मानमालोक्य च शोभमानमादर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः ॥ २२ ॥

अन्वयः—गौरी शोभमानम् आत्मानम् आदर्शबिम्बे आलोक्य स्तिमितायताक्षी सती हरोपयाने त्वरिता बभूव । हि स्त्रीणां वेशः प्रियालोकफलः भवति ॥ २२ ॥

सञ्जी०—आत्मानमिति ॥ किञ्चेति चार्थः । गौरी शोभमानमात्मानं निजशरीरमादर्शबिम्बे दर्पणमण्डले । 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः । स्तिमितायताक्ष्या-

दरान्निश्चलायतलोचना सत्यालोक्य हरोपयाने हरप्राप्तौ त्वरिता व्यग्रा बभूव । स्त्रीणां वेषो नेपथ्यं प्रियस्य भर्तुरालोको दर्शनं फलं प्रयोजनं यस्य स तथोक्तो हि । अन्यथारण्यचन्द्रिका स्यादिति भावः । अनेन कालक्षमत्वलक्षणत्वलक्षणमौत्सुक्यमुक्तमित्यनुसन्धेयम् ।। २२ ।।

नाना प्रकार के प्रसाधनों से अलंकृत अपने सजीले रूप को दर्पण में देखकर बड़े-बड़े नेत्रों वाली पार्वती स्वयं ठक सी रह गयीं और उनका मन शंकर जी से मिलने के लिए विह्वल हो उठा । क्योंकि स्त्रियों के शृङ्गार की सफलता इसी में है कि उसे उनका प्रिय देखे ।। २२ ।

अथाङ्गुलिभ्यां हरितालमार्द्रं माङ्गल्यमादाय मनःशिलां च ।
कर्णावसक्तामलदन्तपत्रं माता तदीयं मुखमुन्नमय्य ।। २३ ।।

उमास्तनोद्भेदमनुप्रवृद्धो मनोरथो यः प्रथमं बभूव ।
तमेव मेना दुहितुः कथञ्चिद्विवाहदीक्षातिलकं चकार ।। २४ ।।

अन्वयः—अथ माता माङ्गल्यम् आर्द्रं हरितालं मनःशिलां च अङ्गुलिभ्याम् आदाय, कर्णावसक्तामलदन्तपत्रं तदीयं मुखम् उन्नमय्य, उमास्तनोद्भेदम् अनुप्रवृद्धः यः मनोरथः प्रथमं बभूव, मेना दुहितुः तम् एव विवाहदीक्षातिलकं कथञ्चित् चकार ।। २३-२४ ।।

सञ्जी०—अथेति ।। अथ प्रसाधनानन्तरं माता मेनका माङ्गल्यं मङ्गलार्थमार्द्रं द्रवहरितालं वर्णद्रव्यविशेषं मनःशिलां धातुविशेषञ्चाङ्गुलिभ्यां तर्जनीमध्यमाभ्यामादाय कर्णयोरवसक्ते लग्ने अमले दन्तपत्रे यस्य तत्तथोक्तं तस्याः पार्वत्याः इदं तदीयं मुखमुन्नमय्य । 'विवाहदीक्षातिलकं चकार' (७।२४) इत्युत्तरश्लोके नान्वयः ।। २३-२४ ।।

सञ्जी०—उमेति ।। उमायाः स्तनोद्भेदमनु । स्तनोदयमारभ्येत्यर्थः । प्रवृद्धो वृद्धि गतः । प्रागेवोत्पन्न इति भावः । यो मनोरथो वाञ्छा । 'वाञ्छा लिप्सा मनोरथः' इत्यमरः । प्रथमं मनोरथान्तरात्प्राक् । अयमेव प्रथमो मनोरथ इत्यर्थः । बभूव । मेनादुहितुस्तमेव मनोरथभूतमेव । तद्विषये तत्तोपचारः । विवाहदीक्षायां विवाहकृत्ये तिलकं कथंचित्कृच्छ्रेण चकार । आनन्दबाष्पान्धतयेति शेषः । विवाहानन्तरभावित्वादन्येषामयमेव प्रथमो मनोरथ इति भावः । युग्मकम् ।। २३-२४ ।।

इस प्रकार उन स्त्रियों द्वारा अलंकृत कर दिए जाने के पश्चात् पार्वती की माता मेना वहाँ आईं । उन्होंने कर्णं फूल से युक्त कानों वाले पार्वती के मुख

को ऊपर उठाकर अपनी दो अँगुलियों से उसके मस्तक पर मांगलिक गीले हरताल और मैनसिल का विवाह-दीक्षा सूचक तिलक लगा दिया। यह तिलक ही मानो मेना का वह मनोरथ था जो पार्वती के स्तनों के उभड़ने के साथ ही अंकुरित और दिनों दिन उसके बढ़ने के साथ ही बढ़ता चला गया था॥ २३-२४॥

बबन्ध चास्राकुलदृष्टिरस्याः स्थानान्तरे कल्पितसन्निवेशम्।
धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणमूर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रम्॥ २५॥

अन्वयः—अस्राकुलदृष्टिः सा अस्याः स्थानान्तरे कल्पितसन्निवेशं धात्र्यङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणम् ऊर्णामयं कौतुकहस्तसूत्रं बबन्ध च॥ २५॥

सञ्जी०—बबन्धेति॥ अस्याः पार्वत्या अस्रैरानन्दवाष्पैराकुलदृष्टिरत एव स्थानान्तरे कल्पितः सन्निवेशो निक्षेपो यस्य तत्। स्वस्थानादन्यत्र स्थापितमित्यर्थः। अतएव धात्र्या उपमातुरङ्गुलीभिः प्रतिसार्यमाणं स्वस्थानं प्राप्यमाणमूर्णामयं मेषादिलोमनिर्मितम् 'ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यात्' इत्यमरः। कौतुकहस्तसूत्रं मङ्गलहस्तसूत्रम्। 'कौतुकं मङ्गले हर्षे हस्तसूत्रे कुतूहले' इति शाश्वतः। बबन्ध च मेनेति शेषः। पूर्वोक्ततिलकक्रियासमुच्चयार्थश्चकारः॥ २५॥

उस समय मेना की आँखें आनन्द के आँसुओं से भर उठीं। जिससे ठीक-ठीक देख न सकने के कारण उन्होंने ऊन से बने मंगल सूत्र को पार्वती के हाथ में कहीं का कहीं बांध दिया जिसे धाय ने अपनी उंगलियों से सरका कर ठीक स्थान पर कर दिया॥ २५॥

क्षीरोदवेलेव सफेनपुञ्जा पर्याप्तचन्द्रेव शरत्त्रियामा।
नवं नवक्षौमनिवासिनी सा भूयो बभौ दर्पणमादधाना॥ २६॥

अन्वयः—नवक्षौमनिवासिनी नवं दर्पणम् आदधाना सा सफेनपुञ्जा क्षीरोदवेला-इव, पर्याप्तचन्द्रा शरत्त्रियामा इव, भूयः बभौ॥ २६॥

सञ्जी०—क्षीरोदेति॥ नवं नूतन क्षौमं दूकूलं निवस्त आच्छादयतीति नवक्षौमनिवासिनी। वस्तेराच्छादनार्थाण्णिनिः। तथा नवं दर्पणमादधाना बिभ्रती सा गौरी सफेनपुञ्जा सडिण्डीरपङ्क्तिः। क्षीरमुदकंयस्य स क्षीरोदः क्षीरसमुद्रः। 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' इत्युदादेशः। तस्य वेला तीरभूमिरिव। 'वेला काले च जलधेस्तीरनीरविकारयोः' इति विश्वः। पर्याप्तचन्द्रा पूर्णचन्द्रा शरत्त्रियामा शरद्रात्रिरिव भूयो भूमिष्ठं बभौ चकासे॥ २६॥

इसके पश्चात नूतन रेशमी वस्त्र धारण कर तथा दर्पण हाथ में लेकर पार्वती

इस प्रकार सुशोभित हुईं मानो फेन में ढकी हुई क्षीर सागर की तटभूमि हो अथवा पूर्ण चन्द्र से सुशोभित शरद की रात्रि हो ।। २६ ।।

तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता ।
अकारयत्कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम् ।। २७ ।।

अन्वयः—कारयितव्यदक्षा माता कुलप्रतिष्ठां ताम् अर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः प्रणमय्य सतीनां पादग्रहणं क्रमेण अकारयत् ।। २७ ।।

सञ्जी०—तामिति ।। कारयितव्येषु दक्षा कारयित्री । कर्मोपदेशकुशलेत्यर्थः । माता मेना प्रतितिष्ठत्यस्यामिति प्रतिष्ठा । 'आतश्चोपसर्गे' इति कः स्त्रियां टाप् । कुलस्य प्रतिष्ठां कुलालम्बनभूताम् । स्थितिकारिणीमित्यर्थः । तां गौरीम् । अर्चिताभ्यः पूजिताभ्यः कुलदेवताभ्यः गृहदेवताभ्यः प्रणमय्य प्रणामं कारयित्वा । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इति णेरयादेशः । सतीनां पतिव्रतानां पादग्रहणं पादाभिवन्दनं क्रमेणाकारयत्कारयामास । 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इत्यणि कर्तुः कर्मत्वम् । अन्यत्र च 'गति बुद्धि—' इत्यादिना नमेरकर्मकत्वात् ।। २७ ।।

विवाह के सभी रीति-रिवाजों को जाननेवाली पार्वती की माता मेना ने अपने कुल की प्रतिष्ठा पार्वती से कुलदेवताओं की पूजा कराकर उन्हें प्रणाम कराया और फिर वहाँ उपस्थित सभी पतिव्रता स्त्रियों का चरण स्पर्श कराया ।

अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युरित्युच्यते ताभिरुमा स्म नम्रा ।
तया तु तस्यार्धशरीरभाजा पश्चात्कृताः स्निग्धजनाशिषोऽपि ।। २८ ।।

अन्वयः—नम्रा उमा ताभिः 'पत्युः अखण्डितं प्रेम लभस्व' इति उच्यते स्म तस्य अर्धशरीरभाजा तया तु स्निग्धजनाशिषः अपि पश्चात्कृताः ।। २८ ।।

सञ्जी०—अखण्डितामिति ।। नम्रा प्रणतोमा ताभिः सतीभिः पत्युः शिवस्याखण्डितमक्षतं प्रेम लभस्व प्राप्नुहीत्युच्यते स्म अभिहिता । 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट् । तस्य हरस्य । अर्धं शरीरस्यार्धशरीरम् । 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः । तद्भजतीत्यर्धशरीरभाजा तया गौर्या तु स्निग्धजनाशिषो बन्धुजनाशीर्वादा अपि पश्चात्कृता अधरीकृताः । ततोऽप्यधिकफललाभादिति भावः ।। २८ ।।

उन पतिव्रता स्त्रियों ने प्रणाम करती हुई नम्रमुखी पार्वती को आशीर्वाद दिया कि तुम अपने पति का अखंड प्रेम प्राप्त करो । किन्तु आगे चलकर पार्वती ने अपने पति शंकर के आधे शरीर पर ही अधिकार जमा करके अपने प्रियजनों केआशिर्वाद को पीछे छोड़ दिया ।। २८ ।।

इच्छाविभूत्योरनुरूपमद्रिस्तस्याः कृती कृत्यमशेषयित्वा ।
सभ्यः सभायां सुहृदास्थितायां तस्थौ वृषाङ्कागमनप्रतीक्षः ॥ २९ ॥

अन्वयः—कृती सभ्यः अद्रिः इच्छाविभूत्योः अनुरूपं तस्याः कृत्यम् अशेषयित्वा सुहृदास्थितायां सभायां वृषाङ्कागमनप्रतीक्षः सन् तस्थौ ॥ २९ ॥

सञ्जी०—इच्छेति ॥ कृती कुशलः । सभायां साधुः सभ्यः । 'सभाया यः' इति यप्रत्ययः । अद्रिर्हिमवानिच्छाविभूत्योरुत्साहैश्वर्ययोरनुरूपं सदृशं यथा तथा तस्याः पार्वत्याः कृत्यं कर्तव्यमशेषयित्वा शेषं कृत्वा । समाप्येत्यर्थः । अशेषशब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्तात्क्त्वाप्रत्ययः । सुहृदास्थितायां बन्धुजनाक्रान्तायां सभायां संसदि वृषाङ्कस्य हरस्यागमनं प्रतीक्षत इति तथोक्तः सन् । 'कर्मण्यण्' इत्यण् । तस्थौ स्थितः ॥ २९ ॥

कुशल एवं शिष्ट पर्वतराज हिमालय ने भी अपने उत्साह एवं ऐश्वर्य के अनुसार पार्वती के विवाह संस्कार में अपने द्वारा करने योग्य सभी कृत्यों को पूरा कर दिया और फिर बन्धु बान्धवों के साथ भरी सभा में आकर वे भगवान शंकर के आने की प्रतिक्षा करने लगे ॥ २९ ॥

तावद्भवस्यापि कुबेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरूपम् ।
प्रसाधनं मातृभिरादृताभिर्न्यस्तं पुरस्तात्पुरशासनस्य ॥ ३० ॥

अन्वयः—तावत् कुबेरशैले तत्पूर्वपाणिग्रहणानुरूपं प्रसाधनम् आदृताभिः मातृभिः पुरशासनस्य भवस्यापि पुरस्तात् न्यस्तम् ॥ ३० ॥

सञ्जी०—तावादिति ॥ तावत् । यावद्गौरीप्रसाधानं क्रियते तत्काल एवेत्यर्थः कुबेरशैले कैलासे । तदेत्र पूर्वं तत्पूर्वं तच्च तत्पाणिग्रहणं तस्यानुरूपं प्रसाधनमलङ्कारसामग्री आदृताभिः सादराभिः । कर्तरि क्तः । मातृभिर्ब्राह्मीप्रभृतिभिः सप्तमातृकाभिः । पुरं शास्तीति पुरशासनस्तस्य । कर्तरि ल्युट् । भवस्यापि पुरस्तादग्रे न्यस्तं निक्षिप्तम् ॥ ३० ॥

(जिस समय पार्वती का वैवाहिक प्रसाधन किया जा रहा था ।) ठीक उसी समय कैलास पर्वत पर भी ब्राह्मी आदि सप्त मातृकाओं ने आकर श्रृङ्गार की उन सभी सामग्रियों को भगवान शंकर के सामने उपस्थित कर दिया, जिनका उपयोग उन्होंने अपने प्रथम विवाह के अवसर पर किया था ॥ ३० ॥

तद्गौरवान्मङ्गलमण्डनश्रीः सा पस्पृशे केवलमीश्वरेण ।
स एव वेषः परिणेतुरिष्टं भावान्तरं तस्य विभोः प्रपेदे ॥ ३१ ॥

अन्वयः—ईश्वरेण सा मङ्गलमण्डनश्रीः तद्गौरवात् केवलं पस्पृशे। किन्तु तस्य विभोः स एव वेषः परिणेतुः इष्टं भावान्तरं प्रपेदे ॥ ३१ ॥

सञ्जी०—तदिति ॥ ईश्वरेण शिवेन सा मङ्गलमण्डनश्रीः शुभप्रसाधनसंपत्तद्गौरवात्तासु मातृष्वादरात्केवलं पस्पृशे स्पृष्टैव न तु दध्र इत्यवधारणार्थः केवलशब्दः। 'केवलं चावधारणे' इति शाश्वतः। किन्तु तस्य विभोर्देवस्य स एव वेषः स्वभाविको भस्मकपालादिवेष एव परिणेतुर्लोक उद्वोढुरिष्टमपेक्षितं भावान्तरं रूपान्तरं प्रपेदे। अङ्गरागादिरूपतां प्रापेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

भगवान शङ्कर ने उन सप्तमातृकाओं के सम्मानार्थ उनके द्वारा उपस्थित माङ्गलिक श्रृङ्गार सामग्रियों को धारण न करके केवल उनका स्पर्श मात्र कर लिया। क्योंकि सब कुछ करने में समर्थ उनका (भस्मकपालादि युक्त) स्वाभाविक वेश ही उनको इच्छा मात्र से वैवाहिक वेश के रूप में परिवर्तित हो गया।

वभूव भस्मैव सिताङ्गरागः कपालमेवामलशेखरश्रीः।
उपान्तभागेषु च रोचनाङ्को गजाजिनस्यैव दूकूलभावः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—भस्म एव सिताङ्गरागः वभूव, कपालम् एव अमलशेखरश्रीः बभूव गजाजिनस्य एव उपान्तभागेषु रोचनाङ्कः दुकूलभावश्च बभूव ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—बभूवेति ॥ भस्मैव सिताङ्गरागः शुभ्रगन्धानुलेपनं बभूव। कपालमेवामलं शेखरं शिरोभूषणं तस्य श्रीः शोभा बभूव। गजाजिनस्यैवोपान्तभागेष्वञ्चलप्रदेशेषु रोचनैवाङ्को हंसादिचिह्नं यस्य स तथोक्तो दुकूलभावः पटांशुकत्वं च बभूव। भस्मादिकमेवाङ्गरागादिभावं प्राप्तमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

उनके शरीर पर पुती हुई चिता भस्म ही अंगराग बन गई, कपाल ही उनका शिरोभूषण बन गया, और गज चर्म ही वह रेशमी दूकूल बन गया जिसके दोनों किनारों पर गोरोचन से मांगलिक चित्र बने हुए थे ॥ ३२ ॥

शङ्खान्तरद्योति विलोचनं यदन्तर्निविष्टामलपिङ्गतारम्।
सान्निध्यपक्षे हरितालमय्यास्तदेव जातं तिलकक्रियायाः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—शङ्खान्तरद्योति अन्तर्निविष्टामलपिङ्गतारं यद् विलोचनं; तद् एव हरितालमय्याः तिलकक्रियायाः सान्निध्यपक्षे जातम् ॥ ३३ ॥

सञ्जी०—शङ्खेति ॥ शङ्खान्तरे ललाटास्थिमध्ये द्योतत इति तथोक्तम्। 'शङ्खो निधौ ललाटास्थि' इत्यमरः। अन्तर्निविष्टा मध्यगतामला पिङ्गा तारा कनीनिका यस्य तत्तथोक्तम्। 'तारकाक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः। यद्विलोचनं तद्विलोचनमेव हरितालमय्या वर्णद्रव्यविशेषविकारस्य। तिलकक्रियायास्तिलकरचनायाः

सन्निधिरेव सान्निध्यं तदेव पक्षः साध्यम् । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति यादवः । तस्मिन्सान्निध्यपक्षे जातम् । प्रविष्टमित्यर्थः । अनेन ललाटलोचनमेव तस्य हरितालतिलकमभूदित्युक्तम् ।। ३३ ।।

और उनके ललाट के मध्य भाग में स्थित अत्यन्त निर्मल पीली पुतलियों वाला जो उनका तीसरा नेत्र है, वही हरताल का सुन्दर पीला तिलक बन गया ।

यथाप्रदेशं भुजगेश्वराणां करिष्यतामाभरणान्तरत्वम् ।
शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे तथैव तस्थुः फणरत्नशोभाः ।। ३४ ।।

अन्वयः—यथाप्रदेशम् आभरणान्तरत्वं करिष्यतां भुजगेश्वराणां शरीरमात्रं विकृतिं प्रपेदे । फणरत्नशोभाः तथा एव तस्थुः ।। ३४ ।।

सञ्जी०—यथेति ।। यथाप्रदेशं प्रदेशान्कोष्ठादीननतिक्रम्याभरणान्तरत्वं कङ्कणाद्याभरणविशेषत्वं करिष्यतां सम्पादयिष्यतां भुजगेश्वराणां शरीरमात्रं शरीरमेव विकृतिं रूपान्तरं प्रपेदे । फणरत्नशोभारतथैव तस्थुः । तासां तथैवोपादेयत्वादिति भावः ।। ३४ ।।

उनके शरीर के बहुत से अंगों में जो सांप लिपटे हुए थे वही उन उन अंगों के आभूषण बन गए किन्तु उन सर्पों का शरीर मात्र ही (आभूषण के रूप में) परिवर्तित हुआ था, उनके फणों पर स्थित मणियाँ तो ज्यों की त्यों जगमगा रही थीं ।। ३४ ।।

दिवापि निष्ठ्यूतमरीचिभासा बाल्यादनाविष्कृतलाञ्छनेन ।
चन्द्रेण नित्यं प्रतिभिन्नमौलेश्चूडामणेः किं ग्रहणं हरस्य ।। ३५ ।।

अन्वयः—दिवा अपि निष्ठ्यूतमरीचिभासा बाल्याद् अनाविष्कृतलाञ्छनेन चन्द्रेण नित्यं प्रतिभिन्नमौलेः हरस्य चूडामणेः ग्रहणं किम् ।। ३५ ।।

सञ्जी०—दिवापीति ।। दिवा दिनेऽपि निष्ठ्यूता उद्गीर्णा मरीचिभासः किरणकान्तयो यस्य तेन बाल्यादल्पतनुत्वादनाविष्कृतलाञ्छनेन । अदृश्यमानकलङ्केनेत्यर्थः । चन्द्रेण नित्यं सर्वदा प्रतिभिन्नमौलेः सङ्गतमुकुटस्य हरस्य चूडामणेर्ग्रहणं स्वीकारः किं किमर्थम् । चन्द्रचूडामणेर्देवस्य किमन्यैश्चूडामणिभिरिति भावः ।। ३५ ।।

दिन के समय भी निकलती हुई किरणों से उद्भासित तथा एक ही कला होने के कारण कलंक रहित बालचन्द्र ही उनके शिर पर स्थित होकर चूड़ामणि बन गया था इसी लिए उन्हें दूसरी चूड़ामणि धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ी ।। ३५ ।।

इत्यद्भुतैकप्रभवः प्रभावात्प्रसिद्धनेपथ्यविधेर्विधाता ।
आत्मानमासन्नगणोपनीते खड्गे निषक्तप्रतिमं ददर्श ॥ ३६ ॥

अन्वयः—इति प्रभावत् प्रसिद्धनेपथ्यविधेः विधाता अद्भुतैकप्रभवः सः आसन्नगणोपनीते खड्गे निषक्तप्रतिमम् आत्मानं ददर्श ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—इतीति ॥ इतीत्थं प्रभावात्सामर्थ्यात्प्रसिद्धस्य नेपथ्यविधेर्वेषसंविधानस्य विधाता निर्माता । अत एवाद्भुतानामाश्चर्याणामेकप्रभवो मुख्यनिधिः स देव आसन्नगणेन पार्श्वस्थवर्गेण । प्रमथगणेनेत्यर्थः । उपनीत आनीते खड्गे निषक्तप्रतिमं संक्रान्तप्रतिबिम्बमात्मानं ददर्श । वीरपुरुषाणामेष आचारः ॥३६॥

इस प्रकार अपनी शक्ति से लौकिक अलंकारों के निर्माता तथा सदा अद्भुत कार्य करने वाले महादेवजी ने पास ही में बैठे हुए गण द्वारा लाई गई तलवार में प्रतिबिम्बित अपने रूप को देखा ॥ ३६ ॥

स गोपतिं नन्दिभुजावलम्बी शार्दूलचर्मान्तरितोरुपृष्ठम् ।
तद्भक्तिसङ्क्षिप्तबृहत्प्रमाणमारुह्य कैलासमिव प्रतस्थे ॥ ३७ ॥

अन्वयः—स नन्दिभुजावलम्बी सन् शार्दूलचर्मान्तरितोरुपृष्ठं गोपतिं तद्भक्तिसङ्क्षिप्तबृहत्प्रमाणं कैलासम् इव आरुह्य प्रतस्थे ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—स इति ॥ स देवो नन्दिभुजावलम्बी नन्दिकेश्वरभुजावलम्बनः सन् । शार्दूलचर्मणा व्याघ्रचर्मणान्तरितमाच्छादितमुरु विशालं पृष्ठं यस्य तं तथोक्तम् । 'शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे' इत्यमरः । तस्मिन्देवे भक्त्या संक्षिप्तं सङ्कोचितं बृहत्प्रमाणं यस्य तं गोपतिं वृषभं कैलासमिवारुह्य प्रतस्थे चचाल ॥ ३७ ॥

इसके पश्चात् नन्दी के हाथ का सहारा लेकर वे अपने विशाल डील डौल वाले उस बैल की पीठ पर सवार हुए जिस पर व्याघ्र चर्म बिछा हुआ था । उस समय वह बैल ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो कैलाश पर्वत ने ही शिवभक्ति के कारण अपने विशाल शरीर को छोटा करके बैल का रूप धारण कर लिया हो ॥३७॥

तं मातरो देवमनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः ।
मुखैः प्रभामण्डलरेणुगौरैः पद्माकरं चक्रुरिवान्तरिक्षम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तम् अनुव्रजन्त्यः स्ववाहनक्षोभचलावतंसाः मातरः प्रभामण्डलरेणुगौरैः मुखैः अन्तरिक्षं पद्माकरं चक्रुः इव ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—तमिति ॥ तं देवमनुव्रजन्त्योऽनुगच्छन्त्यः स्व वाहनानां क्षोभेण प्रकम्पेण चलावतंसाश्चलकुण्डला मातरः सप्तमातृकाः प्रभामण्डलान्येव रेणवः

परागास्तैर्गौरैररुणैः । 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इति यादवः । मुखैरन्तरिक्षमाकाशं पद्माकरमिव चक्रुः ॥ ३८ ॥

सातों मातृकाएँ भी अपने अपने रथों पर बैठकर शंकर जी के पीछे पीछे चलीं । रथों के हिलने से उनके कानों के आभूषण हिल हिल कर उनके मुखों को अपनी कांति से और भी गौर वर्णका बनाने लगे । उस समय उनके मुखों के कारण नीला आकाश कमलों से भरे सरोवर की भांति सुशोभित हो उठा ॥३८॥

तासां च पश्चात्कनकप्रभाणां काली कपालाभरणा चकासे ।
बलाकिनी नीलपयोदराजी दूरं पुरः क्षिप्तशतह्रदेव ॥ ३९ ॥

अन्वयः—कनकप्रभाणां तासां पश्चात् कपालाभरणा काली च 'बलाकिनी दूरं पुरः क्षिप्तशतह्रदा नीलपयोदराजिः इव' चकासे ॥ ३९ ॥

सञ्जी०—तासामिति ॥ कनकप्रभाणां सुवर्णवर्णानां तासां मातॄणां पश्चात्कपालाभरणा । सितकपालालङ्कारेत्यर्थः । काली महाकाली देवी च । कृष्णवर्णत्वसूचनाय कालीसंज्ञयाभिधानम् । बलाकिनी बलाकावती । व्रीह्यादित्वादिनिः । दूरं यथा तथा पुरोऽग्रे क्षिप्ताः प्रसारिताः सतह्रदा विद्युतो यस्याः सा तथोक्ता नीलपयोदराजी कालमेघपङ्क्तिरिव चकासे ॥ ३९ ॥

सुवर्ण जैसी कान्तिमती उन सप्त मातृकाओं के पीछे श्वेत कपालों से अपने शरीरको सजाए हुए भद्रकाली चली । वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों बगुलों की पंक्ति से घिरी हुई तथा बिजली से युक्त काले बादलों की घटा चली आ रही हो ॥ ३९ ॥

ततो गणैः शूलभृतः पुरोगैरुदीरितो मङ्गलतूर्यघोषः ।
विमानशृङ्गाण्यवगाहमानः शशंस सेवावसरं सुरेभ्यः ॥ ४० ॥

अन्वयः—ततः शूलभृतः पुरोगैः गणैः उदीरितः मङ्गलतूर्यघोषः विमानशृङ्गाणि अवगाहमानः सन् सुरेभ्यः सेवावसरं शशंस ॥ ४० ॥

सञ्जी०—तत इति ॥ ततोऽनन्तरं शूलभृतः शिवस्य पुरो गच्छन्तीति पुरोगैरग्रेसरैः । 'अन्यत्रापि दृश्यत इति वक्तव्यम्' इति गमेर्डप्रत्ययः । गणैः प्रमथैरुदीरित उत्पादितो मङ्गलतूर्यघोषो मङ्गलवाद्यध्वनिर्विमानशृङ्गाण्यवगाहमानः सन् । सुरेभ्यो विमानस्थेभ्यः सेवावसरं शशंस । सुरा प्रस्थानतूर्यध्वनिमाकर्ण्यायमेव नः सेवावसर इत्याजग्मुरित्यर्थः ॥ ४० ॥

प्रस्थान के पश्चात् शंकरजी के आगे आगे चलने वाले प्रमथादि गणों ने मंगल

सूचक तुरही बजाई जिसकी ध्वनि ने देवविमानों के शिखरों से टकरा कर उन्हें यह सूचना दे दी कि भगवान शिव की सेवा का यही अवसर है ।। ४० ।।

उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम् ।
स तद्दुकूलादविदूरमौलिर्बभौ पतद्गङ्ग इवोत्तमाङ्गे ।। ४१ ।।

अन्वयः—तस्य सहस्ररश्मिः त्वष्ट्रा निर्मितं नवम् आतपत्रम् उपाददे, तद्दुकूलाद् अविदूरमौलिः स उत्तमाङ्गे पतद्गङ्गः इव बभौ ।। ४१ ।।

सञ्जी०—उपादद इति ।। तस्य हरस्य सहस्ररश्मिः सूर्यस्त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा निर्मितं नवमातपत्रमुपाददे । धृतवानित्यर्थः । उत्प्रेक्षते—तद्दुकूलात्तस्यातपत्रस्य प्रान्तलम्बिनो दुकूलादविदूरमौलिः । तद्दुकूलस्यासन्नमौलिरित्यर्थः । स हर उत्तमाङ्गे शिरसि । 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षम्' इत्यमरः । पतन्ती गङ्गा यस्य स पतद्गङ्ग इव बभौ । तद्दुकूलादित्यत्र 'दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्' इति दूरार्थयोगे विकल्पेन पञ्चमी । नाथेनोक्तम्—'अन्यारात्—' इत्यत्राराच्छब्दस्यार्थग्रहणार्थत्वात्पञ्चमीति तदनाकरम् । किञ्चास्य शास्त्रोक्तविकल्पापवादत्वात् 'दूरं ग्रामस्य' इत्यादिषष्ठीप्रयोगो दूरापास्तः स्यादित्युपेक्षणीयमेव ।४१।

हजार किरणों वाले सूर्य ने विश्वकर्मा द्वारा निर्मित नवीन छत्र लेकर शिव जी के सिर पर लगा दिया । उस समय उनके शिर के पास लटकता हुआ छत्र का श्वेत वस्त्र ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो गङ्गाजी की धारा ही गिर रही हो ।

मूर्ते च गङ्गायमुने तदानीं सचामरे देवमसेविषाताम् ।
समुद्रगारूपविपर्ययेऽपि सहंसपाते इव लक्ष्यमाणे ।। ४२ ।।

अन्वयः—गङ्गायमुने च तदानी मूर्ते सचामरे समुद्रगारूपविपर्यये अपि सहंसपाते इव लक्ष्यमाणे देवम् असेविषाताम् ।। ४२ ।।

सञ्जी०—मूर्ते इति ।। गङ्गा च यमुना च गङ्गायमुने मूर्ते विग्रहधारिण्यौ सचामरे चामरसहिते सत्यौ । अतएव समुद्रगा नदी तस्या रूपं स्वरूपं तस्य विपर्ययेऽप्यभावेऽपि सह हंसपातेन हंसचारेण वर्तते इति सहंसपाते इव । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः । 'वोपसर्जनस्य' इति सभावः । लक्ष्यमाणे दृश्यमाने सत्यौ तदानीं विवाहसमये देवमसेविषातामभजताम् । सेवतेर्लुङ् । गङ्गायमुने चामरग्राहिण्यौ देवमुपतस्थतुरित्यर्थः ।। ४२ ।।

उस समय गङ्गा और यमुना सुन्दर शरीर धारण करके शंकरजी पर चँवर डुलाने का काम करने लगीं । यद्यपि उन्होंने अपना समुद्रगामी नदी का रूप छोड़

दिया था किन्तु चामरों के कारण वे ऐसी लग रही थीं मानो उनपर हंसों की पंक्तियाँ उड़ती चली आ रही हों ॥ ४२ ॥

तमभ्यगच्छत्प्रथमो विधाता श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात् ।
जयेति वाचा महिमानमस्य संवर्धयन्तौ हविषेव वह्निम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—प्रथमः विधाता श्रीवत्सलक्ष्मा पुरुषश्च साक्षात् तम् अभ्यगच्छत् । जय इति वाचा अस्य महिमानं 'हविषा वह्निम् इव' संवर्धयन्तौ तौ अवर्तेताम् इति शेषः ॥ ४३ ॥

सञ्जी०—तमिति ॥ प्रथम आद्यो विधाता चतुर्मुखस्तथा श्रीवत्सलक्ष्मा श्रीवत्साङ्कः पुरुषो विष्णुश्च साक्षात्तं देवमभ्यगच्छत्सम्मुखमाययौ । किं कुर्वन्तौ । जयेति वाचा जयशब्देनास्येश्वरस्य महिमानं महत्वं हविषा वह्निमिव संवर्धयन्तौ वृद्धिं गमयन्तौ ॥ ४३ ॥

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा तथा श्रीवत्स चिह्न से सुशोभित भगवान विष्णु ने भी महादेवजी के पास पहुँचकर जय-जयकार द्वारा उनकी महिमा उसी प्रकार बढ़ा दी जैसे घी आग में पड़कर उसकी लपटों को बढ़ा देती है ॥ ४३ ॥

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम् ।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद्वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ ॥ ४४ ॥

अन्वयः—सा एका एव मूर्तिः त्रिधा बिभिदे, एषां प्रथमावरत्वं सामान्यम्, कदाचिद् हरः विष्णोः आद्यः, कदाचिद् हरिः तस्य आद्यः, कदाचिद् वेधाः तयोः आद्यः कदाचित् तौ अपि धातुः आद्यौ ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—एकैवेति ॥ सैकैव मूर्तिस्त्रिधा ब्रह्माविष्णुशिवात्मकत्वेन बिभिदे । औपाधिकोऽयं भेदो न वास्तविक इत्यर्थः । अतएवैषां त्रयाणां प्रथमावरयोर्भावः प्रथमावरत्वं ज्येष्ठकनिष्ठभावः । सामान्यं साधारणम् । इच्छया सर्वे ज्येष्ठा भवन्ति कनिष्ठाश्चेत्यर्थः । एतदेव विवृणोति-कदाचिद्धरो विष्णोराद्यः । कदाचिद्धरिस्तस्याद्यः । कदाचिद्वेधास्तयोर्हरिहरयोराद्यः । कदाचित्तौ हरिहरावपि धातुः स्रष्टुराद्यौ । एवमेतेषां पौर्वापर्यमनियतमिति दर्शितम् ॥ ४४ ॥

सही बात तो यह है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही (विराट) मूर्ति के तीन रूप हैं जो अवसर के अनुकूल एक दूसरे से कम या अधिक महत्त्वशाली होते रहते हैं । कभी शिव प्रथम स्थान पाते हैं तो कभी विष्णु और कभी ब्रह्मा तथा कभी विष्णु और शिव दोनों ही ब्रह्मा के पहिले गिने जाते हैं ॥ ४४ ॥

तं लोकपालाः पुरुहूतमुख्याः श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः ।
दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञास्तद्दर्शिताः प्राञ्जलयः प्रणेमुः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—श्रीलक्षणोत्सर्गविनीतवेषाः दृष्टिप्रदाने कृतनन्दिसंज्ञाः तद्दर्शिताः पुरुहूतमुख्याः लोकपालाः प्राञ्जलयः सन्तः तं प्रणेमुः ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—तमिति ॥ पुरुहूतमुख्या इन्द्रादयो लोकपालाः श्रीलक्षणानामैश्वर्यचिह्नानां छत्रचामरवाहनानामुत्सर्गेण त्यागेन विनीतवेषा अनुनीतवेषाः सन्तः । तथा दृष्टिप्रदाने दर्शननिमित्ते । दर्शनप्रदानार्थमित्यर्थः । कृता नन्दिनः प्रतिहारस्य संज्ञा सङ्केतो यैस्तादृशाः । मम दर्शनं दापयेति नन्दिनं प्रति कृतहस्तादिसूचना इत्यर्थः । 'संज्ञा स्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैश्चार्थसूचना' इत्यमरः । तद्दर्शितास्तेन नन्दिना दर्शिता अयमिन्द्रः प्रणमत्ययं चन्द्र इत्याद्युक्तिपूर्वकं निवेदिताः प्राञ्जलयः कृताञ्जलयः सन्तः तं भवं प्रणेमुः प्रणताः ॥ ४५ ॥

इन्द्र आदि लोकपालों ने अपना राजसी ठाटबाट छोड़कर विनीत भाव से शिवजी के पास पहुँचकर नन्दी से संकेत में ही शिव जी के दर्शन की प्रार्थना की । तब नन्दी ने उन्हें एक-एक करके नाम ले लेकर शिवजी का दर्शन कराया और उन लोगों ने उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ ४५ ॥

कम्पेन मूर्ध्नः शतपत्रयोनिं वाचा हरिं वृत्रहणं स्मितेन ।
आलोकमात्रेण सुरानशेषान्सम्भावयामास यथाप्रधानम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—सः शतपत्रयोनिं मूर्ध्नः कम्पेन, हरिं वाचा, वृत्रहणं स्मितेन, अशेषान् सुरान् आलोकमात्रेण, यथाप्रधानं सम्भावयामास ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—कम्पेनेति ॥ स देवः शतपत्रयोनिं चतुर्मुखं मूर्ध्नः कम्पेन तथा हरिं वाचा संभाषणेन वृत्रं हतवन्तं वृत्रहणमिन्द्रम् । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' । स्मितेन मन्दहासेनाशेषान्सुरानालोकमात्रेण दृष्टिमात्रेणेत्थं यथाप्रधानं यथार्हं सम्भावयामास ॥ ४६ ॥

शिवजी ने शिर हिलाकर ब्रह्मा का, बातचीत द्वारा विष्णु का, मुस्कराहट द्वारा इन्द्र का और कृपा भरी एक दृष्टि डालकर अन्य सभी देवताओं का उनके गौरव के अनुरूप उचित स्वागत किया ॥ ४६ ॥

तस्मै जयाशीः ससृजे पुरस्तात्सप्तर्षिभिस्तान्स्मितपूर्वमाह ।
विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति ॥ ४७ ॥

अन्वयः—सप्तर्षिभिः पुरस्तात् तस्मै जयाशीः ससृजे । स तान् 'वितते अत्र विवाहयज्ञे यूयं मया पूर्ववृताः अध्वर्यवः' इति स्मितपूर्वम् आह ॥ ४७ ॥

सञ्जी०—तस्मादिति ।। तस्मै शिवाय सप्तर्षिभिः । 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' इति समासः । पुरस्तादग्रे जयेत्याशीः ससृजे प्रयुक्ता । तान्सप्तर्षीन्स्मितपूर्वमाह—किमिति । वितते विस्तृतेऽत्र प्रवर्तिते विवाह एव यज्ञस्तस्मिन्यूयं मया पूर्वमेव वृताः प्रार्थिता अध्वर्यवो ऋत्विज इति । विशेषवाचिना सामान्यमुक्तम् ।। ४७ ।।

जब सप्तर्षियों ने जय-जय कहकर शिवजी को आशीर्वाद दिया तो उन्होंने मुस्कराकर उनसे कहा कि मैंने आप लोगों को इस विवाह यज्ञ में ऋत्विज बनाने का पहिले ही निश्चय कर लिया है ।। ४७ ।।

विश्वावसुप्राग्रहरैः प्रवीणैः सङ्गीयमानत्रिपुरावदानः ।
अध्वानमध्वान्तविकारलङ्घ्यस्ततार ताराधिपखण्डधारी ।। ४८ ।।

अन्वयः—विश्वावसुप्राग्रहरैः प्रवीणैः सङ्गीयमानत्रिपुरावदानः अध्वान्तविकारलङ्घ्यः ताराधिपखण्डधारी अध्वानं ततार ।। ४८ ।।

सञ्जी०—विश्वावस्विति ।। विश्वावसुर्नाम कश्चिद्गन्धर्वो देवगायस्कस्तत्प्राग्रहरैस्तत्प्रमुखैः प्रवीणैः प्रकृष्टवीणैर्निपुणैर्वा । 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः' इत्यमरः । त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरम् । 'तद्धितार्थोत्तरपद—' इत्यादिना समाहारसमासः । 'पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति स्त्रीलिङ्गतानिषेधः । त्रिपुरस्य सम्बन्ध्यवदानं पूर्ववृत्तं कर्म विजयरूपं त्रिपुरावदानं तत्सङ्गीयमानं स्तूयमानं यस्य स तथोक्तः । 'अवदानं कर्म वृत्तम्' इत्यमरः । ध्वान्तं तमः । मोह इति यावत् । तद्विकारेण रागादिना लङ्घ्योऽभिभवनीयो न भवतीत्यध्वान्तविकारलङ्घ्यः । विवाहादिकं तु तस्य लीलेत्यर्थः । ताराधिपखण्डधारी चन्द्रशेखरः शंभुरध्वानं मार्गं ततारात्यगच्छत् ।। ४८ ।।

विश्वावसु इत्यादि संगीत-कुशल गंधर्व शंकरजी के त्रिपुर विजय का गीत गाते हुए आगे आगे चलने लगे और उनके पीछे तमोगुण के समस्त विकारों से परे रहने वाले भगवान शिव भी हिमालय के नगर की ओर चल पड़े ।। ४८ ।।

खे खेलगामी तमुवाह वाहः सशब्दचामीकरकिङ्किणीकः ।
तटाभिघातादिव लग्नपङ्के धुन्वन्मुहुः प्रोतघने विषाणे ।। ४९ ।।

अन्वयः—खे खेलगामी सशब्दचामीकरकिङ्किणीकः वाहः प्रोतघने तटाभिघाताद् लग्नपङ्के इव विषाणे मुहुः धुन्वन् सन् तम् उवाह ।। ४९ ।।

सञ्जी०—ख इति ।। ख आकाशे खेलं सुन्दरं गच्छतीति खेलगामी । सशब्दाः शब्दायमानाश्चामीकरकिङ्किण्यः काञ्चनक्षुद्रघण्टिका यस्य स तथोक्तः । 'किङ्किणी क्षुद्रघण्टिका' इत्यमरः । 'नद्यृतश्च' इति कप् । वाह्यतेऽनेनेति वाहो वृषभः ।

करणे घञ् । प्रोतघने स्यूतमेघे अत एव तटाभिघाताद्रोघोभेदाल्लग्नपङ्के श्लिष्टकर्दमे इव स्थिते विषाणे शृङ्गे मुहुर्धुन्वंस्तं हरमुवाह वहति स्म ॥ ४९ ॥

क्रीड़ा करता हुआ तथा गले में बँधी घंटियों को बजाता हुआ एवं बादलों से लिपटी हुई अपनी सींगों को हिलाता हुआ शंकर का वाहन वृषभ उन्हें लिए हुए आकाश मार्ग में चलने लगा। उस समय उसकी सींगों में लिपटे हुए बादल तटाघाट के समय लगी हुई कीचड़ के समान प्रतीत हो रहे थे ॥ ४९ ॥

स प्रापदप्राप्तपराभियोगं नगेन्द्रगुप्तं नगरं मुहूर्तात् ।
पुरो विलग्नैर्हरदृष्टिपातैः सुवर्णसूत्रैरिव कृष्यमाणम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—सः अप्राप्तपराभियोगं नगेन्द्रगुप्तं नगरं पुरोविलग्नैः हरदृष्टिपातैः सुवर्णसूत्रैः कृष्यमाणम् इव मुहूर्त्तात् प्रापत् ॥ ५० ॥

सञ्जी०—स इति ॥ स वाहोऽप्राप्तः पराभियोगः शत्रुसमाक्रान्तिर्यस्य तत्तथोक्तं नगेन्द्रेण हिमवता गुप्तं रक्षितं नगरमोषधिप्रस्थं पुरोऽग्रे विलग्नैः संक्रान्तैर्हरदृष्टिपातैः सुवर्णसूत्रैः कृष्यमाण इव मुहूर्तात्प्रापत् । अन्यथा कथं दूरस्याशुप्राप्तिः स्यादिति भावः । पुरः प्रसृता हरदृष्टयः पिङ्गलवर्णत्वात्सौवर्णानि वृषाकर्षणदामानीवालक्ष्यन्तेत्यर्थः ॥ ५० ॥

शंकरजी का वह वृषभ क्षण भर में ही शत्रुओं के लिए अगम्य तथा हिमालय द्वारा रक्षित ओषधिप्रस्थ नामक नगर में इस प्रकार पहुँच गया मानों आगे-आगे पड़ती हुई शंकरजी की चितवन रूपी सुनहरी डोरियों ने उसे खींचकर शीघ्र ही वहाँ पहुँचा दिया हो ॥ ३७ ॥

तस्योपकण्ठे घननीलकण्ठः कुतूहलादुन्मुखपौरदृष्टः ।
स्वबाणचिह्नादवतीर्य मार्गादासन्नभूपृष्ठमियाय देवः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—तस्य उपकण्ठे घननीलकण्ठः देवः कुतूहलाद् उन्मुखपौरदृष्टः सन् स्वबाणचिह्नाद् मार्गाद् अवतीर्य आसन्नभूपृष्ठम् इयाय ॥ ५१ ॥

सञ्जी०—तस्येति ॥ तस्य पुरस्योपकण्ठेऽन्तिके घनो मेघ इव नीलः कण्ठो यस्य स घननीलकण्ठो देवः कुतूहलाद्दर्शनौत्सुक्यादुन्मुखैः पौरैर्दृष्टः सन् । स्वबाणचिह्नात्त्रिपुरविजयसमये स्वबाणाङ्कान्मार्गात्कुतश्चिदाकाशदेशादवतीर्याविरुह्यासन्नभूपृष्ठं निकटभूतटमियाय प्राप ॥ ५१ ॥

ओषधिप्रस्थ नगर के समीप बादल के समान नीलकण्ठ वाले तथा उत्सुकतावश ऊपर की ओर मुख करके वहाँ के निवासियों द्वारा देखे जाने वाले भगवान्

शंकर तारकवध के समय अपने वाणों से चिह्नित आकाश मार्ग से पृथ्वी पर उतरे ॥ ५१ ॥

तमृद्धिमद्बन्धुजनाधिरूढैर्वृन्दैर्गजानां गिरिचक्रवर्ती ।
प्रत्युज्जगामागमनप्रतीतः प्रफुल्लवृक्षैः कटकैरिव स्वैः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—आगमनप्रतीतः गिरिचक्रवर्ती ऋद्धिमद्बन्धुजनाधिरूढैः गजानां वृन्दैः प्रफुल्लवृक्षैः स्वैः कटकैः इव तं प्रत्युज्जगाम ॥ ५२ ॥

सञ्जी०—तमिति ॥ आगमनेन शिवागमनेन प्रतीतो हृष्टो गिरिचक्रवर्ती पर्वताधिराजो हिमवानृद्धिमता वस्त्रालङ्कारादिसमृद्धेन बन्धुजनेनाधिरूढैः । अनेन बन्धूनां समसाम्यं सूचितम् । गजानां वृन्दैः प्रफुल्ला विकसितकुसुमा वृक्षा येषु तैः स्वैः स्वकीयैः कटकैर्नितम्बैरिव तं हरं प्रत्युज्जगामाभिययौ । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः ॥ ५२ ॥

शिवजी के आगमन से प्रसन्न हिमालय ने हाथी पर बैठे हुए अपने सभी वैभवशाली कुटुम्बियों के साथ शिवजी की अगवानी करने के लिए प्रस्थान किया । उस समय वे हाथियों के झुण्ड ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो हिमालय की ढाल पर फूलों से लदे हुए वृक्ष हों ॥ ५२ ॥

वर्गावुभौ देवमहीधराणां द्वारे पुरस्योद्घटितापिधाने ।
समीयतुर्दूरविसर्पिघोषौ भिन्नैकसेतू पयसामिवौघौ ॥ ५३ ॥

अन्वयः—दूरविसर्पिघोषौ देवमहीधराणाम् उभौ वर्गौ उद्घटितापिधाने पुरस्य द्वारे 'भिन्नैकसेतू पयसाम् ओघौ इव' समीयतुः ॥ ५३ ॥

सञ्जी०—वर्गाविति ॥ दूरविसर्पी दूरगामी घोषो ययोस्तौ देवाश्च महीधराश्च तेषां देवमहीधराणामुभौ वर्गावुद्घटितापिधानेऽपनीतकवाटे पुरस्य द्वारे भिन्नो दीर्ण एकसेतुः याभ्यां तौ भिन्नैकसेतू पयसामोघौ प्रवाहाविव समीयतुः सङ्गतौ ।५३

देवता और हिमालय दोनों के दलों का हल्ला दूर दूर तक सुनाई पड़ रहा था । जिस समय नगर के खुले कपाटों वाले द्वार पर उन दोनों दलों का मिलन हुआ उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा मानों बाँध टूट जाने से दो जल धाराएँ आपस में मिल रही हों ॥ ५३ ॥

ह्रीमानभूद् भूमिधरो हरेण त्रैलोक्यवन्द्येन कृतप्रणामः ।
पूर्वं महिम्ना स हि तस्य दूरमावर्जितं नात्मशिरो विवेद ॥ ५४ ॥

अन्वयः—भूमिधरः त्रैलोक्यवन्द्येन हरेण कृतप्रणामः सन् ह्रीमान् अभूत हि सः पूर्वं तस्य महिम्ना दूरम् आवर्जितम् आत्मशिरः न विवेद ॥ ५४ ॥

सञ्जी०—ह्रीमानिति ।। भूमिधरो हिमवान् । त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्ष्यञ्प्रत्ययः । तस्य वन्द्येन नमस्कार्येण कृतप्रणामः सन् । ऋत्विक्पितृव्यश्वसुरमातुलानां यवीयसाम् । प्रवयाः प्रथमं कुर्यात्प्रत्युत्थायाभिवादनम् ॥' इति स्मरणात् । ह्रीमानभूत् । महादेवं प्रति स्वयमल्पत्वात्सङ्कोचं प्रापेत्यर्थः । ननु विदितेश्वरमहिम्नः स्वयं प्रागेव प्रणतस्य जामातुराचारमात्रस्वीकारे कः सङ्कोच इति शङ्कां निरस्यति—पूर्वमिति ।। हि यस्मात्स हिमवान्पूर्वं प्रागेव तस्येश्वरस्य महिम्ना सामर्थ्येन दूरमत्यन्तमावर्जितं नमितमात्मशिरो न विवेद । सत्यं स्वयं प्रणतत्त्वानुसन्धानेन सङ्कोचः । तदनुसन्धानं त्वौत्सुक्यान्नास्तीति भावः ।। ५४ ।।

पर्वतराज हिमालय तीनों लोकों द्वारा वंदनीय शंकरजी के प्रणाम करने पर अत्यंत ही लज्जित हो उठे और उन्हें यह मालूम ही नहीं हो पाया कि उनका शिर तो शंकरजी की महिमा से (उनके प्रणाम करने के) पहिले ही झुक चुका है ।। ५४ ।।

स प्रीतियोगाद्विकसन्मुखश्रीर्जामातुरग्रेसरतामुपेत्य ।
प्रावेशयन्मन्दिरमृद्धमेनमागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम् ।। ५५ ।।

अन्वयः—प्रीतियोगाद् विकसन्मुखश्रीः सः जामातुः अग्रेसरताम् उपेत्य एनम् आगुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम् ऋद्धं मन्दिरं प्रावेशयत् ।। ५५ ।।

सञ्जी०—स इति ।। प्रीतियोगात्सन्तोषसम्बन्धाद्विकसन्मुखश्रीर्विकसन्ती मुखश्रीर्यस्य स तथोक्तः स हिमवान् । जायां मिमीते जानातीति जामातुर्वरस्य । पृषोदरादित्वात्साधुः । 'जामाता दुहितुः पतिः' इत्यमरः । अग्रेसरतां पुरोगामित्वमुपेत्यैनं देवमागुल्फं पादग्रन्थिपर्यन्तं कीर्णानि पर्यस्तान्यापणमार्गेषु पण्यवीथिकासु पुष्पाणि यस्मिस्तदागुल्फकीर्णापणमार्गपुष्पम् । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः । ऋद्धं समृद्धं मन्दिरं नगरम् । 'मन्दिरं नगरेऽगारे मन्दिरो मकरालये' इति विश्वः । प्रावेशयत् ।। ५५ ।।

अत्यन्त प्रसन्नता के कारण प्रफुल्लित मुख वाले हिमालय ने उन्हें मणि मुक्ता जड़े अपने वैभवशाली नगर में उस मार्ग से पहुँचाया जिसपर फूलों की इतनी भरमार थी कि पैर धँसे जा रहे थे ।। ५५ ।।

तस्मिन् मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसन्दर्शनलालसानाम् ।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ।। ५६ ।।

अन्वयः—तस्मिन् मुहूर्ते ईशानसन्दर्शनलालसानां पुरसुन्दरीणां प्रासादमालासु इत्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि बभूवुः ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—तस्मिन्निति ॥ तस्मिन्मुहूर्ते हरपुरप्रवेशसमय ईशानस्य सन्दर्शने लालसानां लोलुपानाम् । 'लोलुपो लोलुभो लोलो लालसो लम्पटश्च सः' इति यादवः । पुरसुन्दरीणां प्रासादमालास्वित्थं वक्ष्यमाणप्रकारेण त्यक्तान्यकार्याणि विसृष्टकार्यान्तराणि विचेष्टितानि व्यापाराः । 'नपुंसके भावे क्तः' इति क्तः । बभूवुरासन् ॥ ५६ ॥

उस समय महादेवजी के दर्शन के लिए नगर की सारी स्त्रियाँ इतनी उत्सुक हो गईं कि अपने अन्य सारे कार्यों को छोड़ कर वे अपने-अपने घरों की छतों पर आकर खड़ी हो गईं ॥ ५६ ॥

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥५७॥

अन्वयः—आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिद् उद्वेष्टनवान्तमाल्यः करेण रुद्धः अपि केशपाशः तावत् बद्धुं न सम्भावित एव ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—आलोकमार्गमिति ॥ आलोकमार्गं दर्शनपथम् । गवाक्षमित्यर्थः । सहसा व्रजन्त्या गच्छन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनो द्रुतगतिवशादुन्मुक्तबन्धनोऽतएव वान्तमाल्य उद्गीर्णमाल्यश्च यः स उद्वेष्टनवान्तमाल्यः करेण रुद्धो गृहीतः । अपि च केशपाशः केशकलापः । 'पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे' इत्यमरः । तावदालोकनमार्गप्राप्तिपर्यन्तं बद्धुम् । बन्धनायेत्यर्थः । न सम्भावितो न स्मृत एव ॥ ५७ ॥

एक स्त्री (देखने की उत्सुकता में) ज्योंही खिड़की की ओर हड़बड़ी में भागी त्योंही उसकी वेणी में गुथी हुई माला खुल गई । वह उसे बाँधने की सुध भूल कर हाथ में पकड़े हुए ही खिड़की के पास पहुँच गई ॥ ५७ ॥

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥ ५८ ॥

अन्वयः—काचित् प्रसाधिकालम्बितं द्रवरागम् एव अग्रपादम् आक्षिप्य उत्सृष्टलीलागतिः सती, आ गवाक्षात् पदवीम् अलक्तकाङ्कां ततान ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—प्रसाधिकेति ॥ काचित्स्त्री प्रसाधिकयालङ्कर्त्र्यालम्बितं रञ्जनार्थं धृतं

द्रवरागमेवार्द्रालक्तकमेव । अग्रश्चासौ पादश्चाग्रपादः । इति समानाधिकरणसमासः । 'हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदाभ्याम्' इति वामनः । तमाक्षिप्याकृष्योत्सृष्टलीलागतिस्त्यक्तमन्दगमना सत्यागवाक्षाद्गवाक्षपर्यन्तम् । पदद्वयमेतत् । पदवीमलक्तकाङ्का लाक्षारसचिह्नां चकार ॥ ५८ ॥

एक स्त्री अपने पैरों को आगे करके प्रसाधिका से महावर लगवा रही थी किंतु उतावली में वह उसे अधूरा ही छोड़कर रंग से गीले चरणों की छाप छोड़ती हुई खिड़की की ओर दौड़ पड़ी ॥ ५८ ॥

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन सम्भाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ ५९ ॥

अन्वयः—अपरा दक्षिणं विलोचनम् अञ्जनेन सम्भाव्य, तद्वञ्चितवामनेत्रा सती, तथा एव शलाकां वहन्ती, वातायनसन्निकर्षं ययौ ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—विलोचनमिति ॥ अपरा स्त्री दक्षिणं विलोचनमञ्जनेन संभाव्यालङ्कृत्य तद्वञ्चितं तेनाञ्जनेन वञ्चितं वर्जितं वामनेत्रं यस्याः सा तथोक्ता सती । तथैव तेनैव रूपेण शलाकामञ्जनकूर्चिकां वहन्ती बिभ्रती वातायनसन्निकर्षं गवाक्षसमीपं ययौ । दक्षिणग्रहणं संभ्रमाद्व्युत्क्रमद्योतनार्थम् । 'सव्यं हि पूर्वं मनुष्या अञ्जते' इति श्रुतेः ॥ ५९ ॥

एक सुन्दरी अपनी दाहिनी आँख में काजल लगा चुकी थी किंतु बाईं आंख में काजल लगाए बिनाही हाथ में शलाका लिए हुए खिड़की पर पहुँच गई ॥५९॥

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ ६० ॥

अन्यवः—अन्या जालान्तरप्रेषितदृष्टिः सती प्रस्थानभिन्नां नीवीं न बबन्ध । नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन वासः अवलम्ब्य तस्थौ ॥ ६० ॥

सञ्जी०—जालान्तरेति ॥ अन्या स्त्री जालान्तरप्रेषितदृष्टिर्गवाक्षमध्यप्रसारितदृष्टिः सती प्रस्थानेन गमनेन भिन्नां त्रुटितां नीवीं वस्त्रग्रन्थिम् । 'नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि' इति विश्वः । न बबन्ध नाबध्नात् किंतु नाभि प्रविष्टाभरणानां कङ्कणानां प्रभा यस्य तेन । प्रभैव नाभेरावरणमभूदिति भावः । हस्तेन वासोऽवलम्ब्य धृत्वा तस्थौ ॥ ६० ॥

एक स्त्री ज्योंही शंकर जी को देखने के लिए खिड़की की जालियों में जाकर झांकने लगी त्योंही उसकी नीबी ही खुल गई । और वह उसे बिना बांधे ही

साड़ी को हाथ से पकड़े हुए खड़ी रही। उस समय उसके कंगन में जड़े रत्न की चमक ही उसकी नाभि का आवरण बन गई ॥ ६० ॥

अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥ ६१ ॥

अन्वयः—सत्वरम् उत्थितायाः कस्याश्चिद् अर्धचिता रशना दुर्निमिते पदे पदे गलन्ती सती तदानीम् अङ्गुष्टमूलार्पितसूत्रशेषा आसीत् ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—अर्धाचितेति ॥ सत्वरं सवेगमुत्थितायाः कस्याश्चिदर्धमाचिता मणिभिर्गुम्फितार्धाचिता दुर्निमिते सम्भ्रमाद्दुःखेन निक्षिप्ते। 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' इति धातोः कर्मणि क्तः। पदे पदे प्रतिपदम्। वीप्सायां द्विर्भावः। गलन्ती गलद्रत्ना सती रशना मेखला तदानीं तस्मिन्नवसरेऽङ्गुष्ठमूलेऽर्पितं लगितं सूत्रमेव शेषो यस्याः सासीत् ॥ ६१ ॥

कोई स्त्री धागे में गूथ कर मणियों की मेखला बना रही थी। वह अभी आधी ही गुँथी थी कि इतने ही में शंकर जी की बारात के आने का हल्ला सुनकर वह खिड़की की ओर इस प्रकार दौड़ी कि वहाँ तक पहुँचते पहुँचते गूँथी गई मणियों के सब दाने बिखर गए किन्तु पैर के अंगूठे में फँसाया हुआ डोरा ज्यों का त्यों फँसा ही रह गया ॥ ६१ ॥

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—सान्द्रकुतूहलानां तासाम् आसवगन्धगर्भैः विलोलनेत्रभ्रमरैः मुखैः व्याप्तान्तराः गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणाः इव आसन् ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—तासामिति ॥ तदानीं सान्द्रकुतूहलानां तासां स्त्रीणामासवगन्धो गर्भे येषां तैः। विलोलानि नेत्राण्येव भ्रमरा येषु तैर्मुखैर्व्याप्तान्तराश्छन्नावकाशा गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्। कमलालङ्कृता इव स्थिता इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

उन उत्सुकता पूर्ण रमणियों के आसवगन्ध से महकते हुए तथा चंचल नेत्रों वाले मुख खिड़कियों से झाँकते समय ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों उनमें भ्रमरों से युक्त कमल के फूल टाँग दिए गए हों ॥ ६२ ॥

तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे।
प्रासादशृङ्गाणि दिवापि कुर्वञ्ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि ॥ ६३ ॥

अन्वयः—तावद् इन्दुमौलिः दिवापि प्रासादशृङ्गाणि ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि कुर्वन् पताकाकुलम् उत्तोरणं राजपथं प्रपेदे ॥ ६३ ॥

सञ्जी०—तावदिति ।। तावत्तस्मिन्नवसर इन्दुमौलिरीश्वरो दिवापि प्रासादशृङ्गाणि ज्योत्स्नाया अभिषेकेण स्नपनेन द्विगुणद्युतीनि द्विरावृत्तकान्तीनि । कुर्वन्पताकाभिराकुलं व्याकीर्णमुत्तोरणमुच्छ्रिततोरणं राजपथं प्रपेदे ।। ६३ ।।

इसी समय चंद्रमौलिशंकर जी श्वेत राज भवनों के कंगूरों को दिन में भी अपने भाल पर स्थित चन्द्र कला से और भी प्रकाशित करते हुए ध्वज पताकाओं और बंदनवारों से सजे राज मार्ग पर पहुँच गए ।। ६३ ।।

तमेकदृश्यं नयनैः पिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ।। ६४ ।।

अन्वयः—एकदृश्यं तं नयनैः पिबन्त्यः नार्यः विषयान्तराणि न जग्मुः । तथा हि आसां शेषेन्द्रियवृत्तिः सर्वात्मना चक्षुः प्रविष्टा इव ।। ६४ ।।

सञ्जी०—तमिति ।। एक एव दृश्यो दर्शनीयस्तमेकदृश्यं तमीश्वरं नयनैः पिबन्त्यः । अतितृष्णया पश्यन्त्य इत्यर्थः । 'ताः शंकरं दृष्टिभिरापिबन्त्यः' इति वा पाठः । नार्यो विषयन्तराणि ततोऽन्यान्विषयान् । शब्दादीनित्यर्थः । न जग्मुः । न विदुरित्यर्थः । तथाहि आसां नारीणां शेषेन्द्रियप्रवृत्तिः । श्रोत्रादिप्रवृत्तिः सर्वात्मना स्वरूपकात्स्न्र्येन चक्षुः प्रविष्टेव । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि स्वातन्त्र्येण ग्रहणाशक्तेश्चक्षुरेव प्रविश्य कौतुकात्स्वयमप्येनमुपलभन्ते किमु । अन्यथा स्वस्वविषयाधिगमः किं न स्यादिति भावः ।। ६४ ।।

अत्यंत दर्शनीय उस भगवान शंकर को अपनी आँखों से निर्निमेष देखती हुई स्त्रियाँ अन्य विषयों को इस प्रकार भूल गईं मानो उनकी सारी इन्द्रियाँ आँखों में ही आकर समा गई हों ।। ६४ ।।

स्थाने तपो दुश्चरमेतदर्थमपर्णया पेलवयापि तप्तम् ।
या दास्यमप्यस्य लभेत नारी सा स्यात्कृतार्था किमुताङ्कशय्याम् ।।६५।।

अन्वयः—पेलवया अपि अपर्णया एतदर्थं दुश्चरं तपः तप्तं स्थाने । या नारी अस्य दास्यम् अपि लभेत, सा कृतार्था स्यात्; या अङ्कशय्यां लभेत सा किमुत ? ।। ६५ ।।

सञ्जी०—स्थान इति।। पेलवया कोमलयाप्यपर्णया पार्वत्या तस्मै शिवायैतदर्थम् । 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च' इति विशेष्यनिघ्नत्वम् । दुश्चरं तपस्तप्तं स्थाने युक्तम् । कुतः । या नार्यस्येश्वरस्य दास्यं दासीत्वमपि लभेत सा कृतार्था स्यात् । या अङ्क एव शय्या तामङ्कशय्यां लभेत सा किमुत । कृतार्थेति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ।। ६५ ।।

प्रकृति से सुकुमार पार्वती ने ऐसे वर के लिये जो तप किया. वह उचित ही था, क्यों कि जो स्त्री इनकी दासी मात्र होने का अवसर पा जाये तो उसका जीवन सफल हो जाय और जो उनकी गोदमें सोने का भी अवसर पा जाये उसके लिए तो कहना ही क्या है ? ।। ६५ ।।

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां विफलोऽभविष्यत् ।। ६६ ।।

अन्वयः—स्पृहणीयशोभम् इदं द्वन्द्वं परस्परेण न अयोजयिष्यत् चेत् प्रजानां पत्युः अस्मिन् द्वये रूपविधानयत्नः विफलः अभविष्यत् ।। ६६ ।।

सञ्जी०—परस्परेणेति ।। स्पृहणीयशोभं सर्वैराशास्यमानसौन्दर्यमिदं द्वन्द्वं मिथुनम् । द्वन्द्वं रहस्य—' इति निपातः । परस्परेण नायोजयिष्यद्यदि प्रजानां पत्युर्विधातुरस्मिन्द्वये 'द्वन्द्वे रूपविधाने सौन्दर्यनिर्माणे यत्नः प्रयासो विफलोऽभविष्यद्भवेत् । एतदनुरूपस्त्रीपुंसान्तराभावादिति भावः । 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति लृङ् ।। ६६ ।।

एक दूसरे से बढ़ चढ़ कर सौन्दर्य शाली इस जोड़े को यदि प्रजापति ब्रह्मा ने विवाह संबंध से जोड़ न दिया होता तो इन दोनों को इतना सौन्दर्य प्रदान करने में उसका सारा श्रम ही व्यर्थ हो जाता ।। ६६ ।।

न नूनमारूढरुषा शरीरमनेन दग्धं कुसुमायुधस्य ।
व्रीडादमुं देवमुदीक्ष्य मन्ये सन्न्यस्तदेहः स्वयमेव कामः ।। ६७ ।।

अन्वयः—आरूढरुषा अनेन कुसुमायुधस्य शरीरं न दग्धं नूनम् । किन्तु कामः अमुं देवम् उदीक्ष्य व्रीडात् स्वयम् एव सन्नयस्तदेहः, इति मन्ये ।। ६७ ।।

सञ्जी०—नेति ।। आरुढरुषा प्ररूढकोपेनानेन हरेण कुसुमायुधस्य कामस्य शरीरं न दग्धं नूनं किन्तु कामोऽमुं देवमुदीक्ष्य दृष्ट्वा व्रीडात्सौन्दर्येण जितोऽस्मीति लज्जया स्वयमेव सन्न्यस्तदेहस्त्यक्तदेह इति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा । न स्वयं न्यस्ताकृतेः कोपः सम्भवतीति भावः ।। ६७ ।।

(शंकर जी के इस अपूर्व सौन्दर्य को देखकर) मैंने तो यह निश्चय सा कर लिया है कि भगवान शिव ने क्रुद्ध होकर कामदेव के शरीर को भस्म नहीं किया होगा अपितु स्वयं कामदेव ने ही इनके शरीर की सुन्दरता देखकर लज्जा के मारे शरीर त्याग कर दिया होगा ।। ६७ ।।

अनेन सम्बन्धमुपेत्य दिष्ट्या मनोरथप्रार्थितमीश्वरेण ।
मूर्धानमालि ! क्षितिधारणोच्चमुच्चैस्तरं वक्ष्यति शैलराजः ।। ६८ ।।

अन्वयः—हे आलि ! शैलराजः दिष्ट्या मनोरथप्रार्थितम् अनेन ईश्वरेण सम्बन्धम् उपेत्य, क्षितिधारणोच्चं मूर्धानम् उच्चैस्तरं वक्ष्यति ॥ ६८ ॥

सञ्जी०—अनेनेति ॥ हे आलि सखि ! 'आलिः सखी वयस्या च' इत्यमरः। शैलराजो हिमवान्। दिष्ट्येत्यानन्देऽव्ययम्। मनोरथैः प्रार्थितमवरुद्धम्। अभिलाषविषयी कृतमित्यर्थः। 'प्रार्थना याञ्चावरोधयोः' इत्यभिधानात्। अनेनेश्वरेण सम्बन्धमुपेत्यावाप्य क्षितिधारणेनोच्चमुन्नतं मूर्धानमुच्चैस्तरमुन्नततरम्। उच्चैरित्यव्ययात्तरप्प्रत्ययः। मूर्ध्नो द्रव्यत्वान्नामुप्रत्ययान्तो निपातः। 'किमेतिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे इत्यादिनाद्रव्यप्रकर्षे तस्य विधानादिति। वक्ष्यति धारयिष्यति। वहतेर्लृट् ॥ ६८ ॥

हे सखी ! शंकर जी के साथ अपना अभिलषित संबंध स्थापित करके पर्वतराज हिमालय ने पृथ्वी को धारण करने के कारण अपने उँचे मस्तक को और भी अधिक उँचा कर लिया है ॥ ६८ ॥

इत्योषधिप्रस्थविलासिनीनां शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखास्त्रिनेत्रः।
केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्यालयमाससाद ॥ ६९ ॥

अन्वयः—त्रिनेत्रः इति ओषधिप्रस्थविलासिनीनां श्रोत्रसुखाः कथाः शृण्वन्, केयूरचूर्णीकृतलाजमुष्टिं हिमालयस्य आलयम् आससाद ॥ ६९ ॥

सञ्जी०—इतीति ॥ त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकः। त्रिनेत्रत्रिनयनशब्दयोः 'क्षुम्नादिषु च' इति णत्वाभावः। इतीत्थमोषधिप्रस्थविलासिनीनां सम्बन्धिनीः श्रोत्रसुखाः श्रवणमधुराः कथाः आलापाञ्छृण्वन्केयूरैरङ्गदैश्चूर्णीकृता लाजानां मुष्टयो यस्मिंस्तं तथोक्तम्। तत्रावकीर्णा आचारलाजा अन्तराल एवाङ्गदैश्चूर्णपेषं पिष्यन्त इति पुरन्ध्रिजनसम्बन्धातिशयोक्तिः। हिमालयस्य हिमवत आलयं भवनमाससाद ॥ ६९ ॥

इस प्रकार ओषधिप्रस्थ नगर की सुन्दरियों की श्रुतिसुखद बातें सुनते हुए भगवान शिव हिमालय के उस भीड़ भरे प्रासाद में पहुँचे जहाँ स्त्रियों द्वारा फेंके गये धान के लावे लोगों के विजायठों की रगड़ से चूर्ण चूर्ण हो जा रहे थे ॥ ६९ ॥

तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्घनाद्दीधितिमानिवोक्ष्णः।
क्रान्तानि पूर्वं कमलासनेन कक्ष्यान्तराण्यद्रिपतेर्विवेश ॥ ७० ॥

अन्वयः—तत्र अच्युतदत्तहस्तः 'शरद्घनाद् दीधितिमान् इव' उक्ष्णः अवतीर्य कमलासनेन पूर्वं क्रान्तानि अद्रिपतेः कक्ष्यान्तराणि विवेश ॥ ७० ॥

सञ्जी०—तत्रेति ॥ तत्र हिमवदालयेऽच्युतेन विष्णुना दत्तहस्तो विस्तीर्णहस्तावलम्बः सन् । शरद्घनाच्छरन्मेघात् । शरद्विशेषणान्मेघस्य शुभ्रत्वं गम्यते । दीधितिमान्सूर्यं इवोक्ष्णो वृषादवतीर्यं कमलासनेनं पूर्वमग्रे क्रान्तानि प्रविष्टान्यद्रिपतेः कक्ष्यान्तराणि गेहप्रकोष्ठान्तराणि विवेश । कक्ष्या कच्छे वरत्रायां काञ्च्यां गेहे प्रकोष्ठके' इति यादवः ॥ ७० ॥

वहाँ भगवान शिव विष्णु के हाथ का सहारा लेकर बैल से नीचे उतरे उस समय वे ऐसे प्रतीत हुए मानो शरद ऋतु के श्वेत बादलों से सूर्य नीचे उतर आया हो। इसके पश्चात् वह (राजप्रासाद के) उस कमरे में गए जहाँ ब्रह्मा पहिले से ही बैठे हुए थे ॥ ७० ॥

तमन्वगिन्द्रप्रमुखाश्च देवाः सप्तर्षिपूर्वाः परमर्षयश्च ।
गणाश्च गिर्यालयमभ्यगच्छन्प्रशस्तमारम्भमिवोत्तमार्थाः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—तम् अन्वग् इन्द्रप्रमुखाः देवाः, सप्तर्षिपूर्वाः परमर्षयः गणाश्च 'उत्तमार्थाः प्रशस्तम् इव' गिर्यालयम् अभ्यगच्छन् ॥ ७१ ॥

सञ्जी०—तमिति ॥ तमीश्वरमन्वगनुपदम् । अव्ययमेतत् । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्' इत्यमरः । इन्द्रप्रमुखा देवाश्च सप्तर्षयः पूर्वे येषां ते सप्तर्षिपूर्वाः । 'न बहुव्रीहौ' इतिसर्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः । परमर्षयः सनकादिमहर्षयश्च । 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इति तत्पुरुषः । गणाः प्रमथाश्चोत्तमार्था महाप्रयोजनाः प्रशस्तं प्रकृष्टम् । अमोघमित्यर्थः आरभ्यत इत्यारम्भ उपायस्तमिव गिर्यालयं हिमवन्मन्दिरमभ्यगच्छन् । प्राविशन्नित्यर्थः ॥ ७१ ॥

शंकर जी के पीछे पीछे इन्द्रादि देवता तथा सप्तर्षियों सहित बड़े बड़े ऋषि एवं प्रमथ आदि गण हिमालय के राजप्रासाद में उसी प्रकार आए जैसे किसी सुनियोजित कार्यारम्भ के पीछे उत्तम परिणाम चले आते हैं ॥ ७१ ॥

तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—तत्र ईश्वरः विष्टरभाग् यथावत् सरत्नम् अर्घ्यं, मधुमद् गव्यं, नवे दुकूले च इति सर्वं नगोपनीतम् अमन्त्रवर्जं प्रत्यग्रहीत् ॥ ७२ ॥

सञ्जी०—तत्रेति ॥ तत्र हिमवदालय ईश्वरो विष्टरभागासनगतः । उपविष्ट इत्यर्थः । यथावद्यथार्हम् । विधिवदित्यर्थः । सरत्नं रत्नसहितमर्घ्यमर्घार्थं जलम् । मधु क्षौद्रमस्मिन्नस्तीति मधुमत् । गवि भवं गव्यं दधि च । मधुपर्कमित्यर्थः । 'दधिमधुनी सर्पिर्वा मध्वलाभे' इत्याश्वलायनगृह्यसूत्रात् । नवे दुकूले चेति सर्वं

नगोपनीतं हिमवदानीतमर्घ्यादिकं मंत्रान्वर्जयित्वा मन्त्रवर्जम् । ततो नञ्समासः । अमन्त्रवर्जम् । मन्त्रान्न वर्जयित्वेत्यर्थः । 'द्वितीयायां च' इति णमुल्प्रत्यय इत्याह न्यासकारः 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम् इत्यत्र । प्रत्यग्रहीत्स्वीकृतवान् ।। ७२ ।।

वहाँ आसन पर बैठे हुए शिव जी ने हिमालय द्वारा विधि पूर्वक दी गई रत्नयुक्त पूजा सामग्री, मधुमिश्रित दही तथा नवीन वस्त्र आदि को मंत्रपाठ के साथ ग्रहण किया ।। ७२ ।।

दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधदक्षैः ।
वेलासमीपं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ।। ७३ ।।

अन्वयः—दुकूलवासाः सः विनीतैः अवरोधदक्षैः 'स्फुटफेनराजिः उदन्वान् नवैः चन्द्रपादैः वेलासमीपम् इव' वधूसमीपं निन्ये ।। ७३ ।।

सञ्जी०—दुकूलेति ।। अथ दुकूलवासाः दुकूलं वसान इत्यर्थः । स हरो विनीतैरनुद्धतैरवरोधेषु ये दक्षास्तैरवदोधदक्षैर्वधूममीपं निन्ये नीतः । कथमिव । स्फुटा फेनानां राजिर्यस्य स उदकमस्यास्तीत्युदन्वान्समुद्रः । 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातनात्साधुः । नवैरचिरोदितैश्चन्द्रपादैश्चन्द्रकिरणैर्वेलासमीपमिव ।। ७३ ।।

इसके पश्चात् अन्तःपुर के विनम्र एवं कुशल अनुचरों ने नूतन वस्त्र धारी शिव को वधू पार्वती के पास उसी प्रकार ले गए जैसे चन्द्रमा की नवीन किरणें फेनयुक्त लहरों से सुशोभित समुद्र को (बेला) तट तक ले जाती हैं ।। ७३ ।।

तया प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्या प्रफुल्लचक्षुःकुमुदः कुमार्या ।
प्रसन्नचेतःसलिलः शिवोऽभूत्संसृज्यमानः शरदेव लोकः ।। ७४ ।।

अन्वयः—प्रवृद्धाननचन्द्रकान्त्या तया कुमार्या शरदा लोक इव संसृज्यमानः शिवः प्रफुल्लचक्षुः कुमुदः प्रसन्नचेतः सलिलः अभूत् ।। ७४ ।।

सञ्जी०—तयेति ।। आननं चन्द्र इव इत्युपमितसमासः । प्रवृद्धाननचन्द्रस्य कान्तिर्यस्यास्तया तथोक्तया तया कुमार्या शरदा लोक इव संसृज्यमानः सङ्गच्छमानः शिवश्चक्षूंषि कुमुदानीव तानि प्रफुल्लानि यस्य स तथोक्तः । चेतः सलिलमिव तत्प्रसन्नं यस्य स तथोक्तः । प्रसन्नचेतः सलिलोऽभूत् । शरल्लोकयोरपि यथोचितं विशेषणानि योज्यानि ।। ७४ ।।

जिसप्रकार शरद्‌ऋतु के संसार में व्याप्त होते ही पूर्ण चन्द्रमा की किरणों से कुमुद खिल उठते हैं और जल अत्यन्त निर्मल हो जाता है उसी प्रकार पूर्ण चन्द्र जैसी कांति वाले पार्वती के मुख को देखकर शंकर जी के नेत्र खिल उठे तथा उनका मन प्रसन्न हो गया ।। ७४ ।।

तयोः समापत्तिषु कातराणि किञ्चिद्व्यवस्थापितसंहृतानि ।
ह्रीयन्त्रणां तत्क्षणमन्वभूवन्नन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ ७५ ॥

अन्वयः—तयोः समापत्तिषु कातराणि किञ्चित् व्यवस्थापितसंहृतानि अन्योन्यलोलानि विलोचनानि तत्क्षणं ह्रीयन्त्रणाम् अन्वभूवन् ॥ ७५ ॥

सञ्जी०—तयोरिति ॥ तयोर्वधूवरयोः समापत्तिषु यदृच्छया सङ्गतिषु कातराणि चकितानि । 'अधीरे कातरः' इत्यमरः । द्रष्टुमसमर्थानीति भावः । किञ्चिदीषद्व्यवस्थापितानि स्थिरीकृतानि पश्चात्संहृतानि निवर्तितानि चेति व्यवस्थापितसंहृतानि । 'पूर्वकाल—' इत्यादिना तत्पुरुषः । अन्योन्यस्मिल्लोलानि सतृष्णानि । 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः । विलोचनानि दृष्टयस्तत्क्षणं तस्मिन्क्षणे ह्रीयन्त्रणां ह्रिया निमित्तेन संङ्कोचमन्वभूवन् ॥ ७५ ॥

पार्वती और शंकर के चंचल नेत्र क्षण भर के लिए आपस में मिल जाते किन्तु दूसरे ही क्षण वह अलग भी हो जाते थे। इस प्रकार लालसाभरी चितवन से एक दूसरे को देखने में उन्हें बड़ी लज्जा मालूम होने लगी कि अन्य-लोग क्या सोचते होंगे ॥ ७५ ॥

तस्याः करं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्राङ्गुलिमष्टमूर्त्तिः ।
उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य तच्छङ्किनः पूर्वमिव प्ररोहम् ॥ ७६ ॥

अन्वयः—अष्टमूर्तिः तच्छङ्किनः उमातनौ गूढतनोः स्मरस्य पूर्वं प्ररोहम् इव (स्थितं), शैलगुरूपनीतं ताम्राङ्गुलि तस्याः करं जग्राह ॥ ७६ ॥

सञ्जी०—तस्या इति ॥ अष्टमूर्तिः शिवः । तस्मादीश्वराच्छङ्कत इति तच्छङ्किनः । तदभीतस्येत्यर्थः । अतएवोमातनावुमाशरीरे गूढतनोर्गुप्तशरीरस्य स्मरस्य पूर्वं प्ररोहमिव प्रथमाङ्कुरमिव स्थितं शैलगुरूपनीतं शैलगुरुणा हिमवतोपनीतं प्रापितम् । अथवा शैलगुरुणा हिमवत्पुरोधसोपनीतं ताम्राङ्गुलि रक्ताङ्गुलि तस्याः पार्वत्याः करं जग्राह ॥ ७६ ॥

इसके पश्चात् हिमालय के पुरोहित ने लाल-लाल उँगलियों वाली पार्वती के हाथ को आगे बढ़ाया जिसे शंकर जी ने ग्रहण किया। पार्वती जी की वह लाल उँगलियाँ ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो महादेव जी के डर से पार्वती के शरीर में छिपे हुए काम के प्रथम अंकुर निकल आए हों ॥ ७६ ॥

रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुङ्गवकेतुरासीत् ।
वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य ॥ ७७ ॥

अन्वयः—उमाया रोमोद्गमः प्रादुरभूत् । पुङ्गवकेतुः स्विन्नाङ्गुलिः आसीत् । पाणिसमागमेन तयोः मनोभवस्य वृत्तिः समं विभक्ता इव अभूत् ।। ७७ ।।

सञ्जी०—रोमोद्गम् इति ।। उमाया रोमोद्गमो रोमाञ्चः प्रादुरभूत । पुमान्गौः पुङ्गवो वृषभः । 'गोरतद्धितलुकि' इति टच् । स केतुश्चिह्नं यस्य स पुङ्गवकेतुः शिवः स्विन्नाङ्गुलिरासीत् । अत्रोत्प्रेक्षते—पाणिसमागमेन पाण्योः संस्पर्शेन कर्त्रा । तयोर्वधूवरयोर्मनोभवस्य वृत्तिरवस्थितिः समं विभक्तेव । समीकृतेवेत्यर्थः । प्राक्सिद्धस्याप्यनुरागसाम्यस्य सम्प्रति तत्कार्यदर्शनात्पाणिसंस्पर्शकृतत्वमुत्प्रेक्षते । ननु 'कन्या तु प्रथमसङ्गमे स्विन्नकरचरणा भवति पुमांस्तु रोमाञ्चितो भवतीति' वात्स्यायनेन विपरीतमुक्तमिति चेन्नैष दोषः । एभिरनयोर्भावं परीक्षेतेति वाक्यशेष एभिरिति बहुवचनेन स्वेदरोमाञ्चग्रहणस्य सकलसात्विकोपलक्षणत्वावगमेनानियमावधारणात् । अतएव रघुवंशेऽन्यथाभिधानात्स्वोक्तिविरोध इत्यपास्तम् । तदेतद्रघुवंशसञ्जीविन्यां (७।२२) सुव्यक्तमवोचम् । सात्विकास्तु 'स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू । अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ।।' इति ।। ७७ ।।

हाथों के इस समागम से पार्वती को रोमांच हो गया और शंकर जी की उँगलियाँ पसीने पसीने हो गईं । इस प्रकार मानो वधूवर दोनों में एक साथ ही काम की वृत्तियाँ समान रूप से विभक्त हो गईं ।। ७७ ।।

प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद्वधूवरं पुष्यति कान्तिमग्र्याम् ।
सान्निध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य ।। ७८ ।।

अन्वयः—यत् प्रयुक्तपाणिग्रहणम् अन्यद् वधूवरम् अनयोः सान्निध्ययोगाद् अग्र्यां कान्तिं पुष्यति । तदानीम् तस्य उभयस्य श्रीः किं कथ्यते ।। ७८ ।।

सञ्जी०—प्रयुक्तेति ।। यद्यस्मात्कारणात्प्रयुक्तं प्राणिग्रहणं यस्य तत्तथोक्तमन्यल्लौकिकम् । वधूश्च वरश्च वधूवरम् । समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः । तदानीं पाणिग्रहणकालेऽनयोरुमाशिवयोः सान्निध्ययोगात्सन्निधिभावादग्र्यामुत्तमां कान्तिं शोभां पुष्यति पुष्णाति तस्योभयस्योमामहेश्वररूपस्य मिथुनस्य श्रीः किं कथ्यते । यत्प्रसादादन्यस्य शोभालाभस्तस्य शोभा किमु वक्तव्येत्यर्थः । 'विवाहसमये गौरीशिवौ वधूवरावनुप्रविशेताम्' इत्यागमः ।। ७८ ।।

जो पार्वती और शंकर लोक में विवाह के अवसर पर अपनी स्मृति मात्र से ही वर वधू की शोभा बढ़ाते हैं । जब उन्हीं का स्वयं विवाह कृत्य संपन्न हो रहा हो तो तब उनकी शोभा का वर्णन भला कैसे किया जा सकता है ।। ७८ ।।

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्त्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ ७९ ॥

अन्वयः—तन्मिथुनम् उदर्चिषः कृशानोः प्रदक्षिणप्रक्रमणात् मेरोः उपान्तेषु वर्त्तमानम् अन्योन्यसंसक्तम् अहस्त्रियामम् इव चकासे ॥ ७९ ॥

सञ्जी०—प्रदक्षिणेति ॥ तन्मिथुनमुदर्चिष उन्नतज्वालस्य कृशानोः कर्मणः प्रदक्षिणप्रक्रमणात्प्रदक्षिणीकरणाच्चकासे । किमिव । मेरोरुपान्तेषु परिसरेषु वर्तमानमावर्तमानम् । मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वदित्यर्थः । अन्योन्येन संसक्तं सङ्गतम् । मिथुनस्याप्येतद्विशेषणम् । अहश्च त्रियामा चाहस्त्रियामं रात्रिन्दिवमिव । समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः ॥ ७९ ॥

इन्धनादि से प्रदीप्त अग्नि की प्रदक्षिणा करते हुए पार्वती और शंकर जी इस प्रकार सुशोभित हुए मानो रात और दिन दोनों साथ साथ सुमेरु पर्वत की परिक्रमा कर रहे हों ॥ ७९ ॥

तौ दम्पती त्रिः परिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ ।
स कारयामास वधूं पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम् ॥ ८० ॥

अन्वयः—सः पुरोधा अन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ तौ दम्पती वह्निं त्रिः परिणीय, समिद्धार्चिषि तस्मिन् वधूं लाजमोक्षं कारयामास ॥ ८० ॥

सञ्जी०—ताविति ॥ स पुरस्तादेव हितं विधत्त इति पुरोधाः पुरोहितोऽन्योन्यस्य संस्पर्शेन स्पर्शसुखेन निमीलिताक्षौ तौ जाया च पतिश्च दम्पती कर्मभूतौ । जायाशब्दस्य दम्भावो निपातितः । वह्निं त्रिस्त्रिवारम् । 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' इति सुच् । परिणीय परितो नीत्वा प्रदक्षिणीकार्येत्यर्थः । नयतेर्द्विकर्मकाल्ल्यप् । समिद्धार्चिषि दीप्तज्वाले तस्मिन्वह्नौ वधूं लाजमोक्षं लाजविसर्गं कारयामास । 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इति विकल्पादणिकर्तुः कर्मत्वम् ॥ ८० ॥

परस्पर स्पर्श सुख से आँखे मूँदे हुए जब शिव और पार्वती अग्नि की तीन प्रदक्षिणा कर चुके तब पुरोहित ने वधू पार्वती के हाथों से उस जलती हुई अग्नि में धान की खीलों से आहुति डलवाई ॥ ८० ॥

सा लाजधूमाञ्जलिमिष्टगन्धं गुरूपदेशाद्वदनं निनाय ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥ ८१ ॥

अन्वयः—सा गुरूपदेशाद् इष्टगन्धं लाजधूमाञ्जलिं वदनं निनाय । कपोलसंसर्पिशिखः सः तस्याः मुहूर्त्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥ ८१ ॥

सञ्जी०—सेति ॥ सा वधूर्गुरोः पुरोधस उपदेशादिष्टः । घ्राणतर्पण इत्यर्थः । गन्धो यस्य तं लाजधूमाञ्जलिं वदनं निनाय । कपोलसंसर्पिणी शिखा यस्य स तथोक्तः स धूमस्तस्या गौर्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे । धूमस्य विसृमरत्वान्मुहूर्तग्रहणम् ॥ ८१ ॥

पुरोहित के कहने से पार्वती ने उस खील के होम से उठे हुए सुगंधित धुएँ को अपने हाथ की अंजुली में लेकर सूँघा । वह धुआँ उस समय उनके कपोलों के पास पहुँच कर क्षण भरके लिए ऐसा प्रतीत हुआ मानो उनके कान का आभूषण हो ॥ ८१ ॥

तदीषदार्द्रारुणगण्डलेखमुच्छ्वासिकालाञ्जनरागमक्ष्णोः ।
वधूमुखं क्लान्तयवावतंसमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥ ८२ ॥

अन्वयः—तद् वधूमुखम् आचारधूमग्रहणाद् ईषदार्द्रारुणगण्डलेखम् अक्ष्णोः उच्छ्वासिकालाञ्जनरागं क्लान्तयवावतंसं बभूव ॥ ८२ ॥

सञ्जी०—तदिति ॥ तद्वधूमुखमाचारधूमग्रहणादाचारप्राप्तधूमत्वादीषदार्द्रे स्विन्ने अरुणे च गण्डलेखे गण्डस्थले यस्य तत्तथोक्तम् । अरुणोरुच्छ्वास्युद्गच्छन्कालाञ्जनस्य रागोऽञ्जनं यस्य तत्तथोक्तम् । क्लान्तो यवावतंसो यवाङ्कुरकर्णपूरो यस्य तत्तथाभूतं बभूव । लाजाञ्जलिं विसृज्य धूमाग्रं जिघ्रेत्' इति प्रयोगवृत्तिकारः ॥ ८२ ॥

उस मंगल आचार के उष्ण धुएँ से पार्वती जी के गाल लाल हो गए, उस पर पसीने की बूँदे छा गईं और नेत्रों का काला अंजन भी फैल गया तथा कानों पर रखे हुए यव के अंकुर मुरझा से गए ॥ ८२ ॥

वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से ! वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी ।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति ॥ ८३ ॥

अन्वयः—हे वत्से ! एष वह्निः तव विवाहं प्रति कर्मसाक्षी, भर्त्रा शिवेन सह मुक्तविचारया त्वया धर्मचर्या कार्या इति द्विजः वधूं प्राह ॥ ८३ ॥

सञ्जी०—वधूमिति ॥ अथ वधूं द्विजः पुरोधाः प्राह । किमिति । हे वत्से, एष वह्निस्तव विवाहं प्रति । विवाहकर्मणीत्यर्थः । कर्मसाक्षी कर्मद्रष्टा । भर्त्रा शिवेन सह मुक्तविचारया निर्विचारया त्वया धर्मचर्या धर्माचरणं कार्या कर्तव्येति । अयं च प्राजापत्यविवाहो द्रष्टव्यः । यथाहाश्वलायनः— 'सह धर्मं चरेदिति प्राजापत्यः, इति ॥ ८३ ॥

पुरोहित ने पार्वती से कहा कि—बेटी ! यह अग्निदेव तुम दोनों के विवाह के साक्षी हैं। अतः तुम अपने पति शिव के साथ बिना सोच विचार के धर्म का आचरण करना ॥ ८३ ॥

आलोचनान्तं श्रवणे वितत्य पीतं गुरोस्तद्वचनं भवान्या ।
निदाघकालोल्बणतापयेव माहेन्द्रमम्भः प्रथमं पृथिव्या ॥ ८४ ॥

अन्वयः—भवान्या आलोचनान्तं श्रवणे वितत्य तद् गुरोः वचनं 'निदाघकालोल्बणतापया 'पृथिव्या प्रथमं माहेन्द्रम् अम्भ इव' पीतम् ॥ ८४ ॥

सञ्जी०—आलोचनान्तमिति ॥ भवस्य पत्न्या भवान्या । 'इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्र—' इत्यादिना ङीष् आनुगागमश्च । आलोचनान्तं नेत्रान्तपर्यन्तम् । 'आङ मर्यादाभिविध्योः, इत्यव्ययीभावः । श्रवणे श्रोत्रे वितत्य विस्तार्य तत्पूर्वोक्तं गुरोर्याज्ञिकस्य वचनं 'सह धर्मं चर' इति वाक्यं निदाघकाले ग्रीष्मकाल उल्बणतापयोत्कटसन्तापया पृथिव्या प्रथममाद्यं माहेन्द्रं पार्जन्यमम्भं इव पीतम् । अत्यादरेण शुश्रावेत्यर्थः ॥ ८४ ॥

पार्वती ने अपने कानों को आँखों तक फैला कर पुरोहित की इस वाणी को इस प्रकार पी लिया जैसे ग्रीष्म ऋतु में अत्यंत तपी हुई पृथ्वी वर्षा की पहली बूंदों को पी लेती है ॥ ८४ ॥

ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन ।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच ॥ ८५ ॥

अन्वयः—प्रियदर्शनेन ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना ह्रीसन्नकण्ठी कथमपि आननम् उन्नमय्य दृष्ट इति उवाच ॥ ८५ ॥

सञ्जी०—ध्रुवेणेति ॥ प्रियं दर्शनं यस्य कर्मभूतस्य । तेन प्रियदर्शनिन ध्रुवेण शाश्वतेन भर्त्रा ध्रुवस्य नक्षत्रविशेषस्य दर्शनाय । 'ध्रुवो भभेदे क्लीबं तु निश्चिते शाश्वते त्रिषु' इत्यमरः । प्रयुज्यमाना दृश्यतामिति प्रेर्यमाणा ह्रीसन्नकण्ठी ह्रिया हीनस्वरा सा वधूः कथमप्याननमुन्नमय्य दृष्ट इत्युवाच ॥ ८५ ॥

जब अत्यंत दर्शनीय रूप तथा स्थिर चित्त वाले पति शिव ने पार्वती से ध्रुव की ओर देखने को कहा तब मुँह को ऊपर उठाकर लज्जा से रुँधे गले द्वारा पार्वती ने क्षीण स्वर में केवल इतना ही कहा कि 'देख लिया' ॥ ८५ ॥

इत्थं विधिज्ञेन पुरोहितेन प्रयुक्तपाणिग्रहणोपचारौ ।
प्रणेमतुस्तौ पितरौ प्रजानां पद्मासनस्थाय पितामहाय ॥ ८६ ॥

अन्वयः—इत्थं विधिज्ञेन पुरोहितेन प्रयुक्तपाणिग्रहणोपचारौ प्रजानां पितरौ तौ पद्मासनस्थाय पितामहाय प्रणेमतुः ॥ ८६ ॥

सञ्जी०—इत्थमिति ॥ इत्थमनेन प्रकारेण 'इदमस्थमुः' इति थमुप्रत्ययः । विधिज्ञेन विवाहप्रयोगज्ञेन । शास्त्रज्ञेनेत्यर्थः । पुरोहितेन हैमवतेन प्रयुक्तपाणिग्रहणोपचारौ कृतविवाहकर्माणौ प्रजानां पितरौ तावुमामहेश्वरौ पद्मासनस्थाय पद्मासनोपविष्टाय पितॄणां पित्रे पितामहाय ब्रह्मणे 'पितामहो विरिञ्चौ स्यात्तातस्य जनकेऽपि च' इति विश्वः । 'पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः' इति निपातनात्साधुः । प्रणेमतुर्नमश्चक्रतुः । पितामहस्य पित्रोरपि पूज्यत्वादिति भावः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार शास्त्रज्ञ पुरोहित द्वारा विवाह संस्कार संम्पूर्ण करा देने पर समस्त संसार के माता पिता पार्वती और शिव ने कमल के आसन पर बैठे हुए ब्रह्मा जी को प्रणाम किया ॥ ८६ ॥

वधूर्विधात्रा प्रतिनन्द्यते स्म कल्याणि ! वीरप्रसवा भवेति ।
वाचस्पतिः सन्नपि सोऽष्टमूर्तौ त्वाशास्यचिन्तास्तिमितो बभूव ॥ ८७ ॥

अन्वयः—वधूः विधात्रा 'हे कल्याणि ! वीरप्रसवा भव' इत प्रतिनन्द्यते स्म । सः वाचस्पति सन् अपि अष्टमूर्तौ तु आशास्यचिन्तास्तिमितः बभूव ॥ ८७॥

सञ्जी०—वधूरिति ॥ वधूः कन्या विधात्रा ब्रह्मणा । हे कल्याणि शोभने, वीरः प्रसवोऽपत्यं यस्याः सा वीरप्रसवा वीरसूर्भवेति प्रतिनन्द्यते स्म । आशिषमुक्त्वेत्यर्थः । स विधाता वाचस्पतिर्वागीश्वरोऽपि सन् । कस्कादिषु पाठात्साधुः । अष्टमूर्तौ शिवे त्वाशास्यमाकाङ्क्ष्यं तत्र चिन्ता विचारस्तस्यां स्तिमितो मन्दो बभूव । तस्य निरीहस्याशास्याभावादाशिषि स्तिमितत्वमित्यर्थः ॥ ८७ ॥

ब्रह्मा ने वधू पार्वती को तो यह आशीर्वाद दे दिया कि हे कल्याणी ! तुम वीरमाता बनो किंतु वाणी के स्वामी होते हुए भी वह इस विचार में मग्न ही रह गए कि अष्टमूर्ति शिव को क्या आशीर्वाद दिया जाये ॥ ८७ ॥

क्लृप्तोपचारां चतुरस्रवेदीं तावेत्य पश्चात्कनकासनस्थौ ।
जायापती लौकिकमेषणीयमार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥ ८८ ॥

अन्वयः—तौ जायापती पश्चात् क्लृप्तोपचारां चतुरस्रवेदीम् एत्य, कनकासनस्थौ सन्तौ लौकिकम् एषणीयम् आर्द्राक्षतारोपणम् अन्वभूताम् ॥ ८८ ॥

सञ्जी०—क्लृप्तेति ॥ तौ जायपती वधूवरौ पश्चान्नमस्कारानन्तरं क्लृप्ता रचिता उपचारा पुष्परचनादयो यस्यां तां चतुरस्रवेदीमेत्य प्राप्य कनकासनस्थौ सन्तौ लौकिकं लोके विदितम् । आचारप्राप्तमित्यर्थः । अतएवैषणीयमाशास्यम् ।

‘तथाहि लौकिकाचारं मनसापि न लङ्घयेत्’ इति शास्त्रादवश्यकर्तव्यमित्यर्थः । इषेरिच्छार्थादनीयर्प्रत्ययः । आर्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ।। ८८ ।।

शंकर और पार्वती दोनों वहाँ से पुष्पों द्वारा सजाई गई एक चौकोर वेदिका पर लाए गए । तथा उसपर रखे हुए सोने के सिंहासन पर बिठा दिए गए ! इसके पश्चात् लोकरीति के अनुसार लोगों ने उन पर गीले तथा पीले अक्षत फेंके ।। ८८ ।।

पत्रान्तलग्नैर्जलबिन्दुजालैराकृष्टमुक्ताफलजालशोभम् ।
तयोरुपर्यायतनालदण्डमाधत्त लक्ष्मीः कमलातपत्रम् ।। ८९ ।।

अन्वयः——लक्ष्मीः पत्रान्तलग्नैः जलबिन्दुजालैः आकृष्टमुक्ताफलजालशोभम् आयतनालदण्डं कमलातपत्रम् तयोः उपरि आधत्त ।। ८९ ।।

सञ्जी०—पत्रान्तेति ।। लक्ष्मीः श्रीदेवी पत्रान्तेषु दलप्रान्तेषु लग्नैर्जलबिन्दुजालैराकृष्टाहृता मुक्ताफलजालेन प्रान्तलम्बिना मुक्ताकलापेन या शोभा सा येन तत्तयोक्तमायतं दीर्घं नालमेव दण्डो यस्य तत्कमलमेवातपत्रं तत्तयोरुपर्याधत्त दधौ ।। ८९ ।।

उस समय वहाँ उपस्थित होकर स्वयं लक्ष्मी जो उनके ऊपर पत्तों के कोरों पर लटकी हुई तथा मोती के समान चमकती हुई जल की बूँदो से परिपूर्ण लम्बी नाल वाले कमल का छत्र लगाकर खड़ी हो गईं ।। ८९ ।।

द्विधाप्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव ।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राह्यनिबन्धनेन ।। ९० ।।

अन्वयः—सरस्वती द्विधाप्रयुक्तेन वाङ्मयेन तन्मिथुनं नुनाव । संस्कारपूतेन वरेण्यं वरं, सुखग्राह्यनिबन्धनेन वधूं नुनाव ।। ९० ।।

सञ्जी०—द्विधेति ।। अथ सरस्वती वाग्देवी द्विधा संस्कृतप्राकृतरूपेण द्वैविध्येन प्रयुक्तेनोच्चारितेन वाङ्मयेन शब्दजालेन तन्मिथुनं नुनाव तुष्टाव । ‘णु स्तुतौ’ इति धातोर्लिट् । केन कमित्याह—संस्कारेति ।। संस्कारेण शास्त्रव्युत्पत्त्या पूतेन प्रकृतिप्रत्ययविभागशुद्धेन । संस्कृतेनेत्यर्थः वरेण्यं वरणीयम् । श्लाघ्यमित्यर्थः । वृणीतेरौणादिक एण्यप्रत्ययः । वरं वोढारं शिवम् । सुखेन ग्राह्यं सुबोधं निबन्धनं रचना यस्य तेन वाङ्मयेन । प्राकृतभाषयेत्यर्थः । वधूं नुनावेत्यनेन सम्बन्धः ।।९०।।

इसके पश्चात् सरस्वती ने संस्कृत एवं प्राकृत दोनों प्रकार की वाणी में शिव पार्वती की उस युगल मूर्ति की मंगल स्तुति की । प्रकृति प्रत्यय युक्त

संस्कृत वाणी में उन्होंने शंकर की तथा सुबोध रचना वाली प्राकृत वाणी में पार्वती की प्रशंसा की ॥ ९० ॥

तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् ।
अपश्यतामप्सरसां मुहूर्त्तं प्रयोगमाद्यं ललिताङ्गहारम् ॥ ९१ ॥

अन्वयः—तौ सन्धिषु व्यञ्जितवृत्तिभेदं रसान्तरेषु प्रतिबद्धरागम् ललिताङ्गहारम् आद्यम् अप्सरसां प्रयोगं मुहूर्त्तम् अपश्यताम् ॥ ९१ ॥

सञ्जी०—ताविति ॥ तौ दम्पती सन्धिषु मुखादिनिर्वहणान्तेषु पञ्चसन्धिषु । तदुक्तं दशरूपके—'मुखं गर्भः सावमर्षोपसंहृतिः' इति । व्यञ्जित वृत्तिभेदंस्फुटीकृतकैशिक्यादिवृत्तिविशेषम् । रसानुगुण्येनेति शेषः । तदुक्तं भूपालेन—'कैशिकी स्यात्तु शृङ्गारे रसे वीरे तु सात्वती । रौद्रबीभत्सयोर्वृत्तिर्नियतारभटी पुनः । शृङ्गारादिषु भावज्ञै रसेष्विष्टा तु भारती ॥' तथा । कैशिक्यारभटी चैव सात्वतीभारती तथा । चतस्रो वृत्तयो ज्ञेयास्तासु नाट्यं प्रतिष्ठितम् ॥' इति। रसान्तरेषु शृङ्गारादिरसभेदेषु । 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः । 'शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः । बीभत्साद्भुतशान्ताख्या रसाः पूर्वैरुदाहृताः' इति । प्रतिबद्धरागं प्रतिनियमेन प्रवर्तितो वसन्तललितादिरागो यस्मिंस्तम् । यस्मिन्रसे यो रागो विहितस्तदनुसारेण प्रयुक्तमित्यर्थः । यथाह काहलः—'रौद्रेऽद्भुते तथावीरे पुंरागेण प्रगीयते । शृङ्गारहास्यकरुणाः स्त्रीरागेण प्रकीर्तिताः ॥ भयानके च बीभत्से शान्ते गेयो नपुंसके ॥' इति ललिताङ्गहारं मधुराङ्गविक्षेपम् । 'अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपः' इत्यमरः । आदौ भवमाद्यम् । रूपकान्तरप्रकृतिभूतमित्यर्थः । तदुक्तम्—'आहुः प्रकरणादीनां नाटकं प्रकृतिं बुधः' इति । अप्सरसामुर्वश्यादीनाम् । प्रयुज्यत इति प्रयोगो रूपकम् । नाटकमित्यर्थः । आद्यमिति विशेषणात् । तं मुहूर्तमपश्यतां दृष्टवन्तौ । पाघ्राध्मास्था—' इत्यादिना दृशेः पश्यादेशः ॥ ९१ ॥

इसके पश्चात् शंकर और पार्वती दोनों ने कुछ देर अप्सराओं द्वारा अभिनीत एक सुन्दर नाटक देखा जो शृंगार आदि रसों और सुन्दर हावों भावों से युक्त था और जिसकी अलग अलग संधियों में अलग अलग भाषा शैलियों का प्रयोग हुआ था ॥ ९१ ॥

देवास्तदन्ते हरमूढभार्यं किरीटबद्धाञ्जलयो निपत्य ।
शापावसाने प्रतिपन्नमूर्तेर्ययाचिरे पञ्चशरस्य सेवाम् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—देवाः तदन्ते ऊढभार्यं हरं किरीटबद्धाञ्जलयः सन्तः निपत्य शापावसाने प्रतिपन्नमूर्तेः पञ्चशरस्य सेवां ययाचिरे ॥ ९२ ॥

सञ्जी०—देवा इति ॥ देवा इन्द्रादयस्तदन्ते तस्य प्रयोगदर्शनस्यान्तेऽवसाने ऊढभार्यं परिणीतदारं हरं किरीटेषु बद्धा अञ्जलयो येषां ते तथोक्ताः सन्तः । निपत्य प्रणम्य शापावसाने प्रतिपन्नमूर्तेर्लब्धशरीरस्य । 'परिणेष्यति पार्वती यदा' (४।४२) इत्यादिना शापस्य पार्वतीपरिणयान्तत्वादित्यर्थः । पञ्चशरस्य कामस्य कर्तुः । सेवां ययाचिरे । पुनः समासादितशरीरस्य तस्य सेवा स्वीक्रियतामिति प्रार्थयामासुरित्यर्थः । 'दुह्याच्पच्—' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् ॥ ९२ ॥

नाटक समाप्त हो जाने पर हाथ जोड़कर तथा अपने मुकुट युक्त मस्तकों को झुका कर प्रणाम करने वाले इन्द्रादि देवताओं ने विवाहित शंकर जी से प्रार्थना की कि अब कामदेव के शाप की अपधि बीत चुकी है । अतः उसे पुनः शरीर दान देकर अपनी सेवा का अवसर दें ॥ ९२ ॥

तस्यानुमेने भगवान् विमन्युर्व्यापारमात्मन्यपि सायकानाम् ।
कालप्रयुक्ता खलु कार्यविद्भिर्विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति ॥ ९३ ॥

अन्वयः—विमन्युः भगवान् आत्मनि अपि तस्य सायकानां व्यापारम् अनुमेने । तथ हि कार्यविद्भिःकालप्रयुक्ता मतृ॑षु विज्ञापना सिद्धिम् एति खलु ॥ ९३ ॥

सञ्जी०—तस्येति ॥ विमन्युर्विगतक्रोधो भगवानीश्वर आत्मन्यपि तस्य कामस्य सायकानां व्यापारमनुमेने । तथाहि । कार्यविद्भिः अवसरज्ञैः । काले योग्यावसरे प्रयुक्तानुष्ठिता भर्तृषु स्वामिषु विषये विज्ञापना सिद्धिमेति खलु । सफला भवतीत्यर्थः । अयमेवास्य स्मरसेवास्वीकारो यदात्मन्यपि तत्सायकव्यापारमङ्गीकृतवानिति ॥ ९३ ॥

पार्वती से विवाह करलेने पर प्रसन्न चित्त वाले शंकर जी ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार करते हुए कामदेव को अपने ऊपर वाण चलाने की अनुमति दे दी । ठीक ही है जो चतुर सेवक समय के अनुसार स्वामी से प्रार्थना करते हैं वह अवश्य ही सफल हो जाते हैं ॥ ९३ ॥

अथ विबुधगणांस्तानिन्दुमौलिर्विसृज्य
क्षितिधरपतिकन्यामाददानः करेण ।
कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं
क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात् ॥ ९४ ॥

अन्वयः—अथ इन्दुमौलिः तान् विबुधगणात् विसृज्य क्षितिधरपतिकन्यां करेण आददानः सन्, कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारम् आगात् ।। ९४ ।।

सञ्जी०—अथेति ।। अथेन्दुमौलिरीश्वरस्तान्विबुधगणान्विसृज्य क्षितिधरपतिकन्यां पार्वतीं करेणाददानः कनककलशयुक्तं मङ्गलार्थमन्तर्निहितहेममयपूर्णकुम्भं भक्तयः पुष्पादिरचनास्तासां शोभया सनाथम् । सहितमित्यर्थः । क्षितिविरचितशय्यं क्षितौ विरचिता स्थण्डिले कल्पिता शय्या तल्पं यस्मिंस्तत्तोक्तं कौतुकागारमागाच्छय्यागृहं जगाम । अत्राश्वलायनः—'अत ऊर्ध्वमक्षारलवणाशिनावधःशायिनौ ब्रह्मचारिणौ स्याताम्' इति । अत ऊर्ध्वं विवाहादूर्ध्वम् । आ त्रिरात्रादिति शेषः । 'त्रिरात्रं द्वादशरात्रं वा' इति वचनात् । तथा कामशास्त्रेऽपि 'अथ परिणयरात्रौ प्रक्रमेणैव किञ्चित्तिसृ च रजनीषु स्तब्धभावा दुनोति । त्रिदिनमिह न भिन्याद्ब्रह्मचर्यं न चास्या हृदयमननुरुध्य स्वेच्छया नर्म कुर्यात्' इति ।। ९४ ।।

इसके बाद चन्द्रशेखर शंकर ने इन्द्रादि देवों को विदा करके, पर्वतराजकन्या पार्वती को हाथ से पकड़े हुए कनककलश से युक्त, पुष्पसुसज्जित, पृथ्वी पर रचित शय्यावाले शयनगृह में प्रवेश किया ।। ९४ ।।

नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्र गौरीं
वदनमपहरन्तीं तत्कृताक्षेपमीशः ।
अपि शयनसखीभ्यो दत्तवाचं कथञ्चित्
प्रमथमुखविकारैर्हासयामास गूढम् ।। ९५ ।।

अन्वयः—तत्र ईशः नवपरिणयलज्जाभूषणां तत्कृताक्षेपं वदनम् अपहरन्ती शयनसखीभ्यः अपि कथञ्चित् दत्तवाचं गौरीं प्रथममुखविकारैः गूढं हासयामास ।। ९५ ।।

सञ्जी०—नवेति ।। तत्र कौतुकागारं ईश ईश्वरो नवपरिणयेन नवोद्वाहेन या लज्जा सा भूषणं यस्यास्तामत एव तेनेश्वरेण कृताक्षेपंकृताकर्षणम् । उन्नमितमिति यावत् । वदनमपहरन्तीं साचीकुर्वन्तीम् । अयं लज्जानुभावः । अनुभावान्तरमाह—शयनसखीभ्योऽपि शयने सहशायिनीभ्योऽपि नर्मसहचरीभ्योऽपीत्यर्थः । कथञ्चित्कृच्छ्रेण दत्तवाचं दत्तोत्तरां गौरीं प्रथमा भृङ्गिरिटिप्रभृतयो हास्यरसाधिदेवताः पशुपतेः परिषदाः । यथाह भरतः—'श्रृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः' इति । 'प्रमथाः स्युः पारिषदाः' इत्यमरः । तेषां मुखविकारैर्मुखविकृतचेष्टितैर्गूढम-

प्रकाशं हासयामास । हासाद्युपायैर्लज्जामपाकर्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः । यथाह गोनर्दः—'हासेन मघुना नम्रवचसा लज्जितां प्रियाम् । विलुप्तलज्जां कुर्वीत निपुणैश्च सखीजनैः ॥' इति ॥ ९५ ॥

नवविवाहिता होने के कारण लज्जा रूपी आभूषण से सुशोभित, तथा महादेव जी के आँचल खींचने पर अपना मुंह छिपालेने वाली और सखियों की परिहास भरी वाणी का किसी प्रकार उत्तर देने वाली पार्वती के सामने आकर जब प्रमथ आदि गण अपना मुँह बनाने लगे तब वह मन ही मन हँसने लगीं ॥९५॥

सप्तमः सर्गः समाप्तः ।

* * *

अष्टमः सर्गः

पाणिपीडनविधेरनन्तरं शैलराजदुहितुर्हरं प्रति ।
भावसाध्वसपरिग्रहादभूत्कामदोहदमनोहरं वपुः ॥ १ ॥

अन्वयः—पाणिपीडनविधेः, अनन्तरम्, भावसाध्वसपरिग्रहात्, शैलराजदुहितुः, वपुः, हरम्, प्रति, कामदोहदमनोहरम्, अभूत् ॥ १ ॥

सञ्जी०—पाणीति ॥ पाणिपीडनविधेरनन्तरं पाणिग्रहणानन्तरम् । विधेरिति पञ्चमी षष्टी च । उभयथाप्यनुशासनसम्भवादित्युक्तं प्राक् । शैलराजदुहितुः पार्वत्याः कर्त्र्याः हरं प्रति भावसाध्वसपरिग्रहात् । भावोनामात्रानुरागापरनामा रत्याख्यः श्रृङ्गारस्य स्थायीविवक्षितः तेन यत्साध्वसं सङ्गमभयं तदनुभावभूतं तस्य परिग्रहात् स्वीकारान्मनोहरं चित्ताकर्षकं कामदोहदम् । कामसंवर्धकमित्यर्थः । 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् । पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया' इति शब्दार्णवे । तच्च तत्सुखं कामदोहदसुखमभूत् । हरस्येति शेषः । नायिकानायकयोरन्योन्यानुभावदर्शनात्सुखमाविर्भवति । तच्च मदनोद्दीपकमिति रसविदां स्थितिः । तथा च हरस्य गौर्यां नवोढायां स्वगोचरभावप्रत्युक्तसाध्वसदर्शनात्सुखमाविर्भवति । तच्च मदनाकारं प्रादुर्बभूवेत्यर्थः । तत्र रसाभावस्थायिनः कार्यमनुभावः । तदुक्तम्—'रसागच्छन्ति संस्थानं यत्कार्यमुपलक्ष्यते । सोऽनुभावः·········संस्थानसूचकः ॥' इति ॥ १ ॥

नववधू पार्वती तथा शिव जी की रतिलीला का वर्णन करने की कामना से ही कविकुलगुरु कालिदास ने इस सर्ग की रचना की है, जिसमें सर्वत्र सम्भोग श्रृङ्गार का रस लबालब भरा हुआ है। इस सर्ग में 'रथोद्धता' छन्द का प्रयोग हुआ है जिसके प्रत्येक चरण में रगण, नगण, रगण, लघु तथा गुरु (ऽ।ऽ।।।ऽ।ऽ।ऽ) के क्रम से ११ वर्ण होते हैं।

विवाह की क्रिया पूरी होने के बाद सुहागरात के समय यद्यपि पार्वती जी के मन में रतिभावना जग उठी थी किन्तु उससे अनजान होने के कारण वह कुछ झिझक भी रही थीं। उनकी इस उत्कंठा एवं हिचक से युक्त काम-भावना को व्यक्त करने वाला पार्वती का शरीर-सौन्दर्य शंकर जी के लिए और भी मनमोहक हो उठा ॥ १ ॥

व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ।। २ ।।

अन्वयः—सा व्याहृता (सती), प्रतिवचः, न सन्दधे, अवलम्बितांशुका, गन्तुम्, ऐच्छत्, पराङ्मुखी (सती), शयनम्, सेवते स्म, तथापि, पिनाकिनः, रतये (बभूव) ।। २ ।।

सञ्जी०—-व्याहृतेति ।। सा पार्वती व्याहृता यत्किञ्चिदभिहिता सती प्रतिवचः प्रत्युत्तरं न सन्दधे । न ददावित्यर्थः । अवलम्बितांशुका गृहीतवस्त्रा सती गन्तुमन्यतोऽसर्तुमैच्छदिच्छति स्म । इषिधातोर्लङ् । 'इषुगामियमां छः' इति छकारः । पराङ्मुखी सती शयनं सेवते स्म । अनभिमुखमशयिष्टेत्यर्थः । तथापि इत्थं साध्वसात्प्रतिकूलेचेष्टितापीत्यर्थः । पिनाकिनः शिवस्य रतये सुखाय । बभूवेतिशेषः । प्रातिकूल्यमपि तस्यानन्दकरमभूदित्यर्थः । एतेन नवोढाया देव्या मौग्ध्याल्लज्जाविजितमन्मथत्वमवसेयम् ।। २ ।।

यद्यपि पार्वती जी शंकर जी के कुछ पूछने पर चुप रह जाती थीं, उनके द्वारा आँचल पकड़ लेने पर हट जाना चाहती थीं और सोने के समय मुँह फेर कर सोती थीं तथापि मुग्धा की इन सरस चेष्टाओं के मर्मी शंकर जी पार्वती जी को इस प्रतिकूलता से और भी प्रसन्न होते जा रहे थे ।। २ ।।

कैतवेन शयिते कुतूहलात्पार्वती प्रतिमुखं निपातितम् ।
चक्षुरुन्मिषति सस्मितं प्रिये विद्युताहतमिव न्यमीलयत् ।। ३ ।।

अन्वयः—पार्वती, प्रिये, कुतूहलात्, कैतवेन, शयिते, मुखम्, प्रति, निपातितम्, चक्षुः, सस्मितम्, (यथा स्यात् तथा) उन्मिषति, विद्युता, आहतम्, इव, न्यमीलयत् ।। ३ ।।

सञ्जी०—कैतवेनेति ।। प्रिये भर्तरि कूतूहलात् । एषा किं करिष्यतीति बुभुत्सयेत्यर्थः । कैतवेन कपटेन शयिते सुप्ते सति पार्वती कर्त्री प्रतिमुखं यथा निपातितम् प्रियस्वापपरीक्षार्थं तदभिमुखं प्रवर्तितमित्यर्थः । चक्षुः स्वदृष्टिं सस्मितमुन्मिषति । पुनः प्रिये सहासं पश्यतीत्यर्थः । विद्युदाहतं विद्युता प्रतिहतमिवन्यमीलयत् । साध्वसादिति भावः । एतेन किञ्चित्साध्वसस्यापचयो व्यज्यते ।। ३ ।।

पार्वती जी की एकान्त चेष्टाओं के जानने की इच्छा से जब शंकर जी नींद का बहाना बना कर अपनी आँखें मूँद लेते थे तो पार्वती जी उनकी ओर मुँह फेर कर एकटक देखने लगती थीं; किन्तु ज्यों ही शंकर जी मुसकराते

हुए अपनी आँखें खोल देते थे त्योंही वह अपनी आँखें सहसा इस प्रकार मूँद लेती थीं मानो बिजली की चकाचौंध से वह अपने आप मिच गई हों ॥ ३ ॥

नाभिदेशनिहितः सकम्पया शङ्करस्य रुरुधे तया करः ।
तद्दुकूलमथ चाभवत्स्वयं दूरमुच्छ्वसितनीविबन्धनम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—नाभिदेशनिहितः, शङ्करस्य, करः, तया सकम्पया, रुरुधे, अथ, च, तद्दुकूलम्, स्वयम्, दूरम्, उच्छ्वसितनीविबन्धनम्, अभवत् ॥ ४ ॥

सञ्जी०—नाभीति ॥ नाभिदेशनिहितः । नीवीविमोचनायेति शेषः । शङ्करस्य करः सकम्पया वेपथुमत्या । प्रियकरस्पर्शादुत्पन्नसात्विकभावयेत्यर्थः । तया पार्वत्या रुरुधे निवारितः । अथ च तथापीत्यर्थः तद्दुकूलं स्वयं स्वत एव दूरमत्यन्तमुच्छ्वसितं स्रस्तं नीविबन्धनं नीवीग्रन्थिर्यस्य तत्तथाभूतमभवत् । रतिपारवश्यादिति भावः । 'नीवीपरिपणेग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससीति' विश्वः ॥ ४ ॥

जब नीवीबंध (साड़ी की गाँठ) खोलने की इच्छा से शंकर जो अपना हाथ पार्वती जी को नाभि के पास ले जाने लगते थे तो वह काँप उठती थीं और अपने हाथों से उसे रोक लेती थीं, किन्तु उनकी साड़ी की गाँठ पता नहीं कैसे स्वतः ढीली पड़ कर खुलने लगती थी ॥ ४ ॥

एवमालि ! निगृहीतसाध्वसं शङ्करो रहसि सेव्यतामिति ।
सा सखीभिरुपदिष्टमाकुला नास्मरत्प्रमुखवर्तिनि प्रिये ॥ ५ ॥

अन्वयः—सा (पार्वती), आलि ! रहसि, निगृहीतसाध्वसम्, शङ्करः, सेव्यातम्, इति सखीभिः, उपदिष्टम्, प्रिये, प्रमुखवर्तिनि (सति), आकुला, न, अस्मरत् ॥ ५ ॥

सञ्जी०—एवमिति ॥ हे आलि सखि पार्वति ! रहसि शङ्कर एवम् । स्वोपदिष्टप्रकारेणेत्यर्थः । निगृहीतसाध्वसं निरस्तभयं यथा तथा सेव्यतामिति सखीभिरुपदिष्टमुक्तं वचनं सा पार्वती प्रिये शङ्करे प्रमुखवर्तिनि पुरोवर्तिनि सत्याकुला साध्वसविह्वला सती नास्मरत् । न स्मृतवतीत्यर्थः । स हि भयपरिप्लुते चेतसि दृढतरोऽप्युपदेशस्संस्कारमाधत्त इति भावः ॥ ५ ॥

यद्यपि सखियाँ पार्वती जी को सिखाया करती थीं कि तुम इन-इन विधियों द्वारा बिना किसी हिचक के काम-क्रीड़ा में शंकर जी की सेवा करना, किन्तु शिवजी के सामने आते ही वह इतनी घबरा उठती थीं कि सखियों के उपदेश याद ही नहीं पड़ते थे ॥ ५ ॥

अप्यवस्तुनि कथाप्रवृत्तये प्रश्नतत्परमनङ्गशासनम् ।
वीक्षितेन परिगृह्य पार्वती मूर्धकम्पमयमुत्तरं ददौ ॥ ६ ॥

अन्वयः—पार्वती, अनङ्गशासनम्, कथाप्रवृत्तये, अवस्तुनि अपि, प्रश्नतत्परम्, परिवीक्ष्य, वीक्षितेन, मूर्धकम्पमयम्, उत्तरम्, ददौ ॥ ६ ॥

सञ्जी०—अपीति ॥ कथाप्रवृत्तये संलापप्रवर्तनायावस्तुन्यप्रस्तुतार्थेऽपि प्रश्नतत्परम् । यत्किञ्चित्पृच्छन्तमित्यर्थः । अनङ्गशासनमीश्वरं पार्वती वीक्षितेन । न तु वाचेत्यर्थः । परिगृह्याङ्गीकृत्य मूर्धकम्पमयं शिरः कम्पस्वरूपम् । स्वार्थे मयट् । उत्तरं ददौ । न तु वाङ्मयं साध्वसादिति भावः । विहृतनामा लज्जानुभाव उक्तः । तदुक्तं रतिरहस्ये—(ईर्ष्यामानातिलज्जाभ्यां न दत्तं योग्यमुत्तरम् । क्रियया व्यज्यते यत्र विहृतं तदुदीरितम् ॥) इति ॥ ६ ॥

जब कभी शंकर जी बात-चीत के प्रसंग में कामुक चेष्टाओं से भरी हुई कुछ अटपटी बातें करते हुए उसके विषय में उनका उत्तर चाहते थे तो वह मुँह से कुछ भी न कह कर टेढ़ी चितवन से उनकी ओर देख कर सिर हिलाते हुए उनके प्रश्नों का उत्तर दे देती थीं ॥ ६ ॥

शूलिनः करतलद्वयेन सा सन्निरुध्य नयने हृतांशुका ।
तस्य पश्यति ललाटलोचने मोघयत्नविधुरा रहस्यभूत् ॥ ७ ॥

अन्वयः—रहसि, हृतांशुका, करतलद्वयेन, शूलिनः, नयने संनिरुध्यि, सा (पार्वती), तस्य, ललाटलोचने, पश्यति (सति), मोघयत्नविधुरा, अभूत् ॥ ७ ॥

सञ्जी०—शूलिन इति ॥ सा पार्वती रहसि हृतांशुका प्रियेणाकृष्टवस्त्रा सती करतलद्वयेन । स्वकीयेनेत्यर्थः । शूलिनो हरस्य नयने नेत्रद्वयं सन्निरुध्य सञ्च्छाद्य तस्य शूलिनो ललाटलोचने तृतीयेऽक्षिण पश्यति सति मोघयत्नाखिलप्रयासात एव विधुराभूत् । तृतीयकराभावादिति भावः । एतेन किञ्चिद्धार्ष्ट्यादयो व्यज्यन्ते ॥७॥

शंकर जी जब कभी सुरतारंभ में पार्वती जी को विवस्त्र कर देते थे तो वह अपनी दोनों हथेलियों से उनकी आँखों पर परदा डाल देती थीं, ताकि वह उनकी नग्नता न देख सकें; किन्तु उस सयय शंकर जी अपनी तीसरी आँख खोल देते थे, जिससे अपने प्रयत्न में विफल होकर वह विवश पड़ी रह जाती थीं ॥ ७ ॥

चुम्बनेष्वधरदानवर्जितं सन्नहस्तसदयोपगूहनम् ।
क्लिष्टमन्मथमपि प्रियं प्रभोर्दुर्लभप्रतिकृतं वधूरतम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—चुम्बनेषु, अधरदानवर्जितम्, सन्नहस्तसदयोपगूहनम्, (अपि), विलष्टमन्मथम्, अपि, दुर्लभप्रतिकृतम्, वधूरतम्, प्रभोः, प्रियम् (अभूत्) ॥ ८ ॥

सञ्जी०—चुम्बनेष्विति ॥ चुम्बनेष्वधरदानवर्जितमोष्टार्पणरहितमदयोपगूहने निर्दयालिङ्गने सन्नौ स्तब्धौ हस्तौ करौ यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । तथा दुर्लभप्रतिकृतम् । प्रगल्भत्वान्नखदन्तताडनाद्यकृतप्रयत्नमित्यर्थः । अत एव क्लिष्टमन्मथं लज्जयोपरुद्धमदनमपि वध्वा नवोढाया रतं वधूरतं प्रभोरीश्वरस्य प्रियम् । अभूदिति शेषः । 'वधूः स्नुषानवोढास्त्रीभार्यासृष्टाङ्गनासु च' इति विश्वः । अयं लज्जासाध्वसाभ्यां सङ्कुचितोपचारत्वात्संक्लिष्टसम्भोगः । तदुक्तं भूपालेन —(युवानौ यत्र संक्षिप्तसाध्वसव्रीडयादिभिः । उपचारान्निषेवन्ते स संक्लिष्ट इतीरितः ॥) इति ॥ ८ ॥

जब शंकर जी चुम्बन लेना चाहते तो वह अपना अधर ही नहीं देती थीं और जब वह उन्हें कस कर अपनी छाती से लगा लेना चाहते तो वह धीरे-धीरे स्तनों पर हाथ रख कर उस आलिंगन को प्रगाढ़ नहीं होने देती थीं अर्थात् स्वयं भी उन्हें अपनी छाती में चिपका नहीं लेती थीं । इस प्रकार सहयोग-विहीन तथा कष्टसाध्य नववधू का संभोग भी शंकर जी को बहुत ही प्रिय लग रहा था ॥ ८ ॥

यन्मुखग्रहणमक्षताधरं दत्तमव्रणपदं नखं च यत् ।
यद्रतं च सदयं प्रियस्य तत्पार्वती विषहते स्म नेतरत् ॥ ९ ॥

अन्वयः—पार्वती, प्रियस्य, अक्षताधरम्. यत्, मुखग्रहणम्, अव्रणपदम्, यत्, नखं, दत्तम्, सदयम्, यत्, च, रतम्, तद्, विषहते स्म इतरत् न (विषहते स्म) ॥ ९ ॥

सञ्जी०—यदिति ॥ पार्वती प्रियस्य सम्बन्ध्यक्षतोऽखण्डितोऽधरो यस्मिंस्तत्तथोक्तं यन्मुखग्रहणं मुखचुम्बनम् । अव्रणपदं व्रणलक्ष्मरहितम् । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । दत्तं यच्च नखं नखकर्म । यत्सदयं रतं च तत्सर्वं विषहते सहते स्म । नेतरद्विपरीतम् । प्रचण्डमिति यावत् । तच्चुम्बनं नखं सुरतं वा न सहते स्म । नवोढात्वादिति हृदयम् । तदुक्तं रतिरहस्ये—(नात्यन्तमानुलोम्येन न चातिप्रतिलोमतः । सिद्धिं गच्छन्ति वा तस्मान्मध्येन साधयेदिति ॥ नवोढाम्) इति ॥ ९ ॥

शंकर जी जब चुम्बन लेते समय उनके होंठ काटते नहीं थे, स्तन मलते समय नाखूनों को गड़ा कर घाव नहीं करते थे तथा सम्भोग-क्रिया अत्यंत धीरे-धीरे करते थे तो वह उनकी इस कोमल रतिक्रिया को सहन कर लेती थीं किन्तु

इसके विपरीत (अधरों को काटना, स्तनों को चुटकना तथा कठोर रति करना) कठोर रति क्रिया से वह घबरा उठती थीं ।। ९ ।।

रात्रिवृत्तमनुयोक्तुमुद्यतं सा विभातसमये सखीजनम् ।
नाकरोदपकुतूहलं ह्रिया शंसितुं तु हृदयेन तत्वरे ।। १० ।।

अन्वयः—विभातसमये, रात्रिवृत्तम्, अनुयोक्तुम् उद्यतम्, सखीजनम्, सा (पार्वती), ह्रिया, अपकुतूहलम्, न अकरोत्, हृदयेन, तु, शंसितुम्, तत्वरे ।। १० ।।

सञ्जी०—रात्रीति ।। सा पार्वती विभातसमये प्रभातकाले रात्रिवृत्तम् । सुरतवृत्तान्तमित्यर्थः । अनुयोक्तुं प्रष्टुम् । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः । उद्यतं प्रवृत्तं सखीजनं ह्रिया लज्जयापकुतूहलं निराकाङ्क्षं नाकरोत् । न किञ्चिदाचष्टेत्यर्थः । हृदयेन हृदा च शंसितुं तत्वरे त्वरिताभूत् । औत्सुक्यादिति भावः । त्वरा सम्भ्रमादीनामनुभावत्वादिति ।। १० ।।

जब प्रातःकाल सखियाँ पार्वती जी से सुहाग-रात की बातें पूछने लगतीं तो वह हृदय में उन्हें सुनाने की आकुल उत्कण्ठा लिए हुए भी लाज के मारे चुप रह जाती थीं और उनकी कुतूहल से भरी जिज्ञासा मिटा नहीं पाती थीं ।। १० ।।

दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः ।
प्रेक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया ।। ११ ।।

अन्वयः—च, दर्पणे परिभोगदर्शिनी, पृष्ठतः, निषेदुषः, प्रणयिनः, बिम्बम्, आत्मनः, अनुबिम्बम्, प्रेक्ष्य, लज्जया, कानि, कानि, न चकार ।। ११ ।।

सञ्जी०—दर्पण इति ।। किञ्चेति चार्थः । दर्पणे मुकुरे परिभोगं नखक्षतादिसम्भोगचिह्नं पश्यतीति परिभोगदर्शिनी सा पार्वती पृष्ठतः पश्चाद्भागे निषेदुषः स्थितवतः । सदे क्वसुः । प्रणयिनः प्रियस्य हरस्य बिम्बं प्रतिबिम्बम् । दर्पणे संक्रान्तमित्यर्थः । आत्मनः स्वस्य बिम्बमनु । स्वप्रतिबिम्बस्य पृष्ठत इत्यर्थः । ''अनुर्लक्षणे'' इति कर्मप्रवचनीयत्वाद्द्वितीया । प्रेक्ष्य लज्जया । स्वचापलप्राकट्यकृतयेत्यर्थः । कानि कानि यानि यानि भेदवाच्यानि । अङ्गसंवरणादि चेष्टितानीत्यर्थः । उक्तं च— (लज्जानुभावेन साचीकृता वर्णवैवर्ण्याधोमुखादिकृत्) इति । न चकार ।।१२।।

जब पार्वती जी दर्पण लेकर अपने शरीर पर बने सम्भोग चिह्न (दन्तक्षत-नखक्षतादि) देखने लगतीं तो चुपके से शिवजी भी उनके पीछे आकर खड़े हो जाते । उस समय शीशे में पड़ने वाली अपनी छाया के पीछे शंकर जी की भी

छाया देख कर वह लाज के मारे पानी-पानी हो उठतीं और झटके से खुले अंगों को ढक कर आँखें नीची कर लेतीं ॥ ११ ॥

नीलकण्ठपरिभुक्तयौवनां तां विलोक्य जननी समाश्वसत् ।
भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥ १२ ॥

अन्वयः—जननी, ताम् (पार्वतीम्), नीलकण्ठपरिभुक्तयौवनाम्, विलोक्य समाश्वसत्, हि वधूजनः, मातुः, मानसीम्, शुचम्, भर्तृवल्लभतया, अस्यति ॥ १२ ॥

सञ्जी०—नीलकण्ठेति । नीलकण्ठेन परिभुक्तं यौवनं यस्याः सा तां तथोक्ताम् । प्रियेण भुक्तयौवनामित्यर्थः । तां पार्वतीं विलोक्य जननी मेना समाश्वसत् । सन्तुतोषेत्यर्थः । श्वसधातोर्लङ् । "अड्गार्ग्यगालवयोः" इति विकल्पादडागमः । तथाहि । वधूजनो भर्तृवल्लभतया पतिवात्सल्येन मातुर्मानसीं मनोभवां शुचं शोकमस्यति निरस्यति हि । 'विपर्ययाद्विपर्ययश्च' इत्यर्थादवसेयं सामान्यैकविशेषणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १२ ॥

पार्वती जी की माता मेना शंकर जी द्वारा उपभुक्त-यौवन वाली कन्या को देख कर अत्यंत आश्वस्त हो गईं क्योंकि कन्या नव वधू बनने के बाद पति का प्रेम पाकर ही माता के हृदय में उत्पन्न होने वाले खटके को दूर करती है ॥ १२ ॥

वासराणि कतिचित्कथञ्चन स्थाणुना रतमकारि चानया ।
ज्ञातमन्मथरसा शनैः शनैः सा मुमोच रतिदुःखशीलताम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—कतिचित्, वासराणि, स्थाणुना, अनया, कथञ्चन, रतम्, अकारि, च, सा, शनैः, शनैः, ज्ञातमन्मथरसा, रतिदुःखशीलताम् . मुमोच ॥१३॥

सञ्जी०—वासराणीति ॥ स्थाणुना शम्भुना कर्त्रा प्रिया पार्वती कर्मभूता कतिचिद्वासराणि । कैश्चिदहोभिरित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । कथञ्चन कृच्छ्रेण पदं पदप्रक्षेपमकार्यत कारिता । सुरतकर्मणीति शेषः । करोतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । "हृक्रोरन्यतरस्याम्" इत्यणि कर्तुः कर्मत्वे 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणा' इत्यभिहितत्वं च । सा कृतपदा पार्वती ज्ञातमन्मथरसानुभूतसुरतसुखास्वादा सती । 'आस्वादे विरसमाहुः' इति शब्दानुशासने । शनैः शनैः क्रमेण रतौ रते दुःखशीलतां प्रतिकूलस्वभावतां मुमोच । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः । मध्यमावस्थां प्राप्तेत्यर्थः ॥

कुछ दिनों तक तो शंकर जी ज्यों-त्यों करके सम्भोग-सुख से अनजान

पार्वती के साथ सम्भोग करते रहे, किन्तु धीरे-धीरे जब पार्वती को भी रति-रस मिलने लगा तो उन्होंने भी रतिक्रिया में अधीर होना छोड़ कर उत्साह दिखाना प्रारंभ किया ॥ १३ ॥

सस्वजे प्रियमुरोनिपीडनं प्रार्थितं मुखमनेन नाहरत् ।
मेखलाप्रणयलोलतां गतं हस्तमस्य शिथिलं रुरोध सा ॥ १४ ॥

अन्वयः—(सा पार्वती), उरोनिपीडनम् (यथा स्यात्तथा), प्रियम्, सस्वजे, अनेन, प्रार्थितम्, मुखम्, न, अहरत्, मेखलाप्रणयलोलताम्, गतम्, अस्य, हस्तम्, शिथिलम्, रुरोध ॥ १४ ॥

सञ्जी०—सस्वज इति । सा पार्वत्युरोनिपीडितोरसि गाढमाश्लिष्टा सती प्रियं सस्वजे । न तु निष्पन्दमास्तेत्यर्थः । अनेन स्मरातिशयः सूचितः । अनेन प्रियेण प्रार्थितं चुम्बनार्थं याचितम् । 'याञ्चाग्राममभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः । मुखं नाहरत् । मेखलायां प्रणयः परिचयः । 'प्रणयः स्यात्परिचये याञ्चायां सुहृदेऽपि च' इति यादवः । तत्र लोलतां चञ्चलतां गतमस्य हस्तं शिथिलं रुरोध न्यवारयत् । न तु निर्भरमिति भावः । अत्र सहनप्रतीकाराभ्यां तुल्यलज्जास्मरत्वं व्यज्यते ॥ १४ ॥

अब वह, जब शंकर जी उन्हें छाती से लगाना चाहते तो उन्हें कसकर अपनी छाती से चिपका लेतीं, जब वह चुम्बन के लिए अपना मुँह बढ़ाते तो अपना मुंह हटाने का प्रयत्न न करतीं और जब वह उनकी करधनी हटाने के लिए उसकी ओर अपना हाथ बढ़ाते तो चाहते हुए भी केवल दिखाने के लिए ही ढीले हाथों से उसे रोक लेती थीं ॥ १४ ॥

भावसूचितमदृष्टविप्रियं दार्ढ्यभाक्क्षणवियोगकातरम् ।
कैश्चिदेव दिवसैस्तथा तयोः प्रेम गूढमितरेतराश्रयम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—भावसूचितम्, अदृष्टविप्रियम्, तथा दार्ढ्यभाक्क्षणवियोगकातरम्, गूढम्, तयोः, प्रेम, कैश्चित्, एव दिवसैः, इतरेतराश्रयम्, (अभूत्) ॥ १५ ॥

सञ्जी०—भावेति । तयोः शिवयोः कैश्चित्कतिभिश्चिदेव दिवसैः । भावसूचितं भावैश्चेष्टाभिः कटाक्षनिक्षेपादिभिः सञ्जातमदृष्टं विप्रियमप्रियाचरणं यत्र तत्तथोक्तम् । चाटूनि प्रियोक्तयो यस्मिन्सन्ति तच्चाटुमत् । भूतार्थे मतुप् । क्षणवियोगात्क्षणमात्रविरहादपि कातरं भीरितरेतराश्रयमन्योन्यविषयं प्रेम । प्रेमपदाभि-

लष्याङ्कुरावस्था भवतीत्यर्थः । रूढमभूत् । क्रमेणानुरागपदाभिलष्यां प्राप्तमित्यर्थः । तदेतत्सर्वं स्फुटीकृतं भूपालेन—(अङ्कुरपल्लवकलिकाप्रसूनफलभागियम्) इत्यादिना । एका रतिरैव स्थायीभूता रसो भवति तस्याश्चाङ्कुरावस्थाभेदोपपत्तौ सा प्रेमादिपदैरभिलष्यत इत्यर्थः । 'सप्रेमभेदरहितम् यूनोर्यद्भावबन्धनम् । भावो रती राग एव स्वसंवेद्यदशाप्राप्तयावदाश्रयवृत्तिश्चेदनुरागः' इति मानादिलक्षणं विस्तरभयान्न लिख्यत इत्याकर एव द्रष्टव्यम् ।। १५ ।।

कुछ ही दिनों में उन दोनों की चाल ढाल से यह निश्चित पता लग गया कि वे एक दूसरे में भली भाँति घुल-मिल चुके हैं क्योंकि अब वे एक दूसरे को न देख पाने से अनमने हो उठते, एक दूसरे के गुणों की चर्चा करते रहते और क्षण मात्र का वियोग होने पर अधीर हो उठते थे ।। १५ ।।

तं यथात्मसदृशं वरं वधूरन्वरज्यत वरस्तथैव ताम् ।
सागरादनपगा हि जाह्नवी सोऽपि तन्मुखरसैकवृत्तिभाक् ।। १६ ।।

अन्वयः—वधूः, आत्मसदृशम्, तं, वरम्, अनु यथा अरज्यत्, वरः, ताम् (अनु), तथैव (अरज्यत), हि (यथा), जाह्नवी, सागरात्, अनपगा (अस्ति), सः, अपि, तन्मुखरसैकवृत्तिभाक् (अस्ति) ।। १६ ।।

सञ्जी०—तमिति ।। वधूरात्मसदृशं स्वानुरूपं वरं वोढारं प्रति यथान्वरज्यतानुरक्ताभूत् । रञ्जेर्दैवादिकात्कर्तरि लकारः । स्वरितत्वादात्मनेपदम् । तथैव वरोऽपि वोढाप्यात्मनः सदृक्तामात्मसदृशम् । "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इति चकारात्क्विप्प्रत्ययः । तां वधूं प्रत्यन्वरञ्जयत । वध्वामनुरक्तोऽभूदित्यर्थः । "गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङस्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च" इत्यनेन सकर्मकत्वम् । दृष्टान्तमाह—जाह्नवी गङ्गा सागरान्नापगच्छतीत्यनपगानपेता हि सोऽपि सागरस्तस्या जाह्नव्या मुखरसेनाग्रसलिलेन वक्त्रास्वादेनैका मुख्या निर्वृत्तिरानन्दो यस्य तथोक्तः । अत्र दृष्टान्तालङ्कारः । लक्षणं तूक्तम् । इत्थं समानुरागकथनाद्रसाभासत्वं निरस्तम् । तदुक्तम्—(योषितो बहुसक्तिश्चेद्रसाभासः स उच्यते) । कविनाप्युक्तं मालविकाग्निमित्रे—(अनातुरोक्तं प्रति विप्रसिध्यता समीपगेनापि रतिर्न मां प्रति । परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वा शरीरनाशोऽपि समानरागयोः ।।) इति ।। १६ ।।

नववधू पार्वती अपने मनोनुकूल प्रिय के अनुराग में घुल मिलकर ज्यों-ज्यों उनके मन को रखने में ही लीन होती जा रही थीं त्यों-त्यों शिव जी भी उन्हें ही अपना जीवन समझते जा रहे थे, जैसे गंगा जी समुद्र में घुल मिलकर वहाँ

से लौटने का नाम नहीं लेतीं और समुद्र भी उन्हीं के मुख-रस (मुहाने का पानी) को अपना जीवन बना लेता है ॥ १६ ॥

शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शङ्करस्य रहसि प्रपन्नया ।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—निधुवनोपदेशिनः, शङ्करस्य, शिष्यताम्, प्रपन्नया, तया, रहसि, यत्, युवतिनैपुणम्, शिक्षितम्, तत्, एव, गुरुदक्षिणीकृतम् ॥ १७ ॥

सञ्जी०—शिष्यतामिति ॥ रहस्येकान्ते निधुवनमुपदिशतीतिनिधुवनोपदेशिनः सुरतविद्यागुरोः । 'व्यवायो ग्राम्यधर्मो मैथुनं निधुवनं रतम्' इत्यमरः । शङ्करस्य शिष्यतां प्रपन्नया प्राप्तया तथा पार्वत्या यद्युवतिनैपुणं युवतिजनोचितं नैपुणम् । सुरतकौशलमित्यर्थः । शिक्षितमभ्यस्तम् । आचरितमित्यर्थः । तदेव गुरुदक्षिणीकृतम् । यथोपदेशकरणाद्दक्षिणासममभूदित्यर्थः । अनेन कृतप्रतिकृतं सूच्यते । १७॥

पार्वती जी ने, एकान्त में रतिकला की शिक्षा देने वाले शिव जी से युवतियों के योग्य हावों-भावों की शिक्षा पाई थी, सम्भोग करते समय उन्होंने उन सब का व्यवहार करके मानों गुरुदक्षिणा के रूप में उन्हीं रतिगुरु को समर्पित कर दिया ॥ १७ ॥

दष्टमुक्तमधरोष्ठमम्बिका वेदनाविधुतहस्तपल्लवा ।
शीतलेन निरवापयत्क्षणं मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः ॥ १८ ॥

अन्वयः—अम्बिका, दष्टमुक्तम्, अधरोष्टम्, वेदनाविधुतहस्तपल्लवा, शीतलेन, शूलिनः, मौलिचन्द्रशकलेन, क्षणम्, निरवापयत् ॥ १८ ॥

सञ्जी०—दष्टमिति । अम्बिका पार्वती दष्टश्चासौ मुक्तश्च तं दष्टमुक्तम् । "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन" इत्यनेन समासः । अधरोष्ठं वेदनया विधुतौ कम्पितौ हस्तपल्लवौ पाणिपल्लवौ यस्याः सा तथोक्ता सती शीतलेन शूलिनो मौलिचन्द्रशकलेन क्षणं निरवापयत् । शीतलोपचारेण निर्व्यथमकरोदिति विश्रम्भोक्तिः । निवातेर्घातोर्ण्यन्तात् अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ" इत्यनेन पुगागमः । अत्राधरपीडनात्सुखेऽपि दुःखवदुपचारात्कुट्टिमनामानुभाव उक्तः । तदुक्तम्—(केशाधरादिसङ्ग्रहणे मोदमानापि मानसे । दुःखितेव बहिः कुर्य्यादेतत्कुट्टिमितं हि यत् ॥) इति ॥ १८ ॥

जब कभी शंकर जी चुम्बन लेते समय उनके होठों को काट कर अपना मुंह हटा लेते तब वह पीड़ा के कारण हाथों को झटकती हुई उनके मस्तक पर स्थित

चन्द्रमा के ऊपर अपने होंठों को रख देतीं, जिसकी शीतलता क्षणभर में ही उनकी सारी पीड़ा दूर कर देती थी ॥ १८ ॥

चुम्बनादलकचूर्णदूषितं शङ्करोपि नयनं ललाटजम् ।
उच्छ्वसत्कमलगन्धये ददौ पार्वतीवदनगन्धवाहिने ॥ १९ ॥

अन्वयः—चुम्बनात्, अलकचूर्णदूषितम्, ललाटजम्, नयनम्, उच्छ्वसत्, कमलगन्धये, पार्वतीवदनगन्धवाहिने, ददौ ॥ १९ ॥

सञ्जी०—चुम्बनादिति । अथ शङ्करोऽपि चुम्बनाच्चुम्बनार्थितोऽलकचूर्णेन दूषितमुपहतं ललाटजं नयनमुच्छ्वसत्कमलगन्धये विकचारविन्दगन्धधारिणे । "उपमानाच्च" इतीकारः । पार्वत्या वदनगन्धवाहिने । फूत्कारमारुतायेत्यर्थः । ददौ । रजोनिस्सारणार्थं तदाभिमुख्येन स्थापितवानित्यर्थः । एतेन देव्याः प्रियवशंवदत्वमुक्तम् । अत्र हरचक्षुष्यलकचूर्णपातकथनाद्देव्या उपरिभावः सूचितः ॥१९॥

इधर चुम्बन लेते समय पार्वती जी के बालो में लगा हुआ चूर्ण झर कर शंकर जी की तीसरी आंख को पीड़ित कर देता था, जिससे वह भी फूंक से शीतलता पाने के लिए अपनी तीसरी आँख फूले हुए कमल के समान मधुर गंधवाले पार्वती के मुंह से सटा देते थे ॥ १९ ॥

एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथः ।
शैलराजभवने सहोमया मासमात्रमवसत् वृषध्वजः ॥ ० ॥

अन्वयः—एवम्, इन्द्रियसुखस्य, वर्त्मनः, सेवनात् अनुगृहीतमन्मथः, वृषध्वजः, शैलराजभवने, उमया, सह, मासमात्रम्, अवसत् ॥ २० ॥

सञ्जी०—एवमिति । वृषध्वजो हर एवमुक्तरीत्येन्द्रियाणां सुखस्यानुकूलस्य वर्त्मनो मार्गस्य स्त्रीप्रसङ्गस्येत्यर्थः । सेवनात्परिभोगादनुग्रहीतमन्मथः पुनरुज्जीवितमदनः सन् । उमया सह शैलराजभवने हिमवद्गेहे । मासमात्रमवसत् । अत्यन्तसंयोगेद्वितीया । मासमात्रमिति वधूवशीकरणकालक्लृप्तिः प्रदर्शिता ॥२०॥

इस प्रकार इन्द्रियों के सुख के मार्ग सम्भोग का सेवन करके शंकर जी ने मानो कामदेव को भी कृतकृत्य कर दिया और पार्वती जी के साथ उन्होंने पहाड़ों के राजा हिमालय के घर में पूरा मास ही बिता दिया ॥ २० ॥

सोऽनुमान्य हिमवन्तमात्मभूरात्मजाविरहदुःखपीडितम् ।
तत्र तत्र विजहार सम्पतन्नप्रमेयगतिना ककुद्मता ॥ २१ ॥

अन्वयः—सः, आत्मभूः आत्मजाविरहदुःखपीडितम्, हिमवन्तम्, अनुमान्य, अप्रमेयगतिना, ककुद्मता, तत्र, तत्र, सम्पतन्, विजहार ॥ २१ ॥

सञ्जी०—स इति। स आत्मभूः शिव आत्मजाया दुहितुर्विरहदुःखेन पीडितं हिमवन्तमनुमान्यानुमतं कृत्वाप्रमेयगतिनापरिच्छेद्यगतिना ककुद्मता वृषेण संचरन्संचरमाणस्तत्र तत्र नानादेशेषु विजहार ॥ २१ ॥

इसके पश्चात् शंकर जी ने वहाँ से जाने की इच्छा प्रकट की और अपनी कन्या की विदायी के दुख से दुखी हिमालय की आज्ञा पाकर वह सभी स्थानों में बेरोक-टोक आ जा सकने वाले नंदी पर सवार हो कर इधर उधर घूमते-फिरते हुए बिहार करने लगे ॥ २१ ॥

मेरुमेत्य मरुदाशुवाहनः पार्वतीस्तनपुरस्कृतः कृती।
हेमपल्लवविभङ्गसंस्तरामन्वभूत्सुरततत्परः क्षपाम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—मरुदाशुवाहनः कृती, मेरुम, एत्य, पार्वतीस्तनपुरस्कृतः, सुरततत्परः हेमपल्लवविभङ्गसंस्तराम्, क्षपाम् अन्वभूत् ॥ २२ ॥

सञ्जी०—मेरुमिति। मरुदाशुवाहनः पवनजवयानः। पार्वतीस्तनाभ्यां पुरस्कृतः। पार्वतीपुरोगतयाश्लिष्टइत्यर्थः। अन्वभूदित्यनेनान्वयः। कृती कुशलो हरो मेरुमेत्य हेमपल्लवानां विभङ्गाः खण्डास्त एव संस्तरस्तल्पं यस्यां तां तथोक्तां क्षपां रात्रिं सुरततत्परः सुरतासक्तः सन्। अन्वभूत् ॥ २२ ॥

वायु के समान वेग से चलने वाले उस बैल पर बैठे तथा पार्वती को अपने आगे बिठाकर उनके स्तनों के मर्दन का सुख लेते हुए शंकर जी मेरु पहाड़ पर जा पहुँचे और वहाँ सुनहरे कोमल किसलयों से बने बिछौने पर सम्भोग-सुख लूटते हुए रात बिताई ॥ २२ ॥

पद्मनाभवलयाङ्किताश्मसु प्राप्तवत्स्वमृतविप्रुषो नवाः।
मन्दरस्य कटकेषु चावसत्पार्वतीवदनपद्मषट्पदः ॥ २३ ॥

अन्वयः—(हरः) पद्मनाभचरणाङ्किताश्मसु, नवाः, अमृतविप्रुषः, प्राप्तवत्सु, मन्दरस्य, कटकेषु, च, पार्वतीवदनपद्मषट्पदः, (सन्), अवसत् ॥ २३ ॥

सञ्जी०—पद्मनाभेति। पार्वतीवदनपद्मे षट्पदः प्रियामुखरसास्वादलोल इत्यर्थः। स हरः। पद्मं नाभिर्यस्य स पद्मनाभो विष्णुः। "अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः" इत्यत्राजिति योगविभागात्समासान्तः। तस्य वलयैरङ्किता अश्मानो येषां तेषु। अमृतमथनसमय इति भावः। तथा नवाः प्रत्यग्रा अमृतविप्रुषः सुधाबिन्दून्प्राप्तवत्सु मन्दरस्य मन्थाचलस्य कटकेषु नितम्बेषु चावसत्। एतेन मन्दरस्यानेकाद्भुताधारत्वान्मनोविनोदकत्वमुक्तम् ॥ २३ ॥

पार्वती जी के कमल जैसे मुख का भ्रमर के समान रस लेने वाले शंकर जी ने वहाँ से चल कर मन्दराचल की उस ढाल पर डेरा डाला जहाँ की चट्टानों पर भगवान विष्णु के वलयों के चिन्ह बने हुए थे और समुद्र-मंथन के समय उड़े हुए अमृत के छोटे-छोटे कण बिखरे हुए थे ॥ २३ ॥

रावणध्वनितभीतया तया कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनः ।
एकपिङ्गलगिरौ जगद्गुरुर्निर्विवेश विशदाः शशिप्रभाः ॥ २४ ॥

अन्वयः—जगद्गुरु,: एकपिङ्गलगिरौ, रावणध्वनितभीतया, तया पार्वत्या, कण्ठसक्तदृढ़बाहुबन्धनः (सन्), विशदाः, शशिप्रभाः, निर्विवेश ॥ २४ ॥

सञ्जी०—रावणेति । जगद्गुरुः । विश्रवसोऽपत्यं पुमान् रावणो दशकण्ठः । "तस्यापत्यम्" इत्यण्प्रत्ययः । वृत्तिविषये विश्रवस्शब्दस्य रवणादेशः । रावणस्य ध्वनितात्कैलासोत्पाटनसमयक्ष्वेडिताद्भीतया तया पार्वत्या कण्ठसक्ताभ्यां मृदुबाहुभ्यां बन्धनं यस्य स तथाभूत. । एकनेत्रत्वादेकपिङ्गलः कुबेरस्तस्य गिरौ कैलासे विशदा निर्मला शशिप्रभाश्चन्द्रिका निर्विवेश बुभुजे । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः ॥ २४ ॥

वहाँ से चलकर वह कुबेर की राजधानी उस कैलाश पर्वत पर पहुँचे जहाँ, उसे उठाते समय रावण की भयंकर ध्वनि सुनकर पार्वती जी इतनी भयभीत हो उठी थीं कि उनके गले को अपनी भुजाओं से कसकर लिपट गई थीं। शंकर जी ने एकरात रहकर वहाँ की निर्मल चांदनी का भरपूर उपभोग किया ॥ २४ ॥

तस्य जातु मलयस्थलीरते धूतचन्दनलतः प्रियाक्लमम् ।
आचचाम सलवङ्गकेसरश्चाटुकार इव दक्षिणानिलः ॥ २५ ॥

अन्वयः—जातु, तस्य, मलयस्थलीरते (सति), धूतचन्दनलतः, सलवङ्गकेसरः, दक्षिणानिलः, चाटुकारः, इव, प्रियाक्लमम्. आचचाम ॥ २५ ॥

सञ्जी०—तस्येति । जातु कदाचित्धूतचन्दनलतः कम्पितपटीरशाखः । 'समे शाखालते, इत्यमरः । सह लवङ्गस्य केसरैः सलवङ्गकेसरः । 'लवङ्गं देवकुसुमम् इत्यमरः । विशेषणाभ्यां शैत्यसौरभ्ये दर्शिते । दक्षिणानिलो मलयमारुतः । चाटुकारश्चाटुप्रयोगः । प्रियवाद इति यावत् । भावे घञ् । स इव मलयस्थलीषु मलयाचलप्रदेशेषु रतिः सुरतं यस्य तथोक्तस्य तत्र रममाणस्येत्यर्थः । तस्य शिवस्य प्रियाक्लमं प्रियायाः सुरतश्रममाचचाम जहार । यथा लोके महा-

नपि श्रम एकेन प्रियवादिनोपैति तद्वद्दक्षिणमारुतेनाप्यस्य सकलोऽपि सुरत क्लमो हृत इत्यर्थः ॥ २५ ॥

इसके पश्चात् वह इधर-उधर घूमते-धामते हुए मलयाचल पर जा पहुँचे । जहाँ चन्दन की लताओं को हिलाने वाला तथा लौंग के फूलों की धूल से भरा हुआ दक्षिणी वायु रतिक्रीड़ा में लगी हुई पार्वती जी की थकान उसी प्रकार दूर कर रहा था; जैसे कोई चाटुकार मीठी-मीठी बातों से किसी को बहला रहा हो ॥ २५ ॥

हेमतामरसताडितप्रिया तत्कराम्बुविनिमीलितेक्षणा ।
खे व्यगाहत तरङ्गिणीमुमा मीनपंक्तिपुनरुक्तमेखला ॥ ३२ ॥

अन्वयः—उमा, हेमतामरसताडितप्रिया, तत्कराम्बुविनिमीलितेक्षणा (तथा), मीनपङ्क्तिपुनरुक्तमेखला, खे तरङ्गिणीम्, व्यगाहत ॥ २६ ॥

सञ्जी०—हेमेति । उमा गौरी हेमतामरसेन कनककमलेन ताडितः प्रियो यथा तेनोत्थितस्य प्रियस्यकराम्बुना करक्षिप्ताम्भसा विनिमीलितेक्षणा मुकुलिताक्षी मीनपङ्क्त्या पुनरुक्ता द्विगुणिता मेखला यस्याः सा तथाभूता सती खे तरङ्गिणीं व्यगाहत । तत्र तत्र जलक्रीडामकरोदित्यर्थः ॥ २६ ॥

वहाँ आकाशगंगा में जल-क्रीड़ा करती हुई पार्वती जी सुनहले कमलों को तोड़-तोड़ कर शंकर जी के ऊपर फेंकती जातीं और शंकर जी भी अपने हाथों से इतना पानी उछालते कि उनकी आंखे बन्द हो जाती थीं । उस समय उनकी कमर के चारों ओर घूमती हुई मछलियों की लड़ी ऐसी प्रतीत होती थी मानो उन्होंने दूसरी करधनी पहन ली हो ॥ २६ ॥

तां पुलोमतनयालकोचितैः पारिजातकुसुमैः प्रसाधयन् ।
नन्दने चिरमयुग्मलोचनः सस्पृहं सुरवधूभिरीक्षितः ॥ २७ ॥

अन्वयः—अयुग्मलोचनः, नन्दने, पुलोमतनयालकोचितैः, पारिजातकुसुमैः, ताम् (पार्वतीम्) प्रसाधयन्, सुरवधूभिः, सस्पृहम्, ईक्षितः, चिरम् (अवसत्) ॥ २७ ॥

सञ्जी०—तामिति । अयुग्मानि लोचनानि यस्य सोऽयुग्मलोचनस्त्र्यम्बकः । युग्मशब्दो विशेष्यनिघ्नोऽप्यस्ति । 'तस्मिन्युग्मासु संविशेत्,' । 'युग्मान्दैवे यथाशक्ति पित्र्ये युग्मांस्तथैव च' इत्यादि प्रयोगदर्शनात् । नन्दने नन्दनोद्याने पुलोमतनया शची । 'पुलोम्नस्तु शची सुता' इति हरिवंशे । तस्या अलकानामुचितैः

पारिजातकुसुमैस्तां प्रसाधयन्नलङ्कुर्वंश्चिरं सुरवधूभिः सस्पृहमीक्षितः केन वा पुण्येनायं लभ्यत इति साभिलाषदृष्ट इत्यर्थः। अत्र देवस्यानुकूलनायकत्वं देव्याः स्वाधीनपतिकात्वं चावसेयम् ॥ २७ ॥

इसके बाद नन्दन वन में पहुँच कर शंकर जी बहुत दिनों तक पारिजात के उनफूलों से पार्वती जी का श्रृङ्गार करते रहे जिनसे इन्द्राणी के बाल सजाये जाते थे। वहाँ देवताओं की बहुएँ उनकी इस प्रसाधन-कला को बड़े चाव के देखा करती थीं ॥ २७ ॥

इत्यभौममनुभूय शङ्करः पार्थिवं च वनितासखः सुखम् ।
लोहितायति कदाचिदातपे गन्धमादनवनं व्यगाहत ॥ २८ ॥

अन्वयः—शङ्करः, इति, अभौमम्, पार्थिवम्, च सुखम्, वनितासखः, (सन्), अनुभूय, आतपे, लोहितायति (सति), कदाचित्, गन्धमादनवनम्, व्यगाहत ॥ २८ ॥

सञ्जी०—इतीति। इतीत्थं शङ्करो वनितासखः सन्। भूमौ भवं भौमम्। न भौममभौमं दिव्यं पृथिव्यां भवं पार्थिवं च सुखमनुभूय कदाचिदातपे लोहितायति लोहितवर्णो भवति। अस्तंगते सवितरीत्यर्थः। लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्" इति क्यष्प्रत्ययः। गन्धमादनगिरिं व्यगाहत। पर्वतमुद्दिश्य निवृत्त इत्यर्थः। उद्देशक्रियां प्रति गिरेः कर्मत्वम्। यथाह भाष्यकारः······ ॥ २८ ॥

इस प्रकार अपनी प्रिया के साथ स्वर्गीय तथा सांसारिक सुखभोग करते हुए शङ्कर जी एक बार गन्धमादन बन में जा निकले। उस समय संध्या होने के कारण धूप लाल हो उठी थी ॥ २८ ॥

तत्र काञ्चनशिलातलाश्रयो नेत्रगम्यमवलोक्य भास्करम् ।
दक्षिणेतरभुजव्यपाश्रयां व्याजहार सहधर्मचारिणीम् ॥ २९ ॥

अन्वयः—तत्र, (स हरः) भास्करम्, नेत्रगम्यम्, अवलोक्य, काञ्चनशिलातलाश्रयः, दक्षिणेतरभुजव्यपाश्रयाम्, सहधर्मचारिणीम्, व्याजहार ॥ २९ ॥

सञ्जी०—तत्रेति। तत्र गन्धमादने काञ्चनविकारः काञ्चनं सौवर्णं तच्च तच्छिलाचलं तदाश्रयो यस्य स भगवान्नेत्रगम्यं सायंतनम् अर्थाद्दर्शनयोग्यम्। भास्करं सूर्यम्। 'दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्तानन्तादि०' इत्यादिना टप्रत्ययः। अवलोक्य दक्षिणेतरभुजः सव्यबाहुर्व्यपाश्रयो यस्यास्ताम्। निजवामभुजमवष्टभ्योपविष्टामित्यर्थः। सह धर्मं चरतीति सहधर्मचारिणीं पत्नीं व्याजहार जगाद ॥२९॥

वहाँ एक सोने की चट्टान पर बैठ कर मधुर तेज के कारण आँखों से भली-भाँति देखे जा सकने वाले लाल सूर्य को देखते हुए शङ्कर जी ने अपने बाएँ अंग का सहारा लेकर बैठने वाली धर्मपत्नी पार्वती से कहा ॥ २९ ॥

पद्मकान्तिमरुणत्रिभागयोः संक्रमय्य तव नेत्रयोरिव ।
संक्षये जगदिव प्रजेश्वरः संहरत्यहरसावहर्पतिः ॥ ३० ॥

अन्वयः—(हे प्रिये !) असौ, अहर्पतिः अरुणत्रिभागयोः, तव, नेत्रयोः, इव पद्मकान्तिम्, संक्रमय्य, संक्षये, प्रजेश्वरः, जगद्, इव, अहः, संहरति ॥ ३० ॥

सञ्जी०—पद्मकान्तिमिति । असावह्नां पतिरहर्पतिः सूर्यः । अहरादीनां पत्यादिषूपसङ्ख्यानम् इति रेफादेशः । पद्मकान्ति पद्मशोभाम् । तृतीयो भागस्त्रिभागः । वृत्तिविषये पूरणार्थत्वं सङ्ख्याया इत्युक्तम् । अरुणस्त्रिभागो ययोस्तयोः । अरुणोपान्तयोरिति भाग्यलक्षणोक्तिः । तव नेत्रयोः संक्रमय्येव । तदानीं पद्मानामविकासात्नेत्रयोस्तु विकासाच्चेयमुत्प्रेक्षा । संक्षये प्रलयकाले प्रजेश्वरः प्रजापतिर्जगदिवाहर्दिवसं संहरति । अस्तं गच्छतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

हे प्रिये देखो, यह सूर्य तुम्हारे एक तिहाई भाग लाल नेत्रों के समान कमलों की कान्ति को लज्जित करते हुए धीरे-धीरे दिन को उसी प्रकार समेटता जा रहा है जैसे प्रलय के समय ब्रह्मा संसार को समेट लिया करते हैं ॥ ३० ॥

सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति ।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी ॥ ३१ ॥

अन्यवः—अवनते, विवस्वति, मरीचिभिः, सीकरव्यतिकरम्, दूरयति (सति), अमी, तव, पितुः, निर्झराः, इन्द्रचापपरिवेषशून्यताम्, व्रजन्ति ॥ ३१ ॥

सञ्जी०—सीकरेति । विवस्तेजोऽस्यास्तीति विवस्वांस्तस्मिन्विवस्वति सूर्ये मरीचिभिः । सहार्थविवक्षायां तृतीयात एव विनापि सहशब्देन तृतीया । सीकरव्यतिकरं पयःकणसम्पर्कं दूरयति दूरीकुर्वति सति । हे अवनते पार्वति ! अमी तव पितुर्भवत्पितुर्हिमवतो निर्झराः प्रवाहाः । 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । इन्द्रचापं नानावर्णप्रभासमूहस्तस्य परिवेषेन परिवेष्टनेन शून्यतां व्रजन्ति । अर्ककिरणसम्पर्ककृतत्वादैन्द्रचापस्य तन्निवृत्त्या निवृत्तिरित्यर्थः ॥ ३१ ॥

देखो, ज्यों-ज्यों यह सूर्य ढुलकता हुआ नीचे गिरता जा रहा है त्यों-त्यों हिमालय के इन झरनों की फुहारों पर पड़कर इन्द्र धनुष की रचना करने वाली

उसकी किरणें भी दूर होती जा रही हैं जिससे इन झरनों में इन्द्र धनुष का दृश्य भी लुप्त होता जा रहा है ॥ ३१ ॥

दष्टतामरसकेसरस्रजोः क्रन्दतोर्विपरिवृत्तकण्ठयोः ।
निघ्नयोः सरसि चक्रवाकयोरल्पमन्तरमनल्पतां गतम् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—दष्टतामरसकेसरस्रजोः, विपरिवृत्तकण्ठयोः, निघ्नयोः, क्रन्दतोः (तथा), सरसि (स्थितयोः), चक्रवाकयोः, अल्पम्, अन्तरम्, अनल्पताम्, गतम् ॥ ३२ ॥

सञ्जी०—दष्टेति । दष्टमर्धजग्धं तामरसकेसरं पद्मकिञ्जलकम् । मुखद्वयेनैकमिति भावः । तत्त्यजत इति तथोक्तयोः क्रन्दतोः कूजितोर्विपरिवृत्तकण्ठयोः । परस्परालोकनार्थं वक्रीकृतग्रीवयोरित्यर्थः । निघ्नयोर्दैवाधीनयोः । 'आधीनो निघ्न आयत्ते' इत्यमरः । चक्रवाकी च चक्रवाकश्च तयोः चक्रवाकयोः "पुमान्स्त्रिया" इत्येकशेषः । सरस्यल्पमन्तरं व्यवधानमनल्पतामाधिक्यं गतम् । सरसि वियुज्यमानयोर्महद्व्यवधानमभूदित्यर्थः ॥ ३२ ॥

इस तालाब में कमलों की कटी हुई केसर चोंच में दबाए हुए, एक दूसरे के प्रेमाधीन ये चकवी तथा चकवे रोते हुए तथा गर्दन घुमा कर एक दूसरे को देखते हुए अलग हो रहे हैं। यद्यपि तालाब के आर पार का अन्तर बहुत कम है किन्तु इन बेचारों के लिए वह बहुत बड़ा बन गया है ॥ ३२ ॥

स्थानमाह्निकमपास्य दन्तिनः सल्लकीविटपभङ्गवासितम् ।
आविभातचरणाय गृह्णते वारि वारिरुहबद्धषट्पदम् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—दन्तिनः सल्लकीविटपभङ्गवासितम्, आह्निकम्, स्थानम् अपास्य, आविभातचरणाय, वारिरुहबद्धषट्पदम्, वारि, गृह्णते ॥ ३३ ॥

सञ्जी०—स्थानमिति । दन्तिनो गजाः अह्नि भवमाह्निकम् । "कालाट्ठञ्" स्थानमपास्य विहाय सल्लकी गजप्रिया काचिल्लता । 'सल्लकी स्याद्गजप्रिया' इति हलायुधः । तस्या विटपभङ्गैः पल्लवखण्डैर्वासितं सुरभितं वारिरुहेषु बद्धाः सङ्गताः षट्पदा यस्मिस्तद्वारि जलमाविभातं प्रभातमारभ्य यच्चरणं तस्मै । तत्पर्याप्तमित्यर्थः गृह्णत उपाददते । गजा हि भुक्तिपर्याप्तजलं सकृदेव सायं पिबन्तीति प्रसिद्धम् ॥ ३३ ॥

सलई के टूटे हुए वृक्षों से निकलने वाली गंध के कारण सुवासित अपने दिन भर के निवास-स्थान को छोड़ कर ये हाथी प्रातःकाल से अब तक पर्याप्त

भोजन कर लेने के पश्चात् तालाब के उस जल को पी रहे हैं जहाँ कमलों में भौंरे बन्द हो चुके हैं।

पश्य पश्चिमदिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता।
लब्धया प्रतिमया सरोम्भसां तापनीयमिव सेतुबन्धनम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—हे मितकथे, पश्चिमदिगन्तलम्बिना, विवस्वता, लब्ध्या, प्रतिमया, सरोऽम्भसाम्, तापनीयम्, सेतुबन्धनम्, इव निर्मितम् (इति त्वम्), पश्य ॥ ३४ ॥

सञ्जी०—पश्येति। हे मितकथे हे मितभाषिणि ! एतेन स्वस्य तत्संलापने लौल्यं सूचयति। पश्चिमदिगन्तलम्बिना विवस्वता कर्त्रा दीर्घया दिगन्तलम्बित्वादायतया प्रतिमया निजप्रतिबिम्बेन। 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात् ॥' इत्यमरः। सरोम्भसां तपनीयविकारस्तापनीयं हिरण्यम्। "तपनीयं शातकुम्भम्" इत्यमरः। सेतुबन्धननिमित्तम्। इवेत्युत्प्रेक्षा। अस्तमयसमये सरः पारावारीणमरुणमायतमर्कप्रतिबिम्बं हिरण्मयसेतुरिव दृश्यत इत्यर्थः। पश्येति वाक्यार्थः कर्म ॥ ३४ ॥

हे मधुर भाषण करने वाली पार्वती ! देखो पश्चिम आकाश में लटके हुए इस सूर्य ने अपनी लम्बी छाया से इस तालाब के जल में सोने का पुल सा बना दिया है ॥ ३४ ॥

उत्तरन्ति विनिकीर्य पल्वलं गाढपङ्कमतिवाहितातपाः।
दंष्ट्रिणो वनवराहयूथपा दष्टभङ्गुरबिसाङ्कुरा इव ॥ ३५ ॥

अन्वयः—गाढपङ्कम्, पल्वलम्, विनिकीर्य, अतिवाहितातपाः, दंष्ट्रिणः, वनवराहयूथपाः, दष्टभङ्गुरविसाङ्कुराः, इव, उत्तरन्ति ॥ ३५ ॥

सञ्जी०—उत्तरन्तीति। द्रंष्ट्रिणो दंष्ट्रावन्तः। व्रीह्यादित्वादिनिः। अतएव दष्टा भङ्गुराः कुटिला विसाङ्कुरा मृणालाङ्कुरा यैस्ते त इव स्थिता वनवराहाणां यूथपाः यूथनाथाः 'यूथनाथस्थु यूथपः, इत्यमरः। गाढपङ्कमतिपङ्किलं पल्वलमल्पसरः। 'वेशन्तः पल्वलं चाल्पसरः' इत्यमरः। विनिकीर्य विक्षिप्यातिवाहितातपाः पङ्किलपल्वलावगाहनेन यापितोष्णास्सन्त इत्यर्थः। उत्तरन्ति पल्वलान्निर्गच्छन्ति ॥३५॥

देखो लम्बे-लम्बे दाढ़ों वाले ये जंगली सूअर गाढ़े कीचड़ से भरे छोटे-छोटे गड्ढों में लोट पोट कर दिनभर की गर्मी बिताने के बाद अब उनसे निकले चले आ रहे हैं। इनके दोनों दाढ़ ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानो इनके द्वारा चबाए गए कमलों को डंठलें जबड़ों में अटकी हुई हों ॥ ३५ ॥

एष वृक्षशिखरे कृतास्पदो जातरूपरसगौरमण्डलः ।
हीयमानमहरत्ययातपं पीवरोरु पिबतीव बर्हिणः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—हे पीवरोरु ! वृक्षशिखरे, कृतास्पदः, एषः, बर्हिणः, जातरूपरसगौरमण्डलः, अहरत्ययातपम्, पिबति, इव (यतः) हीयमानम् ॥ ३६ ॥

सञ्जी०—एष इति । हे पीवरोरु । एष वृक्षशिखरे वृक्षाग्रे कृतास्पदः कृतस्थितिर्जातरूपरसगौरमण्डल आतपरूपगात्काञ्चनद्रववद्‌रुगबर्हमण्डलः । 'चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने' इत्यमरः । बर्हमस्यास्तीति बर्हिणो मयूरः । 'फलबर्हाभ्यामिनज्वक्तव्यः' इतीनच् । हीयमानं क्षीयमाणमहरत्ययातपं दिनान्तातपं पिबतीव । कथमन्यता क्षीयमाणत्वमिति भावः ॥ ३६ ॥

सामने पेड़ की चोटी पर बैठे हुए इस मोर को देखो, इसकी पूंछ में सोने के पानी से बनी हुई सी गोल-गोल सुनहरी चन्द्रिकाएँ ऐसी प्रतीत हो रही है मानो यह साँझ की सारी धूप पीता चला जा रहा हो इसीलिए धूप कम होती जा रही है ॥ ३६ ॥

पूर्वभागतिमिरप्रवृत्तिभिर्व्यक्तपङ्कमिव जातमेकतः ।
खं हृतातपजलं विवस्वता भाति किञ्चिदिव शेषवत्सरः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—विवस्वता, हृतातपजलम्, खम्, पूर्वभागतिमिरप्रवृत्तिभिः, एकतः, व्यक्तपङ्कम्, इव, जातम् (सत्), किञ्चित्, शषवत्सरः, इव, भाति ॥ ३७ ॥

सञ्जी०—पूर्वभागेति । पूर्वभागे प्राचीमूले तिमिरप्रवृत्तिमिर्ध्वान्तप्रसरैरेकतो व्यक्तपङ्कं स्फुटपङ्कमिव जातं तथा विवस्वता हृतमातप एव जलं यस्य तत्तथोक्तं खमाकाशं किञ्चिदीषच्छेषोऽस्यास्तीति शेषवच्छुष्कं सर इव भाति ॥ ३७ ॥

देखो, आकाश में पूरब की ओर अँधेरा बढ़ता जा रहा है इससे ऐसा प्रतीत होता है मानो सूर्य ने आकाशरूपी तालाब के उस भाग का धूप रूपी सारा पानी पी लिया है जिससे अब वहाँ केवल कीचड़ ही रह गयी है और पश्चिम दिशा में अब भी कुछ उजाला दिखाई दे रहा है मानो अभी वहाँ धूपरूपी थोड़ा पानी बचा हुआ है ॥ ३७ ॥

आविशद्भिरुटजाङ्गणं मृगैर्मूलसेकसरसैश्च वृक्षकैः ।
आश्रमाः प्रविशदग्निधेनवो बिभ्रति श्रियमुदीरिताग्नयः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—उटजाङ्गणम्, आविशद्भिः, मृगैः, मूलसेकसरसैः, वृक्षकैः, प्रविशदग्निधेनवः, उदीरिताग्नयः, आश्रमाः, श्रियम्, बिभ्रति ॥ ३८ ॥

सञ्जी०—आविशद्भिरिति । उटजाङ्गणं पर्णशालाङ्गणमाविशद्भिः प्रविशद्भिरित्यर्थः । पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । उपान्वध्याङ्वस'' इति कर्मत्वम् । मृगैः । तथा मूलानां सेकेन सेचनेन सरसैः सद्रवैर्वृक्षकैश्चोपलक्षिताः । अल्पार्थे कन्प्रत्ययः । प्रविशन्त्यो वनादागच्छन्त्योऽग्निधेनवोऽग्निहोत्रार्था गावो येषु ते उदीरिताग्नयश्चाश्रमाः श्रियं बिभ्रति ।। ३८ ।।

मुनियों के इन आश्रमों को देखो, इन पत्तों से बनी हुई झोपड़ियों में आते हुए हरिणों, जड़ में पानी देकर सींचे गए लहलहाते हुए इन पौधों, जंगल से लौट कर आती हुई इन गायों तथा सायंकालीन हवन के लिए जल उठने वाली आग की लपटों से ये कितने सुन्दर दिखाई दे रहे हैं ।। ३८ ।।

बद्धकोशमपि तिष्ठति क्षणं सावशेषविवरं कुशेशयम् ।
षट्पदाय वसतिं ग्रहीष्यते प्रीतिपूर्वमिव दातुमन्तरम् ।। ३९ ।।

अन्वयः—बद्धकोशम्, अपि, कुशेशयम्, वसतिम्, ग्रहीष्यते, षट्पदाय, प्रीतिपूर्वम्, अन्तरम्, दातुम्, इव, क्षणम्' सावशेषविवरम्, तिष्ठति ।। ३९ ।।

सञ्जी०—बद्धकोशमिति । बद्धकोशमपि । मुकुलितमपीत्यर्थः । कुशेशयं कर्तृ । 'शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः । वसतिं ग्रहीष्यते । स्थितिं करिष्यत इत्यर्थः । ''लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । षट्पदाय प्रीतिपूर्वमन्तरमवकाशं दातुमिव क्षणं सावशेषविवरं तिष्ठति ।। ३९ ।।

यद्यपि इस समय कमल मुंदने लगे हैं किन्तु क्षण भर के लिए अभी भी उनका मुंह थोड़ा सा खुला हुआ है । इससे ऐसा प्रतीत होता है मानो बाहर रह जाने वाले भौरों को प्रेमपूर्वक अपने भीतर स्थान देने के लिए ही वे द्वार खोले प्रतीक्षा कर रहे हों ।। ३९ ।।

दूरलग्नपरिमेयरश्मिना वारुणीदिगरुणेन भानुना ।
भाति केसरवतेव मण्डिता बन्धुजीवतिलकेन कन्यका ।। ४० ।।

अन्वयः—वारुणी, दिक्, दूरलग्नपरिमेयरश्मिना, अरुणेन, भानुना, केसरवता, बन्धुजीवतिलकेन, मण्डिता, कन्यका, इव, भाति ।। ४० ।।

सञ्जी०—दूरलग्नेति । वारुणीदिक्प्रतीची दूरं लग्ना अत एव परिमेया अल्पावशिष्टा रश्मयः यस्य तथोक्तेनारुणेन लोहितवर्णेन केसरवता किञ्जल्कवता बन्धुजीवं बन्धुजीवककुसुमम् । 'बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः तदेव तिलकं तेन मण्डिता कन्यकेव भाति ।। ४० ।।

बहुत दूरी पर हल्की-हल्की सीमित किरणों वाले लाल सूर्य को धारण किए हुए यह पश्चिम दिशा ऐसी प्रतीत हो रही है मानो किसी कन्या ने अपने माथे पर केसर से भरे बंधुजीव के फूल का तिलक लगा लिया हो ॥ ४० ॥

सामभिः सहचराः सहस्रशः स्यन्दनाश्वहृदयङ्गमस्वनैः ।
भानुमग्निपरिकीर्णतेजसं संस्तुवन्ति किरणोष्मपायिनः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—किरणोष्मपायिनः, सहस्रशः, सहचराः, अग्निपरिकीर्णतेजसम्, भानुम्, स्यन्दनाश्वहृदयङ्गमस्वनैः, सामभिः, संस्तुवन्ति ॥ ४१ ॥

सञ्जी०—सामभिरिति । किरणोष्मपायिनः किरणोष्माणं पिबन्तीति तथोक्ताः । तथाहारा इत्यर्थः । चरन्तीति चराः । पचाद्यच् । सहभूताश्चरास्सहचरा बालखिल्यप्रभृतयो महर्षयोऽग्नौ परिकीर्णं तेजो यस्य तत्तथोक्तम् । (अग्निर्वादित्यत्सायं प्रसवति) इति श्रुतेः । भानुम् । हृदयं गच्छन्तीति हृदयङ्गमा मनोरमाः । गमेः सुपीति वक्तव्यात्खच् । स्यन्दनाश्वानां हृदयङ्गमाः स्वना येषां तै सामभिः सामवेदैः सहस्रशः संस्तुवन्ति । [सामवेदेनास्तमये गीयते] इति श्रुतेः ॥ ४१ ॥

देखो, यह सूर्य अपना सारा तेज अग्नि को सौंप कर चला जा रहा है इसलिए उसकी किरणों की गर्मी पीने वाले बालखिल्यादि ये हजारों ऋषि उसके घोड़ों को प्रिय लगने वाले सामगान से उसकी स्तुति कर रहे हैं ताकि वे उसे लौटा दें ॥ ४१ ॥

सोऽयमानतशिरोधरैर्हयैः कर्णचामरविघट्टितेक्षणैः ।
अस्तमेति युगभुग्नकेसरैः सन्निधाय दिवसं महोदधौ ॥ ४२ ॥

अन्वयः—सः, अयम्, दिवसम्, महोदधौ, सन्निधाय, आनतशिरोधरैः, कर्णचामरविघट्टितेक्षणैः युगभुग्नकेसरैः, हयैः, अस्तम्, एति ॥ ४२ ॥

सञ्जी०—स इति । सोऽयं भानुर्दिवसं महोदधौ सन्निधाय । निधायेत्यर्थः । दिवसस्यादर्शनादियमुत्प्रेक्षा । आनतशिरोधरैर्गगनावतरणान्नम्रकन्धरैरतएव । कर्णचामरविघट्टितेक्षणैर्युगभुग्नकेसरैः कुटिलितस्कन्धरोमभिर्हयैरस्तमेति । 'अस्तस्तु चरमक्ष्माभृत्' इत्यमरः ॥ ४२ ॥

यह सूर्य दिन को समुद्र में रखकर अपने उन घोड़ों के साथ अस्ताचल की ओर उतरता जा रहा है जिनकी गरदन नीचे की ओर चलने के कारण झुकी हुई हैं। कनौतियाँ चँवर की तरह आँखों पर झूल रही हैं और गरदन के बाल रथ के जुओं पर बिखर गए हैं ॥ ४२ ॥

खं प्रसुप्तमिव संस्थिते रवौ तेजसो महत ईदृशी गतिः ।
तत्प्रकाशयति यावदुद्गतं मीलनाय खलु तावतश्च्युतम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—खम्, रवौ, संस्थिते, प्रसुप्तम्, इव (भवति), महतः तेजसः, ईदृशी, गतिः (अस्ति), उद्गतम् (सत्), तत्, यावत्, प्रकाशयति, च्युतम्, तावतः, मीलनाय (भवति), खलु ॥ ४३ ॥

सञ्जी०—खमिति । रवौ संस्थिते स्तमिते सति खं व्योम प्रसुप्तमिव निःप्रकाशत्वान्निद्रितमिव । स्थितमित्यर्थः । युज्यते चैतदित्याह । महतस्तेजस ईदृशी वक्ष्यमाणप्रकारा गतिः स्वभाव इत्यर्थः । तां गतिमेवाह—तदिति । तन्महत्तेज उत्थितं सद्यावत् । स्थानमिति शेषः । प्रकाशयति । अधश्च्युतं सत् । तत्स्थानादिति शेषः । तावतः । स्थानस्येति शेषः । मीलनाय सङ्कोचाय खलु भवति । यत्र स्थाने तेजस्तिष्ठति तत्प्रकाशक इति स्थितिः । यतो गच्छति न तत्प्रकाशते । अतः सूर्यापाये खं प्रसुप्तमिवेति युक्तोत्प्रेक्षेति भावः । अस्यार्थस्य तेजोमात्रसाधारण्येऽपि महति स्फुटमिति महद्ग्रहणं कृतम् ॥ ४३ ॥

सूर्य के डूबते ही सारा आकाश प्रकाश-हीन हो गया है मानो सो गया हो । तेजस्वियों को गति ही ऐसी होती है कि वे जहाँ निकलते हैं उसे प्रकाशित कर देते हैं और जहाँ छिपते हैं उसे अन्धकार मय कर देते हैं ॥ ४३ ॥

सन्ध्ययाप्यनुगतं रवेर्वपुर्वन्द्यमस्तशिखरे समर्पितम् ।
येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नानुयास्यति कथं तमापदि ॥ ४४ ॥

अन्वयः—सन्ध्यया, अपि, अस्तशिखरे, समर्पितम्, वन्द्यम्, रवेः, वपुः, अनुगतम्, पूर्वम्, उदये, येन, पुरस्कृता, आपदि, तम्, कथम्, न, अनुयास्यति ॥ ४४ ॥

सञ्जी०—सन्ध्ययेति । सन्ध्ययाप्यस्तशिखरेऽस्ताद्रिशृङ्गे समर्पितं निहितं वन्द्यं रवेर्वपुरनुगतमन्वगामि । अस्तं यातं रविमन्वगादिति भावः । युक्तं चैतदित्याह—प्राक्पूर्वमुदये तथा तेन प्रकारेण पुरस्कृताग्रतः कृता । पूजिता चेति गम्यते । प्रातः सूर्योदयात्प्रागेव सन्ध्यागम इति हि प्रसिद्धम् । इयं सन्ध्या तं रविमापद्यस्तसमये कथं नानुयास्यति । अनुयास्यत्येवेत्यर्थः । सम्पदसम्पदोस्तुल्यरूपमेव साधूनामिति भावः ॥ ४४ ॥

जिस सन्ध्या ने प्रातः काल सूर्योदय के पहले ही आकार उसका स्वागत किया था अर्थात् सुख के समय साथ दिया था भला वह उसके पतन के समय

उसको विपत्ति में छोड़ ही कैसे सकती थी इसीलिए जब पूजनीय सूर्य अस्ताचल की ओर चले तो वह भी उनके पीछे-पीछे चली गयी ॥ ४४ ॥

रक्तपीतकपिशाः पयोमुचां कोटयः कुटिलकेशि भान्त्यमूः ।
द्रक्ष्यसि त्वमिति सान्ध्यवेलया वर्तिकाभिरिव साधुवर्तिताः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—कुटिलकेशि !' अमूः, रक्तपीतकपिशाः, पयोमुचाम्, कोटयः, भान्ति, त्वम्, द्रक्ष्यसि, इति, अनया, संध्यया, वर्तिकाभिः, साधु, मण्डिताः, इव ॥ ४५ ॥

सञ्जी०—रक्तेति । हे कुटिलकेशि ! "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद्संयोगोपधात्" इति ङीप् । अमूः पुरोगता रक्ताः पीताः कपिशाश्च रक्तपीतकपिशाः । नानावर्णा इत्यर्थः । चार्थे द्वन्द्वः । न तु "वर्णो वर्णेन" इति तत्पुरुषः सामानाधिकरण्याभावात् । पयोमुचां कोटयोऽश्रयः । 'स्यात्कोटिरश्रौ चापाग्रे संख्याभेदप्रकर्षयोः' इति विश्वः । त्वं द्रक्ष्यसीति हेतोरनया । सांध्यवेलया । सन्ध्ययेत्यर्थः । 'सन्धिवेलया' इति क्वचित्पाठः । वर्तिकाभिश्चित्रशलाकाभिः साधुवर्तिता उत्पादिताश्च भान्ति ॥ ४५ ॥

हे घुँघराले बालों वाली प्रिये, देखो सामने आकाश में बिखरी हुई यह लाल-पीली तथा भूरी बादलों को रेखायें कितनी सुन्दर प्रतीत हो रही हैं। मुझे तो इन्हें देख कर ऐसा मालूम होता है कि इस संध्या सुन्दरी ने ही इन्हें यह समझ कर कूँची से रँग दिया है कि इसे तुम देखोगी ॥ ४५ ॥

सिंहकेसरसटासु भूभृतां पल्लवप्रसविषु द्रुमेषु च ।
पश्य धातुशिखरेषु चात्मना संविभक्तमिव सान्ध्यमातपम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—भूभृताम्, सिंहकेसरसटासु, पल्लवप्रसविषु, द्रुमेषु, धातुशिखरेषु, च, आत्मना, संविभक्तम्, इव, सान्ध्यम्, आतपम्, पश्य ॥ ४६ ॥

सञ्जी०—सिंहेति । सिंहानां केसराणि स्कन्धरोमाणि तान्येव सटा जटास्तासु । 'सटा जटा केसरयोः' इति विश्वः । अथवा सटाशब्देन समूहो लक्ष्यतेऽन्यथा पौनरुक्त्यात् । पल्लवप्रसविषु पल्लवमत्सु द्रुमेषु च तथा धातुशिखरेषु च भूभृतास्ताद्रिणात्मना स्वयमेव सविभक्तमिव स्थितं सन्ध्यायां भवं सान्ध्यमातपं यस्य तथा पश्य । आरुण्यमरुणद्रव्येषु भूयिष्ठमुपलभ्यत इति भावः ॥ ४६ ॥

इन पहाड़ी सिंहों के गरदन के लाल-लाल बालों, वृक्षों पर लदे हुए लाल-लाल नए पल्लवों तथा गेरू की चोटियों को देखो । इन्हें देख कर ऐसा प्रतीत

होता है कि मानों सूर्य जाते-जाते अपनी सारी लाली इन सबों में बाँट गया है ॥ ४६ ॥

पार्ष्णिमुक्तवसुधास्तपस्विनः पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः ।
ब्रह्म गूढमभिसन्ध्यमादृताः शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥ ४७ ॥

अन्वयः—विधिविदः, पार्ष्णिमुक्तवसुधाः तपस्विनः, अमी, अभिसंध्यम्, पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रियाः, शुद्धये, आदृताः, गूढम्, ब्रह्म, गृणन्ति ॥ ४७ ॥

सञ्जी०—पार्ष्णीति । पार्ष्णयो गुल्फाधोभागास्तैर्मुक्तवसुधास्त्यक्तभूतलाः । पादाग्रस्थिता इत्यर्थः । 'गोशृङ्गमात्रमुद्धृत्य मुक्तपार्ष्णिः क्षिपेज्जलम्' इति स्मरणात् । पावनैरम्बुभो रचिताऽञ्जलिक्रियाः । विहितार्घ्यप्रक्षेपा इत्यर्थः । विधिविदः शास्त्रज्ञा अमी तपस्विनः आदृताः आदरवन्तः श्रद्दधाना इत्यर्थः । कर्तरिक्तः । अभिसन्ध्यं सन्ध्यामभि । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये'' इत्यव्ययीभावः शुद्धये शुद्ध्यर्थं ब्रह्म गायत्रीं गूढमुपांशु गृणन्ति जपन्तीत्यर्थः 'प्रत्यगा तारकोदयात्' इति स्मरणात् ॥ ४७ ॥

सभी यज्ञक्रियाओं के ममज्ञ तथा पंजों के बल खड़े हुए ये तपस्वी पवित्र जल से सूर्य को सायंकालीन अर्घ्य देकर अपनी आत्मशुद्धि के लिए अत्यंत आदर के साथ रहस्यपूर्ण गायत्रीमंत्र जप रहे हैं ॥ ४७ ॥

तन्मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि ।
त्वां विनोदनिपुणः सखीजनो वल्गुवादिनि विनोदयिष्यति ॥ ४८ ॥

अन्वयः—वल्गुवादिनि ! तत्, प्रस्तुताय, नियमाय, माम्, अपि, मुहूर्त्तम्, अनुमन्तुम्, अर्हसि (तथा), त्वाम्, विनोदनिपुणः, सखीजनः, विनोदयिष्यति ॥ ४८ ॥

सञ्जी०—तदिति । तत्तस्मात्कारणान्मामपि प्रस्तुताय नियमाय प्रकृतसन्ध्याविषये मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसि । हे वल्गुवादिनि मञ्जुभाषिणि ! विनोदनिपुणः कालक्षेपचतुरः सखीजनस्त्वां विनोदयिष्यति । विनोदशब्दात्तत्करोतीति णिच् ॥ ४८ ॥

अतः हे अल्पभाषिणी, अब मैं भी संध्या कालीन संध्यावन्दनादि के लिए थोड़ी देर का अवकाश चाहता हूँ । तब तक मन बहलाने को क्रिया में चतुर यह तुम्हारी सखियाँ तुम्हारा मन बहलाती रहेंगी ॥ ४८ ॥

निर्विभुज्य दशनच्छदं ततो वाचि भर्तुरवधीरणापरा ।
शैलराजतनया समीपगामाललाप विजयामहेतुकम् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—ततः, शैलराजतनया, दशनच्छदम्, निर्विभुज्य, भर्तुः, वाचि, अवधीरणापरा, समीपगाम्, विजयाम् (सखीम्), अहेतुकम्, आललाप ।। ४९ ।।

सञ्जी०—निर्विभुज्येति । ततो भर्तुर्वाचि वचनेऽवधीरणापरावज्ञापरा शैलराजतनया पार्वती । छाद्यतेऽनेनेति छदः 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण'' इति घप्रत्ययः । दशनानां छदः तं दशनच्छदं अधरं निर्विभुज्य कुटिलीकृत्य समीपगां विजयां विजयाख्यां सखीमहेतुकं निर्निमित्तमाललाप । न तु रोषाद्भर्तुरुत्तरं ददावित्यर्थः ।। ४९ ।।

महादेव जी की यह बात सुनकर पार्वती जी ने जैसे उसकी ओर बिल्कुल ध्यान ही नहीं दिया और अनिच्छा के कारण अपने होठों को बिचका दिया। तथा वहीं बैठी हुई अपनी सखी विजया से इधर-उधर की अर्थहीन बातों में लिपट गईं ।। ४९ ।।

ईश्वरोऽपि दिवसात्ययोचितं मन्त्रपूर्वमनुतस्थिवान्विधिम् ।
पार्वतीमवचनामसूयया प्रत्युपेत्य पुनराह सस्मितम् ।। ५० ।।

अन्वयः—दिवसात्ययोचितम्, विधिम्, मन्त्रपूर्वम्, अनुतस्थिवान्, ईश्वरः अपि, असूयया, अवचनाम्, पार्वतीम्, प्रति, उपेत्य, पुनः, सस्मितम्, आह ।। ५० ।।

सञ्जी०—ईश्वर इति । ईश्वरोऽपि दिवसात्ययोचितं सायंकालोचितं विधिं सन्ध्यावन्दनकृत्यं मन्त्रपूर्वमनुतस्थिवाननुष्ठितवान् । तिष्ठतेः क्वसुप्रत्ययः । असूयया सन्ध्यावन्दनजनितासूययावचनामभाषमाणां पार्वतीं पुनः प्रत्युपेत्य सस्मितमाह ।५०।

शंकर जी ने भी मंत्रों के साथ तत्कालोचित सन्ध्या-वन्दनादि कृत्यों को समाप्त किया और ईर्ष्या के कारण न बोलने वाली पार्वती के पास जाकर पुनः हँसते हुए कहा ।। ५० ।।

मुञ्च कोपमनिमित्तकोपने सन्ध्यया प्रणमितोऽस्मि नान्यथा ।
किं न वेत्सि सहधर्मचारिणं चक्रवाकसमवृत्तिमात्मनः ।। ५१ ।।

अन्वयः—अनिमित्तकोपने !, कोपम्, मुञ्च, (यतः), सन्ध्यया, प्रणमितः, अस्मि, न, अन्यथा, आत्मनः, सहधर्मचारिणम्, चक्रवाकसमवृत्तिम्, किम्, न, वेत्सि ।। ५१ ।।

सञ्जी०—मुञ्चेति । हे अनिमित्तकोपनेऽकारणकोपिनि ! नन्द्यादित्वात्कर्तरि ल्युः । कोपं मानं मुञ्च । सन्ध्यया प्रणमितोऽस्मि प्रणामं कारितोऽस्मि । अन्यथा प्रकारान्तरं न । धर्माभिसन्धायिनं मां कामाभिसन्धायिनं मा मन्यस्वेत्यर्थः । आत्म-

नस्तव सहधर्मं चरतीति सहधर्मचारिणं मां चक्रवाकेन समवृत्ति तुल्यव्यवहारं न वेत्सि किम् । अनन्य सङ्गिनं वेत्स्येवेत्यर्थः ।। ५१ ।

अकारण में ही क्रोध करने वाली प्रिये अब क्रोध छोड़ दो । संध्या से प्रणत हूँ, और किसी से नहीं, मैं तो सदा तुम्हारे साथ ही धर्म का आचरण करने वाला हूँ, क्या तुम मुझे चकवे के समान सच्चा प्रेमी नहीं समझती हो ? ।। ५१ ।।

निर्मितेषु पितृषु स्वयंभुवा या तनुः सुतनु पूर्वमुज्झिता ।
सेयमस्तमुदयं च सेव्यते तेन मानिनि ममात्र गौरवम् ।। ५२ ।।

अन्वयः—सुतनु !' स्वयंभुवा, निर्मितेषु, पितृषु, तनुः, या, पूर्वम्, उज्झिता, सा, इयम्, अस्तम्, उदयम्, च, सेव्यते, तेन, मानिनि, ! मम, अत्र, गौरवम् (अस्ति), ।। ५२ ।।

सञ्जी०—निर्मितेष्विति । हे सुतनु सुगात्रि ! पूर्वं स्वयं भवतीति स्वयंभूश्चतुराननः । "भुवः संज्ञान्तरयाः" इति क्विप् । मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । तेन पितृष्वग्निष्वात्तादिषु निर्मितेषु सत्सु या तनुरुज्झिता सेयं तनुरस्तमस्तमयकाले उदयमुदयकाले । अव्ययमेतत् । सेव्यते पूज्यते च । संध्यारूपेणेति शेषः । हे मानिनि ! अविमृश्यकारिणीति भावः । तेन ब्रह्मतनुत्वेन हेतुना ममात्र सन्ध्यायां गौरवमादरः । तदेतदुक्तं भविष्यपुराणे—(पितामहः पितॄन्सृष्ट्वा मूर्तिं तामुत्ससर्ज ह । प्रातः सायं समागत्य सन्ध्यारूपेण पूज्यते" एतां सन्ध्यां यतात्मानो ये तु दीर्घमुपासते । दीर्घायुषो भविष्यन्ति नीरुजः पाण्डुनन्दन ।।) इति ।। ५२ ।।

हे सुन्दरी, देखो, ब्रह्मा ने पितरों की रचना करने के समय एक अपनी भी मूर्ति बनाकर, रख छोड़ी थी । उनकी वही मूर्ति सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय संध्या नाम से पूजी जाती है । इसीलिए हे मानिनी उस पूजनीया संध्या के प्रति मेरे मन में इतना आदर-भाव है ।। ५२ ।।

तामिमां तिमिरवृत्तिपीडितां भूमिलम्बमिव सम्प्रति स्थिताम् ।
एकतस्तटतमालमालिनीं पश्य धातुरसनिम्नगामिव ।। ५३ ।।

अन्वयः—सम्प्रति तिमिरवृत्तिपीडितां, (अतएव) भूमिलम्बमिव, स्थितां, ताम्, इमाम्, संन्ध्याम्, एकतस्तटतमालमालिनीं, धातुरसनिम्नगामिव पश्य ।।५३।।

सञ्जी०-तामिति । सम्प्रति तिमिरवृत्तिपीडितां तमोवृत्त्युपरुद्धामतएव भूमौ लम्बित्वा स्थितां भूमि लम्बमिव भूमिस्पृष्टेव स्थितामित्यर्थः । तामिमां सन्ध्यामेकत एकत्र तटतमालमालिनीं तीरतमालतरुपङ्क्तिमतीम् । व्रीह्यादित्वादिनिः । धातुरसनिम्नगां धातुद्रवनदीमिव पश्य ।। ५३ ।।

हे प्रिये देखो, एक ओर से बढ़ते हुए अन्धकार से घिरी हुई यह संध्या ऐसी लग रही है मानो तमाल वृक्षों से एक तरफ घिरी हुई कोई गेरू की धारा हो ।। ५३ ।।

सान्ध्यमस्तमितशेषमातपं रक्तरेखमपरा बिर्भात दिक् ।
साम्परायवसुधासशोणितं मण्डलाग्रमिव तिर्यगुज्झितम् ।। ५४ ।।

अन्वयः—अपरा, दिक्, अस्तमितशेषम्, सान्ध्यम्, रक्तरेखम्, साम्परायवसुधासशोणितम्, तिर्यग्, उज्झितम्, मण्डलाग्रम्, इव, आतपम्, बिर्भात ।। ५४ ।।

सञ्जी०— सान्ध्यमिति । अपरा दिक्प्रतीची । अस्तमिति मकारान्तमव्ययम् । तस्येति शब्देन समासः । अस्तमितशेषमस्तङ्गतावशिष्टमत एव रक्ता रेखाकृतिर्यस्य तं सन्ध्यायां भवं सान्ध्यमातपं सम्परायवसुधा युद्धभूमिः । 'समरे संपरायः स्यात्' इति विश्वः । तिर्यगुज्झितं तिर्यक्पातितं सशोणितं मण्डलाग्रं कृपाणमिव बिर्भात । 'कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्' इत्यमरः ।। ५४ ।।

पश्चिम दिशा में अस्त होने से बची हुई सायंकालीन लालिमामयी धूप की पतली टेढ़ी रेखा ऐसी प्रतीत हो रही है मानो युद्ध भूमि में लोहू से भरी हुई कोई टेढ़ी तलवार छूटी हुई पड़ी हो ।। ५४ ।।

यामिनीदिवससन्धिसम्भवे तेजसि व्यवहिते सुमेरुणा ।
एतदन्धतमसं निरङ्कुशं दिक्षु दीर्घनयने विजृम्भते ।। ५५ ।।

अन्वयः—दीर्घनयने ! यामिनीदिवससन्धिसम्भवे, तेजसि, सुमेरुणा, व्यवहिते, (सति) निरङ्कुशम्, एतत्, अन्धतमसम्, दिक्षु, विजृम्भते ।। ५५ ।।

सञ्जी०—यामिनीति । यामिनीदिवसयोः सन्धिः सन्ध्या तत्र सम्भवे तेजसि सन्ध्यारागे सुमेरुणा व्यवहिते सति हे दीर्घनयने ! एतदन्धतमसम् । "अवसमन्धेभ्यस्तमसः" इति समासान्तः । दिक्षु निरङ्कुशं निरर्गलं विजृम्भते ।। ५५ ।।

हे बड़ी-बड़ी आँखों वाली प्रिये ! सूर्यास्त के समय रात तथा दिन का मेल कराने वाली इस संध्या का सारा प्रकाश सुमेरु पहाड़ ने अपनी ओट में छिपा लिया है इसीलिए यह अन्धकार मनमानी करता हुआ चारों ओर फैलता चला जा रहा है ।। ५५ ।।

नोर्ध्वमीक्षणगतिर्न चाप्यधो नाभितो न पुरतो न पृष्ठतः ।
लोक एष तिमिरौघवेष्टितो गर्भवास इव वर्तते निशि ।। ५६ ।।

अन्वयः—निशि, तिमिरौघवेष्टितः, एषः, लोकः, गर्भवासः, इव,

वर्तते, ईक्षणगतिः, ऊर्ध्वं, न, (तथा) अधः, च, अपि, न, अभितः, (तथा) पुरतः, न, पृष्टतः, न ॥ ५६ ॥

सञ्जी०—नेति । ऊर्ध्वमुपरीक्षणगतिर्दृष्टिप्रसारो नास्ति । अधोऽपि च न । अभितः पार्श्वयोश्च न पुरतोऽग्रे च न । पृष्ठतः पश्चादपि न । ईक्षणगतिरिति सर्वत्र सम्बध्यते । तथासत्येष लोको निशि तिमिरमेवोल्ब जरायुः 'गर्भाशयो जरायुः स्यात्' इत्यमरः । तेन वेष्टितः आवृत्तः सन् । गर्भ एव वासो वसतिस्तत्र गर्भवासे वर्तते । इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ५६ ॥

इस अन्धेरे के कारण न तो ऊपर दिखाई दे रहा है न नीचे, न तो आस-पास दिखाई दे रहा है न सामने ही । इस रात की गोद में अन्धकार से घिरा हुआ संसार ऐसा लग रहा है मानो गर्भवास के समय उसकी झिल्ली से घिरा हुआ कोई बालक हो ॥ ५६ ॥

शुद्धमाविलमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत् ।
सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ्महत्त्वमसतां हतान्तरम् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—शुद्धम्, आविलम्, अवस्थितम्, चलम, वक्रम्, आर्जवगुणान्वितम्, च, यत्, (तत्,) सर्वम्, एव, तमसा, समीकृतम्, असताम्, महत्त्वम्, धिक्, (यतः), हतान्तरम् ॥ ५७ ॥

सञ्जी०—शुद्धमिति । शुद्धं स्वच्छमाविलं मलिनमवस्थितं स्थावरं चलं जङ्गमं वक्रं कुटिलमृजोर्भाव आर्जवं तदेव गुणस्तेनान्वितं च यद्वस्तुजातम् । तदिति यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाल्लभ्यते । तत्सर्वमेव तमसा समीकृतं दुर्लक्ष्यविशेषं कृतम् । तथाहि । हतमन्तरं विशेषो येन तद्धतान्तरमसतामसाधूनां महत्त्वं वृद्धि धिक् । धिक्शब्दयोगाद्द्वितीया । स्वमहत्वेन परगतविशेषतिरस्करणमसतां स्वभाव इति सुप्रसिद्धम् । तमसोऽपि तथा महत्त्वं धिगित्यर्थः ॥ ५७ ॥

देखो, इस अंधकार ने तो उजली-मैली, चल-अचल, टेढ़ी-सीधी विभिन्न गुणों से युक्त सभी वस्तुओं को एक समान कर दिया है । ऐसे दुष्टों की महानता को धिक्कार है जो अच्छे-बुरे गुणों का अन्तर ही मिटा देते हैं ॥ ५७ ॥

नूनमुन्नमति यज्वनां पतिः शार्वरस्य तमसो निषिद्धये ।
पुण्डरीकमुखि पूर्वदिङ्मुखं कैतकैरिव रजोभिराहतम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—पुण्डरीकमुखि !, नूनम्, यज्वनाम्, पतिः, शार्वरस्य, तमसः, निषिद्धये, उन्नमति, कैतकैः, रजोभिः, इव, आहतम् पूर्वदिङ्मुखम्, (पश्य) ॥ ५८ ॥

सञ्जी०—नूनमिति । यज्वानो विधिनेष्टवन्तः । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । "सुयजोर्ङ्वनिप्" इति ङ्वनिप्प्रत्ययः । तेषां पतिः प्रियः चन्द्रः । दर्शपूर्णमासादियागप्रवृत्तिहेतुत्वादिति भावः । शार्वरस्य शर्वर्या भवस्य तमसो निषिद्धये निरासाय नूनमुन्नमत्युदेति । कुतः हे पुण्डरीकमुखि ! पूर्वस्या दिशो मुखं पुरोभागः पूर्वदिङ्मुखं केतक्या इमानि कैतकानि तै रजोभिः परागैरावृतमिव । दृश्यत इति शेषः । अतो नूनमुदेति चन्द्र इति सम्बन्धः ॥ ५८ ॥

हे कमलानने, देखो, पूव दिशा मे अब कुछ धीमा-धीमा प्रकाश-सा दिखाई पड़ने लगा है, वह ऐसा लग रहा है मानों केतकी का पराग फैल गया हो । इससे यह निश्चय हो रहा है कि अब रात्रि का अंधकार दूर करने के लिए चन्द्रमा निकले चले आ रहे हैं ॥ ५८ ॥

मन्दरान्तरितमूर्तिना निशा लक्ष्यते शशभृता सतारका ।
त्वं मया प्रियसखीसमागता श्रोष्यतेव वचनानि पृष्ठतः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सतारका, निशा, मन्दरान्तरितमूर्तिना, शशभृता, प्रियसखीसमागता, त्वम्, पृष्ठतः, वचनानि, श्रोष्यता, मया, इव, लक्ष्यते ॥ ५९ ॥

सञ्जी०—मन्दरेति । सतारका निशा मन्दरान्तरितमूर्तिना मन्दराद्रिव्यवहितमण्डलेन शशभृता चन्द्रेण पृष्ठतः पश्चाद्भागे वचनानि श्रोष्यता । श्रोतुं स्थितेनेत्यर्थः । मया प्रियसखीसमागता प्रियसखीभिरावृता त्वमिव लक्ष्यते ॥५९॥

अभी चन्द्रमा मन्दराचल के पीछे ही है किन्तु तारे निकल आये हैं, इसलिए छिपे हुए चंद्रमा तथा तारों के बीच यह रात उसी प्रकार दिखाई दे रही है जैसे सामने बैठी हुई सखियों तथा छिपकर तुम लोगों की बात सुनने के लिए पीछे खड़े मेरे बीच में तुम सुशोभित होती हो ॥ ५९ ॥

रुद्धनिर्गमनमादिनक्षयात्पूर्वदृष्टतनुचन्द्रिकास्मितम् ।
एतदुद्गिरति चन्द्रमण्डलं दिग्रहस्यमिव रात्रिचोदिता ॥ ६० ॥

अन्वयः—आदिनक्षयात्, रुद्धनिर्गमनम्, पूर्वदृष्टतनु, एतत्, चन्द्रमण्डलम्, रात्रिचोदिता, चन्द्रिकास्मितम्, दिग्रहस्यम्, उद्गिरति, इव ॥ ६० ॥

सञ्जी०—रुद्धेति । दिक्पूर्वदिक् । नायिका ध्वन्यते । आदिनक्षयादासायं रुद्धं निर्गमनं निःसरणं यस्य तत्तथोक्तम् । अन्यत्र बहिरप्रकाशितमित्यर्थः । तनुचन्द्रिकास्मितं पूर्वदृष्टं यस्मात्तत्तथोक्तम् । एतच्चन्द्रमण्डलं नर्म रहस्यं गोप्यार्थमिव रात्रिचोदिता । रात्र्या सख्येव प्रेरिता सतीत्यर्थः । उद्गिरति प्रकाशयति । यथा

काचिदासायं मनसि गूहितमभिलाषं प्रदोषे सख्या मह्यं ब्रूहीति निर्बन्धात्पृष्टा सती प्रकटयति तद्वदित्यर्थः ॥ ६० ॥

दिनभर दिखाई न पड़ने वाला यह चन्द्रमंडल अब पूर्व दिशा में मूर्तिमान हो उठा है और चाँदनी का विस्तार करते हुए ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो रात्रिरूपी नायिका की प्रेरणा से वह पूर्व दिशारूपी सपत्नी का मुस्कराते हुए सारा रहस्य खोल रहा हो ॥ ६० ॥

पश्य पक्वफलिनीफलत्विषा बिम्बलाञ्छितवियत्सरोम्भसा ।
विप्रकृष्टविवरं हिमांशुना चक्रवाकमिथुनं विडम्ब्यते ॥ ६१ ॥

अन्वयः—पक्वफलिनीफलत्विषा, बिम्बलाञ्छितवियत्सरोम्भसा, हिमांशुना, विप्रकृष्टविवरम्, चक्रवाकमिथुनम्, विडम्ब्यते, पश्य ॥ ६१ ॥

सञ्जी०—पश्येति । पक्वफलिनीफलत्विषोदयरागात्प्रियङ्गुफलसच्छायेन । बिम्बाभ्यां प्रतिबिम्बाभ्यां लाञ्छिते चिह्निते वियत्सरोम्भश्च येन तथोक्तेन हिमांशुना विप्रकृष्टं विवरमन्तरालं यस्य तत्तथोक्तम् । अतिदूरस्थमित्यर्थः । चक्रवाकमिथुनं विडम्ब्यतेऽनुक्रियते पश्य । रात्रौ वियति सरोजले च याविन्दोर्बिम्बप्रतिबिम्बौ विरहाद्दूरवर्तिनौ चक्रवाकाविव दृश्येते इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

देखो, यह चन्द्रमा इस समय प्रियङ्गुलता के समान लाल रङ्ग का दिखाई पड़ रहा है, जिसका प्रतिबिम्ब तालाब के जल में भी पड़ रहा है। अतः आकाश में स्थित चन्द्रबिम्ब तथा पानी में दिखाई देने वाला प्रतिबिम्ब ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों चकवा-चकवी का जोड़ा रात होने के कारण एक दूसरे से दूर जा पड़ा हो ॥ ६१ ॥

शक्यमोषधिपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव ।
अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसम्पुटैः कराः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—नवोदयाः, अप्रगल्भयवसूचिकोमलाः, ओषधिपतेः, कराः, कर्णपूररचनाकृते, तव, अग्रनखसम्पुटैः, छेत्तुम्, शक्यम् ॥ ६२ ॥

सञ्जी०—शक्यमिति । नवोदयाः सद्य उत्पादिता अप्रगल्भयवसूचिकोमला अकठोरयवाङ्कुरसुकुमारा ओषधिपतेरिन्दोः करास्तव कर्णपूररचनाकृते कर्णावतंसनिर्माणक्रियायां । सम्पदादित्वाद्भावे क्विप् । अग्रनखसम्पुटैर्नखाग्रसम्भेदैश्छेत्तुं शक्यं शक्या इत्यर्थः । "शकिसहोश्च" इति कर्मणि यत्प्रत्ययः । शक्यमिति विपरीतलिङ्गवचनस्यापि सामान्योपक्रमात्कर्माभिधायकत्वम् । पश्चात्कर्मविशेषाकाङ्क्षायां

करा इति निर्देशो न विरुध्यते। यथाह वामनः—'शक्यमिति रूपं लिङ्गवचनस्यापि सामान्योपक्रमत्वादिति। अत्र प्रमाणम्— शक्यं स्वमांसेनापि क्षुत्प्रतिहन्तुमिति भाष्यकारप्रयोगः, इति ॥ ६२ ॥

चन्द्रमा की यह निकलती हुई नई कोमल किरणें जौ के नये कोमल अंकुरों के समान प्रतीत हो रही हैं। अतः यदि तुम चाहो तो इनसे अपना कर्णफूल बनाने के लिए इन्हें नाखूनों से तोड़ सकती हो ॥ ६२ ॥

अङ्गुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥ ६३ ॥

अन्वयः—शशी, कुड्मलीकृतसरोजलोचनम्, रजनीमुखम्, अङ्गुलीभिः, इव, मरीचिभिः, केशसञ्चयम्, इव, तिमिरम्, सन्निगृह्य, चुम्वति, इव ॥ ६३ ॥

सञ्जी०—अङ्गुलीभिरिति। शशी चन्द्रमाः। नायकस्तु प्रतीयते। अङ्गुलीभिः केशसञ्चयमिव मरीचिभिस्तिमिरं सन्निगृह्य गृहीत्वा। सरोजे लोचने इवेत्युपमितिसमासोऽङ्गुलीभिरिवेत्युपमायास्तत्साधकत्वात्। कुड्मलीकृते सरोजलोचने यस्य तत्तथोक्तं रजन्या मुखं प्रारम्भः वदनं चेति गम्यते। चुम्बतीव। अत्रार्थापत्त्यतिशयोक्तिरलङ्कार उत्प्रेक्षासङ्करश्चेति ॥ ६३ ॥

अब चाँदनी के फैलने से अंधकार दूर हो गया है तथा तालाबों में कमल सम्पुटित हो चुके हैं जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो चन्द्रमा रूपी नायक रात्रिरूपी नायिका के मुख पर बिखरे हुए अंधकाररूपी बालों को हटाकर चुम्बन ले रहा हो और उसके रस में आनन्द मग्न हो जाने के कारण मानो उसकी कमलरूपी आँखें मुंद गई हों ॥ ६३ ॥

पश्य पार्वति तवेन्दुरश्मिभिर्भिन्नसान्द्रतिमिरं नभस्तलम्।
लक्ष्यते द्विरदभोगदूषितं सप्रसादमिव मानसं सरः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—पार्वति ! नवेन्दुरश्मिभिः, भिन्नसान्द्रतिमिरम्, नभस्तलम्, द्विरदभोगदूषितम्, सप्रसादम्, मानसम्, सरः, इव, लक्ष्यते, पश्य ॥ ६४ ॥

सञ्जी०—पश्येति। हे पार्वति ! नवेन्दुरश्मिभिः सामिभिन्नतिमिरमर्धनिरस्तध्वान्तं नभस्तलं द्विरदभोगदूषितं गजक्रीडाकलुषितं सम्प्रसीदत्प्रसादं गच्छन्मानसं मानसाख्यं सर इव लक्ष्यते पश्य ॥ ६४ ॥

हे पार्वती इस नवोदित चन्द्रमा की किरणों से घने अँधेरे के मिट जाने के कारण निर्मल आकाश को देखो। वह ऐसा लग रहा है मानो हाथियों

की क्रीड़ा से मटमैले पानी वाला तालाव हो जो हाथियों के (अंधकार) चले जाने पर अब निर्मल हो गया है ॥ ६४ ॥

रक्तभावमपहाय चन्द्रमा जात एष परिशुद्धमण्डलः ।
विक्रिया न खलु कालदोषजा निर्मलप्रकृतिषु स्थिरोदया ॥ ६५ ॥

अन्वयः—एषः, चन्द्रमाः, रक्तभावम्, अपहाय, परिशुद्धमण्डलः, जातः, निर्मलप्रकृतिषु, कालदोषजा, विक्रिया, स्थिरोदया, न (भवति), खलु ॥ ६५ ॥

सञ्जी०—रक्तभावमिति । एष चन्द्रमा रक्तभावं रक्तत्वमुदयरागमपहाय परिशुद्धमण्डलः शुद्धबिम्बो निष्कण्टको जातः । तथाहि । निर्मलप्रकृतिषु स्वच्छभावेषु शुद्धसचिवसम्पन्नेषु च कालदोषेण जाताकालदोषजा विक्रिया विकारः स्थिरोदया स्थायिनी न भवति खलु । चन्द्रोऽपि स्वभावनिर्मल इति । यथा कश्चिद्राजा कुतश्चिन्निमित्ताद्विरक्तमण्डलः पश्चात्प्रकृतिशुद्ध्या स्वस्थमण्डलो भवति तद्वदिति भावः । तत्र प्रथमार्थे समासोक्तिरलङ्कारस्तस्यार्थान्तरन्यासेनाङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ६५ ॥

अब यह चंद्रमंडल धीरे-धीरे लालिमा का परित्याग करते हुए उजला होता जा रहा है क्योंकि निर्मल स्वभाव वालों में यदि समय के फेर से कोई विपरीतता आ भी जाती है तो वह बहुत दिनों तक टिकती नहीं है ॥ ६५ ॥

उन्नतेषु शशिनाः प्रभा स्थिता निम्नसंश्रयपरं निशातमः ।
नूनमात्मसदृशी प्रकल्पिता वेधसा हि गुणदोषयोर्गति ॥ ६६ ॥

अन्वयः—शशिनः, प्रभा, उन्नतेषु, स्थिता (वर्तते), निशातमः, निम्नसंश्रयपरम् (तथा हि), गुणदोषयोः, गतिः, वेधसा, आत्मसदृशी, प्रकल्पिता, हि, नूनम् ॥ ६६ ॥

सञ्जी०—उन्नतेष्विति । शशिनः प्रभा चन्द्रिकोन्नतेष्वद्रिशृङ्गादिषु स्थिता । निशातमस्तु निम्नसंश्रयपरं गर्तादिनीचस्थानप्रवणम् । तथाहि वेधसा गुणदोषयोरात्मसदृशी स्वभावानुरूपा गतिः प्रवृत्तिः प्रकल्पितैव ननु । तेजस्विन उन्नमन्ति मलिनास्तु नीचन्तीति भावः ॥ ६६ ॥

देखो, ऊँचे स्थानों पर तो चाँदनी का प्रकाश जम गया है किन्तु पृथ्वी के निचले स्थानों में अभी भी रात्रि का अंधकार ही आसन जमाए हुए है। वस्तुतः ब्रह्मा ने गुण और दोष की स्थिति ही ऐसी बनाई है कि गुण उच्च स्थान ग्रहण कर लेता है और दोष नीचे चला जाता है ॥ ६६ ॥

चन्द्रपादजनितप्रवृत्तिभिश्चन्द्रकान्तजलबिन्दुभिर्गिरः ।
मेखलातरुषु निद्रितानमून्बोधयत्यसमये शिखण्डिनः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—गिरिः, मेखलातरुषु निद्रितान्, अमून्, शिखण्डिनः, चन्द्रपादजनितप्रवृत्तिभिः, चन्द्रकान्तजलबिन्दुभिः असमये, बोधयति ॥ ६७ ॥

सञ्जी०—चन्द्रपादेति । गिरिर्हिमाद्रिश्चन्द्रपादैरिन्दुकिरणैर्जनितप्रवृत्तिभिर्जनितप्रसरैश्चन्द्रकान्तमणीनां जलबिन्दुभिः करणैर्मेखलातरुषु निद्रितान् सञ्जातनिद्रान् । तारकादित्वादितच् । अमूञ्शिखण्डिनो मयूरानसमयेऽकाले बोधयति । इन्दुकिरणसम्पर्कादुपरिचन्द्रमणिस्पन्देष्वधोवृक्षेशयाः शिखण्डिनोवृष्टिभयाज्जाग्रतीत्यर्थः । शिखण्डिग्रहणमितरशकुन्तानां कुलायनिलयत्वादितिभावः ॥ ६७ ॥

चन्द्रमा की किरणों के पड़ने के कारण पिघली हुई अपनी चन्द्रकान्त मणियों से जल-बिन्दुओं की वर्षा करके यह पहाड़ ढालों के वृक्षों की छाया में सोये हुए मोरों को असमय में ही वर्षा का ज्ञान करा कर जगा दे रहा है ॥ ६७ ॥

कल्पवृक्षशिखरेषु सम्प्रति प्रस्फुरद्भिरिव पश्य सुन्दरि ।
हारयष्टिरचनामिवांशुभिः कर्तुमुद्यतकुतूहलः शशी ॥ ६८ ॥

अन्वयः—सुन्दरि !, संप्रति, शशी, प्रस्फुरद्भिः, अंशुभिः, हारयष्टिरचनाम्, कर्तुम्, इव, उद्यतकुतूहलः, कल्पवृक्षशिखरेषु (वर्तते), इव (किम्), पश्य ॥ ६८ ॥

सञ्जी०—कल्पवृक्षेति । हे अविकल्पेनाविवादेन सुन्दरि अविकल्पसुन्दरि ! शशी सम्प्रति कल्पवृक्षाणा शिखरेष्वग्रेषु प्रस्फुरद्भिरंशुभिः । करस्थानीयैरिति भावः । हारयष्टिगणनां कल्पतरुलम्बिहारपरिगणनां कर्तुमुद्यतकुतूहल इवोत्पन्नकौतुकः किम् इत्युत्प्रेक्षा ॥ ६८ ॥

इस समय कल्पवृक्ष की चाटियों पर चमकती हुई इन चन्द्र किरणों को देखो, इन्हें देख कर ऐसा लगता है मानो चन्द्रमा अपनी किरणों में कल्पवृक्ष के पुष्पों को गूँथ कर हारों की लड़ियाँ बनाने की इच्छा से आ गया हो ॥ ६८ ॥

उन्नतावनतभागवत्तया चन्द्रिका सतिमिरा गिरेरियम् ।
भक्तिभिर्बहुविधाभिरर्पिता भाति भूतिरिव मत्तदन्तिनः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—गिरेः, उन्नतावनतभागवत्तया, सतिमिरा, इयम् चन्द्रिका, बहुविधाभिः, भक्तिभिः अर्पिता, मत्तहस्तिनः, भूतिः, इव, भाति ॥ ६९ ॥

सञ्जी०—उन्नतेति । गिरेरुन्नतावनतभागवत्तया निम्नोन्नतप्रदेशवत्त्वेन हेतुना सतिमिरा तिमिरमिश्रा । समोन्नतेषु तमसोऽनवकाशादिति भावः । इयं चन्द्रिका बहुविधाभिर्भक्तिभी रचनाभिरर्पिता विन्यस्ता मत्तदन्तिनो भूतिर्भसितिमिवाभाति । 'भूतिर्मातङ्गश्रृङ्गारे' इति विश्वः । तत्र भक्तिसहितानि गजाङ्गान्येव तिमिरभागोपमानमित्यनुसन्धेयम् ॥ ६९ ॥

ऊँचा-नीचा होने के कारण कहीं चाँदनी और कहीं अंधकार से युक्त यह पहाड़ ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो किसी मतवाले हाथी के शरीर पर अनेक प्रकार की चित्रकारी कर दी गयी हो ॥ ६९ ॥

एतदुच्छ्वसितपीतमैन्दवं सोढुमक्षममिव प्रभारसम् ।
मुक्तषट्पदविरावमञ्जसा भिद्यते कुमुदमानिबन्धनात् ॥ ७० ॥

अन्वयः—उच्छ्वसितपीतम्, ऐन्दवम्, प्रभारसम्, सोढुम्, अक्षमम्, इव, एतत्, कुमुदम्, मुक्तषट्पदविरावम्, अञ्जसा, आ, निबन्धनात्, भिद्यते ॥ ७० ॥

सञ्जी०—एतदिति । एतत्कुमुदं कैरवं कर्तृ । उच्छ्वसितेन पीतमुच्छ्वसितपीतम् । अतितृष्णयोच्छ्वस्योच्छ्वस्य पीतमित्यर्थः । इन्दोरिदमैन्दवं प्रभा चन्द्रिका सैव रसो द्रवस्तं सोढुमक्षममिवाञ्जसा मुक्तषट्पदविरावं प्रवर्तितभृङ्गनादं यथातथानिबन्धनादावृन्तादिभद्यते विकसति । कर्मकर्तरि लट् । यथा लोके कस्यचिदतिपानान्निस्पृहात्मन उच्चैः क्रोशत उदरं भिद्यते तथैतदिति भावः ॥७०॥

देखो, अब कुमुद के फूल खिल रहे हैं और उनके सम्पुटों में गूँजने वाले भ्रमरों की गुंजार हो रही है। जिससे ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो इन्होंने सांस ले लेकर चाँदनी का इतना रस पी लिया है कि उसे पचा न सकने के कारण इनके पेट ही फटे जा रहे हों और वे पीड़ा से कराह रहे हों ॥ ७० ॥

पश्य कल्पतरुलम्बि शुद्धया ज्योत्स्नया जनितरूपसंशयम् ।
मारुते चलति चण्डि केवलं व्यज्यते विपरिवृत्तमंशुकम् ॥ ७१ ॥

अन्वयः—चण्डि ! कल्पतरुलम्बि, शुद्धया, ज्योत्स्नया, जनितरूपसंशयम्, अंशुकम्, मारुते चलति (सति) विपरिवृत्तम् केवलं, व्यज्यते, (त्वम्) पश्य ॥ ७१ ॥

सञ्जी०—पश्येति । शुद्धया ज्योत्स्नया जनितः रूपसंशयः अंशुकं ज्योत्स्नावेति स्वरूपसंदेहो यस्य तत्तथोक्तं कल्पतरुलम्ब्यंशुकं । हे चण्डि अत्यन्तकोपने ! गौरा-

दित्वान्ङीष् । केवलं मारुते चलति सति विपरिवृत्तं चलं सद्व्यज्यते पश्य । ज्योत्सनासच्छायत्वान्नरूपतो विविच्यते परन्तु क्रिययेत्यर्थः ॥ ७१ ॥

हे चण्डिके ! इन कल्पवृक्षों पर लटकते हुए कपड़ों तथा उन पर पड़ने वाली निर्मल चाँदनी को देखो, वह दोनों एक समान होने के कारण पहचानने में संदेह पैदा कर देते हैं और जब वायु से कपड़े हिलने लगते हैं तब ठीक पता चला है कि यह चाँदनी नहीं बल्कि कपड़ा है ॥ ७१ ॥

शक्यमङ्गुलिभिरुत्थितैरधः शाखिनां पतितपुष्पपेशलैः ।
पत्रजर्जरशशिप्रभालवैरेभिरुत्कचयितुं तवालकान् ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अधः, पतितपुष्पपेशलैः, अगुङ्लिभिः उत्थितैः एभिः शाखिनाम्, पत्रजर्जरशशिप्रमालवैः, तव, अलकान्, उत्कचयितुम्, शक्यम् ॥ ७२ ॥

सञ्जी०—शक्यमिति । अङ्गुलिभिरुत्थितैरुच्चितैः शाखिनामधः पतित्पुष्पवत्पेशलैः कोमलैः । तथा भ्रमकरैरित्यर्थः । एभिः पत्रैर्जर्जराः शकलिता शशिप्रभा चन्द्रिका तस्याः लवैः खण्डैः । तरुतलेषु पत्रान्तराललक्ष्यज्योत्स्नामण्डलैरित्यर्थः । तवालकानुत्कचयितुं वद्धुम् । 'कचदोसिबन्धनयोः' इति धातोस्तुमुन्प्रत्ययः । शक्यम् शक्या इत्यर्थः । शक्यमिति लिङ्गवचनस्य सामान्योपक्रमादित्याद्यनुपदमेवोक्तम् ॥ ७२ ॥

विरल पत्तों से छन कर पेड़ों के नीचे पड़ने वाली किरणें ऐसी लग रही हैं मानों उनसे झड़े हुए कोमल फूल हों । अतः यदि तुम चाहो तो इन्हें ही उँगलियों से उठा-उठाकर तुम्हारे बालों को सजाया जा सकता है ॥ ७२ ॥

एष चारुमुखि योगतारया युज्यते तरलबिम्बया शशी ।
साध्वसादुपगतप्रकम्पया कन्ययेव नवदीक्षया वरः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—चारुमुखि ! एषः, शशी वरः, नवदीक्षया (अतएव), साध्वसाद्, उपगतप्रकम्पया, कन्यया, इव, तरलबिम्बया, योगतारया, युज्यते (त्वं पश्य) ॥ ७३ ॥

सञ्जी०—एष इति । हे चारुमुखि हे उज्ज्वलानने ! "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपघात्" इति ङीप् । एष शशी तरलबिम्बया स्फुरन्मण्डलया योगतारया । प्रत्यहं यया युज्यते सा योगतारा । नित्यनक्षत्रेणेत्यर्थः । साध्वसान्नवसङ्गमभयादुपगतप्रकम्पया वेपथुमत्या नवदीक्षया नवोद्वाहया कन्यया वरो वोढेव युज्यते सङ्गच्छते । युजेर्दैवादिकत्वात्कर्तरि लट् ॥ ७३ ॥

हे सुन्दरी, चन्द्रमा के पास टिमटिमाती हुई इन तारिकाओं को देखो। इन्हें देख कर ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो नववधुएँ पहली बार संभोग के डर से काँपती हुई अपने पति के पास जा रही हों ॥ ७३ ॥

पाकभिन्नशरकाण्डगौरयोरुल्लसत्प्रतिकृतिप्रदीप्तयोः ।
रोहतीव तव गण्डलेखयोश्चन्द्रबिम्बनिहिताक्षि ! चन्द्रिका ॥ ७४ ॥

अन्वयः—चन्द्रबिम्बनिहिताक्षि, चन्द्रिका, तव पाकभिन्नशरकाण्डगौरयोः, उल्लसत्प्रतिकृतिप्रदीप्तयोः, गण्डलेखयोः रोहति, इव ॥ ७४ ॥

सञ्जी०—पाकेति। हे चन्द्रबिम्बनिहिताक्षि ! चन्द्रबिम्बनिहितेक्षणे ! पाकभिन्नः पाकविकसितो यः शरकाण्डस्तद्वद्गौरयोः सितयोः। 'अवदातः सितो गौरः' इत्यमरः। उल्लसन्त्या प्रतिकृत्या चन्द्रिकाप्रतिबिम्बेन प्रदीप्तयोः प्रोज्ज्वलयोस्तव गण्डलेखयोश्चन्द्रिका रोहतीव। गण्डस्थलप्रतिबिम्बसंक्रमणमूर्छिता चन्द्रिका तयोरेव प्ररूढेति प्रतीयत इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

टकटकी लगाकर चन्द्रमा की ओर देखने के समय तुम्हारे मुख पर पड़ती हुई चाँदनी ऐसी लग रही है मानो वह पके हुए सरकंडे के समान गौर वर्ण वाले तथा चाँदनी में चमचमाते हुए तुम्हारे गालों पर चढ़ती जा रही हो ॥ ७४ ॥

लोहितार्कमणिभाजनार्पितं कल्पवृक्षमधु बिभ्रती स्वयम् ।
त्वामियं स्थितिमतीमुपागता गन्धमादनवनाधिदेवता ॥ ७५ ॥

अन्वयः—लोहितार्कमणिभाजनार्पितम्, कल्पवृक्षमधु बिभ्रती, इयम्, गन्धमादनवनाधिदेवता, स्थितिमतीम् त्वाम्, स्वयम्, उपागता (त्वम् पश्य) ॥ ७५ ॥

सञ्जी०—लोहितेति। लोहितेऽरुणेऽर्कमणिभाजने सूर्यकान्तपात्रेऽर्पितं कल्पवृक्षमधु कल्पतरुप्रसूतं मद्यं स्वयं बिभ्रती गन्धमादनवनाधिदेवता स्थितिमतीमवस्थानवतीम्। इह स्ववने तिष्ठन्तीमित्यर्थः। त्वामियं प्रत्यक्षोपस्थिता प्राप्ता। स्वगृहागतां त्वां सम्भावयितुमागतेत्यर्थः ॥ ७५ ॥

देखो, गन्धमादन की यह वनदेवी तुम्हें यहाँ बैठी हुई देखकर लाल सूर्यकान्त-मणि के प्याले में कल्पवृक्ष की मदिरा लिए हुए तुम्हारा स्वागत करने के लिए स्वयं आई हुई है ॥ ७५ ॥

आर्द्रकेसरसुगन्धि ते मुखं मत्तरक्तनयनं स्वभावतः ।
अत्र लब्धवसतिर्गुणान्तरं किं विलासिनि मधुः ! करिष्यति ॥ ७६ ॥

अन्वयः—विलासिनि ! अत्र, लब्धवसतिः, मधुः किम्, गुणान्तरम्, करिष्यति, ते, मुखम्, स्वभावतः, आर्द्रकेसरसुगन्धि, मत्तरक्तनयनम् (अस्ति) ॥७६॥

सञ्जी०—आर्द्रेति । हे पार्वति । इदं ते स्वभावत आर्द्रकेसरसुगन्धि सरसकेसरसुगन्धि । "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" इत्यनेनेकारः । मुखम् । मत्तरक्तमेव नयनम् । हे विलासिनि विलसनशीले ! अत्र त्वन्मुखे लब्धवसतिर्लब्धानुप्रवेशो मधुर्मद्यं कं गुणान्तरं गुणविशेषं करिष्यति । न कञ्चिदित्यर्थः । केसरसौगन्ध्यादिगुणानां त्वन्मुखे स्वभावसिद्धत्वान्मधुनः फलं न पश्यामीत्यर्थः । "अर्धर्चाः पुंसि च" इति पुल्लिङ्गत्वम् । यदाहुः—'मकरन्दस्य मद्यस्य माक्षिकस्य च वाचकः । अर्धर्चादिगणे पाठात्पुन्नपुंसकयोर्मधुः ॥" इति ॥ ७६ ॥

हे विलासिनी ! तुम्हारा मुख तो स्वभावतः गीली केसर की गंध जैसी सुगन्ध से परिपूर्ण तथा आँखें स्वभावतः लाल हैं। अतः उपरोक्त गुणों को उभाड़ने वाली मदिरा का तुम पर क्या कोई विशेष प्रभाव पड़ सकेगा ? ॥ ७६ ॥

मान्यभक्तिरथवा सखीजनः सेव्यतामिदमनङ्गदीपकम् ।
इत्युदारमभिधाय शङ्करस्तामपाययत पानमम्बिकाम् ॥ ७७ ॥

अन्यवः—अथवा मान्यभक्तिः, सखीजनः अनङ्गदीपकम्, इदम्, सेव्यताम्, इति, उदारम्, अभिधाय, शङ्करः, ताम्, अम्बिकाम्, पानम्, अपाययत ॥ ७७ ॥

सञ्जी०—मान्यभक्तिरिति । अथवा सखीजनो मान्या भक्तिर्यस्य स तथोक्तः । सखीजनभक्तिः स्वीकार्येत्यर्थः । अतोऽनङ्गदीपकमिदं वक्ष्यमाणं पानं सेव्यतामित्युदारं चतुरमभिधाय शङ्करस्तामम्बिकां पीयत इति पानं मद्यमपाययत पाययामास । पिबतेर्ण्यन्ताल्लुङि तङ् । पिबतेः प्रत्यवसानार्थादणि कर्तुः कर्मत्वम् । पिबतेर्निगरणार्थत्वेऽपि "न पादम्या०" इति परस्मैपदप्रतिषेधः । ननु मान्यभक्तिरित्यत्र कथं पुंवद्भावः । "अप्रियादिषु" इति निषेधाद्भक्तिशब्दस्य प्रियादिपाठान्नैष दोषोः । नपुंसकपूर्वपदत्वात् । यथाह वृत्तिकारः—'दृढभक्तिरित्येवमादिषु स्त्रीपूर्वपदस्याविवक्षितत्वात्सिद्धम्' इति । भोजराजस्तु—'भज्यत इति कर्मसाधनस्यैव प्रियादिपाठतया दृढभक्तिरिति न तु भजनं भक्तिरिति भावसाधनस्य । अतोऽत्र स्त्रीपूर्वपदत्वे ऽपि न दोषः' इत्याह ॥ ७७ ॥

(फिर भी) सखियों का प्रेमपूर्ण आग्रह तो मानना ही चाहिए इसलिए कामभावनाओं को उकसाने वाली इस मदिरा को पी लो। इस प्रकार मधुर वाणी कहते हुए शंकरजी ने पार्वती जी को वह मदिरा पिला दी ॥ ७७ ॥

पार्वती तदुपयोगसम्भवां विक्रियामपि सतीं मनोहराम् ।
अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मितामाम्रतेव सहकारतां ययौ ।। ७८ ।।

अन्वयः—पार्वती, तदुपयोगसम्भवाम्, विक्रियाम्, अपि, सतीम् मनोहराम्, आम्रता, अप्रतर्क्यविधियोगनिर्मिताम्, सहकारताम्, इव, ययौ ।। ७८ ।।

सञ्जी०—पार्वतीति । पार्वती कर्त्री । तदुपयोगसम्भवां मद्यपानजन्यां विक्रियामपि सतीं मनोहराम् । आम्रताम्रत्वमप्रतर्क्यो दुर्ज्ञेयो यो विधियोगोऽनुष्ठानयोगस्तेन निर्मितां सहकारतामतिसौरभत्वमिव ययौ । प्रापेत्यर्थः । 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोतिसौरभः' इत्यमरः । आम्रमेवानुष्ठानविशेषेण यथा सहकारं भवति तद्वद्विक्रियापि मनोहराभूदिति भावः ।। ७८ ।।

उस मदिरा का प्रयोग करने के कारण पार्वती जी का स्वाभाविक सौन्दर्य विकृत होने पर भी उसी प्रकार और भी मनोहर हो उठा जैसे वसन्त ऋतु में ब्रह्मा की कृपा से आम का पेड़ अपनी पहिली शोभा को छोड़ कर भी अधिक सुगन्धित होने के कारण सहकार बन जाता है ।। ७८ ।।

तत्क्षणं विपरिवर्तितह्रियोर्नेष्यतोः शयनमिद्धरागयोः ।
सा बभूव वशवर्त्तिनी द्वयोः शूलिनः सुवदना मदस्य च ।। ७९ ।।

अन्वयः—तत्क्षणम्, सा, सुवदना (पार्वती), विपरिवर्तितह्रियोः, इद्धरागयोः, शयनम्, नेष्यतोः, शूलिनः, मदस्य, च (इति), द्वयोः, वशवर्तिनी, बभूव ।। ७९ ।।

सञ्जी०—तदिति । सुवदना पार्वती तत्क्षणं तदैव विपरिवर्तितह्रियोर्निवर्तितलज्जयोः शयनं तल्पं नेष्यतोः प्रापयिष्यतोरित्थं प्रवृद्धो रागोऽनुराग आरुण्यं च ययोरिद्धरागयोः शूलिनः प्रियतमस्य मदस्य चेति द्वयोर्वशे वर्तते इति वशवर्तिन्यधीना बभूव ।। ७९ ।।

मदिरा पीते ही सुमुखी पार्वती की सारी लज्जा जाती रही, काम का वेग भड़क उठा और वह शंकर जी की गोद में लुढ़क गईं। उन्हें इसी स्थिति में उठाकर शंकर जी शयनकक्ष में ले गये। इस प्रकार वह एक साथ ही मदिरा तथा शंकर जी के वशीभूत हो गईं ।। ७९ ।।

घूर्णमाननयनं स्खलत्कथं स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम् ।
आननेन न तु तावदीश्वरश्चक्षुषा चिरमुमामुखं पपौ ।। ८० ।।

अन्वयः—घूर्णमाननयनम्, स्खलत्कथम्, स्वेदबिन्दुमदकारणस्मितम्, उमामुखम्, ईश्वरः, तावत्, चिरम्, चक्षुषा, पपौ, आननेन, तु, न ।। ८० ।।

सञ्जी०—घूर्णमानेति । ईश्वरो घूर्णमाननयनं भ्राम्यन्नेत्रं स्खलत्कथं स्खलद्वचनं स्वेदबिन्दुमत्स्वेदयुक्तमकारणस्मितमाकस्मिकहासयुक्तमुमोमुखं तावत् । आतृष्णापगमादित्यर्थः । आननेन मुखेन न पपौ । न चुचुम्बेत्यर्थः किंतु चिरं चक्षुषा पपौ । तृष्णयाद्राक्षीदित्यर्थः । तस्या मदपारवश्यं दृष्ट्वा मुदं तावदन्वभूदित्यर्थः ॥

उस समय पार्वती जी की आँखें नाचने लगी थीं, वाणी टूटने-फूटने लगी थी, पसीने की बूँदें बिखर गई थीं, और नशे में अकारण ही हँसती जा रही थीं । उस समय भगवान शिव ने उनके मुख की इस सुन्दरता का रसपान मुख द्वारा (चुम्बन) न करके वहुत देर तक आँखों द्वारा ही किया ॥ ८० ॥

तां विलम्बितपनीयमेखलामुद्वहञ्जघनभारदुर्वहाम् ।
ध्यानसम्भवविभूतिसम्भृतं प्राविशन्मणिशिलागृहं हरः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—विलम्बितपनीयमेखलाम्, जघनभारदुर्वहाम्, ताम् (पार्वतीम्) उद्वहन्, हरः, ध्यानसम्भवविभूतिसम्भृतं मणिशिलागृहम्; प्राविशत् ॥ ८१ ॥

सञ्जी०—तामिति । हरो विलम्बितपनीयमेखलां विस्रंसिहेमरसनां जघनभारेण दुर्वहां तां पार्वतीमुद्वहन्ध्यानसम्भवया सङ्कल्पमात्रसिद्ध्या विभूत्या भोगसाधनेन सम्भृतं सम्पूर्णं मणिशिलागृहं प्राविशत् । रिरंसुरिति भावः ॥ ८१ ॥

भगवान शिव सोने की करधनी लटकाए तथा स्थूल नितम्बों के बोझ से अत्यन्त गुरुभार वाली पार्वती को लिए हुए ध्यान मात्र से ही उपस्थित सभी विभूतियों से युक्त मणिशिलाओं से निर्मित एकान्त शयनकक्ष में पहुँचे ॥ ८१ ॥

तत्र हंसधवलोत्तरच्छदं जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम् ।
अध्यशेत शयनं प्रियासखः शारदाभ्रमिव रोहिणीपतिः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—तत्र, हंसधवलोत्तरच्छदम्, जाह्नवीपुलिनचारुदर्शनम्, शयनम्, रोहिणीपतिः, शारदाभ्रम्, इव, प्रियासखः (सन्), अध्यशेत ॥ ८२ ॥

सञ्जी०—तत्रेति । तत्र मणिभवने हंसवद्धवल उत्तरच्छदः प्रच्छदपटो यस्य तत्तथोक्तं जाह्नवीपुलिनमिव चारुदर्शनं शयनं शय्यां रोहिणीपतिश्चन्द्रः शरदि भवं शारदमभ्रं मेघमिव । शरद्ग्रहणं धावल्यार्थम् । प्रियासखः सन् । प्रियया सहेत्यर्थः । अध्यसेत शयितवान् । "अधिशीङ्स्थासां कर्म" इति कर्मत्वम् । रोहिणीग्रहणसामर्थ्यादिन्दोरप्यभ्रारोहणे रोहिणीसाहित्यमनुसन्धेयम् ॥ ८२ ॥

जिस प्रकार चन्द्रमा शरत्कालीन उज्ज्वल बादलों से आच्छादित गगन शय्या पर रोहिणी के साथ शयन करता है, उसी प्रकार हंस के समान उजली चादर से

ढके तथा गंगा के बालुकामय तट के समान सुन्दर प्रतीत होने वाले पलंग पर शंकर जी अपनी प्रियतमा के साथ जा लेटे ॥ ८२ ॥

क्लिष्टचन्द्रमदयैः कचग्रहैरुत्पथार्पितनखं समत्सरम् ।
तस्य तच्छिदुरमेखलागुणं पार्वतीरतमभून्न तृप्तये ॥ ८३ ॥

अन्वयः—अदयैः कचग्रहैः क्लिष्टचन्द्रम्, उत्पथार्पितनखम्, समत्सरम्, छिदुरमेखलागुणम्, तत्, पार्वतीरतम्, तस्य, तृप्तये, न, अभूत् ॥ ८३ ॥

सञ्जी०—क्लिष्टेति । अदयैर्निर्दयैः कचग्रहैः केशकर्षणैः क्लिष्टचन्द्रं पीडितहरचन्द्रमुत्पथमुन्मर्यादमर्पिता नखा यस्मिस्तत्समत्सरमन्योन्यविजगीषापूर्वकं छिदुराः स्वयमेव छिद्यमाना मेखलागुणा यस्मिस्तत्तथोक्तम् । "विदिभिदिछिदेः कुरच्" इति कुरच्प्रत्ययः । 'कर्मकर्तरि' इति काशिका । पार्वतीरतं तस्येश्वरस्य तृप्तये नाभूदितिभावः ॥ ८३ ॥

सुरत क्रिया में पार्वती ने निर्दयता पूर्वक शंकर जी के बालों को खींचा जिससे उनके शिर पर स्थित चन्द्रमा पीड़ित हो उठा । जिससे शंकर जी द्वारा पार्वती के शरीर पर लगाए गए नखचिह्न उचित स्थानों (स्तन नितम्ब) से इधर उधर हो गए तथा रति में एक दूसरे को जीतने की जल्दीबाजी में पार्वती की करधनी की लड़ियाँ टूट गईं इतना होने पर भी उस संभोग से शंकर जी का मन संतुष्ट नहीं हुआ ॥ ८३ ॥

केवलं प्रियतमादयालुना ज्योतिषामवनतासु पङ्क्तिषु ।
तेन तत्प्रतिगृहीतवक्षसा नेत्रमीलनकुतूहलं कृतम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—ज्योतिषाम्, पंक्तिषु, अवनतासु, केवलम्, प्रियतमादयालुना, तेन, तत्प्रतिगृहीतवक्षसा, नेत्रमीलनकुतूहलम्, कृतम् ॥ ८४ ॥

सञ्जी०—केवलमिति । प्रियतमादयालुना केवलम् । प्रियतमायां दययैव तस्याः सौकुमार्यादनवरतं सुरतासहिष्णुत्वात् । न तु स्वयं तृप्त्येत्यर्थः । तत्परिगृहीतवक्षसा तया पार्वत्याश्लिष्टवक्षसा तेनेश्वरेण ज्योतिषां नक्षत्राणां पङ्क्तिष्ववनतासु सतीषु । पश्चिमे यामे इत्यर्थः । नेत्रमीलनकुतूहलं कृतम् । निद्रा स्वीकृतेत्यर्थः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार सम्भोग करते-करते जब रात का पिछला पहर आ गया और तारों की पंक्तियाँ छटकने लगीं तब शंकर जी ने केवल अपनी प्रिया के ऊपर दया करके (न कि तृप्त होकर) पार्वती जी की छाती में चिपके हुए ही अपनी आँखें मूंद लेने का खिलवाड़ किया ॥ ८४ ॥

स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुम्भकमलाकरैः समम् ।
मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमङ्गलः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—बुधस्तवोचितः, सः, उषसि, मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः, किन्नरैः, गीतमङ्गलः, शातकुम्भकमलाकरैः, समम्, व्यबुध्यत ॥ ८५ ॥

सञ्जी०—स इति । बुधस्तवोचितो विद्वत्स्तोत्रार्हः स हर उषसि प्रभाते । स्वराणाभारोहावरोहक्रमो मूर्च्छना । 'क्रमयुक्ताः स्वरास्तत्र मूर्च्छना परिकीर्तिता' इति भरतः । तया मूर्च्छनया परिगृहीतकैशिकैः स्वीकृतरागविशेषैः किन्नरैर्गीतमङ्गलः सन् । शातकुम्भकमलाकरैः समं कनकपद्माकरैः सह । 'तपनीयं शातकुम्भं गाङ्गेयं भर्म कर्बुरम्' इत्यमरः । व्यबुध्यत विबुद्धवान् । बुध्यतेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । अत्र व्यबुध्यतेतिजागरविकासयोर्बोधयोः श्लेषभित्तिका भेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिः तन्मूला च कमलाकरैस्सममिति सहोक्तिरलङ्कारः ॥ ८५ ॥

इसके पश्चात् जब उषा काल में वीणाधारी गन्धर्वों ने आलाप भरते हुए भगवान शिव के जगाने के लिए मंगल गान करना प्रारम्भ किया तो सुनहले कमलों के साथ ही देवों के पूज्य भगवान शिव की भी आँखें खुल गईं ॥ ७५ ॥

तौ क्षणं शिथिलितोपगूहनौ दम्पती चलितमानसोर्मयः ।
पद्मबोधनिपुणाः सिषेविरे गन्धमादनवनान्तमारुताः ॥ ८६ ॥

अन्वयः—क्षणम्, शिथिलितोपगूहनौ, तौ, दम्पती, चलितमानसोर्मयः, पद्मबोधनिपुणाः गन्धमादनवनान्तमारुताः, सिषेविरे ॥ ८६ ॥

सञ्जी०—ताविति । शिथिलितोपगूहनौ शिथिलितालिङ्गनौ । जाया च पतिश्चदम्पती । जायाशब्दस्य दम्भावो निपातितः । तौ शिवौ रचितमानसोर्मयः । मानसे सरसि रचिततरङ्गा इत्यर्थः । पद्मबोधे निपुणाः । पद्मभेदपिशुना इति यावत् । विकाससूचका इत्यथः । गन्धमादनवनान्तमारुताः क्षणं सिषेविरे ॥ ८६ ॥

उस समय एक दूसरे के आलिंगन से अलग होकर शिव तथा पार्वती दोनों ने ही, मानसरोवर में लहरियाँ बनाने वाली तथा कमलों को प्रफुल्लित करने में निपुण (गंध से भरी हुई) गंधमादन वन के भीतर धीरे-धीर चलने वाली हवा का थोड़ी देर आनन्द लिया ॥ ८६ ॥

ऊरुमूलनखमार्गराजिभिस्तत्क्षणं हृतविलोचनो हरः ।
वाससः प्रशिथिलस्य संयमं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—ऊरुमूलनखमार्गराजिभिः, हृतविलोचनः, हरः तत्क्षणम्, प्रशिथिलस्य, वाससः, संयमम्, कुर्वतीम्, प्रियतमाम्, अवारयत् ॥ ८७ ॥

सञ्जी०—ऊर्विति। तत्क्षणं मारुनवीजनसमय ऊरुमूले नखमार्गराजिभिर्नखपदपङ्क्तभिः। मरुता प्रसारितवस्त्रतया प्रकाशिताभिरित्यर्थः। हृतविलोचनः आकृष्टदृष्टिर्हरः प्रशिथिलस्य श्लथबन्धनस्य वाससः संयमं बन्धनं कुर्वतीं प्रियतमामवारयत् ॥ ८७ ॥

उस समय वस्त्र हट जाने से पार्वती जी की जाघों पर सम्भोग के समय लगे हुए नाखूनों के चिह्नों की पंक्तियों को शंकर जी अत्यन्त लुब्ध आँखों से देखने लगे और जब पार्वती हटे हुए वस्त्र को ठीक करने लगीं तो उन्होंने ऐसा करने से रोक दिया ॥ ८७ ॥

स प्रजागरकषायलोचनं गाढदन्तपदताडिताधरम्।
आकुलालकमरंस्त रागवान्प्रेक्ष्य भिन्नतिलकं प्रियामुखम् ॥ ८८ ॥

अन्वयः—रागवान्, सः, प्रजागरकषायलोचनम्, गाढदन्तपदताडिताधरम्, आकुलालकम्, भिन्नतिलकम्, प्रियामुखम्, प्रेक्ष्य, अरंस्त ॥ ८८ ॥

सञ्जी०—स इति। रागवान्रागी स हरः प्रजागरेण कषायलोचनं रक्तनेत्रं गाढैर्दन्तपदैर्दन्तक्षतैस्ताडिताधरमाकुलालकं भिन्नतिलकं प्रियामुखं प्रेक्ष्यारंस्तान्वरज्यत। तादृङ्मुखदर्शनमेवतदा तस्योद्दीपकमभूदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

रात भर जागने के कारण पार्वती जी की आँखें लाल हो गई थीं, उनके अधरों पर दाँतों के गहरे निशान उभड़ आए थे, बाल इधर-उधर बिखर गये थे और ललाट का तिलक मिट गया था। फिर भी शंकर जी इन विकारों से युक्त पार्वती का मुख देख कर अत्यन्त प्रसन्न हो रहे थे ॥ ८८ ॥

तेन भिन्नविषमोत्तरच्छदं मध्यपिण्डितविसूत्रमेखलम्।
निर्मलेऽपि शयनं निशात्यये नोज्झितं चरणरागलाञ्छितम् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—निशात्यये, निर्मले, अपि, तेन, भिन्नविषमोत्तरच्छदम्, मध्यपिण्डितविसूत्रमेखलम्, चरणरागलाञ्छितम्, शयनम्, न उज्झितम् ॥ ८९ ॥

सञ्जी०—तेनेति। तेन हरेण भङ्गिभिर्भङ्गैर्विषमो निम्नोन्नत उत्तरच्छदः प्रच्छदपटो यस्मिस्तत्। मध्ये पिण्डिता पुञ्जीकृता विसूत्रमेखला छिन्नरसना यस्मिस्तत्तथोक्तं चरणयोः रागेण लाक्षारागेण लाञ्छितं चिह्नितं शयनं निशात्यये प्रभाते निर्मलेऽपि। सूर्योदये सत्यपीत्यर्थः। नोज्झितं न त्यक्तम्। अत्र देव्या सकलसुरतोपचारसम्पन्नत्वं पुरुषायितं सूच्यते ॥ ८९ ॥

शिव जी जिस शैय्या पर सोये थे उसकी चादर सिकुड़ गई थी, बीच में बिना डोरी वाली टूटी हुई करधनी एक जगह सिमटी हुई पड़ी थी तथा

उस पर जहाँ-तहाँ पार्वती के पैरों की महावरी के धब्बे पड़े हुए थे। इस प्रकार अस्त व्यस्त हो जाने पर भी वह शय्या शिवजी को इतनी प्रिय लग रही थी कि दिन के भली-भाँति साफ हो जाने पर भी उन्होंने उसे नहीं छोड़ा ॥८९॥

स प्रियामुखरसं दिवानिशं हर्षवृद्धिजननं सिषेविषुः ।
दर्शनप्रणयिनामदृश्यतामाजगाम विजयानिवेदितः ॥ ९० ॥

अन्वयः—हर्षवृद्धिजननम्, प्रियामुखरसम्, दिवानिशम्, सिषेविषुः, सः, विजयानिवेदितः, दर्शनप्रणयिनाम्, अदृश्यताम्, आजगाम ॥ ९० ॥

सञ्जी०—स इति । स हरो हर्षवृद्धिजननं सुखातिशयकारणं प्रियामुखरसं अधरामृतं दिवा च निशि च दिवानिशम् । द्वन्द्वैकवद्भावः । सिसेविषुः सेवितुमिच्छुः सन् । विजयानाम्नी काचिद्देव्याः सखी तया निवेदितः । एतदर्थमागतेति ज्ञापितोऽपीत्यर्थः । दर्शनप्रणयिनामदृश्यतामाजगाम । दर्शनं न ददावित्यर्थः ॥९०॥

आनन्द बढ़ाने वाले प्रियतमा के अधरों का रस रात-दिन पीने के लिए इच्छुक शङ्कर जी की ऐसी दशा हो गई कि वे विजया द्वारा दर्शन के लिए आए हुए अपने प्रियजनों का समाचार पाकर भी घर में ही बैठे रह जाते थे ॥ ९० ॥

समदिवसनिशीथं सङ्गिनस्तत्र शम्भोः
शतमगमदृतूनां सार्धमेका निशेव ।
न तु सुरतसुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो बभूव
ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः ॥ ९१ ॥

इति महाकवि-कालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
उमासुरतवर्णनं नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

अन्वयः—तत्र, समदिवसनिशीथम्, सङ्गिनः, न तु, शम्भोः, सार्धम्, ऋतूनाम्, शतम्, एका, निशा इव, अगमत्, सुरतसुखेभ्यः, तु समुद्रान्तर्गतः, ज्वलनः इव, तत्, जलौघैः, छिन्नतृष्णः, न, बभूव ॥ ९१ ॥

सञ्जी०—समेति । निशीथोऽत्र निशामात्रलक्षकः । समदिवसनिशीथं तुल्याहर्निशं यथा तथा तत्र तस्यां पार्वत्यां सङ्गिन आसक्तस्य । रात्रिदिवं रममाणस्येत्यर्थः । शम्भोः शिवस्य सार्धमर्धेन सहितमृतूना शतं पञ्चाशदुत्तरं मानुषमानेन पञ्चविंशतिवर्षाणीत्यर्थः । एका निशेव अगमत् । स शम्भुः समुद्रान्तर्गतः समुद्रस्यान्तर्वर्ती ज्वलनो वडवाग्निरिव तज्जलौघैस्तस्य प्रवाहैरिव सुरतसुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो निवृत्ताभिलाषो न बभूव । किन्तु रिरंसैवावर्धतेत्यर्थः ॥ ९१ ॥

इति मल्लिनाथटीका समाप्ता ।

इस प्रकार शङ्कर जी ने पार्वती जी के साथ दिन रात सम्भोग करते हुए सैकड़ों ऋतुओं को एक रात की भाँति बिता दिया किन्तु उनकी सम्भोग सुख की लालसा उसी प्रकार पूरी नहीं हुई जैसे निरन्तर समुद्र के जल में रहने पर भी वडवाग्नि की प्यास नहीं बुझती है ॥ ९१ ॥

कविकुलगुरु कालिदासकृत कुमारसंभव महाकाव्य में पार्वती-संभोग नाम का आठवाँ सर्ग समाप्त ॥ ८ ॥

—:०:—

नवमः सर्गः

(शिवजी का कैलासगमन)

तथाविधेऽनङ्गरसप्रसङ्गे मुखारविन्दे मधुपः प्रियायाः ।
सम्भोगवेश्मप्रविशन्तमन्तर्ददर्श पारावतमेकमीशः ॥ १ ॥

अन्वयः—प्रियायाः, मुखारविन्दे, मधुपः, ईशः, तथाविधे, अनङ्गरसप्रसङ्गे, सम्भोगवेश्म, अन्तः, प्रविशन्तम्, एकम्, पारावतम्, ददर्श ॥ १ ॥

भाषार्थ—एक बार जिस समय पार्वती जी के मुख कमल पर भौंरे के समान लुब्ध शिवजी सम्भोग-सुख में लगे हुए थे उसी समय उन्होंने सम्भोग-गृह (जिस घर में सम्भोग कर रहे थे) में घुसते हुए एक कबूतर को देखा ॥ १ ॥

सुकान्तकान्तामणितानुकारं कूजन्तमाघूर्णितरक्तनेत्रम् ।
प्रस्फारितोन्नम्रविनम्रकण्ठं मुहुर्मुहुर्न्यञ्चितचारुपुच्छम् ॥ २ ॥

अन्वयः—सुकान्तकान्तामणितानुकारम्, (यथा स्यात्तथा) कूजन्तम्, आघूर्णितरक्तनेत्रम्, प्रस्फारितोन्नम्रविनम्रकण्ठम्, मुहुर्मुहुः, न्यञ्चितचारुपुच्छम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—वह कबूतर अत्यंत मनोहर था, उसकी लाल-लाल आँखें इधर-उधर नाच रही थीं, वह सम्भोग काल में रमणियों के मुंह से निकलने वाली कराह के समान (गरदन को ऊँची नीची करते हुए) बोल रहा था और बार-बार अपनी पूंछों को सिकोड़ रहा था ॥ २ ॥

विशृङ्खलं पक्षतियुग्ममीषद्दधानमानन्दगतिं मदेन ।
शुभ्रांशूवर्णं जटिलाग्रपादमितस्ततो मण्डलकैश्चरन्तम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—विशृङ्खलम्, पक्षतियुग्मम्, ईषत्, मदेन, आनन्दगतिम् (च) दधानम्, शुभ्रांशुवर्णम्, जटिलाग्रपादम्, मण्डलकैः इतस्ततः, चरन्तम् (तं कपोतं ददर्श) ॥

भाषार्थ—चन्द्रमा के समान उज्ज्वल वह कबूतर अपनी बँधी हुई पाँखों

को थोड़ा-सा फैलाए तथा पंजे समेटे हुए मस्ती के साथ आनन्द लेते हुए उस घर में इधर-उधर चक्कर काट रहा था ॥ ३ ॥

रतिद्वितीयेन मनोभवेन ह्रदात्सुधायाः प्रविगाह्यमानात् ।
तं वीक्ष्य फेनस्य चयं नवोत्थमिवाभ्यनन्दत्क्षणमिन्दुमौलिः ॥ ४ ॥

अन्वयः—रतिद्वितीयेन, मनोभवेन, प्रविगाह्यमानात्, सुधायाः, ह्रदात्, नवोत्थम्, फेनस्य, चयम्, इव (स्थितम्), तम् (कपोतम्), वीक्ष्य, इन्दुमौलिः क्षणम्, अभ्यनन्दत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—अमृत कुंड में रति के साथ कामदेव के स्नान करने के समय उठने वाले नवीन फेन की ढेरी के समान उस अत्यंत उजले कबूतर को देखकर शंकर जी क्षण भर के लिए मुग्ध हो गए ॥ ४ ॥

तस्याकृतिं कामपि वीक्ष्य दिव्यामन्तर्भवश्छद्मविहङ्गमग्निम् ।
विचिन्तयन्संविविदे स देवो भ्रूभङ्गभीमश्च रुषा बभूव ॥ ५ ॥

अन्वयः—अन्तर्भवः, सः, देवः, दिव्याम्, काम्, अपि, तस्य, आकृतिम्, वीक्ष्य, छद्मविहङ्गम्, अग्निम्, विचिन्तयन्, संविविदे, रुषा, भ्रूभङ्गभीमः, च, बभूव ॥ ५ ॥

भाषार्थ—किन्तु उसकी इस दिव्य और अलौकिक सुन्दरता को देखकर सर्वान्तर्व्यापी शिव जी थोड़ी देर विचार में मग्न हो गए और जब उन्होंने यह निश्चय रूप से जान लिया कि यह कपट वेशधारी अग्निदेव हैं तो उनकी क्रोध से टेढ़ी भौंहें अत्यंत भयंकर हो उठीं ॥ ५ ॥

स्वरूपमास्थाय ततो हुताशस्त्रसन्वलत्कम्पकृताञ्जलिः सन् ।
प्रवेपमानो नितरां स्मरारिमिदं वचो व्यक्तमथाध्युवाच ॥ ६ ॥

अन्वयः—ततः, हुताशः, त्रसन्, स्वरूपम्, आस्थाय, अथ, वलत्कम्पकृताञ्जलिः, (तथा) नितराम्, प्रवेपमानः, सन्, स्मरारिम्, व्यक्तम्, इदम्, वचः, अध्युवाच ॥ ६ ॥

भाषार्थ—उनके इस रूप को देखते ही कपट वेश छोड़ कर अग्निदेव प्रकट हो गए और हिलते हुए हाथों को किसी प्रकार जोड़ कर भय से काँपते हुए सच्ची बात बता देने की इच्छा से इस प्रकार बोले ॥ ६ ॥

असि त्वमेको जगतामधीशः स्वर्गौकसां त्वं विपदो निहंसि ।
ततः सुरेन्द्रप्रमुखाः प्रभो त्वामुपासते दैत्यवरैर्विधूताः ॥ ७ ॥

अन्वयः—प्रभो ! त्वम्, एकः, जगताम्, अधीशः, असि, (अतएव) स्वर्गौकसाम्, विपदः, त्वम्, निर्हंसि, ततः, सुरेन्द्रप्रमुखाः, त्वाम्, उपासते, (यतः) दैत्यवरैः, विधूताः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—हे प्रभु, एकमात्र आप ही इस संसार के स्वामी हैं, और आप ही स्वर्ग में रहने वाले देवताओं की भी विपत्तियाँ दूर किया करते हैं इसीलिए इन्द्रादि बड़े-बड़े देवता जब-जब भीषण राक्षसों से पराजित होते हैं तब-तब आप ही की शरण में आते हैं ॥ ७ ॥

त्वया प्रियाप्रेमवशंवदेन शतं व्यतीये सुरतादृतूनाम् ।
रहःस्थितेन त्वदवीक्षणार्तो दैन्यं परं प्राप सुरैः सुरेन्द्रः ॥ ८ ॥

अन्वयः—प्रियाप्रेमवशंवदेन, त्वया, रहःस्थितेन, सुरताद्, ऋतूनाम्, शतम्, व्यतीये (अथ च) सुरेन्द्रः त्वदवीक्षणार्तः (सन्), सुरैः (सह), परम्, दैन्यम्, प्राप ॥ ८ ॥

भाषार्थ—किन्तु आपने अपनी प्रियतमा के वशीभूत होकर सम्भोग करने में ही सैकड़ों वर्ष बिता दिए और इस प्रकार इतने एकान्तवासी बन गए कि आप का दर्शन भी दुर्लभ हो गया । इस समय इन्द्रादि सभी देवता आपका दर्शन न होने से बहुत घबड़ा उठे हैं ॥ ८ ॥

त्वदीयसेवावसरप्रतीक्षैरभ्यर्थितः शक्रमुखैः सुरैस्त्वाम् ।
उपागतोऽन्वेष्टुमहं विहङ्गरूपेण विद्वन्समयोचितेन ॥ ९ ॥

अन्वय—विद्वन्, त्वदीयसेवावसरप्रतीक्षैः, शक्रमुखैः, सुरैः, अभ्यर्थितः, अहम्, त्वाम्, अन्वेष्टुम्, समयोचितेन, विहङ्गरूपेण, उपागतः (अस्मि) ॥ ९ ॥

भाषार्थ—वे सभी देवता आप का दर्शन पाने की प्रतीक्षा में लगे हुए हैं । उन्हीं लोगों की इच्छा से इन्द्र ने मुझे आपका पता लगाने के लिए भेजा है । मैंने यह जान करके ही कि आप इस समय सम्भोग क्रिया में ही लगे होंगे, पक्षी का वेश बनाकर यहाँ आने की धृष्टता की है ॥ ९ ॥

इति प्रभो चेतसि सम्प्रधार्य तन्नोऽपराधं भगवन्क्षमस्व ।
पराभिभूता वद किं क्षमन्ते कालातिपातं शरणार्थिनोऽमी ॥ १० ॥

अन्वयः—प्रभो, भगवन्, तत्, इति चेतसि, संप्रधार्य, नः, अपराधम् क्षमस्व, पराभिभूताः, शरणार्थिनः, अमी, कालातिपातम्, किम्, क्षमन्ते, वद ॥ १० ॥

भाषार्थ—हे प्रभो ! आप ही बताइए कि शत्रुओं से हार कर आपकी शरण में आए हुए ये देवता भला दर्शन में होने वाली इस देर को कब तक सहन करते। अतः इसे अपने मन में भली भाँति सोचकर हमारे इस अपराध को क्षमा कीजिए ॥ १० ॥

प्रभो प्रसीदाशु सृजात्मपुत्रं यं प्राप्य सेनान्यमसौ सुरेन्द्रः ।
स्वर्लोकलक्ष्मीप्रभुतामवाप्य जगत्त्रयं पाति तव प्रसादात् ॥ ११ ॥

अन्वयः—प्रभो ! प्रसीद, आत्मपुत्रम्, आशु, सृज, यम्, सेनान्यम्, प्राप्य, असौ, सुरेन्द्रः, तव, प्रसादात्, स्वर्लोकलक्ष्मीप्रभुताम्, अवाप्य, जगत्त्रयम्, पाति ॥ ११ ॥

भाषार्थ—हे प्रभो ! आप प्रसन्न होकर शीघ्र ही एक ऐसा पुत्र उत्पन्न कीजिए, जिसे यह इन्द्र अपना सेनापति बनाकर देवलोक की लक्ष्मी का स्वामी बन जाय और आपकी कृपा से फिर तीनों लोकों का पालन कर सके ॥ ११ ॥

स शङ्करस्तामिति जातवेदोविज्ञापनामर्थवतीं निशम्य ।
अभूत्प्रसन्नः परितोषयन्ति गीर्भिर्गिरीशा रुचिराभिरीशम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—स, शङ्करः, इति, अर्थवतीम्, ताम्, जातवेदोविज्ञापनाम्, निशम्य, प्रसन्नः, अभूत्, गिरीशाः, रुचिराभिः, गीर्भिः, ईशम्, परितोषयन्ति ॥ १२ ॥

भाषार्थ—शङ्कर जी अग्निदेव की इस यथार्थ प्रार्थना को सुनकर प्रसन्न हो गये क्योंकि बातचीत करने में कुशल सेवक अपनी मीठी बातों से अपने प्रभुओं को प्रसन्न कर लेते हैं ॥ १२ ॥

प्रसन्नचेता मदनान्तकारः स तारकारेर्जयिनो भवाय ।
शक्रस्य सेनाधिपतेर्जयाय व्यचिन्तयच्चेतसि भावि किञ्चित् ॥ १३ ॥

अन्वयः—प्रसन्नचेताः, सः, मदनान्तकारः, जयिनः, जयाय, सेनाधिपतेः, तारकारेः, भवाय, भावि, किञ्चित् चेतसि, व्यचिन्तयत् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—कामदेव को मिटा देने वाले तथा सर्वदा प्रसन्न रहने वाले शङ्कर जी ने तब ऐसे पुत्र के जन्म देने के बारे में विचार करना प्रारम्भ किया जो सेनापति बनकर तारक को मार सके और युद्ध में इन्द्र को जिता सके ॥१३॥

युगान्तकालाग्निमिवाविषह्यं परिच्युतं मन्मथरङ्गभङ्गात् ।
रतान्तरेतः स हिरण्यरेतस्यथोर्ध्वरेतास्तदमोघमाधात् ॥ १४ ॥

अन्वयः—अथ, सः, युगान्तकालाग्निम्, इव, अविषह्यम्, मन्मथ-रङ्गभङ्गात्, परिच्युतम्, अमोघम्, तत्, रतान्तरेतः हिरण्यरेतसि, आधात्, (यतः), ऊर्ध्वरेताः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—इसके पश्चात् काम-क्रीडा के भंग होने के कारण अपने वीर्य को ऊपर खींचने में समर्थ शङ्कर जी ने सम्भोग के अन्त में निकले हुए, प्रलय काल की अग्नि के समान असहनीय तथा उत्पादन में अचूक वीर्य अग्नि को दे दिया ॥ १४ ॥

अथोष्णबाष्पानिलदूषितान्तं विशुद्धमादर्शमिवात्मदेहम् ।
बभार भूम्ना सहसा पुरारिरेतः परिक्षेपकुवर्णमग्निः ॥ १५ ॥

अन्वयः—अथ, अग्निः, आत्मदेहम्, उष्णबाष्पानिलदूषितान्तम्, आदर्शम्, इव, सहसा, भूम्ना, पुरारिरेतः, परिक्षेपकुवर्णम्, बभार ॥ १५ ॥

भाषार्थ—जैसे निर्मल शीशे पर फूँक मारते ही वह धुँधला पड़ जाता है उसी प्रकार अग्नि का तेजस्वी शरीर उस शङ्कर के महा तेजस्वी वीर्य को धारण करते ही तेजहीन होकर धुँधला पड़ गया ॥ १५ ॥

त्वं सर्वभक्षो भव भीमकर्मा कुष्ठाभिभूतोऽनल ! धूमगर्भः ।
इत्थं शशापाद्रिसुता हुताशं रुष्टा रतानन्दसुखस्य भङ्गात् ॥ १६ ॥

अन्वयः—रतानन्दसुखस्य, भङ्गात्, रुष्टा, अद्रिसुता, 'अनल ! त्वम्, सर्वभक्षः, भीमकर्मा, कुष्ठाभिभूतः, धूमगर्भः भव' इत्थम्, शशाप ॥ १७ ॥

भाषार्थ—उस समय सम्भोग सुख में इस प्रकार बाधा उपस्थित होने से पार्वती जी अत्यन्त क्रुद्ध हो उठीं और उन्होंने अग्नि को शाप दे दिया कि तुम आज से पवित्र अपवित्र सभी वस्तुओं के भक्षण करने वाले, जलाने का भीषण कार्य करने वाले तथा कोढ़ी हो जाओगे और तुम सर्वदा धुएँ से भरे रहोगे ॥ १६ ॥

दक्षस्य शापेन शशी क्षयीव प्लुष्टो हिमेनेव सरोजकोशः ।
वहन्विरूपं वपुरुग्ररेतश्चयेन वह्निः किल निर्जगाम ॥ १७ ॥

अन्वयः—वह्निः, दक्षस्य, शापेन, क्षयी, शशी, इव हिमेन, प्लुष्टः, सरोज-कोशः, इव उग्ररेतश्चयेन, विरूपम्, वपुः, वहन्, निर्जगाम किल ॥ १७ ॥

भाषार्थ—शंकर जी का वीर्य ग्रहण करने के कारण अग्निदेव का रूप उसी प्रकार नष्टभ्रष्ट हो गया जैसे दक्ष के शाप से क्षय के रोगी चन्द्रमा और पाले

से मारे जाने पर कमल का हो जाता है। अग्नि अपने उसी कुरूप शरीर को लिए हुए उस घर से बाहर निकले ॥ १७ ॥

स पावकालोकरुषा विलक्षां स्मरत्रपास्मेरविनम्रवक्त्राम् ।
विनोदयामास गिरीन्द्रपुत्रीं शृङ्गारगर्भैर्मधुरैर्वचोभिः ॥ १८ ॥

अन्वयः—पावकालोकरुषा, विलक्षाम्, (तथा), स्मरत्रपास्मेरविनम्रवक्त्राम्, गिरीन्द्रपुत्रीम्, सः, शृङ्गारगर्भैः, मधुरैः, वचोभिः, विनोदयामास ॥ १८ ॥

भावार्थ—सम्भोग की स्थिति में ही अग्नि द्वारा देख लिए जाने के कारण पार्वती जी अत्यंत क्रुद्ध हो उठीं जिससे उनका शरीर तमतमा उठा। उस समय कामभावना तथा लज्जा से मंद-मंद हँसती हुई तथा मुख नीचा करके बैठी हुई पार्वती जी को शंकर जी शृङ्गार भरी मधुर उक्तियों से मनाने लगे ॥ १८ ॥

हरो विकर्णं घनघर्मतोयैर्नेत्राञ्जनाङ्कं हृदयप्रियायाः ।
द्वितीयकौपीनचलाञ्चलेनाहरन्मुखेन्दोरकलङ्किनोऽस्याः ॥ १९ ॥

अन्वयः—हरः, हृदयप्रियायाः, अस्याः, अकलङ्किनः, मुखेन्दोः, घनघर्मतोयैः, विकीर्णम्, नेत्राञ्जनाङ्कम्, द्वितीयकौपीनचलाञ्चलेन, अहरत् ॥ १९ ॥

भावार्थ—अपनी प्राणप्रिया के निष्कलंक मुख-चंद्र पर पसीने की अधिकता से बहकर फैले हुए आँजन के काले-काले धब्बों को शंकर जी ने कंधे पर लटके हुए दूसरे कौपीन के छोर से पोछ कर पुनः निष्कलंक बना दिया ॥ १९ ॥

मन्देन स्विन्नाङ्गुलिना करेण कम्पेन तस्या वदनारविन्दात् ।
परामृशन्घर्मजलं जहार हरः सहेलं व्यजनानिलेन ॥ २० ॥

अन्वयः—हरः, मन्देन, स्विन्नाङ्गुलिना (तथा), कम्पेन, करेण, तस्याः, वदनारविन्दात्, घर्मजलम्, परामृशन्, सहेलम् (यथा तथा), व्यजनानिलेन, जहार ॥ २० ॥

भावार्थ—अपनी शिथिल उँगुलियों वाले काँपते हाथों से पार्वती के मुखकमल पर आई हुई पसीने की बूँदों को धीरे-धीरे पोंछते हुए शंकर जी ने पंखे की वायु से उसे सुखा दिया ॥ २० ॥

रतिश्लथं तत्कबरीकलापमंसावसक्तं विगलत्प्रसूनम् ।
स पारिजातोद्भवपुष्पमय्या स्रजा बबन्धामृतमूर्तिमौलिः ॥ २१ ॥

अन्वयः—अमृतमूर्तिमौलिः सः, रतिश्लथम्, अंसावसक्तम्, विगलत्प्रसूनम्, तत्कबरीकलापम्, पारिजातोद्भवपुष्पमय्या, स्रजा, बबन्ध ॥ २१ ॥

भाषार्थ—सम्भोग करते समय पार्वती जी को चोटी उनके कंधो पर बिखर गई थी जिससे उसमें गुथे हुए फूल भी झड़ गए थे। शंकर जी ने उन बिखरे हुए बालों को पारिजात के फूलों की माला से बाँध दिया ॥ २१ ॥

कपोलपाल्यां मृगनाभिचित्रपत्रावलीमिन्दुमुखः सुमुख्याः ।
स्मरस्य सिद्धस्य जगद्विमोहमन्त्राक्षरश्रेणिमिवोल्लिलेख ॥ २२ ॥

अन्वयः—इन्दुमुखः, सुमुख्याः, कपोलपाल्याम्, मृगनाभिचित्रपत्रावलीम्, सिद्धस्य, स्मरस्य, जगद्विमोहमन्त्राक्षरश्रेणिम्, इव, उल्लिलेख ॥ २२ ॥

भाषार्थ—चंद्रमा के समान मुखवाले भगवान् शिव ने सुमुखी पार्वती के कपोलों पर कस्तूरी रस से विभिन्न प्रकार के चित्र अंकित कर दिये। उस समय वह ऐसे प्रतीत होने लगे मानो कामदेव के मोहन मंत्र के अक्षरों की पंक्तियाँ हों, जिनसे वह संसार को वशीभूत करता है ॥ २२ ॥

रथस्य कर्णावभि तन्मुखस्य ताटङ्कचक्रद्वितयं न्यधात्सः ।
जगज्जिगीषुर्विषमेषुरेष ध्रुवं यमारोहति पुष्पचापः ॥ २३ ॥

अन्वयः—सः, कर्णौ अभि, तन्मुखस्य, रथस्य, ताटङ्कचक्रद्वितयम् न्यधात्, (यतः), विषमेषुः, एषः, पुष्पचापः, जगज्जिगीषुः, यम्, आरोहति, ध्रुवम् ॥२३॥

भाषार्थ—शङ्कर जी ने पार्वती जी के कानों में दो कर्णफूल पहिना दिये जिससे उनका मुख विश्वविजय की इच्छा से निकले हुए कामदेव के रथ के समान प्रतीत होने लगा और वे दोनों गोल-गोल कर्णफूल उस रथ के दोनों पहियों जैसे लगने लगे ॥ २३ ॥

तस्याः स कण्ठे पिहितस्तनाग्रां न्यधत्त मुक्ताफलहारवल्लीम् ।
या प्राप मेरुद्वितयस्य मूर्ध्नि स्थितस्य गङ्गौघयुगस्य लक्ष्मीम् ॥२४॥

अन्वयः—सः तस्याः, कण्ठे, पिहितस्तनाग्राम्, मुक्ताफलहारवल्लीम्, न्यधत्त, या, मेरुद्वितयस्य, मूर्ध्नि, स्थितस्य, गङ्गौघयुगस्य, लक्ष्मीम्, प्राप ॥ २४ ॥

भाषार्थ—जब शंकर जी ने पार्वती जी के कंठ में मोतियों की माला पहना दी तो उनके दोनों स्तनों की घुंडियों को छूकर नीचे की ओर लटकती हुई वह ऐसी सुन्दर प्रतीत होने लगी मानों दो मेरु पहाड़ की दो चोटियों से गंगा की दो धारायें गिर रही हों ॥ २४ ॥

नखव्रणश्रेणिवरे बबन्ध नितम्बबिम्बे रशनाकलापम् ।
चलस्वचेतोमृगबन्धनाय मनोभुवः पाशमिव स्मरारिः ॥ २५ ॥

अन्वयः—स्मरारिः, नखव्रणश्रेणिवरे (तस्याः), नितम्बबिम्बे, रशनाकलापम्, चलस्वचेतोमृगबन्धनाय, मनोभुवः, पाशम्, इव बबन्ध ॥ २५ ॥

भाषार्थ—शंकर जी ने अपने नाखूनों के चिह्नों से सुशोभित पार्वती जी के नितम्बों पर करधनी पहना दी। उस समय वह ऐसी प्रतीत होने लगी मानो कामदेव ने अपने चंचल मनरूपी मृग को फँसाने के लिए फन्दा डाल रखा हो ॥ २५ ॥

भालेक्षणाग्नौ स्वयमञ्जनं स भङ्क्त्वा दृशोः साधु निवेश्य तस्याः ।
नवोत्पलाक्ष्याः पुलकोपगूढे कण्ठे विनीलेऽङ्गुलिमुज्जघर्ष ॥ २६ ॥

अन्वयः—सः, मालेक्षणाग्नौ, अञ्जनम्, स्वयम्, भङ्क्त्वा (अथच), नवोत्पलाक्ष्याः, तस्याः, दृशोः, साधु, निवेश्य, पुलकोपगूढे, विनीले, कण्ठे, अङ्गुलिम्, उज्जघर्ष ॥ २६ ॥

भाषार्थ—शङ्कर जी ने अपने ललाट में जलने वाले नेत्र रूपी दीपक से स्वयं काजल पार कर पार्वती जी के नये कमल जैसे नेत्रों में लगा दिया और उँगली में लगे हुए काजल को पोंछने के लिए रोमाञ्च से भरे हुए अपने साँवले कण्ठ में उँगली को रगड़ दिया ॥ २६ ॥

अलक्तकं पादसरोरुहाग्रे सरोरुहाक्ष्याः किल सन्निवेश्य ।
स्वमौलिगङ्गासलिलेन हस्तारुणत्वमक्षालयदिन्दुचूडः ॥ २७ ॥

अन्वयः—इन्दुचूडः, सरोरुहाक्ष्याः, पादसहोरुहाग्रे, अलक्तकम्, सन्निवेश्य, किल, स्वमौलिगङ्गासलिलेन, हस्तारुणत्वम्, अक्षालयत् ॥ २७ ॥

भाषार्थ—कमल के समान नेत्रों वाली पार्वती के चरण कमलों में अपने हाथ से महावरी लगाने के बाद शङ्कर जी ने उसे अपने सिर पर बहने वाली गंगा के जल में धो लिया ॥ २७ ॥

भस्मानुलिप्ते वपुषि स्वकीये सहेलमादर्शतलं विमृज्य ।
नेपथ्यलक्ष्म्याः परिभावनार्थमदर्शयज्जीवितवल्लभां सः ॥ २८ ॥

अन्वयः—सः, आदर्शतलम्, भस्मानुलिप्ते, स्वकीये, वपुषि, विमृज्य, नेपथ्यलक्ष्म्याः, परिमावनार्थम्, सहेलम् (यथा तथा), जीवितवल्लभाम्, अदर्शयत् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—इसके पश्चात् बड़ी प्रसन्नता के साथ शङ्कर जी ने अपने भस्म लगे हुए शरीर पर रगड़ कर दर्पण को साफ कर डाला और सौभाग्यवती पार्वती को उस शृङ्गारकी शोमा दिखाने के लिए दर्पण को उनके आगे रख दिया ॥ २८ ॥

प्रियेण दत्ते मणिदर्पणे सा सम्भोगचिह्नं स्ववपुर्विभाव्य ।
त्रपावती तत्र घनानुरागं रोमाञ्चदम्भेन बहिर्बभार ॥ २९ ॥

अन्वयः—प्रियेण, दत्ते, मणिदर्पणे, सम्भोगचिह्नम्, स्ववपुर्विभाव्य, त्रपावती, सा (पार्वती), तत्र, घनानुरागम्, रोमाञ्चदम्भेन, बहिः, बभार ॥ २९ ॥

भावार्थ—शङ्कर जी द्वारा सामने रखे गए मणि-दर्पण में अपने शरीर पर बने सम्भोग चिन्हों को देखकर पार्वती जी लजा गईं और उस कामसुख का स्मरण करके रोमाञ्चित हो उठीं। उस समय उनके रोमाञ्च ऐसे प्रतीत हुए मानो शिव के प्रति उनके हृदय का प्रेम ही रोमों-रोमों से फूटकर बाहर आ गया हो ॥ २९ ॥

नेपथ्यलक्ष्मीं दयितोपक्लृप्तां सस्मेरमादर्शतले विलोक्य ।
अमंस्त सौभाग्यवतीषु धुर्यामात्मानमुद्धूतविलक्षभावा ॥ ३० ॥

अन्वयः—(सा पार्वती), आदर्शतले, दयितोपक्लृप्ताम्, नेपथ्यलक्ष्मीम् सस्मेरम् (यथा तथा) विलोक्य, उद्धूतविलक्षभावा (सती) आत्मानम्, सौभाग्यवतीषु, धुर्याम्, अमंस्त ॥ ३० ॥

भावार्थ—अपने प्रिय शिवजी के हाथों से किए गए शृङ्गार की शोभा उस दर्पण में देखकर पार्वती जी मुस्करा उठीं, उनका सारा क्रोध दूर हो गया और वह अपने आपको सौभाग्यवती स्त्रियों में सर्वश्रेष्ठ समझने लगीं ॥ ३० ॥

अन्तः प्रविश्यावसरेऽथ तत्र स्निग्धे वयस्ये विजया जया च ।
सुसम्पदोपाचरतां कलानामङ्के स्थितां तां शशिखण्डमौलेः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अथ, तत्र अवसरे, विजया, जया, च (उभे), स्निग्धे, वयस्ये, अन्तः, प्रविश्य, तत्र, शशिखण्डमौलेः, अङ्के, स्थिताम्, ताम्, कलानाम्, सुसम्पदा, उपाचरताम् ॥ ३१ ॥

भावार्थ—इसी बीच पार्वती जी की प्रिय सखियाँ उचित अवसर जान कर घर के भीतर पहुँची और शङ्कर जी की गोद में बैठी हुई पार्वती जी को अपनी निपुण शृङ्गार रचना की शोभा से सजाने लगीं ॥ ३१ ॥

व्यधुर्बहिर्मङ्गलगानमुच्चैर्वैतालिकाश्चित्रचरित्रचारु ।
जगुश्च गन्धर्वगणाः सशङ्खस्वनं प्रमोदाय पिनाकपाणेः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—बहिः, वैतालिकाः, चित्रचरित्रचारु, मङ्गलगानम्, उच्चैः, व्यधुः, गन्धर्वगणाः, च, पिनाकपाणेः, प्रमोदाय, सशङ्खस्वनम् (यथा तथा) जगुः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—इधर बाहर खड़े चारणों ने उस समय शङ्कर जी को प्रसन्न करने के लिए उनके सुन्दर चरित्र का मंगलगान करना प्रारम्भ किया और गन्धर्व लोग उसका साथ देने के लिए शङ्ख बजाने लगे ॥ ३२ ॥

ततः स्वसेवावसरे सुराणां गणांस्तदालोकनतत्पराणाम् ।
द्वारि प्रविश्य प्रणतोऽथ नन्दी निवेदयामास कृताञ्जलिः सन् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—ततः, स्वसेवावसरे, तदालोकनतत्पराणाम्, सुराणाम्, गणान्, नन्दी, प्रणतः, अथ, द्वारि, प्रविश्य, कृताञ्जलिः, सन्, निवेदयामास ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—ठीक इसी समय अपनी सेवा का उचित समय जानकर नन्दी उस घर के दरवाजे के भीतर गया और उसने हाथ जोड़कर भगवान् शङ्कर जी को सूचित किया कि सभी देवता आपके दर्शन की उत्सुकता लिए हुए बाहर प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

महेश्वरो मानसराजहंसीं करे दधानस्तनयां हिमाद्रेः ।
सम्भोगलीलालयतः सहेलं हरो बहिस्तानभि निर्जगाम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—महेश्वरः हरः, मानसराजहंसीम्, हिमाद्रेः, तनयाम्, करे, दधानः (सन्), सम्भोगलीलालयतः, बहिः, तानभि सहेलम् (यथा तथा), निर्जगाम् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—यह सुनकर भगवान शङ्कर अपने हृदय मानस में राजहंसी के समान विहार करने वाली पार्वती का हाथ पकड़े हुए देवताओं को दर्शन देने के लिए बड़ी प्रसन्नता के साथ उस सम्भोग-भवन से बाहर आए ॥ ३४ ॥

क्रमान्महेन्द्रप्रमुखाः प्रणेमुः शिरोनिबद्धाञ्जलयो महेशम् ।
प्रालेयशैलाधिपतेस्तनूजां देवीं च लोकत्रयमातरं ते ॥ ३५ ॥

अन्वयः—महेन्द्रप्रमुखाः ते, शिरोनिबद्धाञ्जलयः, महेशम्, प्रालेयशैलाधिपतेः, तनूजाम्, लोकत्रयमातरम्, देवीम्, च, क्रमात्, प्रणेमुः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—उन्हें देखते ही इन्द्र आदि प्रमुख देवताओं ने बारी-बारी से हाथ जोड़ कर सिर से लगाते हुए शङ्कर जी को तथा तीनों लोकों की माता हिमालय की पुत्री पार्वती जी को प्रणाम किया ॥ ३५ ॥

यथागतं तान्विबुधान्विसृज्य प्रसाद्य मानक्रियया प्रतस्थे ।
स नन्दिना दत्तभुजोऽधिरुह्य वृषं वृषाङ्कः सह शैलपुत्र्या ॥ ३६ ॥

अन्वयः—सः वृषाङ्कः, तान्, विबुधान्, मानक्रियया, प्रसाद्य, यथाग-

तम्, विसृज्य, नन्दिना, दत्तभुजः, शैलपुत्र्या, सह, वृषम्, अधिरुह्य, प्रतस्थे ॥ ३६ ॥

भावार्थ—इसके पश्चात् शङ्कर जी ने अत्यन्त सम्मानोचित सत्कार के साथ देवताओं को प्रसन्न करके विदा कर दिया और नन्दी के हाथ का सहारा लेते हुए पार्वती जी के साथ बैल पर सवार होकर वह स्वयं भी वहाँ से चल पड़े ॥ ३६ ॥

मनोतिवेगेन ककुद्मता स प्रतिष्ठमानो गगनाध्वनोऽन्तः ।
वैमानिकैः साञ्जलिभिर्ववन्द विहारहेलागतिभिर्गिरीशः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—मनोतिवेगेन, ककुद्मता, गगनाध्वगः, अन्तः, प्रतिष्ठमानः, सः, विहारहेलागतिभिः, वैमानिकैः, साञ्जलिभिः, ववन्दे ॥ ३७ ॥

भावार्थ—मन से भी तीव्र वेग वाले बैल पर बैठकर जिस समय शङ्करजी आकाश मार्ग से जाने लगे उस समय अपने-अपने विमानों पर बैठकर आकाश में विहार करने वाले देवताओं ने हाथ जोड़-जोड़ कर उनका अभिवादन किया ॥ ३७ ॥

स्वर्वाहिनीवारिविहारचारी रतान्तनारीश्रमशान्तिकारी ।
तौ परिजातप्रसवप्रसङ्गो मरुत्सिषेवे गिरिजागिरीशौ ॥ ३८ ॥

अन्वयः—तौ, गिरिजागिरीशौ, स्वर्वाहिनीवारिविहारचारी, रतान्तनारीश्रमशान्तिकारी, पारिजातप्रसवप्रसङ्गः, मरुत्, सिषेवे ॥ ३८ ॥

भावार्थ—उस समय आकाश गंगा के जलकणों से भरे तथा पारिजात के फूलों की सुगन्ध से सुवासित एवं रति के अंत में स्त्रियों की रतिजनित थकान को दूर करने वाले वायु ने चलकर शङ्कर जी तथा पार्वती जी की बड़ी सेवा की।३८।

पिनाकिनापि स्फटिकाचलेन्द्रः कैलासनामा कलिताम्बरांशः ।
धृतार्धसोमोऽद्भुतभोगिभोगो विभूतिधारी स्व इव प्रपेदे ॥ ३९ ॥

अन्वयः—पिनाकिना, अपि, कलिताम्बरांशः, धृतार्धसोमः, अद्भुतभोगिभोगः, विभूतिधारी, कैलासनामा, स्फटिकाचलेन्द्रः, स्वः इव, प्रपेदे ॥ ३९ ॥

भावार्थ—इस प्रकार चलते-चलते शङ्कर जी अपने समान ही महत्वशाली स्फटिक मणियों से निर्मित पहाड़ों के राजा कैलास पर पहुँचे । जिस प्रकार शङ्कर जी अपने महत्व के कारण चारों ओर आकाश से सुशोभित हैं उसी प्रकार कैलास भी चारों ओर आकाश से घिरा है । भगवान् शङ्कर जी अपनी चोटी पर अर्द्ध-चन्द्रमा को धारण करने वाले हैं तो कैलास अपनी चोटी पर 'सोम'

नामधारी शिव को धारण करने वाला है शङ्कर जी के शरीर पर भोगी (सांप) अद्भुत ढंग से भोग (विचरण) करते रहते हैं और कैलास पर भोगी लोग (कामी लोग) अद्भुत भोग (सम्भोग) करते रहते हैं। शङ्कर जी विभूतिधारी (भस्म रमाने वाले) हैं तो कैलास भी विभूतिधारी (रत्नमणि आदि ऐश्वर्यधारी) है। इस प्रकार दोनों की महत्ता एक जैसी ही है ॥ ३९ ॥

विलोक्य यत्र स्फटिकस्य भित्तौ सिद्धाङ्गनाः स्वं प्रतिबिम्बमारात् ।
भ्रान्त्या परस्या विमुखीभवन्ति प्रियेषु मानग्रहिला नमत्सु ॥ ४० ॥

अन्वयः—यत्र, स्फटिकस्य, भित्तौ, आरात्, स्वम्, प्रतिबिम्बम्, विलोक्य, परस्याः, भ्रान्त्या, मानग्रहिलाः, सिद्धाङ्गनाः, प्रियेषु, नमत्सु, अपि, विमुखीभवन्ति ॥ ४० ॥

भाषार्थ—उस कैलास पर्वत की स्फटिक निर्मित चट्टानों के पास अपने पतियों के साथ जाने वाली सिद्धों की स्त्रियाँ उसमें पड़े हुए प्रतिबिम्ब को देखकर भ्रम में यह समझ लेती हैं कि हमारे पति दूसरी स्त्रियों के साथ विहार कर रहे हैं, जिससे वे अपने पतियों के लाख मनाने पर भी रूठी ही रह जाती हैं ॥ ४० ॥

सुबिम्बितस्य स्फटिकांशुगुप्तेश्चन्द्रस्य चिह्नप्रकरः करोति ।
गौर्यार्पितस्येव रसेन यत्र कस्तूरिकाया शकलस्य लीलाम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—यत्र, सुबिम्बितस्य, स्फटिकांशुगुप्तेः, चन्द्रस्य, चिह्नप्रकरः, गौर्या, रसेन, अर्पितस्य, कस्तूरिकायाः शकलस्य, लीलाम्, करोति ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—जब उस स्फटिकमय कैलास पर चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो उसका उज्ज्वल अंश तो उसमें घुल मिलकर छिप जाता है और कलंक की छाया पड़ी रह जाती है, जो ऐसी प्रतीत होती है मानो पार्वती जी ने उसपर पीसी हुई कस्तूरी की पिंडी लगा दी हो ॥ ४१ ॥

यदीयभित्तौ प्रतिबिम्बताङ्गमात्मानमालोक्य रुषा करीन्द्राः ।
मत्तान्यकुम्भिभ्रमतोऽतिभीमदन्ताभिघातव्यसनं वहन्ति ॥४२॥

अन्वयः—करीन्द्राः, आत्मानम्, यदीयभित्तौ, प्रतिबिम्बिताङ्गम्, आलोक्य, मत्तान्यकुम्भिभ्रमतः, रुषा, अतिभीमदन्ताभिघातव्यसनम्, वहन्ति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—जिसकी दीवारों पर पड़ने वाली अपनी ही छाया देख-देख कर, उसे दूसरा मतवाला हाथी समझने वाले मतवाले हाथी क्रोध में आकर

उसपर अपने भयंकर दाँतों की चोट कर-करके उसके प्रतिघात से दुःखी होते रहते हैं ॥ ४२ ॥

निशासु यत्र प्रतिबिम्बितानि ताराकुलानि स्फटिकालयेषु ।
दृष्ट्वा रतान्तच्युततारहारमुक्ताभ्रमं बिभ्रति सिद्धवध्वः ॥४३॥

अन्वयः—यत्र, स्फटिकालयेषु, प्रतिबिम्बितानि, ताराकुलानि, निशासु, दृष्ट्वा, सिद्धवध्वः, रतान्तच्युततारहारमुक्ताभ्रमम्, बिभ्रति ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—जहाँ स्फटिकमणि से बने महलों पर पड़ती हुई तारों की छाया देखकर सिद्धों की स्त्रियाँ इस भ्रम में पड़ जाती है कि ये कहीं सम्भोग के समय टूटे हुए हार के बिखरे हुए मोतियों के दाने तो नहीं ॥ ४३ ॥

नभश्चरीमण्डनदर्पणश्रीः सुधानिधिर्मूर्धनि यस्य तिष्ठन् ।
अनर्घ्यचूडामणितामुपैति शैलाधिनाथस्य शिवालयस्य ॥ ४४ ॥

अन्वयः—नभश्चरीमण्डनदर्पणश्रीः, सुधानिधिः, यस्य, मूर्धनि, तिष्ठन्, शिवालयस्य, शैलाधिनाथस्य, अनर्घ्यचूडामणिताम्, उपैति ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—अप्सराओं के श्रृङ्गार-दर्पण के समान सुन्दर लगने वाला चन्द्रमा जब उस कैलास की चोटी पर पहुँच जाता है तो वह भगवान् शिव के निवास-स्थान हिमालय का अनमोल चूड़ामणि जैसा प्रतीत होने लगता है ॥ ४४ ॥

समीयिवांसो रहसि स्मरार्ता रिरंसवो यत्र सुराः प्रियाभिः ।
एकाकिनोऽपि प्रतिबिम्बभाजो विभान्ति भूयोभिरिवान्विताः स्वैः ॥४५॥

अन्वयः—यत्र, सुराः स्मरार्ताः (अत एव), रिरंसवः, प्रियाभिः (सह), एकाकिनः, अपि, रहसि समीयिवांसः, भूयोभिः, स्वैः, अन्विताः, इव, विभान्ति, (यतः), प्रतिबिम्बभाजः ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—कामभावना से व्याकुल देवता लोग जब अपनी-अपनी देवियों के साथ एकान्त विहार करने की अभिलाषा से वहाँ आते हैं तो अकेले होने पर भी उसपर पड़ने वाली अपनी अनेकों छायायें देखकर उन्हें ऐसा भ्रम हो जाता है मानो उनके अनेकों रूप हो गए हों ॥ ४५ ॥

देवोऽपि गौर्या सह चन्द्रमौलिर्यदृच्छया स्फाटिकशैलश्रृङ्गे ।
श्रृङ्गारचेष्टाभिरनारताभिर्मनोहराभिर्व्यहरच्चिराय ॥ ४६ ॥

अन्वयः—चन्द्रमौलिः, देवः, अपि, स्फाटिकशैलश्रृङ्गे, गौर्या, सह, यदृच्छया, मनोहराभिः (अत एव) अनारताभिः श्रृङ्गारचेष्टाभिः चिराय, व्यहरत् ॥ ४६ ॥

भावार्थ—उसी मनोहर कैलास की एक स्फटिकमयी चोटी पर अपनी प्रिया पार्वती जी के साथ भगवान् शंकर जी ने बहुत दिनों तक लगातार मनोनुकूल अनेक प्रकार की काम क्रीडाओं में अपना समय बिताया ॥ ४६ ॥

देवस्य तस्य स्मरसूदनस्य हस्तं समालिङ्ग्य सुविभ्रमश्रीः ।
सा नन्दिना वेत्रभृतोपदिष्टमार्गा पुरोगेण कलं चचाल ॥४७॥

अन्वयः—सुविभ्रमश्रीः, सा स्मरसूदनस्य, तस्य, देवस्य, हस्तम्, समालिङ्ग्य, वेत्रभृता, पुरोगेण, नन्दिना, उपदिष्टमार्गा, कलम् (यथा तथा), चचाल ॥४७॥

भावार्थ—अपनी रसमयी भाव-भंगियों से लुभावनी पार्वती शङ्कर जी के हाथ में हाथ डाले हुए उन पथों पर धीरे-धीरे घूमा करती थीं जिन्हें हाथ में बेंत लेकर आगे-आगे चलने वाला नान्दी बताता जाता था ॥ ४७ ॥

चलच्छिखाग्रो विकटाङ्गभङ्गः सुदन्तुरः शुक्लसुतीक्ष्णतुण्डः ।
भ्रुवोपदिष्टः स तु शङ्करेण तस्या विनोदाय ननर्त भृङ्गी ॥४८॥

अन्वय—चलच्छिखाग्रः, विकटाङ्गभङ्गः, सुदन्तुरः, शुक्लसुतीक्ष्णतुण्डः, सः (प्रसिद्धः), भृङ्गी, तस्याः, विनोदाय, शङ्करेण, भ्रुवा, उपदिष्टः (सन्), ननर्त ॥ ४८ ॥

भावार्थ—शंकर जी की भौंहों का संकेत पाकर सफेद ऊँचे तथा तेज दाँतों से युक्त मुँह, लहराती हुई चोटी तथा नृत्यकालीन विकट चेष्टाओं वाले नन्दी ने पार्वती जी का मन बहलाने के लिए अपना नृत्य दिखाना प्रारंभ किया ॥ ४८ ॥

कण्ठस्थलीलोलकपालमाला दंष्ट्राकरालाननमभ्यनृत्यत् ।
प्रीतेन तेन प्रभुणा नियुक्ता काली कलत्रस्य मुदे प्रियस्य ॥ ४९ ॥

अन्वयः—कण्ठस्थलीलोलकपालमाला, दंष्ट्रा करालाननम् (बिभ्रती), काली, प्रियस्य, कलत्रस्य, मुदे, तेन, प्रभुणा, प्रीतेन (सती), नियुक्ता, अभ्यनृत्यत् ॥ ४९ ॥

भावार्थ—तब अपनी प्रियपत्नी पार्वती को आनन्दित करने के लिए भगवान शंकर की प्रेरणा से गले में झूलती हुई खोपड़ियों की माला पहिने हुए भयावने दाँतों वाली कालिका भी नाचने लगी ॥ ४९ ॥

भयङ्करौ तौ विकटं नदन्तौ विलोक्य बाला भयविह्वलाङ्गी ।
सरागमुत्सङ्गमनङ्गशत्रोर्गाढं प्रसह्य स्वयमालिलिङ्ग ॥ ५० ॥

अन्वयः—विकटम्, नदन्तौ, भयङ्करौ, तौ, विलोक्य, भयविह्वलाङ्गी, बाला, प्रसह्य, स्वयम्, अनङ्गशत्रोः, उत्सङ्गम्, सरागम्, गाढम्, आलिलिङ्ग ।। ५० ।।

भाषार्थ--उन दोनों (शृंगी तथा कालिका) को भयंकर शब्द करते हुए देखकर भय से व्याकुल अंगों वाली पार्वती जी बलपूर्वक अत्यन्त प्रेम के साथ कामशत्रु शिव की गोद में स्वयं जाकर भलीभाँति चिपक गईं ।। ५१ ।।

उत्तुङ्गपीनस्तनपिण्डपीडं ससम्भ्रमं तत्परिरम्भमीशः ।
प्रपद्य सद्यः पुलकोपगूढः स्मरेण रूढप्रमदो ममाद ।। ५१ ।।

अन्वयः—ईशः, रूढमदः, उत्तुङ्गपीनस्तनपिण्डपीडम्, ससम्भ्रमम्, तत्, परिम्भम्, प्रपद्य, स्मरेण, सद्यः पुलकोपगूढः (सन्), ममाद ।। ५१ ।।

भाषार्थ--घबराहट में मतवाली पार्वती के चिपकने के समय उनके उठे हुए कठोर एवं गोल गोल स्तनों के छाती में लगते ही शंकर जी तत्काल ही रोमाञ्चित हो उठे और उनका कामवेग इतना बढ़ गया कि वह मतवाले हो गए ।। ५१ ।।

इति गिरितनुजाविलासलीलाविविधविभङ्गिभिरेष तोषितः सन् ।
अमृतकरशिरोमणिर्गिरीन्द्रे कृतवसतिर्वशिभिर्गणैर्ननन्द ।। ५२ ।

इति महाकवि-कालिदासकृतौ कुमारसंभवे महाकाव्ये
कैलासगमनो नाम नवमः सर्गः ।। ९ ।।

अन्वयः—गिरीन्द्रे, कृतवसतिर्वशिभिः, अमृतकरशिरोमणिः, एषः, इति, गिरितनुजाविलासलीलाविविधविभंगिभिः, तोषितः, सन्, वशिभिः, गणैः (सह), ननन्द ।। ५२ ।।

भाषार्थ--इस प्रकार पार्वती जी की अनेक भाव भंगियों से भरी क्रीड़ाओं तथा अनेक प्रकार की संभोग क्रियाओं से संतुष्ट होकर भगवान् शंकर जी अपने कैलासवासी गणों के साथ अत्यन्त प्रसन्न हुए ।। ५२ ।।

महाकवि कालिदासकृत कुमारसंभव महाकाव्य में
कैलास-गमन नाम नवाँ सर्ग समाप्त ।

दशमः सर्गः

(कुमार कार्तिकेय का जन्म)

आससाद सुनासीरं सदसि त्रिदशैः सह ।
एष त्रैयम्बकं तीव्रं वहन्वह्निर्महन्महः ॥ १ ॥

अन्वयः—एषः, वह्निः, तीव्रम्, महत्, त्रैयम्बकम्, महः वहन्, त्रिदशैः, सह, सदसि, सुनासीरम्, आससाद ॥ १ ॥

भावार्थ—अग्निदेव भगवान शंकर जी का वह तेजस्वी वीर्य लिये हुये देवताओं के साथ सभा में बैठे हुये इन्द्र के पास पहुँचे ॥ १ ॥

सहस्रेण दृशामीशः कुत्सिताङ्गं च सादरम् ।
दुर्दर्शनं ददर्शाग्निं धूम्रधूमितमण्डलम् ॥ २ ॥

अन्वयः—कुत्सिताङ्गम्, दुर्दर्शनम्, धूम्रधूमितमण्डलम्, अग्निम्, ईशः, दृशाम्, सहस्रेण, सादरं, ददर्श ॥ २ ॥

भावार्थ—इन्द्र ने बेढंगे अंगो के कारण अत्यन्त भद्दे तथा धुएं से काले पड़े हुए अग्निदेव को अपनी हजार आंखों से बड़े आदर के साथ देखा ॥ २ ॥

दृष्ट्वा तथाविधं वह्निमिन्द्रः क्षुब्धेन चेतसा ।
व्यचिन्तयच्चिरं किञ्चित्कन्दर्पद्वेषिरोषजम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—इन्द्रः, वह्निम्, तथाविघम्, दृष्ट्वा, क्षुब्वेन, चेतसा, कन्दर्पद्वेषिरोषजम्, किञ्चित्, चिरम्, व्यचिन्तयत् ॥ ३ ॥

भावार्थ—उन्होंने अग्नि का यह रूप देखकर अत्यंत दुःखी हृदय से थोड़ी देर विचार किया और यह निश्चय कर लिया कि अग्निदेव की यह दशा भगवान् शिव के क्रोध के कारण ही हुई है ॥ ३ ॥

स विलक्ष्यमुखैर्देवैर्वीक्ष्यमाणः क्षणं क्षणम् ।
उपाविशत्सुरेन्द्रेणादिष्टं सादरमासनम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—सः, विलक्ष्यमुखैः देवैः, क्षणम्, क्षणम्, वीक्ष्यमाणः (सन्), सुरेन्द्रेण, सादरम्, आदिष्टम्, आसनम्, उपाविशत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—अग्निदेव, इन्द्र द्वारा आदर के साथ दिए हुए आसन पर बैठ गए, जिन्हें मलिन मुंह से सभी देवता बार-बार देख रहे थे ॥ ४ ॥

हव्यवाह त्वयासादि दुर्दशेयं दशा कुतः ।
इति पृष्टः सुरेन्द्रेण स निःश्वस्य वचोऽवदत् ॥ ५ ॥

अन्वयः—सः (हे), हव्यवाह, त्वया, दुदशा इयम्, दशा, कुतः, आसादि, इति, सुरेन्द्रेण, पृष्टः (सन्), निःश्वस्य, वचः, अवदत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—तब इन्द्र ने अग्नि से पूछा कि हे अग्निदेव ! कहिए ! आपकी यह दुर्दशा किस प्रकार हुई ? इन्द्र के इस तरह पूछने पर लम्बी साँसें खींचते हुए अग्नि ने कहा ॥ ५ ॥

अनतिक्रमणीयात्ते शासनात्सुरनायक !
पारावतं वपुः प्राप्य वेपमानोऽतिसाध्वसात् ॥ ६ ॥
अभिगौरि रतासक्तं जगामाहं महेश्वरम् ।
कालस्येव स्मरारातेः स्वं रूपमहमासदम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—(हे), सुरनायक !, अहम्, पारावतम्, वपुः, प्राप्य, अनतिक्रमणीयात्, ते शासनात्, अभिगौरि, रतासक्तम् महेश्वरम्, जगाम, (अथ), अतिसाध्वसात्, वेपमानः, अहम्, कालस्य, इव, स्मराराते:, स्वम्, रूपम्, आसदम् ॥ ६-७ ॥

भाषार्थ—हे देवराज, आपकी अनुल्लंघनीय आज्ञा से मैं कबूतर बन कर डर से काँपता हुआ पार्वती जी के साथ सम्भोग करने में लगे हुए शंकर जी के पास जा पहुँचा किन्तु मुझे पहचानते ही जब वह काल के समान महा भयंकर हो उठे तब मैंने अपना सच्चा रूप ग्रहण कर लिया ॥ ६-७ ॥

दृष्ट्वा छद्मविहङ्गं मां सुज्ञो विज्ञाय जम्भभित् ।
ज्वलद्भालानले होतुं कोपनो माममन्यत ॥ ८ ॥

अन्वयः—(हे) जम्भभित्, सुज्ञः, माम्, दृष्ट्वा, छद्मविहङ्गम्, विज्ञाय, कोपनः, माम्, ज्वलद्भालानले, होतुम्, अमन्यत ॥ ८ ॥

भाषार्थ—हे इन्द्र ! सर्वज्ञ शंकर जी ने मुझे पक्षी के कपटवेष में देखते ही पहचान लिया और क्रुद्ध होकर मुझे अपने ललाट की जलती हुई अग्नि में झोंक कर भस्म करने का निश्चय कर लिया ॥ ८ ॥

वचोभिर्मधुरैः सार्थैर्विनम्रेण मया स्तुतः ।
प्रीतिमानभवद्देवः स्तोत्रं कस्य न तुष्टये ॥ ९ ॥

अन्वयः—मया, विनम्रेण, सार्थैः, मधुरैः, वचोभिः, स्तुतः देवः, प्रीतिमान्, अभवत्, स्तोत्रम्, कस्य तुष्टये, न ॥ ९ ॥

भाषार्थ—जब मैंने विनम्र होकर अभिप्राय युक्त मधुर वाणी से उनकी स्तुति की तो वह प्रसन्न हो गए क्योंकि अपनी प्रशंसा सभी को अच्छी लगती है ॥ ९ ॥

शरण्यः सकलत्राता मामत्रायत शङ्करः ।
क्रोधाग्नेर्ज्वलतो ग्रासात् त्रासतो दुर्निवारतः ॥ १० ॥

अन्वयः—शरण्यः, सकलत्राता, शङ्करः, ज्वलतः, दुर्निवारतः, क्रोधाग्नेः ग्रासात्, त्रासतः, माम्, अत्रायत ॥ १० ॥

भाषार्थ—शरण में आने वालों तथा सारे संसार की रक्षा करने वाले भगवान् शिव ने अपनी जलती हुई अनिवार्य क्रोधाग्नि में आहुति बन जाने के भय से मुझे बचा लिया ॥ १० ॥

परिहृत्य परीरम्भरभसं दुहितुर्गिरेः ।
कामकेलिरसोत्सेकाद् व्रीडया विरराम सः ॥ ११ ॥

अन्वयः—सः, गिरेः, दुहितुः, परीरम्भरभसम्, परिहृत्य, व्रीडया, कामकेलिरसोत्सेकात्, विरराम ॥ ११ ॥

भाषार्थ—तब उन्होंने तुरंत ही पार्वती जी के कसे हुए आलिंगनपाश से अपने को मुक्त कर लिया और लज्जित होकर सम्भोग-रस की इच्छा छोड़ कर उनसे अलग हो गए ॥ ११ ॥

रङ्गभङ्गच्युतं रेतस्तदामोघं सुदुर्वहम् ।
त्रिजगद्दाहकं सद्यो मद्विग्रहमधि न्यधात् ॥ १२ ॥

अन्वयः—तदा, रङ्गभङ्गच्युतम्, अमोघम्, त्रिजगद्दाहकम्, सुदुर्वहम् रेतः, मद्विग्रहम्, अधि, सद्यः, न्यधात् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—उस समय बीच ही में रति-क्रिया भंग हो जाने से उनका जो अचूक असह्य एवं तीनों लोकों को जलाने में समर्थ वीर्य क्षरित हुआ उसे उन्होंने मेरे शरीर में डाल दिया ॥ १२ ॥

दुर्विषह्येण तेनाहं तेजसा दहनात्मना ।
निर्दग्धमात्मनो देहं दुर्वहं वोढुमक्षमः ॥ १३ ॥

अन्वयः—दहनात्मना, दुर्विषह्येण, तेन, तेजसा, निर्दग्धम्, दुर्वहम्, आत्मनः, देहम्, वोढुम्, अहम्, अक्षमः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—उस जलाने वाले वीर्य के असह्य तेज से मैं इतना जला जा रहा हूँ कि अब मुझ में इस शरीर का असह्य बोझ ढोने की शक्ति नहीं रह गयी है ॥ १३ ॥

रौद्रेण दह्यमानस्य महसातिमहीयसा ।
मम प्राणपरित्राणप्रगुणो भव वासव ॥ १४ ॥

अन्वयः—(हे) वासव ! अतिमहीयसा, रौद्रेण, महसा, दह्यमानस्य, मम, प्राणपरित्राणप्रगुणः, मव ॥ १४ ॥

भावार्थ—इसलिए हे इन्द्र ! भगवान् शंकर के महाभयानक तेज में भस्म होने वाले मुझ दुःखी के प्राणों की रक्षा करने का यश प्राप्त कीजिए ॥ १४ ॥

इति श्रुत्वा वचो वह्नेः परितापोपशान्तये ।
हेतुं विचिन्तयामास मनसा विबुधेश्वरः ॥ १५ ॥

अन्वयः—विबुधेश्वरः, वह्नेः, इति, वचः, श्रुत्वा, परितापोशान्तये, मनसा, हेतुम्, विचिन्तयामास ॥ १५ ॥

भावार्थ—ऐसी बातें सुनकर देवताओं के स्वामी इन्द्र मन ही मन अग्नि की जलन मिटाने के लिए कोई उपाय सोचने लगे ॥ १५ ॥

तेजोदग्धानि गात्राणि पाणिनास्य परामृशन् ।
किञ्चित्कृपीटयोनिं तं दिवस्पतिरभाषत ॥ १६ ॥

अन्वयः—दिवस्पतिः, तम् कृपीटयोनिम्, तेजोदग्धानि, अस्य गात्राणि, पाणिना, परामृशन्, किञ्चित्, अमाषत ॥ १६ ॥

भावार्थ—तब शंकर जी के महातेज से जलते हुए अग्नि के अंगों पर हाथ फेरते हुए देवराज इन्द्र ने उनसे कहा ॥ १६ ॥

प्रीतः स्वाहास्वधाहन्तकारैः प्रीणयसे स्वयम् ।
देवान्पितृन्मनुष्याँस्त्वमेकस्तेषां मुखं यतः ॥ १७ ॥

अन्वयः—(भो अग्ने !), त्वम्, प्रीतः (सन्), स्वाहास्वधाहन्तकारैः, देवान्, पितृन् मनुष्यान् (च), स्वयम्, प्रीणयसे, यतः (त्वम्), एकः, (एव), तेषाम् मुखम् असि ॥ १७ ॥

भावार्थ—हे अग्निदेव, तुम 'स्वाहा', 'स्वधा' और 'वषट्' कहकर हवन करने के कारण स्वयम् प्रसन्न होकर देवताओं पितरों और मनुष्यों को भी प्रसन्न कर देते हो। क्योंकि केवल तुम्हीं उन सभी लोगों के मुख हो अर्थात् तुम्हारे ही मुख से सभी को अपना-अपना यज्ञ भाग प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

त्वयि जुह्वति होतारो हवींषि ध्वस्तकल्मषाः ।
भुञ्जन्ति स्वर्गमेकस्त्वं स्वर्गप्राप्तौ हि कारणम् ॥ १८ ॥

अन्वयः—होतारः, हवींषि, त्वयि जुह्वति, ध्वस्तकल्मषाः, स्वर्गम्, भुञ्जन्ति, हि, त्वम् एकः, स्वर्गप्राप्तौ, कारणम् ॥ १८ ॥

भावार्थ—तुझमें हवन करने वाले होतागण सभी पापों से छुटकारा पाकर स्वर्गलोक में चले जाते हैं, क्योंकि स्वर्गप्राप्ति के सहायक एकमात्र तुम्हीं हो ॥ १८ ॥

हवींषि मन्त्रपूतानि हुताश त्वयि जुह्वतः ।
तपस्विनस्तपःसिद्धिं यान्ति त्वं तपसां प्रभुः ॥ १९ ॥

अन्वयः—(भो) हुताश !, तपस्विनः, मन्त्रपूतानि, हवींषि, त्वयि, जुह्वतः, तपः सिद्धिम्, यान्ति, (यतः), त्वम्, तपसाम्, प्रभुः ॥ १९ ॥

भावार्थ—हे अग्निदेव, तुझमें मंत्रों से पवित्र की गई हवन-सामग्री की आहुति देने वाले तपस्वी अपनी तपस्या का पूरा फल पा जाते हैं, क्योंकि तुम्हीं तप के एक मात्र देवता हो ॥ १९ ॥

निधत्से हुतमर्काय स पर्जन्योऽभिवर्षति ।
ततोऽन्नानि प्रजास्तेभ्यस्तेनासि जगतः पिता ॥ २० ॥

अन्वयः—(त्वम्), अर्काय, हुतम्, निधत्से, 'अतः' सः पर्जन्यः (सन्), अभिवर्षति, ततः, अन्नानि (उत्पद्यन्ते) तेभ्यः, प्रजाः (जायन्ते), तेन, जगतः, पिता (असि) ॥ २० ॥

भावार्थ—तुम सूर्य के निमित्त दी गई आहुति को धरोहर की भाँति लेकर उनके पास पहुँचा देते हो, जिससे सूर्य उसे बादल बनाकर बरसा देते हैं, जो अन्न की उत्पत्ति करता है, जिसे खाकर समस्त संसार के प्राणी जीते हैं। अतः तुम्हीं संसार के पिता भी हो ॥ २० ॥

अन्तश्चरोऽसि भूतानां तानि त्वत्तो भवन्ति च ।
ततो जीवितभूतस्त्वं जगतः प्राणदोऽसि च ॥ २१ ॥

अन्वयः—त्वम्, भूतानाम्, अन्तश्चरः, असि, तानि, च, त्वत्तः, भवन्ति, ततः, त्वम्, जीवितभूतः, जगतः, प्राणदः, च, असि ॥ २१ ॥

भावार्थ—तुम्हीं सभी प्राणियों के भीतर निवास करते हो और सभी प्राणी तुम्हीं से उत्पन्न भी होते हैं। इसलिए तुम्हीं संसार के जीवन और उसके प्राणदाता भी हो ॥ २१ ॥

जगतः सकलस्यास्य त्वमेकोऽस्युपकारकृत् ।
कार्योपपादने तत्र त्वत्तोऽन्यः कः प्रगल्भते ॥ २२ ॥

अन्वयः—त्वम्, एकः, अस्य, सकलस्य, जगतः, उपकारकृत्, तत्र, कार्योपपादने, त्वत्तः, अन्यः, कः, प्रगल्भते ॥ २२ ॥

भावार्थ—इस सम्पूर्ण जगत की भलाई करने वाले एक मात्र तुम्हीं हो अतः हमारे उस कार्य को पूरा करने में तुम्हें छोड़कर और कौन समर्थ हो सकता है ॥ २२ ॥

अमीषां सुरसङ्घानां त्वमेकोऽर्थसमर्थने ।
विपत्तिरपि संश्लाघ्योपकारव्रतिनोऽनल ॥ २३ ॥

अन्वयः—(भो) अनल ! अमीषाम्, सुरसङ्घानाम्, अर्थसमर्थने त्वम्, एकः, अपि (असि), उपकारव्रतिनः, विपत्तिः संश्लाघ्यः, (भवति) ॥ २३ ॥

भावार्थ—हे अग्निदेव, इन सभी देवताओं का काम पूरा कर सकने वाले एक मात्र तुम्हीं हो। और दूसरों की भलाई करने का व्रत लेने वालों की ऐसी विपत्ति भी प्रशंसा के योग्य ही होती है ॥ २३ ॥

देवी भागीरथी पूर्वं भक्त्यास्माभिः प्रतोषिता ।
निमज्जतस्तवोदीर्णं तापं निर्वापयिष्यति ॥ २४ ॥

अन्वयः—पूर्वम्, अस्माभिः, भक्त्या, प्रतोषिता, भागीरथी, देवी, निमज्जतः, तव, उदीर्णम्, तापम्, निर्वापयिष्यति ॥ २४ ॥

भावार्थ—हम लोगों ने बहुत पहले ही देवी गंगाको अपनी भक्तिभावना से सन्तुष्ट कर लिया है। अतः उनकी धारा में डुबकी लगाते ही वह तुम्हारी इस भयंकर जलन को शान्त कर देंगी ॥ २४ ॥

गङ्गां तद्गच्छ मा कार्षीर्विलम्बं हव्यवाहन ।
कार्येष्ववश्यकार्येषु सिद्धये क्षिप्रकारिता ॥ २५ ॥

अन्वयः—(भो) हव्यवाहन !, तत्, गङ्गाम्, गच्छ, विलम्बम्, मा, कार्षीः (तथा हि,) अवश्यकार्येषु, सिद्धये, कार्येषु, क्षिप्रकारिता ॥ २५ ॥

भावार्थ—इसलिए हे अग्निदेव ! अब देर न करो शीघ्र ही गंगाजी के पास पहुँचो। क्योंकि जिस कार्य को पूरा करने का निश्चय कर लिया जाय तो उसकी सफलता के लिए शीघ्रता करना अत्यन्त आवश्यक होता है ॥ २५ ॥

शम्भोरम्भोमयी मूर्तिः सैव देवी सुरापगा ।
त्वत्तः स्मरद्विषो बीजं दुर्धरं धारयिष्यति ॥ २६ ॥

अन्वयः—शम्भोः, अम्भोमयी, मूर्तिः देवी, सा, सुरापगा, एव, दुर्धरम्, स्मरद्विषः, बीजम्, त्वत्तः (आदाय), धारयिष्यति ॥ २६ ॥

भावार्थ—गंगाजी भगवान् शंकर जी की ही जलमयी मूर्ति हैं अतः वही उनके दुर्धर्ष वीर्य को तुमसे लेकर स्वयम् धारण कर लेंगी ॥ २६ ॥

इत्युदीर्य सुनासीरो विरराम स चानलः ।
तद्विसृष्टस्तमापृच्छ्य प्रतस्थे स्वर्धुनीमभि ॥ २७ ॥

अन्वयः—इति, उदीर्य, सुनासीरः, विरराम, सः, अनलः, च, तद्विसृष्टः, तम्, आपृच्छ्य, स्वर्धुनीम्, अभिप्रतस्थे ॥ २७ ॥

भावार्थ—इस प्रकार कहकर इन्द्र तो चुप हो गए और अग्निदेव उनसे विदा होकर पुनः उनकी आज्ञा से गंगा जी की ओर चल पड़े ॥ २७ ॥

हिरण्यरेतसा तेन देवी स्वर्गतरङ्गिणी ।
तीर्णाध्वना प्रपेदे सा निःशेषक्लेशनाशिनी ॥ २८ ॥

अन्वयः—तेन, तीर्णाध्वना, हिरण्यरेतसा, निःशेषक्लेशनाशिनी, सा (प्रसिद्धा), स्वर्गतरंगिणी, देवी, प्रपेदे ॥ २८ ॥

भावार्थ—अग्निदेव चलते-चलते सभी दुखों को नष्ट करने वाली गंगा के किनारे पहुँचे ॥ २८ ॥

स्वर्गारोहणनिःश्रेणिर्मोक्षमार्गाधिदेवता ।
उदारदुरितोद्गारहारिणी दुर्गतारिणी ॥ २९ ॥

अन्वय—स्वर्गारोहणनिःश्रेणिः (पुनः), मोक्षमार्गाधिदेवता, उदारदुरितोद्गारहारिणी, दुर्गतारिणी ॥ २९ ॥

भावार्थ—वह गंगा स्वर्ग जाने के मार्ग की सीढ़ी, मुक्तिमार्ग की देवी बड़े-बड़े पापों को दूर करनेवाली और कठिनाइयों से पार लगा देने वाली हैं ॥२९॥

महेश्वरजटाजूटवासिनी पापनाशिनी ।
सगरान्वयनिर्वाणकारिणी धर्मधारिणी ॥ ३० ॥

अन्वयः—महेश्वरजटाजूटवासिनी पापनाशिनी, सगरान्वयनिर्वाणकारिणी, धर्मधारिणी ॥ ३० ॥

भावार्थ—वह शङ्कर जी की जटाओं में रहने वाली, पापों को दूर करने वाली सगर के पुत्रों को मुक्ति देने वाली तथा धर्म की रक्षा करने वाली हैं ॥३०॥

विष्णुपादोदकोद्भूता ब्रह्मलोकादुपागता ।
त्रिभिः स्रोतोभिरश्रान्तं पुनाना भुवनत्रयम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—विष्णुपादोदकोद्भूता, ब्रह्मलोकात्, उपागता, त्रिभिः, स्रोतोभिः, भुवनत्रयम्, अश्रान्तम्, पुनाना ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—वह भगवान् विष्णु के चरण धोने के जल से उत्पन्न होकर ब्रह्मलोक से उतरी हुई हैं और अपनी तीन धाराओं से तोंनों लोंकों को निरन्तर पवित्र करती रहती हैं ॥ ३१ ॥

जातवेदसमायान्तमूर्मिहस्तैः समुत्थितैः ।
आजुहावार्थसिद्ध्यै तं सुप्रसादधरेव सा ॥ ३२ ॥

अन्वयः—सुप्रसादधरा, सा, आयान्तम्; तम् जातवेदसम्, अर्थसिद्ध्यै, समुत्थितैः, ऊर्मिहस्तैः, इव, आजुहाव ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—उस गंगा जी की उठती हुई लहरें ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो अग्निदेव को आते हुए देख कर वह प्रसन्न मन से उनकी कार्य-सिद्धि के लिए हाथ उठाकर बुला रही हों ॥ ३२ ॥

सम्मिलद्भिर्मरालैः सा कलं कूजद्भिरुन्मदैः ।
ददे श्रेयांसि दुःखानि निहन्मीति तमभ्यधात् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—सम्मिलद्भिः, उन्मदैः, कलम्, कूजद्भिः, मरालैः, सा, तम्, अभ्यधात्, इति, श्रेयांसि, ददे, दुःखानि, निहन्मि ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—गंगा जी के किनारे बहुत से हंस एक साथ मतवाले बने कलरव करते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो गंगा जी मधुर वाणी से अग्निदेव को सान्त्वना दे रही हों कि मैं तुम्हारा अवश्य कल्याण करूंगी और तुम्हारे दुःखों का विनाश करूँगी ॥ ३३ ॥

कल्लोलैरुदगतैरर्वाचीनं तटमभिद्रुतैः ।
प्रीतेव तमभीयाय स्वर्धुनी जातवेदसम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—स्वर्धुनी, प्रीता, उद्गतैः, अर्वाचीनम्, तटम्, अभिद्रुतैः, कल्लोलैः, तम्, जातवेदसम्, अभीयाय, इव (सम्मुखीबभूव)॥ ३४ ॥

भाषार्थ--गंगा जी की ऊँची उठती हुई तथा हरहर करती हुई किनारे की ओर आने वाली लहरें ऐसी प्रतीत हो रही थीं मानो गंगा जी प्रसन्न मन से आगे बढ़कर अग्निदेव का स्वागत करने आ रही हों ॥ ३४ ॥

अथाभ्युपेतस्तापार्तो निममज्जानलः किल ।
विपदा परिभूताः किं व्यवस्यन्ति विलम्बितुम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अथ, तापार्तः,अभ्युपेतः, अनलः, किल, निममज्ज, विपदा, परिभूताः विलम्बितुम्, किम्, व्यवस्यन्ति ।। ३५ ।

भावार्थ—उस वीर्यतेज से जलते हुए अग्नि देव वहाँ पहुँचते ही झट गंगा में कूद पड़े । क्योंकि विपत्तियों में पड़े हुए लोग थोड़ी देर भी रुकने का धैर्य नहीं रख पाते ।। ३५ ।।

गङ्गावारिणि कल्याणकारिणि श्रमहारिणि ।
स मग्नो निर्वृतिं प्राप पुण्यभारिणि तारिणि ।। ३६ ।।

अन्वय—सः, कल्याणकारिणि, श्रमहारिणि, पुण्यभारिणि तारिणि, गङ्गावारिणि, मग्नः, निर्वृतिम्, प्राप ।। ३६ ।।

भाषार्थ—कल्याण देने वाले, थकावट दूर करने वाले, अत्यंत पवित्र तथा तारने वाले गंगाजल में डुबकी लगाते ही अग्नि देव सुखी हो गए ।। ३६ ।।

तत्र माहेश्वरं धाम सञ्चक्राम हविर्भुजः ।
गङ्गायामुत्तरङ्गायामन्तस्तापविपद्धृतिः ।। ३७ ।।

अन्वयः—माहेश्वरम्, धाम, हविर्भुजः, तत्र, गङ्गायाम्, सञ्चक्राभ, अन्तस्तापविपद्धृति, उत्तरङ्गायाम्, (सञ्चक्राम) ।। ३७ ।।

भाषार्थ—भीतर ही भीतर तेज से दहकता हुआ शंकर जी का वीर्य अग्नि देव के शरीर से निकल कर ऊँची तरंगों वाली गंगा में चला गया ।। ३७ ।।

कृशानुरेतसो रेतस्यादृते सरिता तया ।
निश्चक्राम ततः सौख्यं हव्यवाहो वहन्बहु ।। ३८ ।।

अन्वयः—तया, सरिता, कृशानुरेतसः, रेतसि, आदृते, हव्यवाहः, बहु, सौख्यम्, वहन्, ततः, निश्चक्राम ।। ३८ ।।

भाषार्थ—जब गंगा जी ने शिव जी के तेजस्वी वीर्यं को आदर के साथ ले लिया तब अग्नि देव बहुत सुखी होकर जल के बाहर निकल आए ।। ३८ ।।

सुधासारैरिवाम्भोभिरभिषिक्तो हुताशनः ।
यथागतं जगामाथ परां निर्वृतिमादधत् ।। ३९ ।।

अन्वयः—अथ, सुधासारैः, इव अम्भोभिः, अभिषिक्तः, पराम्, निर्वृतिम्, आदधत्, हुताशनः, यथागतम्, जगाम ।। ३९ ।।

भाषार्थ—इसके पश्चात् अमृत समान गंगा-जल से भली-भाँति शीतल होकर अग्नि देव बड़े सुख के साथ जहाँ से आए थे वहाँ चले गए ।। ३९ ।।

सा सुदुर्विषहं गङ्गा धाम कामजितो महत्।
आदधाना परीतापमवाप व्योमवाहिनी ॥ ४० ॥

अन्वयः—व्योमवाहिनी, सा, गङ्गा, कामजितः, महत्, सुदुर्विषहम्, धाम, आदधाना, परीतापम्, अवाप ॥ ४० ॥

भावार्थ—भगवान शंकर के महातेजस्वी असह्य वीर्य को धारण करके आकाश में बहने वाली गंगा भी ताप के कारण उबल उठीं ॥ ४० ॥

बहिरार्ता युगान्ताग्नेस्तप्तानीव शिखाशतैः।
हित्वोष्णानि जलान्यस्या निर्जग्मुर्जलजन्तवः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—जलजन्तवः, आर्ता, युगान्ताग्नेः, शिखाशतैः, तप्तानि, इव, उष्णानि, अस्याः, जलानि, हित्वा, बहिः, निर्जग्मुः ॥ ४१ ॥

भावार्थ—प्रलयाग्नि की सैकड़ों लपटों से उबलते हुए जैसे गंगा के जलते हुए जल को छोड़ कर उसमें रहने वाले सभी जीव घबरा कर बाहर निकल आए ॥ ४१ ॥

तेजसा तेन रौद्रेण तप्तानि सलिलान्यपि।
समुदञ्चन्ति चण्डानि दुर्धराणि बभार सा ॥ ४२ ॥

अन्वयः—सा रौद्रेण, तेन, तेजसा, तप्तानि, समुदञ्चन्ति, चण्डानि, दुर्धराणि सलिलानि, बभार ॥ ४२ ॥

भावार्थ—भगवान शंकर के महा तेजस्वी वीर्य से गंगा का जल इतना उत्तप्त हो गया कि उबल-उबल कर बाहर आने लगा किन्तु गंगा जी उस भयंकर और असह्य उत्तप्त जल को धारण किए रहीं ॥ ४२ ॥

जगच्चक्षुषि चण्डांशौ किञ्चिदभ्युदयोन्मुखे।
जग्मुः षट्कृत्तिका माघे मासि स्नातुं सुरापगाम् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—माघे, मासि, जगच्चक्षुषि, चण्डांशौ, किञ्चित्, अभ्युदयोन्मुखे, षट्कृत्तिकाः, स्नातुम्, सुरापगाम्, जग्मुः ॥ ४३ ॥

भावार्थ—माघ के महीने में एक दिन जब संसार के नेत्र तथा तीखी किरणों वाले सूर्यदेव थोड़े-थोड़े निकल रहे थे उस समय छओं कृत्तिकाएँ गंगा में स्नान करने के लिए आईं ॥ ४३ ॥

शुभ्रैरभ्रंकषैरूर्मिशतैः स्वर्गनिवासिनाम्।
कथयन्तीमिवालोकावगाहाचमनादिकम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—आलोकावगाहाचमनादिकम्, स्वर्गनिवासिनाम्, अभ्रंकषैः, शुभ्रैः, ऊर्मिशतैः, कथयन्ती, इव ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—उस समय उछल-उछल कर आकाश चूमने वाली गंगा की हजारों उजली लहरें ऐसी लग रही थीं मानों वह यह कह रही हों कि देवता लोग यहीं आकर दर्शन, स्नान तथा आचमन किया करते हैं ॥ ४४ ॥

सुस्नातानां मुनीन्द्राणां बलिकर्मोचितैरलम् ।
बहिः पुष्पोत्करैः कीर्णतीरां दूर्वाक्षतान्वितैः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सुस्नातानाम्, मुनीन्द्राणाम्, बलिकर्मोचितैः, दूर्वाक्षतान्वितैः, पुष्पोत्करैः, बहिः, अलम्, कीर्णतीराम् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—वहाँ गंगा तट पर फूल, दूब, अक्षत आदि पूजा की सामग्रियाँ बिखरी हुई थीं, जिन्हें भली-भाँति स्नान पूजा करके मुनियों ने चढ़ाई थीं ॥ ४५ ॥

ब्रह्मध्यानपरैर्योगपरैर्ब्रह्मासनस्थितैः ।
योगनिद्रागतैर्योगपट्टबन्धैरुपाश्रिताम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—ब्रह्मासनस्थितैः, ब्रह्मध्यानपरैः, योगनिद्रागतैः, योगपट्टबन्धैः, योगपरैः, उपाश्रिताम् ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—उसी किनारे पद्मासन लगाए, ब्रह्म का ध्यान करते हुए योग-साधन में लगे तथा समाधि लगाए हुए मुनि लोग कमर से घुटने तक कपड़ा ओढ़े बैठे हुए थे ॥ ४६ ॥

पादाङ्गुष्ठाग्रभूमिस्थैः सूर्यसम्बद्धदृष्टिभिः ।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपसेविताम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—पादाङ्गुष्ठाग्रभूमिस्थैः (तथा), सूर्यसम्बद्धदृष्टिभिः, परम्, ब्रह्म, गृणद्भिः, ब्रह्मर्षिभिः उपसेविताम् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—वहीं पाँव के अँगूठों पर खड़े होकर सूर्य की ओर दृष्टि लगाए ब्रह्मर्षि लोग जप करते हुए ब्रह्म-ध्यान में लगे हुए थे ॥ ४७ ॥

अथ दिव्यां नदीं देवीमभ्यनन्दन्विलोक्य ताः ।
कं नाभिनन्दयत्येषा दृष्टा पीयूषवाहिनी ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अथ, ताः, दिव्याम्, नदीम्, देवीम्, विलोक्य, अभ्यनन्दन्, एषा, पीयूषवाहिनी, दृष्टा, कम्, न, अभिनन्दयति ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—उस पवित्र गंगा को देख कर छओं कृत्तिकाएँ प्रसन्न हो उठीं,

क्योंकि ऐसी अमृत-भरी गंगा को देख कर भला कौन आनन्दित नहीं हो सकता है ? ॥ ४८ ॥

चन्द्रचूडामणिर्देवो यामुद्वहति मूर्धनि ।
यस्या विलोकनं पुण्यं श्रद्दधुस्तां मुदा हृदि ॥ ४९ ॥

अन्वयः—चन्द्रचूडामणिः, देवः, मूर्धनि, याम्, उद्वहति, यस्याः, विलोकनम्, पुण्यम्, ताम्, हृदि, मुदा, श्रद्दधुः ॥ ४९ ॥

भावार्थ—जिस गंगा को स्वयं भगवान शिव अपने सिर पर धारण करते हैं तथा जिनका दर्शन करने से ही पुण्य प्राप्त होता है उसी गंगा को देख कर उन कृत्तिकाओं के हृदय में बड़ी प्रसन्नता हुई और उनके प्रति विशेष श्रद्धा उमड़ चली ॥ ४९ ॥

दिव्यां विष्णुपदीं देवीं निर्वाणपददेशिनीम् ।
निर्धूतकल्मषां मूर्ध्ना सुप्रह्वास्ता ववन्दिरे ॥ ५० ॥

अन्वयः—निर्वाणपददेशिनीम्, निर्धूतकल्मषाम्, दिव्याम्, विष्णुपदीम्, देवीम्, सुप्रह्वाः, ताः, मूर्ध्ना, ववन्दिरे ॥ ५० ॥

भावार्थ—अत्यन्त पवित्र, विष्णु के चरणों से उत्पन्न, मोक्ष देने वाली तथा सभी पापों को नष्ट करने वाली गंगा को उन कृत्तिकाओं ने भली-भाँति सिर झुका कर प्रणाम किया ॥ ५० ॥

सौभाग्यैः खलु सुप्राप्रां मोक्षप्रतिभुवं सतीम् ।
भक्त्यात्र तुष्टुवुस्तां ताः श्रद्दधानां दिवो धुनीम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अत्र ताः, श्रद्दधानाः, सौभाग्यैः, सुप्रापाम्, मोक्षप्रतिभुवम्, सतीम्, ताम्, दिवः, धुनीम्, तुष्टुवुः खलु ॥ ५१ ॥

भावार्थ—जिनका दर्शन बड़े सौभाग्य से होता है और जो मुक्ति का साक्षात् रूप ही हैं, उन्हीं पतिव्रता गंगा की स्तुति कृत्तिकाओं ने भक्ति-भाव के साथ किया ॥ ५१ ॥

मुक्तिस्त्रीसङ्गदूत्यज्ञैस्तत्र ता विमलैर्जलैः ।
प्रक्षालितमलाः सस्नुः सुस्नातातास्तपसान्विताः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—ताः, विमलैः, मुक्तिस्त्रीसङ्गदूत्यज्ञैः विमलैः जलैः प्रक्षालितमलाः, तत्र, सस्नुः सुस्नाताः, तपसान्विताः ॥ ५२ ॥

भावार्थ—मुक्ति के पास तक पहुँचा देने में समर्थ उस गंगा के निर्मल जल से अपने सारे पापों को धोती हुई कृतिकाओं ने गंगा में भली-भाँति मग्न होकर स्नान किया ॥ ५२ ॥

स्नात्वा तत्र सुलभ्यायां भाग्यैः परिपचेलिमैः ।
चरितार्थं स्वमात्मानं बहु ता मेनिरे मुदा ॥ ५३ ॥

अन्वयः—परिपचेलिमैः, माग्यैः, सुलभ्यायाम्, तत्र, स्नात्वा, ताः, स्वम्, आत्मानम्, मुदा, बहु, चरितार्थम्, मेनिरे ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—जिन गंगा जी में पिछले जन्म के संचित सौभाग्यों द्वारा ही स्नान करने का अवसर प्राप्त होता है, उन गंगा जी में आनन्द के साथ स्नान करके कृत्तिकाओं ने अपने को बहुत ही धन्य समझा ॥ ५३ ॥

कृशानुरेतसो रेतस्तासामभिकलेवरम् ।
अमोघं सञ्चचाराथ सद्यो गङ्गावगाहनात् ॥ ५४ ॥

अन्वय—अथ, गंगावगाहनात्, अमोघम्, कृशानुरेतसः, रेतः, सद्यः, तासाम्, अभिकलेवरम्, सञ्चार ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—गंगा में स्नान करते ही शंकर जी का अचूक वीर्य गंगा के जल से निकल कर उन कृत्तिकाओं के शरीर में प्रविष्ट हो गया ॥ ५४ ॥

रौद्रं सुदुर्धरं धाम दधाना दहनात्मकम् ।
परितापमवापुस्ता मग्ना इव विषाम्बुधौ ॥ ५५ ॥

अन्वयः—दहनात्मकम्, सुदुर्धरम्, रौद्रम्, धाम, दधानाः ताः, विषाम्बुधौ, मग्नाः, इव, परितापम्, अवापुः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—शंकर जी के अग्नि जैसे उस असह्य वीर्य को धारण करते ही कृत्तिकाएँ अत्यन्त जल सी उठीं मानो वह विष के समुद्र में डूब सी गयी हों ॥ ५५ ॥

अक्षमा दुर्वहं वोढुमम्बुनो बहिरातुराः ।
अग्निं ज्वलन्तमन्तस्ता दधाना इव निर्ययुः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—दुर्वहम्, वोढुम्, अक्षमाः, आतुराः, ताः, अन्तः, ज्वलन्तम्, अग्निम्, इव, दधानाः, अम्बुनः, वहिः, निर्ययुः ॥ ५६ ।

भाषार्थ—उस असह्य तेज को धारण करने में असमर्थ होने से अत्यन्त व्याकुल होकर वह कृत्तिकाएँ अपने भीतर जलती हुई आग सी लिए हुए जल के वाहर निकल आईं ॥ ५६ ॥

अमोघं शाम्भवं बीजं सद्यो नद्योज्झितं महत् ।
तासामभ्युदरं दीप्तं स्थितं गर्भत्वमागमत् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—नद्याः, सद्यः, उज्झितम्, तासाम्, अभ्युदरम्, दीप्तम्

(सत्), स्थितम्, अमोघम्, महत्, शाम्भवम्, बीजम्, गर्भत्वम्, आगमत् ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—गंगा से निकला हुआ शंकर जी का महातेजस्वी, अचूक एवं दीप्तिमान वीर्य उन कृत्तिकाओं के उदर में जाते ही गर्भ बन गया ॥ ५७ ॥

सुज्ञा विज्ञाय ता गर्भभूतं तद्वोढुमक्षमाः ।
विषादमदधुः सद्यो गाढं भर्तृभिया ह्रिया ॥ ५८ ॥

अन्वयः—सुज्ञाः, गर्भभूतम्, तत्, विज्ञाय, वोढुम्, अक्षमाः, ताः, भर्तृभिया, ह्रिया, सद्यः, गाढम्, विषादम् अदधुः ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—उन चतुर कृत्तिकाओं ने जब यह जान लिया कि वह तो गर्भ बन गया है, जिसका धारण करना हमारी शक्ति के बाहर है तब वे अपने-अपने पतियों के भय और लाज के मारे अत्यन्त दुखी हो उठीं ॥ ५८ ॥

ततः शरवणे सार्धं भयेन व्रीडया च ताः ।
तद्गर्वजातमुत्सृज्य स्वान्गृहानभिनिर्ययुः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—ततः ताः, तद्गर्भजातम्, भयेन, व्रीडया, च, सार्धम् शरवणे, उत्सृज्य, स्वान्, गृहान्, अभिनिर्ययुः ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—तब उन्होंने भय और लज्जा के मारे अपना-अपना गर्भ सरपत के जंगल में छोड़ दिया और अपने-अपने घर लौट गईं । ५९ ॥

ताभिस्तत्रामृतकरकलाकोमलं भासमानं
तद्विक्षिप्तं क्षणमभिनभोगर्भमभ्युज्जिहानैः ।
स्वैस्तेजोभिर्दिनपतिशतस्पर्धमानैरमानै-
र्वक्त्रैः षड्भिः स्मरहरगुरुस्पर्धयेवाजनीव ॥ ६० ॥

अन्वयः—ताभिः, तत्र, विक्षिप्तम्, अमृतकरकलाकोमलम् क्षणम्, भासमानम्, तत्, अभिनभोगर्भम् अभ्युज्जिहानैः, दिनपतिशतस्पर्धमानैः, अमानैः, स्वैः, तेजोभिः, षड्भिः, वक्त्रैः स्मरहरगुरुस्पर्धया, इव, अजनि ॥ ६० ॥

भाषार्थ—उन कृत्तिकाओं ने चन्द्रमा की किरणों के समान कोमल तथा अत्यन्त तेजस्वी जिस गर्भ को वहाँ छोड़ा था वे इतने तेजस्वी बन गए कि आकाश के बीच स्थित सैकड़ों सूर्य से भी प्रखर हो उठे और अपने छः मुखों से चार मुख वाले ब्रह्मा को भी मानो चुनौती देने लगे ॥ ६० ॥

महाकवि कालिदास द्वारा रचित कुमारसंभव महाकाव्य
में कुमारजन्म नामक दशवाँ सर्ग समाप्त ।

एकादशः सर्गः

(कार्तिकेय की बाल-क्रीड़ा)

अभ्यर्थ्यमाना विबुधैः समग्रैः प्रह्वैः सुरेन्द्रप्रमुखैरुपेत्य ।
तं पाययामास सुधातिपूर्णं सुरापगा स्वं स्तनमाशु मूर्ता ॥ १ ॥

अन्वयः—सुरेन्द्रप्रमुखैः, समग्रैः, विबुधैः, उपेत्य, प्रह्वैः (सद्भिः), अभ्यर्थ्यमाना, सुरापगा, आशु, मूर्ता (सती), तम्, सुधातिपूर्णम्, स्वं, स्तनम्, पाययामास ॥ १ ॥

भाषार्थ—इन्द्र आदि प्रमुख देवताओं के साथ सभी देवताओं के विनम्र निवेदन करने पर गंगा जी स्त्री का रूप धारण करके वहाँ शीघ्र ही उपस्थित हुईं और उस बालक को अपना अमृत से भरा हुआ स्तन पिलाने लगीं ॥ १ ॥

पिबन्स तस्याः स्तनयोः सुधौघं क्षणं क्षणं साधु समेधमानः ।
प्रापाकृतिं कामपि षड्भिरेत्य निषेव्यमाणः खलु कृत्तिकाभिः ॥ २ ॥

अन्वयः—सः, तस्याः, स्तनयोः, सुधौघम्, पिबन्, क्षणं क्षणम्, साधु, समेधमानः, षड्भिः, कृत्तिकाभिः, एत्य, निषेव्यमाणः (सन्), काम्, अपि, आकृतिम्, प्राप, खलु ॥ २ ॥

भाषार्थ—गंगाजी के स्तनों की अमृतधारा का पान करते हुए वह बालक पल-पल में बड़े वेग से बढ़ने लगा और जब छओं कृत्तिकाएं आकर उसकी सेवा शुश्रूषा करने लगीं तब उसका रूप रंग और भी निखर उठा ॥ २ ॥

भागीरथीपावककृत्तिकानामानन्दबाष्पाकुललोचनानाम् ।
तं नन्दनं दिव्यमुपात्तुमासीत्परस्परं प्रौढतरो विवादः ॥ ३ ॥

अन्वयः—आनन्दबाष्पाकुललोचनानाम्, भागीरथीपावककृत्तिकानाम्, दिव्यम्, तम्, नन्दनम्, उपात्तुम्, परस्परम्, प्रौढतरः, विवादः आसीत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—उस बालक को देख कर गंगा जी, अग्निदेव और कृत्तिकाओं की आँखें आनन्द के आँसुओं से परिपूर्ण हो गईं और वह उस दिव्य बालक को अपना पुत्र बनाने के लिए आपस में झगड़ा करने लगीं ॥ ३ ॥

अत्रान्तरे पर्वतराजपुत्र्या समं शिवः स्वैरविहारहेतोः ।
नभो विमानेन विगाहमानो मनोतिवेगेन जगाम तत्र ॥ ४ ॥

अन्वयः—अत्र, अन्तरे शिवः पार्वतराजपुत्र्या, समम्, स्वैरविहारहेतोः, मनोतिवेगेन, विमानेन, नभः विगाहमानः, तत्र, जगाम ॥ ४ ॥

भावार्थ—इसी बीच पार्वती जी के साथ स्वेच्छा से घूमते-घामते मन के समान तीव्र गति वाले विमान से आकाश में उड़ते हुए शंकर जी भी वहाँ आ पहुँचे ॥ ४ ॥

निसर्गवात्सल्यवशाद्विवृद्धचेतःप्रमोदौ गलदश्रुनेत्रौ ।
अपश्यतां तं गिरिजागिरीशौ षडाननं षड्दिनजातमात्रम् ॥ ५ ॥

अन्वयः— गिरिजागिरीशौ, निसर्गवात्सल्यवशाद्विवृद्धचेतःप्रमोदौ, गलदश्रुनेत्रौ षड्दिनजातमात्रम्, षडाननम्, तम्, अपश्यताम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—केवल छः दिन के उस छः मुख वाले बालक को देखते ही शङ्कर तथा पार्वती जी का हृदय स्वाभाविक पुत्र प्रेम के कारण आनन्द से गद्गद हो उठा और उनकी आँखों से आनन्द की धारा बह चली ॥ ५ ॥

अथाह देवी शशिखण्डमौलिं कोऽयं शिशुर्दिव्यवपुः पुरस्तात् ।
कस्याथवा धन्यतमस्य पुंसो मातास्य का भाग्यवतीषु धुर्या ॥ ६ ॥

अन्वयः— अथ, देवी, पुरस्तात्, कः, अयम्, अथवा, कस्य, धन्यतमस्य, पुंसः दिव्यवपुः, शिशुः, अस्य, माता, का (या), भाग्यवतीषु धुर्या, (इति वचः), शशिखण्डमौलिम्, आह ॥ ६ ॥

भावार्थ — तब पार्वती जी ने शंकर जी से पूछा कि यह सामने पड़ा हुआ दिव्य शरीर वाला बालक कौन है ? किस सौभाग्यशाली पिता का पुत्र है और भाग्यशालिनियों में सर्वश्रेष्ठ वह कौन स्त्री है जिसने इसे जन्म दिया है ॥ ६ ॥

स्वर्गापगासावनलोऽयमेताः षट्कृत्तिकाः किं कलहायमानाः ।
पुत्रो ममायं न तवायमित्थं मिथ्येति वैलक्ष्यमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

अन्वयः—असौ, स्वर्गापगा, अयम्, अनलः, एताः, षट्, कृत्तिकाः, कलहायमानाः (सत्यः), अयम्, पुत्रः, मम, अयम्, तव, न, इत्थम्, मिथ्या, इति, वैलक्ष्यम्, किम्, उदाहरन्ति ॥ ७ ॥

भावार्थ—'तुम झूठ बोल रही हो कि यह मेरा पुत्र है, यह तुम्हारा पुत्र नहीं बल्कि मेरा पुत्र है'— इस प्रकार एक दूसरे के प्रति विरोधी बातें करती हुई ये गंगा जी, अग्नि देव तथा छओं कृत्तिकाएँ आपस में क्यों झगड़ रही हैं ॥७॥

एतेषु कस्येदमपत्यमीशाखिलत्रिलोकीतिलकायमानम् ।
अन्यस्य कस्याप्यथ देवदैत्यगन्धर्वसिद्धोरगराक्षसेषु ॥ ८॥

अन्वयः—(हे) ईश, ! एतेषु, कस्य, इदम्, अपत्यम्, अखिलत्रिलोकीतिलकायमानम्, अथ, देवदैत्यगन्धर्वसिद्धोरगराक्षसेषु, अन्यस्य, कस्य, अपि, (इति कथयेत्यर्थः) ॥ ८ ॥

भावार्थ—हे प्रभु, तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ यह बालक सचमुच इन तीनों में से किसका है ? अथवा इन्हें छोड़ कर यह किसी देवता, दैत्य, गन्धर्व, सिद्ध या नाग का पुत्र है ॥ ८ ॥

श्रुत्वेति वाक्यं हृदयप्रियायाः कौतूहलिन्या विमलस्मितश्रीः ।
सान्द्रप्रमोदोदयसौख्यहेतुभूतं वचोऽवोचत चन्द्रचूडः ॥ ९ ॥

अन्वयः—चन्द्रचूडः कौतूहलिन्याः, हृदयप्रियायाः, इति, वाक्यम्, श्रुत्वा, विमलस्मितश्रीः, सान्द्रप्रमोदोदयसौख्यहेतुभूतम्, वचः, अवोचत ॥ ९ ॥

भावार्थ—उस बालक के प्रति जिज्ञासा से भरी हुई प्रियतमा पार्वती की बात सुन कर शंकर जी के ओठों पर निर्मल मुस्कान खिल उठी और उन्होंने अत्यन्त आनन्द से भरी हुई सुखदायक वाणी में कहना प्रारम्भ किया ॥ ९ ॥

जगत्त्रयीनन्दन एष वीरः प्रवीरमातुस्तव नन्दनोऽस्ति ।
कल्याणि कल्याणकरः सुराणां त्वत्तोऽपरस्याः कथमेष सर्गः ॥ १० ॥

अन्वयः—(हे) कल्याणि !' जगत्त्रयीनन्दनः, वीरः, एषः, प्रवीरमातुः, तव, नन्दनः, अस्ति, सुराणाम्, कल्याणकरः, एषः सर्गः, त्वत्तः, अपरस्याः, कथम् (स्यात्) ॥ १० ॥

भावार्थ—तीनों लोकों को आनन्दित करने वाले इस वीरबालक की वीरमाता तुम्हीं हो । भला, तुम्हें छोड़ कर देवताओं का कल्याण करने वाले ऐसे वीर बालक का जन्म और कौन माता दे सकती है ॥ १० ॥

देवि त्वमेवास्य निदानमास्से सर्गे जगन्मङ्गलगानहेतोः ।
सत्यं त्वमेवेति विचारयस्व रत्नाकरे युज्यत एव रत्नम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—(हे) देवि, जगन्मङ्गलगानहेतोः, अस्य, सर्गे, त्वम्, एव, निदानम्, आस्से, त्वम् एव, इति, सत्यम्, विचारयस्व (किमिति तत्), रत्नम्, रत्नाकरे, एव, युज्यते ॥ ११ ॥

भावार्थ—हे प्रिये ! मांगलिक अवसरों पर संसार भर में अपनी कीर्ति का गान कराने वाले इस बालक को जन्म देने वाली तुम्हीं हो । तुम्हीं इस बात को भलीभांति विचार करके समझ लो कि रत्न की उत्पत्ति रत्नाकर (समुद्र) से ही हो सकती है ॥ ११ ॥

अतः शृणुष्वावहितेन वृत्तं बीजं यदग्नौ निहितं मया तत् ।
सङ्क्रान्तमन्तस्त्रिदशापगायां ततोऽवगाहे सति कृत्तिकासु ॥ १२ ॥
गर्भत्वमाप्तं तदमोघमेतत्ताभिः शरस्तम्बमधि न्यधायि ।
बभूव यत्रायमभूतपूर्वो महोत्सवोऽशेषचराचरस्य ॥ १३ ॥

अन्वयः—अतः, अवहितेन, वृत्तम्, शृणुष्व (तथा, हि,) मया, यत्, बीजम्, अग्नौ, निहितम्, तत्, त्रिदशापगायाम्, अन्तः, अवगाहे, सति, सङ्क्रान्तम्, ततः, कृत्तिकासु, गर्भत्वम्, आप्तम्, ताभिः, अमोघम्, तत्, एतत्, अधि, शरस्तम्बम्, न्यधायि, तत्र अशेषचराचरस्य, अभूतपूर्वः, महोत्सवः, अयम्, बभूव ॥ १२–१३ ॥

भावार्थ—हे प्रिये, अब सावधान होकर इसके जन्म की कथा सुनो—मैंने अपने जिस अचूक वीर्य को अग्नि के शरीर मे डाल दिया था उसे उन्होंने गंगा में छोड़ दिया था जो स्नान करते समय कृत्तिकाओं के पेट में जाकर गर्भ बन गया। उसे उन्होंने सरपत के जंगल में डाल दिया। उसी गर्भ से इस बालक का जन्म हुआ है जो संसार के सभी चर-अचर प्राणियों के महान आनन्द का कारण है ॥ १२–१३ ॥

अशेषविश्वप्रियदर्शनेन धुर्या त्वमेतेन सुपुत्रिणीनाम् ।
अलं विलम्ब्याचलराजपुत्रि स्वपुत्रमुत्सङ्गतले निधेहि ॥ १४ ॥

अन्वयः—हे अचलराजपुत्रि !, अशेषविश्वप्रियदर्शनेन, एतेन त्वम्, सुपुत्रिणीनाम्, धुर्या, विलम्ब्य, अलम्, (किन्तु), स्वपुत्रम्, उत्सङ्गतले, निधेहि ॥ १४ ॥

भावार्थ—सारे संसार को प्रिय लगने वाले इस बालक की माता होने के कारण तुम सत्पुत्रों को जन्म देने वाली माताओं में सर्वश्रेष्ठ बन गई हो। अतः अब देर न करो और अपने इस पुत्र को अपनी गोद में उठा लो ॥ १४ ॥

अथेति वादिन्यमृतांशुमौलौ शैलेन्द्रपुत्री रभसेन सद्यः ।
सान्द्रप्रमोदेन सुपीनगात्री धात्री समस्तस्य चराचरस्य ॥ १५ ॥
किरीटबद्धाञ्जलिभिर्नभःस्थैर्नमस्कृता सत्वरनाकिलोकैः ।
विमानतोऽवातरतात्मजं तं ग्रहीतुमुत्कण्ठितमानसाऽभूत् ॥ १६ ॥

अन्वयः—अथ, अमृतांशुमौली, इति, वादिनि, समस्तस्य, चराचरस्य, धात्री (तथा), सान्द्रप्रमोदेन, सुपीनगात्री, शैलेन्द्रपुत्री, नभःस्थैः, सत्वरनाकि-

लोकैः, किरीटबद्धाञ्जलिभिः, नमस्कृता, सद्यः, रभसेन, विमानतः, अवातरत्, तम्, आत्मजम्, ग्रहीतुम्, उत्कण्ठितमानसा च, अभूत् ॥ १५-१६ ॥

भाषार्थ—भगवान शंकर जी की यह बात सुनकर सारे संसार के चर-अचर प्राणियों की धात्री पार्वती जी अत्यन्त आनन्द से फूल उठीं और उस बालक को गोद में उठा लेने की अत्यन्त प्रबल उत्कण्ठा के साथ विमान से उतर पड़ी। उस समय आकाश में स्थित सभी देवताओं ने अपना हाथ जोड़ कर मुकुट पर लगा लिया और सिर झुका कर उन्हें प्रणाम किया ॥ १५-१६ ॥

स्वर्गापगापावककृत्तिकादीन्कृताञ्जलीनानमतोऽपि भूयः ।
हित्वोत्सुका तं सुतमाससाद पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात् ॥ १७ ॥

अन्वयः—स्वर्गापगापावककृत्तिकादीन्, कृताञ्जलीन् भूयः, आनमतः, अपि, हित्वा, तम्, सुतम्, आससाद (तथा हि) पुत्रोत्सवे, हर्षात्, का, न, माद्यति ॥ १७ ॥

भाषार्थ—गंगा जी, अग्निदेव तथा कृत्तिकाएं उन्हें हाथ जोड़ कर सिर झुकाए प्रणाम कर रही थीं किन्तु उनकी ओर ध्यान दिए बिना ही पार्वती जी अत्यन्त लालसा से उस बच्चे के पास जा पहुँची। भला पुत्रजन्म के आनन्द में कौन माता हर्ष से मतवाली नहीं हो जाती है? ॥ १७ ॥

प्रमोदबाष्पाकुललोचना सा न तं ददर्श क्षणमग्रतोऽपि ।
परिस्पृशन्ती करकुड्मलेन सुखान्तरं प्राप किमप्यपूर्वम् ॥ १८ ॥

अन्वयः—सा, अग्रतः, अपि, तम्, क्षणम्, न, ददर्श, यत्, प्रमोदबाष्पाकुललोचना, करकुड्मलेन, परिस्पृशन्ती, किमपि, अपूर्वम्, सुखान्तरम् प्राप ॥ १८ ॥

भाषार्थ—उनकी आँखें आनन्द के आँसुओं से इतनी भर गयीं कि सामने पड़ा हुआ बालक क्षणमात्र के लिए उन्हें दिखाई ही नहीं पड़ा। अतः कली जैसे कोमल हाथ से उसे सहलाते हुए उन्होंने एक अपूर्व तथा अनोखे सुख का अनुभव किया ॥ १८ ॥

सुविस्मयानन्दविकस्वरायाः शिशुर्गलद्बाष्पतरङ्गितायाः ।
विवृद्धवात्सल्यरसोत्तराया देव्या दृशोर्गोचरतां जगाम ॥ १९ ॥

अन्वयः—शिशुः, सुविस्मयानन्दविकस्वरायाः, गलद्बाष्पतरङ्गितायाः, विवृद्धवात्सल्यरसोत्तरायाः, देव्याः, दृशोः, गोचरताम्, जगाम ॥ १९ ॥

भाषार्थ—उस आश्चर्यमयी सुखानुभूति के आनन्द से उनकी आँखें प्रफुल्लित हो उठीं जिनसे आनन्दाश्रुओं की धारा फूट पड़ी और उनके हृदय में अलौकिक

वात्सल्य भावना लहराने लगी। इसी समय उन्हें वह बालक दिखाई पड़ा ॥ १९ ॥

तमीक्षमाणा क्षणमीक्षणानां सहस्रमाप्तुं विनिमेषमैच्छत् ।
सा नन्दनालोकनमङ्गलेषु क्षणं क्षणं तृप्यति कस्य चेतः ॥ २० ॥

अन्वयः—तम्, क्षणम्, ईक्षमाणा, सा, विनिमेषम्, ईक्षणानाम्, सहस्रम्, आप्तुम्, ऐच्छत्, नन्दनालोकनमङ्गलेषु, क्षणम्, क्षणम्, कस्य, चेतः, तृप्यति ॥२०॥

भावार्थ—क्षण मात्र तो उन्होंने एकटक होकर उस बालक को देखा किन्तु उनकी तृप्ति न हुई। इसलिए उस समय उनके मन में इच्छा जाग उठी कि यदि मुझे निमेषरहित हजार आँखें मिल जातीं तो इसे भर पेट देख तो लेती ? भला पुत्रदर्शन के मांगलिक उत्सव से किसका हृदय तृप्त हुआ है ? ॥ २० ॥

विनम्रदेवासुरपृष्ठगाभ्यामादाय तं पाणिसरोरुहाभ्याम् ।
नवोदयं पार्वणचन्द्रचारुं गौरी स्वमुत्सङ्गतलं निनाय ॥ २१ ॥

अन्वयः—गौरी, नवोदयम्, पार्वणन्द्रचारुम्, तम्, विनम्रदेवासुरपृष्ठगाभ्याम्, पाणिसरोरुहाभ्याम्, आदाय, उत्सङ्गतलम्, निनाय ॥ २१ ॥

भावार्थ—प्रणाम के समय झुके हुए देवताओं तथा दैत्यों को पीठ पर जिन हाथों को फेरती हुई पार्वती जी आशीर्वाद दिया करती थीं, अपने उन्हीं कमलों जैसे कोमल हाथों से पूर्णिमा के नवोदित रमणीय चन्द्रमा के समान उस बालक को उन्होंने अपनी गोद में उठा कर रख लिया ॥ २१ ॥

स्वमङ्कमारोप्य सुधानिधानमिवात्मनो नन्दनमिन्दुवक्त्रा ।
तमेकमेषा जगदेकवीरं बभूव पूज्या धुरि पुत्रिणीनाम् ॥ २२ ॥

अन्यवः—इन्दुवक्त्रा, एषा, एकम्, जगदेकवीरम्, तम्, आत्मनः, नन्दनम्, सुधानिघानम्, इव स्वम्, अङ्कम्, आरोप्य, पुत्रिणीनाम्, धुरि, पूज्या, बभूव ॥२२॥

भावार्थ—चन्द्रमा के समान मुख वाली पार्वती जी ने संसार में एक मात्र वीर उस पुत्र को अपनी गोद में ले लिया मानों उन्हें कोई अमृत का खजाना मिल गया हो। इसी पुत्र की धात्री होने के कारण वह तीनों लोकों की माताओं में पूज्य बन गयीं ॥ २२ ॥

निसर्गवात्सल्यरसौघसिक्ता सान्द्रप्रमोदामृतपूरपूर्णा ।
तमेकपुत्रं जगदेकमाताऽभ्युत्सङ्गिनं प्रस्रविणी बभूव ॥ २३ ॥

अन्वयः—निसर्गवात्सल्यरसौघसिक्ता, सान्द्रप्रमोदामृतपूरपूर्णा जगदेकमाता उत्सङ्गिनम्, तम्, एकपुत्रम्, अभि, प्रस्रविणी, बभूव ॥ २३ ॥

भाषार्थ—सारे संसार की माता पार्वती ने ज्योंही उस पुत्र को गोद में लिया त्योंही उनका रोम-रोम स्वाभाविक वात्सल्य रस की धारा में भींग उठा, उनके हृदय में अत्यन्त आनन्दामृत की बाढ़ आ गई और स्तनों से दूध की धारा निकल पड़ी ॥ २३ ॥

अशेषलोकत्रयमातुरस्याः षाण्मातुरः स्तन्यसुधामधासीत् ।
सुरस्रवन्त्या किल कृत्तिकाभिर्मुहुर्मुहुः सस्पृहमीक्ष्यमाणः ॥ २४ ॥

अन्वयः—षाण्मातुरः, सुरस्रवन्त्या, कृत्तिकाभिः, सस्पृहम्, मुहुर्मुहुः, ईक्ष्यमाणः, अशेषलोकत्रयमातुः, अस्याः, स्तन्यसुधाम्, अधासीत्, किल ॥ २४ ॥

भाषार्थ—जब कार्तिकेय जी तीनों लोकों की माता पार्वती जी के स्तनों से निकले हुए अमृत जैसे दूध का पान करने लगे तब गंगा जी तथा छओं कृत्तिकाएँ बार-बार अत्यन्त ईर्ष्या के साथ उन्हें देखने लगीं ॥ २४ ॥

सुखाश्रुपूर्णेन मृगाङ्कमौलेः कलत्रमेकेन मुखाम्बुजेन ।
तस्यैकनालोद्गतपञ्चपद्मलक्ष्मीं क्रमात्षड्वदनीं चुचुम्ब ॥ २५ ॥

अन्वयः—मृगाङ्कमौलेः, कलत्रम्, एकनालोद्गतपञ्चपद्मलक्ष्मीम्, तस्य, षड्वदनीम् सुखाश्रुपूर्णेन, एकेन, मुखाम्बुजेन, क्रमात्, चुचुम्ब ॥ २५ ॥

भाषार्थ—भगवान शंकर जी की प्रिया पार्वती जी आनन्दाश्रुओं से सिंचे हुए अपने एक ही मुख-कमल से बालक के उन छहों मुखों को क्रम से चूमने लगीं जो एक ही नाल में खिले हुए उन पाँच कमलों के समान प्रतीत हो रहे थे जिनके बीच में उनकी शोभा भी छठाँ कमल बनकर मूर्तिमान हो उठी हो ॥२५॥

हैमी फलं हेमगिरेर्लतेव विकस्वरं नाकनदीव पद्मम् ।
पूर्वेव दिङ्नूतनमिन्दुमाभात्तं पार्वती नन्दनमादधाना ॥ २६ ॥

अन्वयः—तम्, नन्दनम्, आदधाना, पार्वती, फलम् (दधाना), हेमगिरेः हैमी, लता, इव, विकस्वरम्, पद्मम् (दधाना) नाकनदी, इव, नूतनम्, इन्दुम् (दधाना), पूर्वा, दिग्, इव, आभात् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार सोने के पहाड़ सुमेरु पर उत्पन्न होने वाली स्वर्ण लता फल को, आकाश-गंगा प्रफुल्लित कमल को तथा पूर्व दिशा नवोदित चन्द्र-मंडल को अपनी गोद में धारण करके सुशोभित हो जाती है उसी प्रकार हिमालय-पुत्री पार्वती भी उस पुत्र को गोद में लेकर सुशोभित हो उठीं ॥ २६ ॥

प्रीतात्मना सा प्रयतेन दत्तहस्तावलम्बा शशिशेखरेण ।
कुमारमुत्सङ्गतले दधाना विमानमभ्रंलिहमारुरोह ॥ २७ ॥

अन्वयः—कुमारम्, उत्सङ्गतले, दधाना, सा, प्रीतात्मना, प्रयतेन (तथाभूतेन), शशिशेखरेण, दत्तहस्तावलम्बा, अभ्रंलिहम्, विमानम्, आरुरोह ॥ २७ ॥

भावार्थ—उस समय अत्यन्त सावधानी के साथ दिए गये भगवान शंकर के हाथों का सहारा लेकर पार्वती जी कुमार को गोद में लिए हुए अत्यन्त प्रसन्न मन से उस गगनचुम्बी विमान पर सवार हो गईं ॥ २७ ॥

महेश्वरोऽपि प्रमदप्ररूढरोमोद्गमो भूधरनन्दनायाः ।
अङ्कादुपादत्त तदङ्कतः सा तस्यास्तु सोऽप्यात्मजवत्सलत्वात् ॥ २८ ॥

अन्वयः—प्रमदप्ररूढरोमोद्गमः, महेश्वरः, अपि, आत्मजवत्सलत्वात्, भूधरनन्दनायाः, अङ्कात् (तम्) उपादत्त (अथ), तदङ्कतः, सा, उपादत्त, सः, अपि, तस्याः, तु (अङ्कात्, उपादत्त) ॥ २८ ॥

भावार्थ—पुत्र प्रेम के कारण आनन्द से रोमाञ्चित शिव जी पार्वती के गोद से उस बालक को अपनी गोद में ले लेते तो तुरन्त ही पार्वती जी उसे उनकी गोद से अपनी गोद में रख लेतीं किन्तु वह पुनः उसे अपनी गोद में ले लिया करते थे ॥ २८ ॥

दधानया नेत्रसुधैकसत्रं पुत्रं पवित्रं सुतया तयाद्रेः ।
संश्लिष्यमाणः शशिखण्डधारी विमानवेगेन गृहाञ्जगाम ॥ २९ ॥

अन्वयः—शशिखण्डधारी, नेत्रसुधैकसत्रम् (तथा), पवित्रम्, पुत्रम्, दधानया, तया, अद्रेः, सुतया, संश्लिष्यमाणः, विमानवेगेन, गृहान्, जगाम ॥ २९ ॥

भावार्थ—नेत्रों को अमृत के समान सुख देने वाले पवित्र पुत्र को गोद में लेकर सट कर बैठी हुई पार्वती जी के साथ भगवान शंकर जी अत्यन्त तीव्रगामी विमान पर बैठकर अपने घर कैलास को लौट आए ॥ २९ ॥

अधिष्ठितः स्फाटिकशैलशृङ्गे तुङ्गे निजं धाम निकामरम्यम् ।
महोत्सवाय प्रमथप्रमुख्यान्पृथून्गणाञ्छम्भुरथादिदेश ॥ ३० ॥

अन्वयः—अथ, शम्भुः, तुङ्गे, स्फाटिकशैलशृङ्गे, निकामरम्यम्, निजम्, धाम, अधिष्ठितः, महोत्सवाय, पृथून्, प्रमथप्रमुख्यान्; गणान्, आदिदेश ॥ ३० ॥

भावार्थ—इसके पश्चात् कैलास की स्फटिकमय चोटी पर बने हुए अपने

सुन्दर महल में बैठकर भगवान शंकर ने अपने प्रमथ प्रमुख सभी गणों को पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में उत्सव मनाने की आज्ञा प्रदान की ॥ ३० ॥

पृथुप्रमोदः प्रगुणो गणानां गणः समग्रो वृषवाहनस्य ।
गिरीन्द्रपुत्र्यास्तनयस्य जन्मन्यथोत्सवं संववृते विधातुम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अथ, पृथुप्रमोदः, प्रगुणः, समग्रः, गणानाम्, गणः, वृषवाहनस्य, गिरीन्द्रपुत्र्याः, तनयस्य, जन्मनि, उत्सवम्, विधातुम्, संववृते ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—तब अत्यन्त आनन्द के साथ गुणी गणों ने एक साथ मिलकर पार्वती जी तथा शंकर जी के पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में महान् उत्सव मनाना प्रारम्भ किया ॥ ३१ ॥

स्फुरन्मरीचिच्छुरिताम्बराणि सन्तानशाखिप्रसवाञ्चितानि ।
उच्चिक्षिपुः काञ्चनतोरणानि गणा वराणि स्फटिकालयेषु ॥ ३२ ॥

अन्वयः—गणाः, स्फटिकालयेषु, स्फुरन्मरीचिच्छुरिताम्बराणि, सन्तानशाखिप्रसवाञ्चितानि, वराणि, काञ्चनतोरणानि, उच्चिक्षिपुः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—उन गणों ने स्फटिक मणियों के बने भवनों पर चमकती हुई किरणों से आकाश को चित्रित कर देने वाली तथा कल्पवृक्षों से उत्पन्न पत्तों तथा फूलों से बनी हुई श्रेष्ठ सुनहरी बन्दनवारें लटका दीं ॥ ३२ ॥

दिक्षु प्रसर्पंस्तदधीश्वराणामथामराणामिव मध्यलोके ।
महोत्सवं शंसितुमाहतोऽन्यैर्दध्वान धीरः पटहः पटीयान् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अथ, दिक्षु, प्रसर्पन्, तदधीश्वराणाम्, अमराणाम्, पटीयान्, धीरः, पटहः, अन्यैः, आहतः (सन्), मध्यलोके, महोत्सवम्, शंसितुम्, इव, दध्वान ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—अन्य गणों द्वारा बजाए गए नगाड़ों की गम्भीर ध्वनि दिशाओं में फैलती हुई धरती तक पहुँच गई और वहाँ से प्रतिध्वनित होती हुई वह मानो यह बताने लगी कि वहाँ भी दिक्पालों तथा देवताओं के लोकों के समान ही पुत्रोत्सव मनाया जा रहा है ॥ ३३ ॥

महोत्सवे तत्र समागतानां गन्धर्वविद्याधरसुन्दरीणाम् ।
सम्भावितानां गिरिराजपुत्र्या गृहेऽभवन्मङ्गलगीतकानि ॥ ३४ ॥

अन्वयः—तत्र, महोत्सवे, गृहे, समागतानाम्, गिरिराजपुत्र्या, सम्भावितानां, गन्धर्वविद्याधरसुन्दरीणाम्, मङ्गलगीतकानि, अभवन् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—पार्वती जी ने उस महान् उत्सव में वहाँ आई हुई गन्धर्वों और विद्याधरों की सुन्दरियों का बहुत ही आदर के साथ सम्मान किया और उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से मंगलगान किया ॥ ३४ ॥

सुमङ्गलोपायनपात्रहस्तास्तं मातरो मातृवदभ्युपेताः ।
विधाय दूर्वाक्षतकानि मूर्ध्नि निन्युः स्वमङ्कं गिरिजातनूजम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—सुमङ्गलोपायनपात्रहस्ताः, अभ्युपेताः, मातरः, मूर्ध्नि, दूर्वाक्षतकानि, विधाय, तम्, गिरिजातनूजम्, मातृवत्, स्वम्, अङ्कम्, निन्युः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ— मातृ भावना से भरी हुई ब्राह्मी आदि मातायें भी वहाँ मंगल उपहारों को लिए हुए आईं और उन्होंने उस बालक के सिर पर दूब तथा अक्षत छिड़क-छिड़क कर उसे अपनी-अपनी गोद में ले लिया ॥ ३५ ॥

ध्वनत्सु तूर्येषु सुमन्द्रमङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकेष्वप्सरसो रसेन ।
सुसन्धिबन्धं ननृतुः सुवृत्तगीतानुगं भावरसानुविद्धम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—अङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकेषु, तूर्येषु, सुमन्द्रम् (यथा तथा), ध्वनत्सु, अप्सरसः, रसेन, सुसन्धिबन्धम्, सुवृत्तगीतानुगम्, भावरसानुविद्धम्, ननृतुः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—उस समय अंक्य, आलिङ्ग्य और उर्ध्वक नाम की अनेक तुरहियाँ मधुर स्वर से बजने लगीं और भाव तथा रस भरे सुन्दर छन्दों में बँधे हुए गाने गाती हुई अप्सरायें बड़े हाव भाव से नृत्य करने लगीं ॥ ३६ ॥

वाता ववुः सौख्यकराः प्रसेदुराशा विधूमो हुतभुग् दिदीपे ।
जलान्यभूवन्विमलानि तत्रोत्सवेऽन्तरिक्षं प्रससाद सद्यः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—तत्र, उत्सवे, वाताः, सौख्यकराः, ववुः, आशाः, प्रसेदुः, हुतभुक्, विधूमः, (सन्), दिदीपे, जलानि, विमलानि, अभूवन्, अन्तरिक्षम्, सद्यः, प्रससाद ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—उस उत्सव में सुख देने वाला वायु बहने लगा, दिशाएँ प्रसन्न हो उठीं, अग्नि धुएँ से रहित होकर प्रदीप्त हो उठी जल निर्मल हो गया और आकाश भी तत्काल ही स्वच्छ हो उठा ॥ ३७ ॥

गम्भीरशङ्खध्वनिमिश्रमुच्चैर्गृहोद्भवा दुन्दुभयः प्रणेदुः ।
दिवौकसां व्योम्नि विमानसङ्घा विमुच्य पुष्पप्रचयान्प्रसस्रुः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—गृहोद्भवा,: दुन्दुभयः, गम्भीरशङ्खध्वनिमिश्रम्, उच्चैः, प्रणेदुः, दिवौकसाम्, विमानसङ्घाः, व्योम्नि, पुष्पप्रचयान्, विमुच्य, प्रसस्रुः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—सभी घरों में छोटे-छोटे नगाड़े शंख की गम्भीर ध्वनि के साथ बजने लगे और देवतालोग आकाश में आ आकर विमानों से पुष्पवर्षा करने लगे ॥ ३८ ॥

इत्थं महेशाद्रिसुतासुतस्य जन्मोत्सवे सम्मदयाञ्चकार ।
चराचरं विश्वमशेषमेतत्परं चकम्पे किल तारकश्रीः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—महेशाद्रिसुतासुतस्य, इत्थम्, जन्मोत्सवे, अशेषम्, चराचरम्, एतत्, विश्वम्, सम्मदयाञ्चकार, परम्, तारकश्री, चकम्पे, किल ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—शंकर जी तथा पार्वती जी के इस पुत्रजन्म के उत्सव से संसार के चर अचर सभी प्राणी हर्ष में विभोर हो गये किन्तु तारकासुर की राज्यलक्ष्मी काँप उठी ॥ ३९ ॥

ततः कुमारः समुदां निदानैः सः बाललीलाचरितैर्विचित्रैः ।
गिरीशगौर्योर्हृदयं जहार मुदे न हृद्या किमु बालकेलिः ॥ ४० ॥

अन्वयः—ततः, सः, कुमारः, विचित्रैः, समुदाम्, निदानैः, बाललीलाचरितैः, गिरीशगौर्योः, हृदयम्, जहार, हृद्या, बालकेलिः, मुदे, न, किमु ॥ ४० ॥

भाषार्थ—इस प्रकार उस बालक ने अपनी आनन्दमयी अनोखी बाललीलाओं से शंकर और पार्वती जी के हृदय को मुग्ध कर लिया, क्योंकि बच्चों की लीलाएँ भला किसके मन को मुग्ध नहीं कर लेतीं ? ॥ ४० ॥

महेश्वरः शैलसुता च हर्षात्सतर्षमेकेन मुखेन गाढम् ।
अजातदन्तानि मुखानि सूनोर्मनोहराणि क्रमतश्चुचुम्ब ॥ ४१ ॥

अन्वयः—महेश्वरः, शैलसुता, च, हर्षात्, सतर्षम् (तथा), अजातदन्तानि, मनोहराणि, सूनोः, मुखानि, एकेन, मुखेन, गाढम्, क्रमतः, चुचुम्ब ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—पार्वती और शंकर जी बड़ी प्रसन्नता के साथ लालायित होकर पुत्र के दाँतों से रहित मनोहर मुखों को अपने-अपने एक ही मुख से बार-बार बड़े प्रेम से चूमा करते थे ॥ ४१ ॥

क्वचित्स्खलद्भिः क्वचिदस्खलद्भिः क्वचित्प्रकम्पैः क्वचिदप्रकम्पैः ।
बालः स लीलाचलनप्रयोगैस्तयोर्मुदं वर्धयति स्म पित्रोः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—सः, बालः, क्वचित्, स्खलद्भिः, क्वचित् (प्रदेशे), अस्खलद्भिः,

क्वचित्, प्रकम्पैः, क्वचित्, अप्रकम्पैः, लीलाचलनप्रयोगैः, तयोः, पित्रोः, मुदम्, वर्धयति, स्म ॥ ४२ ॥

भाषार्थ——कभी लड़खड़ाते हुए, कभी सीधे चलते हुऐ, कभी काँपते हुए और कभी सीधे खड़े होकर वह बालक अपनी खिलवाड़ से भरी चालों द्वारा माता-पिता का आनन्द बढ़ाने लगा ॥ ४२ ॥

अहेतुहासच्छुरिताननेन्दुर्गृहाङ्गणक्रीडनधूलिधूम्रः ।
मुहुर्वदन्किञ्चिदलक्षितार्थं मुदं तयोरङ्कगतस्ततान ॥ ४३ ॥

अन्वयः—गृहाङ्गणक्रीडनधूलिधूम्रः, अङ्कगतः, अहेतुहासच्छुरिताननेन्दुः, अलक्षितार्थम्, मुहुः, किञ्चित्, वदन्, तयोः, मुदम्, ततान ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—घर के आँगन में खेलने से धूल-धूसरित वह बालक माता-पिता की गोद में जाकर अकारण ही हँसने लगता था, जिससे उसका मुखचन्द्र और भी चमक उठता था और कभी-कभी बार-बार तोतली बाणी में बोल-बोलकर उनके आनन्द को बढ़ाया करता था ॥ ४३ ॥

गृह्णन्विषाणे हरवाहनस्य स्पृशन्नुमाकेसरिणं सलीलम् ।
स भृङ्गिणः सूक्ष्मतरं शिखाग्रं कर्षन्बभूव प्रमदाय पित्रोः ॥ ४४ ॥

अन्वयः——सः, हरवाहनस्य, विषाणे, गृह्णन् (तथा), उमाकेसरिणम्, सलीलम्, स्पृशन्, भृङ्गिणः, सूक्ष्मतरम्, शिखाग्रम्, कर्षन्, पित्रोः, प्रमदाय, बभूव ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—वह कभी शंकर जी के बैल की सींग पकड़ने लगता, कभी पार्वती जी के वाहन सिंह को सहलाने लगता और कभी भृङ्गी की पतली चोटी को पकड़ कर खींचने लगता। उसकी इस चंचलता को देख-देखकर माता-पिता अत्यन्त प्रसन्न हो जाते थे ॥ ४४ ॥

एको नव द्वौ दश पञ्च सप्तेत्यजीगणन्नात्ममुखं प्रसार्य ।
महेशकण्ठोरगदन्तपङ्क्ति तदङ्कगः शैशवमौग्ध्यमैशिः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—तदङ्कगः ऐशिः, आत्ममुखम्, प्रसार्य, महेशकण्ठोरगदन्तपङ्क्तिम्, एको, नव, द्वौ, दश, पञ्च, सप्त, इति, शैशवमौग्ध्यम् अजीगणत् (यतः) ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—कभी वह शंकर जी की गोद में बैठकर अपनी बाल्य-कालीन चपलता के कारण उनके गले में पड़े हुए साँप का मुँह खोलकर एक नौ दो दस पांच कह कर उसके दांत गिनने लगता था ॥ ४५ ॥

कर्पदिकण्ठान्तकपालदाम्नोऽङ्गुलिं प्रवेश्याननकोटरेषु ।
दन्तानुपात्तुं रभसी बभूव मुक्ताफलभ्रान्तिकरः कुमारः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—कुमारः कपर्दिकण्ठान्तकपालदाम्नः, आननकोटरेषु, अङ्गुलिम्, प्रवेश्य, मुक्ताफलभ्रान्तिकरः, दन्तान्, उपात्तुम्, रभसी बभूव (यतः) ॥ ४६ ॥

भाषार्थ— वह कुमार कभी-कभी शंकर जी के गले में पड़ी मुंडमाला के मुखों में अंगुलियाँ डालकर उनके दाँतों को मोती के भ्रम से निकालने लगता था ॥ ४६ ॥

शम्भोः शिरोऽन्तःसरितस्तरङ्गान्विगाह्य गाढं शिशिरान्रसेन ।
स जातजाड्यं निजपाणिपद्ममतापयद्भालविलोचनाग्नौ ॥ ४७ ॥

अन्वयः—सः, शिशिरान्, शम्भोः, शिरोऽन्तः, सरितः, तरंगान्, रसेन, गाढम् विगाह्य, जातजाड्यम्, निजपाणिपद्मम्, भालविलोचनाग्नौ, अतापयत् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—कभी वह शंकर जी के सिर पर बहने वाली गंगा की धारा में अपना हाथ डाल देता था किन्तु जब वह ठंढक से सुन्न होने लगता तो कमल जैसे कोमल हाथ को वहाँ से निकाल कर शिव जी के माथे पर जलते हुए तीसरे नेत्र की आग में सेंकने लगता था ॥ ४७ ॥

किञ्चित्कलं भङ्गुरकन्धरस्य नमज्जटाजूटधरस्य शम्भोः ।
प्रलम्बमानं किल कौतुकेन चिरं चुचुम्बे मुकुटेन्दुखण्डम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—किञ्चित्, भङ्गुरकन्धरस्य (सः कुमारः) नमज्जटाजूटधरस्य, शम्भोः प्रलम्बमानम्, कलम्, मुकुटेन्दुखण्डम्, कौतुकेन, चिरम्, चुचुम्बे, किल ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—जब कभी शंकर जी के कंधे थोड़ा झुक जाते थे और उनके जटाजूट नीचे लटकने लगते थे तब वह कुमार जटाओं के साथ नीचे लटकने वाले चन्द्रमा को बड़े कौतुक के साथ देर तक चूमता रहता था ॥ ४८ ॥

इत्थं शिशोः शैशवकेलिवृत्तैर्मनोऽभिरामैर्गिरिजागिरीशौ ।
मनोविनोदैकरसप्रयुक्तौ दिवानिशं नाविदतां कदाचित् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—गिरिजागिरीशौ, मनोभिरामैः, इत्थम्, शिशोः, शैशवकेलिवृत्तैः, मनोविनोदैकरसप्रयुक्तौ, कदाचित् (अपि), दिवानिशम्, न, अविदताम् ॥ ४९ ॥

भावार्थ—इस प्रकार पुत्र की मनोहर बाल-क्रीडाओं के आनन्द रस में पार्वती जी तथा शंकर जी इतने मग्न हो गए कि उन्हें रात-दिन की भी सुधि न रह गयी ॥ ४९ ॥

इति बहुविधं बालक्रीडाविचित्रविचेष्टितं
ललितललितं सान्द्रानन्दं मनोहरमाचरन् ।
अलभत परां बुद्धिं षष्ठे दिने नवयौवनं
स किल सकलं शास्त्रं शस्त्रं विवेद विभुर्यथा ॥ ५० ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये कुमार-
बाललीलावर्णनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

अन्वयः—इति, बहुविधम्, ललितललितम्, सान्द्रानन्दम्, मनोहरम्, बालक्रीडाविचित्रविचेष्टितम्, आचरन्, विभुः, सः, षष्ठे, दिने, पराम्, बुद्धिम्, नवयौवनम्, च, अलभत, यथा, सकलम्, शस्त्रम्, शास्त्रम्, विवेद, किल ॥ ५० ॥

भावार्थ—इस प्रकार अनेकों सुन्दर, आनन्ददायी तथा मनोहर बाल लीलाएँ दिखाता हुआ वह बालक अपने जन्म से छठें ही दिन वहुत वड़ा बुद्धिमान तथा जवान बन गया और उसने शास्त्र और शस्त्र विद्याओं को भली-भाँति सीख लिया ॥ ५० ॥

महाकवि कालिदास कृत कुमारसंभव महाकाव्य में कार्तिकेय
जन्म नाम का ग्यारहवाँ सर्ग समाप्त ।

द्वादशः सर्गः

अथ प्रपेदे त्रिदशैरशेषैः क्रूरासुरोपप्लवदुःखितात्मा ।
पुलोमपुत्रीदयितोऽन्धकारिं पत्रीव तृष्णातुरितः पयोदम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ, क्रूरासुरोपप्लवदुःखितात्मा, पुलोमपुत्रीदयितः अशेषैः, त्रिदशैः, तृष्णातुरितः, पत्री, पयोदम्, इव, अन्धकारिम्. प्रपेदे ॥ १ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार प्यास से व्याकुल पपीहा बादल की शरण में जाता है उसी प्रकार अत्याचारी तारकासुर के कष्टों से दुःखी होकर इन्द्र सभी देवताओं को साथ लिए हुए भगवान् शंकर जी के पास पहुँचे ॥ १ ॥

दृप्तारिसंत्रासखिलीकृतात्स कथञ्चिदम्भोदविहारमार्गात् ।
अवातताराभिगिरिं गिरीशगौरीपदन्यासविशुद्धमिन्द्रः ॥ २ ॥

अन्वयः—सः, इन्द्रः, दृप्तारिसंत्रासखिलीकृतात्, अम्भोदविहारमार्गात्, गिरीशगौरीपदन्यासविशुद्धम्. गिरिम्, अभि कथञ्चित्, अवाततार ॥ २ ॥

भाषार्थ—उस घमण्डी शत्रु तारकासुर के भय से देवताओं के सभी मार्ग अवरुद्ध हो गये थे इसलिए इन्द्र किसी प्रकार अपने को बादलों में छिपाते हुए आकाश मार्ग से कैलास पहाड़ पर उतरे, जो पार्वती तथा शंकर जी के चरणों की छाप से पवित्र हो चुका था ॥ २ ॥

सङ्क्रन्दनः स्यन्दनतोऽवतीर्य मेघात्मनो मातलिदत्तहस्तः ।
पिनाकिनोऽथालयमुच्चचाल शुचौ पिपासाकुलितो यथाम्भः ॥ ३ ॥

अन्वयः—अथ, सङ्क्रन्दनः, मातलिदत्तहस्तः, मेघात्मनः, स्यन्दनतः, अवतीर्य, शुचौ, पिपासाकुलितः, अम्भः, यथा, पिनाकिनः, आलयम्, उच्चचाल ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जैसे ग्रीष्म ऋतु में प्यासा हुआ आदमी पानी की ओर झपटता है उसी प्रकार मातलि के हाथों का सहारा लेकर अपने मेघ जैसे रथ से उतर कर इन्द्र भगवान शिव के महल की ओर बढ़ चले ॥ ३ ॥

इतस्ततोऽथ प्रतिबिम्बभाजं विलोकमानः स्फटिकाद्रिभूमौ ।
आत्मानमप्येकमनेकधा स व्रजन्विभोरास्पदमाससाद ॥ ४ ॥

अन्वयः—अथ व्रजन्, सः, स्फटिकाद्रिभूमौ, इतस्ततः, प्रतिबिम्बभाजम्, एकम्, अपि, आत्मानम्, अनेकधा, विलोकमानः, विभोः, आस्पदम्, आसदाद ॥ ४ ॥

भाषार्थ—उस स्फटिकमय पहाड़ी भूमि में इधर-उधर पड़ने वाली अपनी बहुत सी परछाइयों को देखकर एक होते हुए भी अपने को अनेक समझते हुए चलते-चलते वे शंकर जी के निवास-स्थान पर जा पहुँचे ॥ ४ ॥

विचित्रचञ्चन्मणिभङ्गिसङ्गं सौवर्णदण्डं दधतातिचण्डम् ।
स नन्दिनाधिष्ठितमभ्यतिष्ठत्सौधाङ्गणद्वारमनङ्गशत्रोः ॥ ५ ॥

अन्वयः—सः विचित्रचञ्चन्मणिभङ्गिसङ्गम्, अतिचण्डम्, सौवर्णदण्डम्, दधता, नन्दिना, अधिष्ठितम्, अनङ्गशत्रोः सौधाङ्गणद्वारम् अभ्यतिष्ठत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—रंग-विरंगी मणियों की पच्चीकारी से सुशोभित भगवान् शंकर के महल के दरवाजे पर पहुँच कर इन्द्र रुक गए जहाँ हाथ में एक भारी सोने का डंडा लिए हुए नान्दी खड़ा था ॥ ५ ॥

ततः स कक्षाहितहेमदण्डो नन्दी सुरेन्द्रं प्रतिपद्य सद्यः ।
प्रतोषयामास सुगौरवेण गत्वा शशंस स्वयमीश्वरस्य ॥ ६ ॥

अन्वयः—ततः, सः, नन्दी, सुरेन्द्रम्, सद्यः, प्रतिपद्य, सुगौरवेण, प्रतोषयामास, स्वयम्, गत्वा, कक्षाहितहेमदण्डः, ईश्वरस्य, शशंस ॥ ६ ॥

भाषार्थ—नन्दी ने इन्हें देखते ही अपने सोने के डण्डे को एक कोने में खड़ा कर दिया और आगे बढ़कर अत्यन्त आदर के साथ उनका स्वागत किया। तथा शंकर जी के पास जाकर उनके आने की सूचना दी ॥ ६ ॥

भ्रूसंज्ञयानेन कृताभ्यनुज्ञः सुरेश्वरं तं जगदीश्वरेण ।
प्रवेशयामास सुरैः पुरोगः समं स नन्दी सदनं सदस्य ॥ ७ ॥

अन्वयः—अनेन, जगदीश्वरेण, भ्रूसंज्ञया, कृताभ्यनुज्ञः, सः, नन्दी, पुरोगः (सन्), तम्, सुरेश्वरम्, सद्, अस्य, सदनम्, सुरैः, समम्, प्रवेशयामास ॥ ७ ॥

भाषार्थ—भगवान् शंकर जी ने नन्दी को अपनी भौहों के संकेत से ही उन्हें भीतर लाने की आज्ञा दी। तब उनकी आज्ञा से आगे-आगे चलता हुआ नन्दी देवताओं के साथ इन्द्र को लिए हुए भगवान् शंकर के मनोहर भवन में प्रवेश किया ॥ ७ ॥

स चण्डिभृङ्गिप्रमुखैर्गरिष्ठैर्गणैरनेकैर्विविधस्वरूपैः ।
अधिष्ठितं संसदि रत्नमय्यां सहस्रनेत्रः शिवमालुलोके ॥ ८ ॥

अन्वयः—सः, सहस्रनेत्रः गरिष्ठैः, अनेकैः, विविधस्वरूपैः, चण्डिभृङ्गिप्रमुखैः गणैः, रत्नमय्याम्, संसदि अधिष्ठितम्, शिवम्, आलुलोके ॥ ८ ॥

भावार्थ—रत्नजटित सभा-भवन में अनेक रूपरंग वाले चण्डी भृङ्गी आदि बहुतेरे गणों से घिरे हुए आसनासीन भगवान् शंकर को इन्द्र ने अपनी हजार आँखों से देखा ॥ ८ ॥

कपर्दमुद्बद्धमहीनमूर्धरत्नांशुभिर्भासुरमुल्लसद्भिः ।
दधानमुच्चैस्तरमिद्धधातोः सुमेरुश्रृङ्गस्य समत्वमाप्तम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—उद्बद्धम्, उल्लसद्भिः, अहीनमूर्धरत्नांशुभिः, भासुरम्, उच्चैस्तरम्, कपर्दम् दधानम्, इद्धधातोः, सुमेरुश्रृङ्गस्य, समत्वम्, आप्तम् ॥ ९ ॥

भावार्थ—साँपों से कसकर बँधा हुआ तथा वासुकी इत्यादि बड़े-बड़े साँपों के फणों की मणियों की किरणों से जगमगाता हुआ शंकर जी का ऊँचा जटाजूट विभिन्न प्रकार की धातुओं से परिपूर्ण सुमेरु की ऊंची चोटी के समान दिखाई दे रहा था ॥ ९ ॥

बिभ्राणमुत्तुङ्गतरङ्गमालां गङ्गां जटाजूटतटं भजन्तीम् ।
गौरीं तदुत्सङ्गजुषं हसन्तीमिव स्वफेनैः शरदभ्रशुभ्रैः ॥ १० ॥

अन्वयः—उत्तुङ्गतरङ्गमालाम्, जटाजूटतटम्, भजन्तीम्, शरदभ्रशुभ्रैः, स्वफेनैः, तदुत्सङ्गजुषम्, गौरीम्, हसन्तीम्, इव गंगाम्, बिभ्राणम् ॥ १० ॥

भावार्थ—उनके जटाजूट के पास ही स्थित ऊँची-ऊँची लहरों वाली गंगा जी शरत्-कालीन स्वच्छ बादलों के समान अपना फेन उछाल-उछाल कर शङ्कर जी की गोद में बैठी हुई पार्वती जी की मानों हँसी उड़ा रही थीं ॥ १० ॥

गङ्गातरङ्गप्रतिबिम्बितैः स्वैर्बहूभवन्तं शिरसा सुधांशुम् ।
चलन्मरीचिप्रचयैस्तुषारगौरैर्हिमद्योतितमुद्वहन्तम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—(पुनः किम्भूतम्), गङ्गातरङ्गप्रतिबिम्बितैः, स्वैः, बहूभवन्तम्, सुधांशुम्, शिरसा, उद्वहन्तम्, तुषारगौरैः, चलन्मरीचिप्रचयैः, हिमद्योतितम् ॥ ११ ॥

भावार्थ—उनके सिर पर स्थित चन्द्रमा की हिम जैसी नाचती हुई उजली किरणें गंगा की लहरों में प्रतिबिम्बत होती हुई अकेले चन्द्रमा को अनेक रूपों में दिखला रही थीं ॥ ११ ॥

भालस्थले लोचनमेघमानधामाधरीभूतरवीन्दुनेत्रम् ।
युगान्तकालोचितहव्यवाहं मीनध्वजप्लोषणमादधानम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—भालस्थले, एधमानधामाधरीभूतरवीन्दुनेत्रम्, युगान्तकालोचितहव्यवाहम्, मीनध्वजप्लोषणम् लोचनम् आदधानम् ॥ १२ ॥

भावार्थ—उनके मस्तक पर प्रलयकालीन अग्नि के समान प्रदीप्त एवं कामदेवको भस्म कर डालने वाला तीसरा नेत्र धधक रहा था जिसके तेज के सामने अत्यन्त प्रखर तेज धारण करने वाले सूर्य तथा चन्द्र रूपी नेत्र भी फीके पड़ जाते थे ॥ १२ ॥

महार्हरत्नाञ्चितयोरुदारं स्फुरत्प्रभामण्डलयोः समन्तात् ।
कर्णस्थिताभ्यां शशिभास्कराभ्यामुपासितं कुण्डलयोश्छलेन ॥ १३ ॥

अन्वयः—(पुनः किम्भूतम्), महार्हरत्नाञ्चितयोः, समन्तात्, उदारम् (यथा स्यात्तथा), स्फुरत्प्रभामण्डलयोः, कुण्डलयोः, छलेन, कर्णस्थिताभ्याम्, शशिभास्कराभ्याम्, उपासितम् ॥ १३ ॥

भावार्थ—उनके दोनों कानों में बहुमूल्य रत्नों से जड़े तथा चमकती हुई किरणों से घिरे हुए दो कुण्डल ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों कुण्डलों के बहाने सूर्य और चन्द्रमा ही उनके कानों पर बैठकर उनकी उपासना कर रहे हों ॥ १३ ॥

स्वबद्धया कण्ठिकयेव नीलमाणिक्यमय्या कुतुकेन गौर्याः ।
नीलस्य कण्ठस्य परिस्फुरन्त्या कान्त्या महत्या सुविराजमानम् ॥ १४ ॥

अन्वयः—(पुनः, किम्भूतम्), परिस्फुरन्त्या, नीलस्य, कण्ठस्य, महत्या, कान्त्या, सुविराजमानम्, कुतुकेन, स्वबद्धया, नीलमाणिक्यमय्या, गौर्याः, कण्ठिकया, इव ॥ १४ ॥

भावार्थ—वह अपने नीले गले की अत्यन्त चमकती हुई कान्ति से इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे जैसे कभी-कभी खिलवाड़ में नीलम की बनी कंठियों को गले में बाँधकर पार्वती जी सुशोभित हो उठती थीं ॥ १४ ॥

कालार्दितानां त्रिदशासुराणां चितारजोभिः परिपाण्डुराङ्गम् ।
महन्महेभाजिनमुद्गताभ्रप्रालेयशैलश्रियमुद्वहन्तम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—(पुनः किम्भूतम्), कालार्दितानाम्, त्रिदशासुराणाम्, चितारजोभिः, परिपाण्डुराङ्गम्, महन्महेभाजिनम्, दधानम्, उद्गताभ्रप्रालेयशैलश्रियम्, उद्वहन्तम् ॥ १५ ॥

भावार्थ—मरे हुए देवताओं तथा राक्षसों की चिताओं की भस्म रमाये अपने उज्ज्वल शरीर पर श्वेत हाथी की खाल ओढ़े हुए शंकर जी ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो बादलों से घिरा हुआ विशाल हिमालय सुशोभित हो रहा हो ॥१५॥

पाणिस्थितब्रह्मकपालपात्रं वैकुण्ठभाजापि निषेव्यमाणम् ।
नरास्थिखण्डाभरणं रणान्तमूलं त्रिशूलं कलयन्तमुच्चैः ॥ १६ ॥

अन्वयः—पाणिस्थितब्रह्मकपालपात्रम्, वैकुण्ठभाजा, अपि, निषेव्यमाणम् (तथा), नरास्थिखण्डाभरणम्, रणान्तमूलम्, त्रिशूलम्, उच्चैः, कलयन्तम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—उनके एक हाथ में ब्रह्म-कपाल सुशोभित था और दूसरे हाथ में युद्ध का अन्त करने वाला त्रिशूल उठा हुआ था, गले में मरे मनुष्यों की हड्डियों का आभूषण पड़ा हुआ था। इस अमंगल वेश में रहने पर भी वैकुण्ठनिवासी भगवान् विष्णु तक उनकी उपासना करते थे ॥ १६ ॥

पुरातनीं ब्रह्मकपालमालां कण्ठे वहन्तं पुनराश्वसन्तीम् ।
उद्गीतवेदां मुकुटेन्दुवर्षत्सुधाभरौघाप्लवलब्धसंज्ञाम् ॥ १७ ॥

अन्वयः—मुकुटेन्दुवर्षत्सुधाभरौघाप्लवलब्धसंज्ञाम्, आश्वसन्तीम्, पुनः (अपि), उद्गीतवेदाम्, पुरातनीम्, ब्रह्मकपालमालाम् कण्ठे वहन्तम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ—उनके गले में एक पुरानी ब्रह्मकपालों की माला पड़ी हुई थी जो उनके सिर पर स्थित चन्द्रमा से झड़ने वाली अमृत की बूंदों को पोने से जीवित सी होकर मानो वेद का पाठ कर रही थी ॥ १७ ॥

सलीलमङ्कस्थितया गिरीन्द्रपुत्र्या नवाष्टापदवल्लिभासा ।
विराजमानं शरदभ्रखण्डं परिस्फुरन्त्याचिररोचिषेव ॥ १८ ॥

अन्वयः—नवाष्टापदवल्लिभासा, सलीलम् अङ्कस्थितया, गिरीन्द्रपुत्र्या, परिस्फुरन्त्या, अचिररोचिषा, शरदभ्रखण्डम्, इव, विराजमानम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—सोने की नवीन लता के समान पार्वती जी को क्रीड़ा के साथ अपनी गोद में बिठाए हुए शंकर जी चमकती हुई बिजली से युक्त शरत्कालीन स्वच्छ बादल के समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १८ ॥

दृप्तान्धकप्राणहरं पिनाकं महासुरस्त्रीविधवत्वहेतुम् ।
करेण गृह्णन्तमगृह्यमन्यैः पुरा स्मरप्लोषणकेलिकारम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—दृप्तान्धकप्राणहरम्, महासुरस्त्रीविधवत्वहेतुम्, पुरा, स्मरप्लोषणकेलिकारम्, अन्यैः, अगृह्यम्, पिनाकम्, करेण, गृह्णन्तम् ॥ १९ ॥

भाषार्थ—उनके हाथ में, घमण्डी अंधकासुर के प्राणों को लेने वाला, अनेक राक्षसों को मारकर उनकी स्त्रियों को वैधव्य प्रदान करने वाला तथा कामदेव को

भस्म कर देने वाला पिनाक नाम का धनुष सुशोभित हो रहा था, जिसे धारण करने की शक्ति अन्य किसी में नहीं थी ॥ १९ ॥

भद्रासनं काञ्चनपादपीठं महार्हमाणिक्यविभङ्गिचित्रम् ।
अधिष्ठितं चन्द्रमरीचिगौरैरुद्वीज्यमानं चमरैर्गणाभ्याम् ॥ २० ॥

अन्वयः—महार्हमाणिक्यविभङ्गिचित्रम्, भद्रासनम् काञ्चनपादपीठम्, अधिष्ठितम् (पुनः), चन्द्रमरीचिगौरैः, चमरैः, गणाभ्याम्, उद्वीज्यमानम् ॥ २० ॥

भाषार्थ—शिवजी बहुमूल्य मणियों से जड़े हुए श्रेष्ठ आसन पर विराजमान थे और उनका दाहिना पैर नीचे रखे हुए सोने के पीढ़े पर स्थित था। उनके दोनों बगल दो गण खड़े होकर उनपर चन्द्रमा की किरणों के समान उजले चँवर डुला रहे थे ॥ २० ॥

शस्त्रास्त्रविद्याभ्यसनैकसक्ते सविस्मयैरेत्य गणैः सुदृष्टे ।
नीराज्यमाने स्फटिकाचलेन सानन्दनिर्दिष्टदृशं कुमारे ॥२१॥

अन्वयः—शस्त्रास्त्रविद्याभ्यसनैकसक्ते, गणैः, एत्य, सविसस्मयैः (सद्भिः) सुदृष्टे, स्फटिकाचलेन, नीराज्यमाने, कुमारे, सानन्दनिर्दिष्टदृशम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—भगवान शंकर आनन्द में मग्न होकर कुमार कार्तिकेय की शस्त्रास्त्र विद्या का अभ्यास देख रहे थे, जिसे उनके गण भी इकट्ठे होकर बड़े कुतूहल से निहार रहे थे। वह स्फटिकमय कैलास भी उस कुमार की आरती उतारा करता करता था ॥ २१ ॥

तथाविधं शैलसुताधिनाथं पुलोमपुत्रीदयितो निरीक्ष्य ।
आसीत्क्षणं क्षोभपरो नु कस्य मनो न हि क्षुभ्यति धामधाम्नि ॥२२॥

अन्वयः—पुलोमपुत्रीदयितः, तथाविधम्, शैलसुताधिनाथम्, निरीक्ष्य, क्षणम्, क्षोभपरः, आसीत्, नु, हि, धामधाम्नि, कस्य, मनः, न, क्षुभ्यति ॥ २२ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार शिवजी को देखकर इन्द्र का चित्त थोड़ी देर के लिए चंचल हो उठा क्योंकि इतने तेजस्वी वैभव को देखकर भला किसका मन चलायमान नहीं हो सकता ॥ २२ ॥

विकस्वराम्भोजवनश्रिया तं दृशां सहस्रेण निरीक्षमाणः ।
रोमालिभिः स्वर्गपतिर्बभासे पुष्पोत्कराकीर्ण इवाब्जशाखी ॥२३॥

अन्वयः—स्वर्गपतिः, विकस्वराम्भोजवनश्रिया, दृशाम् सहस्रेण, तम्,

निरीक्षमाणः (सन्), रोमालिभिः, पुष्पोत्कराकीर्णः, आम्रशाखी, इव, बभासे ॥ २३ ॥

भाषार्थ—अपनी प्रफुल्लित कमल जैसी सुन्दर हजारों आँखों से शंकर जी को देखते हुए इन्द्र का शरीर रोमाञ्चों से भर जाने के कारण मंजरियों से लदे हुए आम के पेड़ के समान सुशोभित होने लगा ॥ २३ ॥

दृष्ट्वा सहस्रेण दृशां महेशमभूत्कृतार्थोऽतितरां महेन्द्रः ।
सर्वाङ्गजातं तदथो विरूपमिव प्रियाकोपकरं विवेद ॥ २४ ॥

अन्वयः—दृशाम्, सहस्रेण, महेशम्, दृष्ट्वा, महेन्द्रः, अतितराम्, कृतार्थः, अभूत्, अथ तत्, सर्वाङ्गजातम्, विरूपम्, प्रियाकोपकरम्, इव, विवेद ॥ २४ ॥

भाषार्थ—इन्द्र अपनी हजार आँखों से शंकर जी को देख कर अपने को बहुत ही सौभाग्यशाली समझने लगे और अपने शरीर पर उठ आने वाले रोमाञ्च को अपनी पत्नी के क्रोध का कारण समझने लगे ॥ २४ ॥

ततः कुमारं कनकाद्रिसारं पुरन्दरः प्रेक्ष्य धृतास्त्रशस्त्रम् ।
महेश्वरोपान्तिकवर्तमानं शत्रोर्जयाशां मनसा बबन्ध ॥ २५ ॥

अन्वय—ततः, पुरन्दरः, कनकाद्रिसारम्, धृतास्त्रशस्त्रम्, महेश्वरोपान्तिकवर्तमानम्, कुमारम्, प्रेक्ष्य, शत्रोर्जयाशाम्, मनसा, बबन्ध ॥ २५ ॥

भाषार्थ—इसके पश्चात् मेरु पर्वत के समान बली तथा अस्त्र-शस्त्र धारण करके भगवान् शिव के पास बैठे हुए कुमार को देखकर इन्द्र के मन में शत्रुओं से जीतने की आशा बँधने लगी ॥ २५ ॥

श्रीनीलकण्ठ द्युपतिः पुरोऽस्ति त्वयि प्रणामावसरं प्रतीच्छन् ।
सहस्रनेत्रेऽत्र भव त्रिनेत्र दृष्ट्या प्रसादप्रगुणो महेश ॥ २६ ॥
इति प्रवद्धाञ्जलिरेत्य नन्दी निधाय कक्षामभि हेमवेत्रम् ।
प्रसादपात्रं पुरतो भविष्णुरथ स्मरारातिमुवाच वाचम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—अथ, नन्दी, पुरतः, प्रसाद-पात्रम्, भविष्णुः, एत्य, (तथा) कक्षाम्, अभि, हेमवेत्रम्, निधाय, प्रवद्धाञ्जलिः (सन्), स्मरारातिम्, (भोः) श्रीनीलकण्ठ ! द्युपतिः, त्वयि, प्रणामावसरम्, प्रतीच्छन्, पुरः, अस्ति (अतः हे) त्रिनेत्र !, (हे) महेश ! अत्र, सहस्रनेत्रे, दृष्ट्या, प्रसादप्रगुणः, भव, इति, वाचम्, उवाच ॥ २६-२७ ॥

भाषार्थ—उसी समय अपने सोने के डंडे को एक कोने में खड़ा कर तथा हाथ

जोड़े हुए सामने आकर उनकी कृपा की अभिलाषा लिए हुए नन्दी ने कहा—हे भगवान् त्रिलोचन, देखिए, इधर सामने स्वर्गपति इन्द्रदेव आप को प्रणाम करने का अवसर देखते हुए खड़े हैं, अतः आप इन हजार नेत्रों वाले इन्द्र पर भी अपनी कृपा-दृष्टि डालने की कृपा कीजिए ।। २६-२७ ।।

पुरा सुरेन्द्रं सुरसङ्घसेव्यं त्रिलोकसेव्यस्त्रिपुरासुरारिः ।
प्रीत्या सुधासारनिधारिणेव ततोऽनुजग्राह विलोकनेन ।। २८ ।।

अन्वयः—ततः, त्रिलोकसेव्यः, त्रिपुरासुरारिः, सुरसङ्घसेव्यम्, सुरेन्द्रम्, पुरा, प्रीत्या, सुधासारनिधारिणा, इव, विलोकनेन, अनुजग्राह ।। २८ ।।

भाषार्थ—यह सुनकर त्रिपुरासुर के मारने वाले तीनों लोकों के पूज्य भगवान् शंकर ने देवताओं के उपास्य इन्द्र को प्रसन्न होकर अपनी अमृत वर्षा करने वाली दृष्टि से देखने की कृपा की ।। २८ ।।

किरीटकोटिच्युतपारिजातपुष्पोत्करेणानमितेन मुर्ध्ना ।
स्वर्गैकवन्द्यो जगदेकवन्द्यं तं देवदेवं प्रणनाम देवः ।। २९ ।।

अन्वयः—स्वर्गैकवन्द्यः, देवः, आनमितेन किरीटकोटिच्युतपारिजातपुष्पोत्करेण, मूर्ध्ना, जगदेकवन्द्यम्, देवदेवम्, प्रणनाम ।। २९ ।।

भाषार्थ—जिस समय स्वर्ग में पूजनीय इन्द्रदेव संसार के वंदनीय एवं देवताओं के भी देवता भगवान शिव को अपने झुके हुए मस्तक से प्रणाम करने लगे उस समय उनके मुकुट की नोक से झड़कर परिजात के बहुत से फूल बिखर गये ।। २९ ।।

अनेकलोकैकनमस्क्रियार्हं महेश्वरं तं त्रिदशेश्वरः सः ।
भक्त्या नमस्कृत्य कृतार्थतायाः पात्रं पवित्रं परमं बभूव ।। ३० ।।

अन्वयः—सः, त्रिदशेश्वरः भक्त्या, अनेकलोकैकनमस्क्रियार्हम्, तम्, महेश्वरम्, भक्त्या, नमस्कृत्य, परमम्, पवित्रम्, कृतार्थतायाः, पात्रम्, बभूव ।। ३० ।।

भाषार्थ—सभी लोकों के एक मात्र पूजनीय भगवान् शंकर को अत्यंत भक्ति के साथ प्रणाम करके देवराज इन्द्र ने अपने को धन्यवाद का पात्र और परम पवित्र समझ लिया ।। ३० ।।

सुभक्तिभाजामधि पादपीठं प्रान्तर्क्षितं नम्रतरैः शिरोभिः ।
ततः प्रणेमुः पुरतो गणानां गणाः सुराणां क्रमतः पुरारिम् ।। ३१ ।।

अन्वयः—ततः, सुभक्तिभाजाम्, सुराणाम्, गणाः, गणानाम्, पुरतः,

पादपीठम्, प्रान्तक्षितिम्, अधि, नम्रतरैः, शिरोभिः, पुरारिम्, क्रमतः, प्रणेमुः, ।। ३१ ।।

भाषार्थ—इसके पश्चात् भक्तिभावना से भरे हुए अन्य देवताओं ने भी प्रमथ आदि गणों के सामने भगवान् शंकर जी के पैर रखने के पीढे के पास की भूमि पर सिर छुला-छुला कर बारी-बारी से प्रणाम किया ॥ ३१ ॥

गणोपनीते प्रभुणोपदिष्टः शुभासने हेममये पुरस्तात् ।
प्रापोपविश्य प्रमुदं सुरेन्द्रः प्रभुप्रसादो हि मुदे न कस्य ।। ३२ ।।

अन्वयः—सुरेन्द्रः, गणोपनीते (तथा), हेममये, शुभासने, प्रभुणा, उपदिष्टः, पुरस्तात्, उपविश्य, प्रमुदम्, प्राप, हि, प्रभुप्रसादः, कस्य न, मुदे ।। ३२ ।।

भाषार्थ--तब इन्द्रदेव शंकर जी की आज्ञा से एक गण द्वारा लाए गए सोने के सुन्दर आसन पर शिव जी के सामने बैठकर अत्यंत आनन्दित हो गए। क्योंकि स्वामी की कृपा किसके आनन्द का कारण नहीं होती है ।। ३२ ।।

क्रमेण चान्येऽपि विलोकनेन सम्भावितः सस्मितमीश्वरेण ।
उपाविशँस्तोषविशेषमाप्ता दृग्गोचरे तस्य सुराः समग्राः ।। ३३ ।।

अन्वयः—ईश्वरेण, क्रमेण, अन्ये, अपि, च, समग्राः, सुराः, सस्मितम्, (यथा तथा), विलोकनेन सम्भाविताः, तोषविशेषम्, आप्ताः, तस्य, दृग्गोचरे, उपाविशन् ।। ३३ ।।

भाषार्थ—शंकर जी ने मुस्कराते हुए सभी देवताओं की ओर अपनी कृपादृष्टि डालकर बारी-बारी से सबका सम्मान किया जिससे वे भी अत्यंत संतुष्ट होकर उनके सामने बैठ गये ।। ३३ ।।

अथाह देवो बलवैरिमुख्यान्गीर्वाणवर्गान्करुणार्द्रचेताः ।
कृताञ्जलीकानसुराभिभूतान्ध्वस्तश्रियः श्रान्तमुखानवेक्ष्य ।। ३४ ।।

अन्वयः—अथ, देवः, बलवैरिमुख्यान्, गीर्वाणवर्गान्, असुराभिभूतान्, ध्वस्तश्रियः, श्रान्तमुखान्, कृताञ्जलीकान्, अवेक्ष्य, करुणार्द्रचेताः, आह ।। ३४ ।।

भाषार्थ—तब हाथ जोड़कर बैठे हुए, राक्षसों से हार जाने के कारण तेज के नष्ट हो जाने से मलिन मुखवाले इन्द्र प्रमुख देवताओं की ओर देखते हुए करुणा से आर्द्र हृदय वाले भगवान् शंकर ने कहा ।। ३४ ।।

अहो बतानन्तपराक्रमाणां दिवौकसो वीरवरायुधानाम् ।
हिमोदबिन्दुग्लपितस्य किं वः पद्मस्य दैन्यं दधते मुखानि ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अहो ! दिवौकसः, अनन्तपराक्रमाणाम्, वीरवरायुधानाम्, वः, मुखानि, हिमोदबिन्दुग्लपितस्य, पद्मस्य, दैन्यम्, किम्, दधते ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—हे देवताओ, आपलोग तो महापराक्रमी हैं, स्वर्ग में निवास करते हैं और आपलोगों के पास वीरोचित अस्त्र शस्त्र भी हैं किन्तु आपलोगों के मुंह आज पाले से झुलसे हुए कमल के समान क्यों इतने धूमिल दिखाई दे रहें हैं ॥ ३५ ॥

स्वर्गौकसः स्वर्गपरिच्युताः किं स्वपुण्यराशौ सुमहत्तमेऽपि ।
चिह्नं चिरोढं न तु यूयमेते निजाधिपत्यस्य परित्यजध्वम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—(हे), स्वर्गौकसः !, स्वपुण्यराशौ, सुमहत्तमे, अपि, किम् स्वर्गपरिच्युताः, एते, यूयम्, चिरोढम् निजाधिपत्यस्य चिह्नम्, तु, न, परित्यजध्वम् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—हे देवताओ, इतनी अक्षय पुण्यराशि के होते हुए भी आपलोग स्वर्ग से भ्रष्ट कैसे हुए ? इतने दिनों तक धारण किए हुए छत्र-चँवर आदि अपने राज्य-चिह्नों का परित्याग करना आपलोगों को भला नहीं लगता ॥ ३६ ॥

दिवौकसो देवगृहं विहाय मनुष्यसाधारणतामवाप्ताः ।
यूयं कुतः कारणतश्चरध्वं महीतले मानभृतो महान्तः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—(हे) दिवौकसः, महान्तः, मानभृतः, यूयम्, कुतः, कारणतः, देवगृहम्, विहाय, मनुष्यसाधारणताम्, अवाप्ताः, महीतले, चरध्वम् ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—हे देवो, आपलोग इतने मनस्वी, महान और स्वर्गवासी होकर भी स्वर्ग छोड़कर किस कारण से साधारण मनुष्यों के समान पृथ्वी पर इधर-उधर भटक रहे हैं ॥ ३७ ॥

अनन्यसाधरणसिद्धमुच्चैस्तद्दैवतं धाम निकामरम्यम् ।
कस्मादकस्मान्निरगाद्भवद्भ्यश्चिरार्जितं पुण्यमिवापचारात् ॥ ३८ ॥

अन्वयः—अनन्यसाधारणसिद्धम्, निकामरम्यम् उच्चैः, तत्, दैवतम्, धाम, अकस्मात्, कस्मात्, भवद्भ्यः, अपचारात् चिरार्जितम्, पुण्यम्, इव, निरगात् ॥ ३८ ॥

भावार्थ––जैसे बहुत दिनों का संचित पुण्य पाप के कारण हाथ से चला जाता है उसी प्रकार असाधारण सिद्धियों से परिपूर्ण एवं अत्यंत रमणीय स्वर्ग अचानक आपलोगों के अधिकार से निकल कैसे गया ? ॥ ३८ ॥

दिवौकसो वो हृदयस्य कस्मात्तथाविधं धैर्यमहार्यमार्याः ।
अगादगाधस्य जलाशयस्य ग्रीष्मातितापादिवशादिवाम्भः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—(हे) दिवौकसः, (हे) आर्याः, तथाविधम् , अहार्यम् , वः, हृदयस्य, धैर्यम् , कस्मात्, ग्रीष्मातितापादिवशात् , अगाधस्य, जलाशयस्य, अम्भः, इव, अगात् ॥ ३९ ॥

भावार्थ—हे देवो, आपलोगों के हृदय का वह अटल धैर्य ग्रीष्म ऋतु में अत्यंत गर्मी के कारण गहरे तालाब के जल की भाँति सूख कैसे गया ? ॥ ३९ ॥

सुराः सुराधीशपुरःसराणां समीयुषां वः सममातुराणाम् ।
तद् ब्रूत लोकत्रयजित्वरात्किं महासुरात्तारकतो विरुद्धम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—(हे) सुराः, ! तद् , आतुराणाम् , समम् , समीयुषाम् , सुराधीशपुरःसराणाम् , वः, लोकत्रयजित्वरात् , तारकतः, महासुरात् , विरुद्धम् , किम् , (इति) ब्रूत ॥ ४० ॥

भावार्थ––इस प्रकार व्याकुल होकर एक साथ उपस्थित होने वाले इन्द्रादि देवताओ, आप लोग कृपा करके यह तो बताइये कि आप लोगों ने तीनो लोकों को जीत लेने वाले तारकासुर से शत्रुता तो नहीं कर ली है ॥ ४० ॥

पराभवं तस्य महासुरस्य निषेद्धुमेकोऽहमलम्भविष्णुः ।
दावानलप्लोषविपत्तिमन्यो महाम्बुदात्किं हरते वनानाम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—(भो देवाः) तस्य, महासुरस्य, पराभवम्, निषेद्धुम्, अहम्, एकः अलम्भविष्णुः (तथा हि), वनानाम्, दावानलप्लोषविपत्तिम्, महाम्बुदात्, अन्यः, हरते, किम् ? ॥ ४१ ॥

भावार्थ—उस महान राक्षस द्वारा होने वाली आप लोगों की पराजय को रोकने की शक्ति एक मात्र मुझ में ही है । क्योंकि दावाग्नि में जलते हुए जंगलों को बुझाने की शक्ति बादल के अतिरिक्त और किसमें होती है ॥ ४१ ॥

इतीरिते मन्मथमर्दनेन सुराः सुरेन्द्रप्रमुखा मुखेषु ।
सान्द्रप्रमोदाश्रुतरङ्गितेषु दधुः श्रियं सत्वरमाश्वसन्तः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—मन्मथमर्दनेन, इति, ईरिते सुरेन्द्रप्रमुखाः, सुराः, आश्वसन्तः, सान्द्रप्रमोदाश्रुतरङ्गितेषु, मुखेषु, सत्वरम्, श्रियम्, दधुः ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—शंकर जी के इतना कहने पर इन्द्रादि देवताओं की आँखों से आनन्द के आँसू उमड़ चले और भगवान शंकर द्वारा प्राण-रक्षा का आश्वासन मिल जाने से उनके मुखों पर फिर शोभा झलकने लगी ।। ४२ ॥

ततो गिरीशस्य गिरां विरामे जगाद लब्धेऽवसरे सुरेन्द्रः ।
भवन्ति वाचोऽवसरे प्रयुक्ता ध्रुवं फलाविष्टमहोदयाय ॥ ४३ ॥

अन्वयः—ततः, गिरीशस्य, गिराम्, विरामे (सति), लब्धे, अवसरे, सुरेन्द्रः, जगाद (तथा, हि), अवसरे, प्रयुक्ताः, वाचः, ध्रुवम् फलाविष्ट-महोदयाय, भवन्ति ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—भगवान शंकर के चुप हो जाने पर उचित अवसर जान कर इन्द्र ने कहना प्रारम्भ किया । क्योंकि उचित अवसर पर कही हुई बात निश्चय ही सफल और उन्नति प्रदान करने वाली होती है ॥ ४३ ॥

ज्ञानप्रदीपेन तमोपहेनाविनश्वरेणास्खलितप्रभेण ।
भूतं भवद्भावि च यच्च किञ्चित्सर्वज्ञ सर्वं तव गोचरं तत् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—(हे) सर्वज्ञ !, तमोपहेन, अविनश्वरेण, अस्खलितप्रभेण (तथाभूतेन), ज्ञानप्रदीपेन, भूतम्, भवत्, भावि, च, यत्, किञ्चित्, च, सर्वम्, तव, गोचरम्, तत् (अस्ति) ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—हे प्रभो ! आप अज्ञान रूपी अन्धकार को मिटाने वाले कभी भी न बुझने वाले तथा सर्वदा प्रकाशित होने वाले अपने ज्ञान रूपी दीपक से इस संसार के भूत, वर्तमान और भविष्य की सब बातें जान लेते हैं इसीलिए आप सर्वज्ञ के नाम से पुकारे जाते हैं ॥ ४४ ॥

दुर्वारदोरुद्यमदुःसहेन यत्तारकेणामरघस्मरेण ।
तदीशतामास्रवता निरस्ता वयं दिवोऽमी वद किं न वेत्सि ॥ ४५ ॥

अन्वयः—दुर्वारदोरुद्यमदुःसहेन (अत, एव), अमरघस्मरेण, ईशताम्, आस्रवता, यत्, तारकेण, अमी, वयम्, दिवः, निरस्ताः, न, वेत्सि, किम्, (अपि, तु) वद ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—हे देव आप ही बताइए कि आप क्या इस बात को नहीं जानते हैं कि अपनी कठोर भुजाओं के असह्य पराक्रम द्वारा देवताओं का विनाश करने वाला तारकासुर स्वर्ग का मालिक बन बैठा है और हम देवताओं को वहाँ से निकाल बाहर कर दिया है ॥ ४५ ॥

विधेरमोघं स वरप्रसादमासाद्य सद्यस्त्रिजगज्जिगीषुः ।
सुरानशेषानहकप्रमुख्यान्दोर्दण्डचण्डो मनुते तृणाय ॥ ४६ ॥

अन्वयः—(हे) भगवन् !, सः, विधेः, अमोघम्, वरप्रसादम्, आसाद्य, सद्यः, दोर्दण्डचण्डः, त्रिजगत्, जिगीषुः (सन्), अहकप्रमुख्यान्, अशेषान्, सुरान्, तृणाय, मनुते ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—वह तारकासुर ब्रह्मा से अचूक वरदान प्राप्त करके अपनी प्रचंड भुजाओं के बल पर शीघ्र ही तीनों लोकों को जीत लेना चाहता है और मुझे तथा अन्य बड़े बड़े देवताओं को भी वह तिनके के समान तुच्छ समझता है ॥ ४६ ॥

स्तुत्या पुरास्माभिरुपासितेन पितामहेनेति निरूपितं नः ।
सेनापतिः संयति दैत्यमेतं पुरः स्मरारातिसुतो निहन्ति ॥ ४७ ॥

अन्वयः—(हे भगवन् !) पुरा, अस्माभिः, स्तुत्या, उपासितेन नः पितामहेन, (हे देवाः), संयति, स्मरारातिसुतः, सेनापतिः, एतम्, दैत्यम्, पुरः निहन्ति, इति, निरूपितम् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—हे भगवन्, जब हम लोगों ने ब्रह्मा की स्तुति की थी तब हमारी उपासना से प्रसन्न होकर उन्होंने कहा था कि शंकर जी का पुत्र देवताओं का सेनापति बन कर युद्ध में इस राक्षस को मारेगा ॥ ४७ ॥

अहो ततोऽनन्तरमद्य यावत्सुदुःसहां तस्य पराभवार्तिम् ।
विषेहिरे हन्त हृदन्तशल्यमाज्ञानिवेशं त्रिदिवौकसोऽमी ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अहो ! ततः, अनन्तरम्, अद्ययावत्, अमी, त्रिदिवौकसः, सुदुःसहाम्, तस्य, पराभवार्तिम्, हृदन्तशल्यम्, आज्ञानिवेशम्, विषेहिरे, हन्त ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—हम सभी देवताओं ने उसी समय से अब तक उससे हारने की की असह्य पीड़ा और हृदय के भीतर चुभ जाने वाले उसकी आज्ञा का पालन रूपी अपमान सहन किया है ॥ ४८ ॥

निदाघधामक्लमविक्लवानां नवीनमम्भोदमिवौषधीनाम् ।
सुनन्दनं नन्दनमात्मनो नः सेनान्यमेतं स्वयमादिश त्वम् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—त्वम्, स्वयम्, निदाघधामक्लमविक्लवानाम्, ओषधीनाम्, सुनन्दनम्, नवीनम्, अम्भोदम्, इव, नः नन्दनम्, आत्मनः, सेनान्यम्, एतम् (नन्दनम्), आदिश ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—जैसे गर्मी की तपन से जलती हुई लताओं तथा पेड़ पौधों को वर्षा का नवीन बादल हरा-भरा बना देता है उसी प्रकार अपने इस आनन्ददायक पुत्र को हम देवताओं का सेनापति बनने की आज्ञा देकर आप हम लोगों में भी जीवन की आशा ला दें ।। ४९ ।।

त्रैलोक्यलक्ष्मीहृदयैकशल्यं समूलमुत्खाय महासुरं तम् ।
अस्माकमेषां पुरतो भवन्सन्दुःखापहारं युधि यो विधत्ते ।। ५० ।।

अन्वयः—यः, त्रैलोक्यलक्ष्मीहृदयैकशल्यम्, तम्, महासुरम्, युधि, एषाम्, अस्माकम्, पुरतः, भवन्, सन्, समूलम्, उत्खाय, दुःखापहारम्, विधत्ते ।। ५० ।।

भाषार्थ—तीनों लोक की राज्य-लक्ष्मी के हृदय में काटे के समान चुभने वाले उस तारकासुर को युद्ध में सपरिवार नष्ट करके ही आप के पुत्र मुझ देवताओं का दुःख दूर कर सकते हैं ।। ५० ।।

महाहवे नाथ तवास्य सूनोः शस्त्रैः शितैः कृत्तशिरोधराणाम् ।
महासुराणां रमणीविलापैर्दिशो दशैता मुखरीभवन्तु ।। ५१ ।।

अन्वयः—(हे) नाथ ! महाहवे, अस्य, तव, सूनो;, शितैः शस्त्रैः, कृत्तशिरोधराणाम्, महासुराणाम्, रमणीविलापैः, एतां, दश, दिशः, मुखरीभवन्तु ।। ५१ ।।

भाषार्थ—हे नाथ आप ऐसा उपाय करें कि उस महायुद्ध में आप के इस पुत्र के बाणों से बड़े-बड़े दैत्यों के सिर कट-कट कर गिर जायँ और उन मरे हुए राक्षसों की विधवाओं के विलाप से सारी दिशाएँ गुञ्जरित हो उठें ।। ५१ ।।

महारणक्षोणिपशूपहारीकृतेऽसुरे तत्र तवात्मजेन ।
बन्दिस्थितानां सुदृशां करोतु वेणीप्रमोक्षं सुरलोक एषः ।। ५२ ।।

अन्वयः—तत्र, असुरे, तव, आत्मजेन, महारणक्षोणिपशूपहारीकृते, एषः, सुरलोकः, बन्दिस्थितानाम्, सुदृशाम्, वेणीप्रमोक्षं, करोतु ।। ५२ ।।

भाषार्थ—जब आप के पुत्र उस महासंग्राम में राक्षसों को गीदड़ आदि पशुओं को भेंट में चढ़ा देंगे तभी ये देवता लोग स्वर्ग में बन्दिनी बनी हुई सुन्दर नेत्रों वाली अपनी रमणियों की उलझी हुई चोटी खोलने में समर्थ हो सकेंगे ।। ५२ ।।

इत्थं सुरेन्द्रे वदति स्मरारिः सुरारिदुश्चेष्टितजातरोषः ।
कृतानुकम्पस्त्रिदशेषु तेषु भूयोऽपि भूताधिपतिर्बभाषे ।। ५३ ।।

अन्वयः—सुरेन्द्रे, इत्थम्, वदति, सुरारिदुश्चेष्टितजातरोषः, स्मरारिः, भूताधिपतिः, तेषु, त्रिदशेषु कृतानुकम्पः, भूयः, अपि, बभाषे ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—इन्द्र के इस प्रकार कहने पर भगवान् शिव तारकासुर के अत्याचारों पर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और उन देवताओं पर कृपा करके उन्होंने फिर कहा ॥ ५३ ॥

अहो अहो देवगणाः सुरेन्द्रमुख्याः शृणुध्वं वचनं ममैते ।
विचेष्टते शङ्कर एष देवः कार्याय सज्जो भवतां सुताद्यैः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अहो, अहो !, (हे) देवगणाः, सुरेन्द्रमुख्याः !, एते, मम, वचनम्, शृणुध्वम्, एषः, शङ्करः, देवः सुताद्यैः, भवताम्, कार्याय, सज्जः, विचेष्टते ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—हे इन्द्र आदि प्रमुख देवताओं, अब आपलोग हमारी बातें सुनें। अब मैं अपने पुत्र आदि के साथ आप लोगों का कार्य सिद्ध करने के लिए तैयार हो गया हूँ ॥ ५४ ॥

पुरा मयाकारि गिरीन्द्रपुत्र्याः प्रतिग्रहोऽयं नियतात्मनापि ।
तत्रैष हेतुः खलु तद्भवेन वीरेण यद्वध्यत एव शत्रुः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—पुरा, नियतात्मना, अपि, मया, गिरीन्द्रपुत्र्याः, अयम्, प्रतिग्रहः, (यद्) अकारि, तत्र, एषः, हेतुः, खलु, यत्, (एषः) शत्रुः, तद्भवेन, वीरेण, वध्यते, एवं ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—आत्मसंयम द्वारा समाधि लगा लेने पर भी मैंने पार्वती जी के साथ जो यह विवाह किया था वह केवल इसीलिए कि उससे उत्पन्न होनेवाला पुत्र इस तारकासुर जैसे शत्रु का वध कर सके ॥ ५५ ॥

अत्रोपपन्नं तदमी नियुज्य कुमारमेनं पृतनापतित्वे ।
निघ्नन्तु शत्रुं सुरलोकमेष भुनक्तु भूतोऽपि सुरैः सहेन्द्रः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—तत्, अमी, अत्र. उपपन्नम् (तथाभूतम्), एनम्, कुमारम्, पृतनापतित्वे, नियुज्य, शत्रुम्, निघ्नन्तु एषः, इन्द्रः, सुरैः, सह. भूयः, अपि, सुरलोकम्, भुनक्तु ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—इसलिए अपने कार्य के योग्य इस कुमार को आपलोग अपनी सेना का सेनापति बनाकर उस तारकासुर का बध कीजिए जिससे सभी देवताओं के साथ इन्द्र फिर स्वर्ग का आनन्द प्राप्त करें ॥ ५६ ॥

इत्युदीर्य भगवाँस्तमात्मजं घोरसङ्गरमहोत्सवोत्सुकम् ।
नन्दनं हि जहि देवविद्विषं संयतीति निजगाद शङ्करः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—शङ्करः, भगवान्, इति, उदीर्य, घोरसङ्गरमहोत्सवोत्सुकम्, नन्दनम्, तम्. आत्मजम्, (हे), पुत्र !, संयति, देवविद्विषम्, जहि, इति, निजगाद ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—इसके पश्चात् भयंकर युद्ध को भी उत्सव के समान समझने वाले अपने पुत्र कार्तिकेय से भगवान् शंकर जी ने कहा कि हे पुत्र, अब तुम जाओ और युद्ध में देवताओं के शत्रु तारकासुर का बध करो ॥ ५७ ॥

शासनं पशुपतेः स कुमारः स्वीचकार शिरसावनतेन ।
सर्वथैव पितृभक्तिरतानामेष एव परमः खलु धर्मः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—सः, कुमारः, पशुपतेः, शासनम्, अवनतेन, शिरसा, स्वीचकार, सर्वथा, एव, पितृभक्तिरतानाम्, खलु, एषः, एव, परमः, धर्मः ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—कुमार कार्तिकेय ने शंकर जी की आज्ञा को सिर झुकाकर स्वीकार किया क्योंकि पितृभक्त पुत्रों का धर्म ही यही है कि वे सर्वदा पिता की आज्ञा का पालन करें ॥ ५८ ॥

असुरयुद्धविधौ विबुधेश्वरे पशुपतौ वदतीति तमात्मजम् ।
गिरिजया मुमुदे सुतविक्रमे सति न नन्दति का खलु वीरसूः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—विबुधेश्वरे, पशुपतौ, असुरयुद्धविधौ, तम्, आत्मजम्, इति, वदति, गिरिजया, मुमुदे (तथा हि) खलु, सुतविक्रमे, सति, का, वीरसूः, न, नन्दति ॥ ५९ ॥

भाषार्थ--जिस समय देवताओं के स्वामी शंकर जी अपने पुत्र कार्तिकेय को राक्षसों से युद्ध करने की विधियाँ बताने लगे उस समय पार्वती जी अत्यन्त प्रसन्न हो उठीं । क्योंकि ऐसी कौन वीरमाता होगी जो अपने पुत्र की वीरता पर प्रसन्न न हो ॥ ५९ ॥

सुरपरिवृढः प्रौढं वीरं कुमारमुमापते-
र्बलवदमरारातिस्त्रीणां दृगञ्जनभञ्जनम् ।
जगदभयदं सद्यः प्राप्य प्रमोदपरोऽभवद्
ध्रुवमभिमते पूर्णे को वा मुदा न हि माद्यति ॥ ६० ॥

इति महाकवि-कालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
कुमारसैनापत्यवर्णनं नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

अन्वयः—सुरपरिवृढः, प्रौढम्, वीरम्, बलवदमरारातिस्त्रीणाम्, दृगञ्जनभञ्जनम्, जगदभयदम्, उमापतेः, कुमारम्, प्राप्य, सद्यः, प्रमोदपरः, अभवत् (तथा, हि) अभिमते, पूर्णे (सति), मुदा, कः, वा न, माद्यति ॥ ६० ॥

भाषार्थ—बलवान् राक्षसों की पत्नियों की आँखों का काजल मिटाने वाले तथा संसार को निर्भयता का वरदान देने वाले अत्यंत वीर कुमार को पाकर देवराज इन्द्र अत्यंत आनंदमग्न हो गये क्योंकि ऐसा कौन है जो अपनी अभिाषाओं की पूर्ति हो जाने पर आनन्द से मतवाला न हो जाय ॥ ६० ॥

महाकवि कालिदासकृत कुमारसम्भव महाकाव्य में कुमार का
सेनापतित्व-ग्रहण नाम का १२वाँ सर्ग समाप्त ।

त्रयोदशः सर्गः

प्रस्थानकालोचितचारुवेषः स स्वर्गिवर्गैरनुगम्यमानः ।
ततः कुमारः शिरसा नतेन त्रैलोक्यभर्तुः प्रणनाम पादौ ॥ १ ॥

अन्वयः—ततः, सः, कुमारः प्रस्थानकालोचितचारुवेषः, स्वर्गिवर्गैः, अनुगम्यमानः (सन्), नतेन, शिरसा, त्रैलोक्यभर्तुः, पादौ, प्रणनाम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—इसके पश्चात् यात्रा के योग्य सुन्दर वेश में सभी देवताओं के आगे स्थित होकर कुमार ने शिर झुका कर तीनों लोकों के स्वामी भगवान् शंकर के चरणों में प्रणाम किया ॥ १ ॥

जहीन्द्रशत्रुं समरेऽमरेशपदं स्थिरत्वं नय वीर वत्स ।
इत्याशिषा तं प्रणमन्तमीशो मूर्धन्युपाघ्राय मुदाभ्यनन्दत् ॥ २ ॥

अन्वयः—प्रणमन्तम्, तम् ईशः, मुदा मूर्धनि, उपाघ्राय (हे) वीर ! (हे) वत्स ! समरे, इन्द्रशत्रुम्, जहि, अमरेशपदम्, स्थिरत्वम्, नय, इति आशिषा, अभ्यनन्दत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—तब शंकर जी ने प्रणाम करते हुये पुत्र का सिर सूंघ कर बड़ी प्रसन्नता के साथ आशीर्वाद दिया कि हे वीर पुत्र ! युद्ध में तुम इन्द्र के शत्रु तारकासुर का बध करो और इन्द्र के पद को पुनः स्थिर कर दो ॥ २ ॥

प्रह्वीभवन्नम्रतरेण मूर्ध्ना नमश्चकाराङ्घ्रियुगं स्वमातुः ।
तस्याः प्रमोदाश्रुपयःप्रवृष्टिस्तस्याभवद्वीरवराभिषेकः ॥ ३ ॥

अन्वयः—सः, कुमारः, प्रह्वीभवन् (सन्), नम्रतरेण, मूर्ध्ना, स्वमातुः, अङ्घ्रियुगम्, नमश्चकार, तस्याः प्रमोदाश्रुपयःप्रवृष्टिः, तस्य, वीरवराभिषेकः, अभवत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—इसके पश्चात् अत्यंत विनम्रता से सिर झुका कर कुमार ने अपनी माता पार्वती के दोनों चरणों में प्रणाम किया। उस समय माता की आँखों से जो अश्रुजल गिरा मानों, उसी से उस श्रेष्ठ वीर का सेनापति के पद पर अभिषेक हो गया ॥ ३ ॥

तमङ्कमारोप्य सुता हिमाद्रेराश्लिष्य गाढं सुतवत्सला सा ।
शिरस्युपाघ्राय जगाद शत्रुं जित्वा कृतार्थीकुरु वीरसूं माम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—सुतवत्सला, सा, हिमाद्रेः, सुता, तम्, अङ्कम्, आरोप्य, गाढम् (यथा तथा), आश्लिष्य (तथा), शिरसि, उपाघ्राय, (हे वत्स ! त्वम्), शत्रुम्, जित्वा, वीरसूम्, माम्, कृतार्थीकुरु, (इति) जगाद ॥ ४ ॥

भावार्थ—उस पुत्रवत्सला हिमालय-पुत्री पार्वती ने पुत्र कुमार को गोद में लेकर गले से लगा लिया और शिर सूंघ कर आशीर्वाद दिया कि शत्रु को जीत कर, तुम यह सिद्ध कर दो कि सचमुच मैं एक वीर पुत्र की जन्मदात्री हूँ ॥ ४ ॥

उद्दामदैत्येशविपत्तिहेतुः श्रद्धालुचेताः समरोत्सवस्य ।
आपृच्छ्य भक्त्या गिरिजागिरीशौ ततः प्रतस्थेऽभिदिवं कुमारः ॥ ५ ॥

अन्वयः—ततः, उद्दामदैत्येशविपत्तिहेतुः, समरोत्सवस्य, श्रद्धालुचेताः, कुमारः, भक्त्या, गिरजागिरीशौ, आपृच्छ्य, दिवम्, अभि, प्रतस्थे ॥ ५ ॥

भावार्थ—इसके पश्चात् उस प्रचण्ड दैत्यराज तारकासुर की मृत्यु के कारणभूत तथा संग्रामरूपी उत्सव के प्रति अत्यंत श्रद्धालु कुमार बड़ी भक्ति के साथ मातापिता की आज्ञा लेकर देवलोक की ओर चल पड़े ॥ ५ ॥

देवं महेशं गिरिजां च देवीं ततः प्रणम्य त्रिदिवौकसोऽपि ।
प्रदक्षिणीकृत्य च नाकनाथपूर्वाः समस्तास्तमथानुजग्मुः ॥ ६ ॥

अन्वयः—ततः, नाकनाथपूर्वाः, समस्ताः, त्रिदिवौकसः, अपि, महेशम्, देवम्, गिरिजाम्, देवीम्, च प्रणम्य, अथ, प्रदिक्षिणीकृत्य, च तम्, अनुजग्मुः ॥ ६ ॥

भावार्थ—तब इन्द्र आदि सभी देवगण भगवान् शंकर और देवी पार्वती को प्रणाम तथा उनकी प्रदक्षिणा करके कुमार के पीछे-पीछे चल पड़े ॥ ६ ॥

अथ व्रजद्भिस्त्रिदशैरशेषैः स्फुरत्प्रभाभासुरमण्डलैस्तैः ।
नभो बभासे परितो विकीर्णं दिवापि नक्षत्रगणैरिवोग्रैः ॥ ७ ॥

अन्वयः—अथ, व्रजद्भिः, स्फुरत्प्रभाभासुरमण्डलैः, तैः, अशेषैः, त्रिदशैः, विकीर्णम्, नभः, दिवा, अपि, उग्रैः, नक्षत्रगणैः, विकीर्णम् इव, परितः, बभासे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस समय चारो ओर फैलती हुई कान्ति के चमकते हुए मंडल वाले सभी देवता एक साथ चलने लगे उस समय आकाश इस प्रकार प्रकाशित होने लगा मानो उसमें दिन में ही चमकीले तथा बड़े बड़े तारे निकल आये हों ॥ ७ ॥

रराज तेषां व्रजतां सुराणां मध्ये कुमारोऽधिककान्तिकान्तः ।
नक्षत्रताराग्रहमण्डलानामिव त्रियामारमणो नभोऽन्ते ॥ ८ ॥

अन्वयः—नभोऽन्ते, व्रजताम्, तेषाम्, सुराणाम्, मध्ये, कुमारः, नक्षत्रताराग्रहमण्डलानाम्, (मध्ये) त्रियामारमणः, इव, रराज, (यतः), अधिककान्तिकान्तः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—उन चलते हुए देवताओं के बीच में अपनी अनुपम कान्ति से अत्यंत सुन्दर कुमार कार्तिकेय ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो नक्षत्रों, तारों और ग्रहों के बीच में चन्द्रमा चल रहे हों ॥ ८ ॥

गिरीशगौरीतनयेन सार्धं पुलोमपुत्रीदयितादयस्ते ।
उत्तीर्य नक्षत्रपथं मुहूर्त्तात्प्रपेदिरे लोकमथात्मनीनम् ॥ ९ ॥

अन्वयः— अथ, पुलोमपुत्रीदयितादयः, ते, गिरीशगौरीतनयेन, सार्द्धम्, मुहूर्त्तात्, नक्षत्रपथम्, उत्तीर्य, आत्मनीनम्, लोकम्, प्रपेदिरे ॥ ९ ॥

भाषार्थ—कुमार कार्तिकेय के साथ इन्द्र आदि सभी देवतागण थोड़ी ही देर में आकाश को पार करके अपने लोक स्वर्ग में पहुँच गये ॥ ९ ॥

ते स्वर्गलोकं चिरकालदृष्टं महासुरत्रासवशंवदत्वात् ।
सद्यः प्रवेष्टुं न विषेहिरे तत्क्षणं व्यलम्बन्त सुराः समग्राः ॥ १० ॥

अन्वयः—ते, समग्राः, सुराः, महासुरत्रासवशंवदत्वात्, चिरकालदृष्टम्, स्वर्गलोकम्, सद्यः, प्रवेष्टुम्, न, बिषेहिरे, तत्क्षणम्, व्यलम्बन्त ॥ १० ॥

भाषार्थ—वे सभी देवता तारकासुर के भय के इतने अधीन हो चुके थे कि बहुत दिनों के देखे हुए स्वर्ग में सहसा प्रवेश करने का साहस न कर सके इसलिए थोड़ी देर तक ठहरे रहे ॥ १० ॥

पुरो भव त्वं न पुरो भवामि नाहं पुरोगोऽस्मि पुरःसरस्त्वम् ।
इत्थं सुरास्तत्क्षणमेव भीताः स्वर्गं प्रवेष्टुं कलहं वितेनुः ॥ ११ ॥

अन्वयः—तत्क्षणम्, एव, भीताः, (अतः) स्वर्गम्, प्रवेष्टुम्, त्वम्, पुरः, भव, (अहम्), पुरः, न, भवामि, अहम्, पुरोगः, न, अस्मि, त्वम्, पुरःसरः, (भव) इत्थम्, सुराः कलहम्, वितेनुः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—उस समय तारकासुर के भय से डरे हुए सभी देवता स्वर्ग में प्रवेश करने के लिये झगड़ा करते हुए एक दूसरे से कहने लगे कि 'तुम आगे चलो, मैं आगे नहीं चलूंगा, मैं आगे चलने वाला नहीं हूँ, आगे चलने वाले तो तुम हो' ॥ ११ ॥

सुरालयालोकनकौतुकेन मुदा शुचिस्मेरविलोचनास्ते ।
दधुः कुमारस्य मुखारविन्दे दृष्टिं द्विषत्साध्वसकातरान्ताम् ॥१२॥

अन्वयः—सुरालयालोकनकौतुकेन, शुचिस्मेरविलोचनाः, ते, द्विषत्साध्वसकातरां ताम्, दृष्टिम्, मुदा, कुमारस्य, मुखारविन्दे, दधुः ॥ १२ ॥

भावार्थ—बहुत दिनों के बाद स्वर्ग को देखने के आनन्द से देवताओं की आँखें मुसकरा उठीं किन्तु शत्रु के डर से कातर होकर कुमार के मुख कमल पर टिक गयीं ॥ ११ ॥

सहेलहासच्छुरिताननेन्दुस्ततः कुमारः पुरतो भविष्णुः ।
स तारकापातमपेक्षमाणो रणप्रवीरो हि सुरानवोचत् ॥ १३ ॥

अन्वयः—ततः, रणप्रवीरः, तारकापातम्, अपेक्षमाणः, पुरतः, भविष्णुः, सः, कुमारः, सहेलहासच्छुरिताननेन्दुः, हि, सुरान्, अवोचत् ॥ १३ ॥

भावार्थ—तब तारकासुर के आने की प्रतीक्षा करने वाले युद्धवीर कुमार ने सभी देवताओं के आगे होकर बड़े कौतुक के साथ हँसते हुए उन देवताओं से कहा ॥ १३ ॥

भीत्यालमद्य त्रिदिवौकसोऽमी स्वर्गं भवन्तः प्रविशन्तु सद्यः ।
अत्रैव मे दृक्पथमेतु शत्रुर्महासुरो वः खलु दृष्टपूर्वः ॥ १४ ॥

अन्वयः—(भोः !) त्रिदिवौकसः, अद्य, भीत्या, अलम् (किं, तु,) अमी, भवन्तः, सद्यः, स्वर्गम् प्रविशन्तु (सद्यः), दृष्टपूर्वः, (तथा) वः, शत्रुः, महासुरः, अत्रैव, मे दृक्पथम्, एतु ॥ १४ ॥

भावार्थ—हे देवताओं, अब आप लोग भयभीत न हों और शीघ्र ही स्वर्गलोक में प्रवेश करें। मैं चाहता हूँ कि आप लोगों ने अपने जिस शत्रु तारकसुर को पहिले देखा है, वह यहीं हमारी आँखों के सामने आ जाये ॥ १४ ॥

स्वर्लोकलक्ष्मीकचकर्षणाय दोर्मण्डलं वल्गति यस्य चण्डम् ।
इहैव तच्छोणितपानकेलिमह्नाय कुर्वन्तु शरा ममैते ॥१५॥

अन्वयः—स्वर्लोकलक्ष्मीकचकर्षणाय, चण्डम्, यस्य, दोर्मण्डलम्, वल्गति, तच्छोणितपानकेलिम्, एते, मम, शराः, अह्नाय, इहैव, कुर्वन्तु ॥ १५ ॥

भावार्थ—स्वर्ग-लक्ष्मी का बाल खींचने के लिए जिस तारकासुर की प्रचण्ड भुजाएँ मचलती रही हैं, मैं चाहता हूँ कि मेरे इन बाणों को यहीं पर शीघ्र ही उसके रक्तपान का अवसर मिल जाय ॥ १५ ॥

शक्तिर्ममासावहतप्रचारा प्रभावसारा सुमहःप्रसारा ।
स्वर्लोकलक्ष्म्या विपदावहारेः शिरो हरन्ती दिशतान्मुदं वः ॥ १६ ॥

अन्वयः—अहतप्रचारा, प्रभावसारा, सुमहःप्रसारा, स्वर्लोकलक्ष्म्याः, विपदावहा, (तथा) अरेः, शिरः, हरन्ती, असौ मम, शक्तिः, वः, मुदम्, दिशतात् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—अमोघ गतिवाली, अत्यंत प्रभावशालिनी, अतितेजस्विनी तथा स्वर्गलोक की लक्ष्मी का कष्ट दूर करने वाली यह मेरी शक्ति इसी स्थान पर शत्रु का शिर काट कर आप लोगों को आनन्दित कर दे ॥ १६ ॥

इत्यन्धकारातिसुतस्य दैत्यवधाय युद्धोत्सुकमानसस्य ।
सर्वं शुचिस्मेरमुखारविन्दं गीर्वाणवृन्दं वचसा ननन्द ॥ १७ ॥

अन्वयः—दैत्यवधाय, युद्धोत्सुकमानसस्य, अन्धकारातिसुतस्य, इति, वचसा, सर्वम्, गीर्वाणवृन्दम्, शुचिश्मेरमुखारविन्दम् ननन्द ॥ १७ ॥

भाषार्थ—दैत्यों का वध करने के लिए युद्ध के प्रति अत्यंत उत्सुक हृदयवाले कुमार की बातें सुनकर सभी देवताओं के मुख कमल पर मधुर मुसकान आगई और वे हर्षित हो उठे ॥ १७ ॥

सान्द्रप्रमोदात्पुलकोपगूढः सर्वाङ्गसम्फुल्लसहस्रनेत्रः ।
तस्योत्तरीयेण निजाम्बरेण निरुञ्छनं चारु चकार शक्रः ॥ १८ ॥

अन्वयः—सान्द्रप्रमोदात्, पूलकोपगूढः, सर्वाङ्गसम्फुल्लसहस्रनेत्रः, शक्रः, तस्य, उत्तरीयेण, निजाम्बरेण, निरुञ्छनम्, चारु, चकार ॥ १८ ॥

भाषार्थ—अत्यंत आनन्द के कारण इन्द्रदेव भी रोमाञ्चित हो उठे, उनके शरीर की हजारों आखें प्रफुल्लित हो उठीं और उन्होंने कुमार को अपना वस्त्र देकर तथा उनका स्वयं लेकर अपनी मित्रता पक्की कर ली ॥ १८ ॥

घनप्रमोदाश्रुतरङ्गिताक्षैर्मुखैश्चतुर्भिः प्रचुरप्रसादैः ।
अथो अचुम्बद्विधिरादिवृद्धः षडाननं षट्सु शिरःसु चित्रम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—अथो, आदिवृद्धः, विधिः, घनप्रमोदाश्रुतरङ्गिताक्षैः, प्रचुरप्रसादैः, चतुर्भिः, मुखैः, षट्सु, शिरःसु, षडाननम्, चित्रम्, अचुम्बत ॥ १९ ॥

भाषार्थ—देवताओं में सबसे बूढ़े ब्रह्मा की आँखें अत्यंत आनन्द के कारण डबडबा गईं और उनके चारों मुँह प्रसन्नता से खिल उठे । तब वे अपने चार मुँह से ही छः मुख वाले कुमार कार्तिकेय के शिरों का विचित्र भाव से चुम्बन करने लगे ॥ १९ ॥

तं साधु साध्वित्यभितः प्रशस्य मुदा कुमारं त्रिपुरासुरारेः ।
आनन्दयन्वीर जयेति वाचा गन्धर्वविद्याधरसिद्धसङ्घाः ॥ २० ॥

अन्वयः—गन्धर्वविद्याधरसिद्धसङ्घाः, तम्, त्रिपुरासुरारेः, कुमारम्, मुदा, साधु, साधु, इति, अभितः, प्रशस्य (हे), वीर ! (त्वम्), जय, इति, वाचा, आनन्दयन् ॥ २० ॥

भाषार्थ—उस समय गन्धर्वों, विद्याधरों और सिद्धों के समुदाय भी भगवान् शंकर के पुत्र कुमार कार्तिकेय को 'साधु, साधु' तथा 'हे वीर विजयी बनो' इस प्रकार कहते हुए आनन्दित करने लगे ॥ २० ॥

दिव्यर्षयः शत्रुविजेष्यमाणं तमभ्यनन्दन्किल नारादाद्याः ।
निरुञ्छनं चक्रु रथोत्तरीयैश्चामीकरीयैर्निजवल्कलैश्च ॥ २१ ॥

अन्वयः—नारादाद्याः दिव्यर्षयः शत्रुविजेष्यमाणम्, तम्, अभ्यनन्दन्, किल, अथ चामीकरीयैः, उत्तरीयैः निजवल्कलैः, च. निरुञ्छनम्, चक्रुः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—नारदादि देवर्षियों ने भी शत्रुविजय की कामना रखने वाले कुमार का अभिनन्दन किया और उनके सुनहले वस्त्रों से अपने वल्कल वस्त्रों का आदान-प्रदान करके अपना सम्बन्ध दृढ़ किया ॥ २१ ॥

ततः सुराः शक्तिधरस्य तस्यावष्टम्भतः साध्वसमुत्सृजन्तः ।
उत्सेहिरे स्वर्गमनन्तशक्तेर्गन्तुं वनं यूथपतेरिवेभाः ॥ २२ ॥

अन्वयः—ततः, अनन्तशक्तेः, शक्तिधरस्य, तस्य अवष्टम्भतः, साध्वसम्. उत्सृजन्तः, सुराः, अनन्तशक्तेः, यूथपतेः (अवष्टम्भतः), इभाः, वनम् इव, स्वर्गम्, गन्तुम्, उत्सेहिरे ॥ २२ ॥

भाषार्थ—इसके पश्चात् अमित पराक्रमी तथा शक्तिधारी उस कुमार का सहारा पाकर सभी देवगण निर्भय होकर स्वर्ग में प्रवेश करने के लिए उसी प्रकार उत्साहित हो उठे जैसे झुण्ड के स्वामी बड़े हाथी का सहारा पाकर छोटे हाथी जंगल में प्रवेश करने के लिए तैयार हो जाते हैं ॥ २२ ॥

अथाभिपृष्ठं गिरिजासुतस्य पुरन्दरारातिवधं चिकीर्षोः ।
सुरा निरीयुस्त्रिपुरं दिधक्षोरिव स्मरारेः प्रमथाः समन्तात् ॥ २३ ॥

अन्वयः—अथ, सुराः, पुरन्दरारातिवधम्, चिकीर्षोः, गिरिजासुतस्य, अभिपृष्ठम्, त्रिपुरम्, दिधक्षोः, स्मरारेः (अभिष्टम्) प्रमथाः, इव, समन्तात्, निरीयुः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—इन्द्र के शत्रु तारकासुर को मारने के लिए इच्छुक उस कुमार के पीछे-पीछे सभी देवता इस प्रकार चल पड़े जैसे त्रिपुरासुर को जलाने की इच्छा से जाने वाले भगवान शिव के पीछे-पीछे उनके प्रमथ आदि गण चले थे ॥ २३ ॥

सुराङ्गनानां जलकेलिभाजां प्रक्षालितैः सन्ततभङ्गरागैः ।
प्रपेदिरे पिञ्जरवारिपूरां स्वर्गौकसः स्वर्गधुनीं पुरस्तात् ॥ २४ ॥

अन्वयः—स्वर्गौकसः, पुरस्तात्, जलकेलिभाजाम्, सुराङ्गनानाम्, सततम्, प्रक्षालितैः, भङ्गरागैः, पिञ्जरवारिपूराम्, स्वर्गधुनीम्, प्रपेदिरे ॥ २४ ॥

भाषार्थ—वे देव गण सबसे पहले जलक्रीड़ा करने वाली अप्सराओं के अंगों के घुले हुए अंगराग से पीले जल वाली आकशगंगा के पास पहुँचे ॥ २४ ॥

दिग्दन्तिनां वारिविहारभाजां कराहतैर्भीमतरैस्तरङ्गैः ।
आप्लावयन्तीं मुहुरालबालश्रेणीं तरूणां निजतीरजानाम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—वारिविहारभाजाम्, दिग्दन्तिनाम्, कराहतैः, भीमतरैः, तरङ्गैः, निजतीरजानाम्, तरूणाम्, आलवालश्रेणीम्, मुहुः, आप्लावयन्तीम् ॥ २५ ॥

भाषार्थ—वह आकाशगंगा दिग्गजों के सूड़ों के आघातों द्वारा उठी हुई बड़ी-बड़ी लहरों से अपने किनारों पर उगे हुए वृक्षों के थालों को निरन्तर जल से भरती रहती थी ॥ २५ ॥

लीलारसाभिः सुरकन्यकाभिर्हिरण्मयीभिः सिकताभिरुच्चैः ।
माणिक्यगर्भाभिरुपाहिताभिः प्रकीर्णतीरां वरवेदिकाभिः ॥ २६ ॥

अन्वयः—लीलारसाभिः, सुरकन्यकाभिः, हिरण्मयीभिः, सिकताभिः, माणिक्यगर्भाभिः, उपाहिताभिः, उच्चैः, वरवेदिकाभिः प्रकीर्णतीराम् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—जिसके किनारे खेलने के लिए आयी हुई देवकन्याओं के हाथों बनी हुई सुनहरी बालू की उँची-ऊंची बहुत सी वेदिकाएँ दिखाई दे रही थीं जिनके बीच-बीच में उन्होंने मणियों को भी डाल रखा था ॥ २६ ॥

सौरभ्यलुब्धभ्रमरोपगीतैर्हिरण्यहंसावलिकेलिलोलैः ।
चामीकरीयैः कमलैर्विनिद्रैश्च्युतैः परागैः परिपिङ्गतोयाम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—सौरभ्यलुब्धभ्रमरोपगीतैः, हिरण्यहंसावलिकेलिलोलैः चामीकरीयैः, विनिद्रैः, कमलैः, च्युतैः, परागैः, परिपिङ्गतोयाम् ॥ २७ ॥

भाषार्थ—सुगन्ध के लोभी भौंरों की गुञ्जार तथा सुनहले हंसों की क्रीड़ा के कारण हिलते हुए प्रफुल्लित सुनहले कमलों से झड़े हुए पराग से जिसका जल निरन्तर पीले रंग का हुआ करता था ॥ २७ ॥

कुतूहलाद् द्रष्टुमुपागताभिस्तीरस्थिताभिः सुरसुन्दरीभिः ।
अभ्यूर्मिराजि प्रतिबिम्बिताभिर्मुदं दिशन्तीं व्रजतां जनानाम् ॥ २८ ॥

अन्वयः—द्रष्टुम्, कुतूहलात्, उपागताभिः, तीरस्थिताभिः, (अत एव), अभ्यूर्मिराजि, प्रतिबिम्बिताभिः सुरसुन्दरीभिः, व्रजताम्, जनानाम्, मुदम्, दिशन्तीम् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—जिसके किनारे मनोविनोद के लिए आकर उसे देखने में मग्न बैठी हुई सुर-सुन्दरियों की छाया उसकी लहरों में प्रतिबिम्बित होती हुई उधर से आने जाने वाले लोगों को लुभाया करती थी ॥ २८ ॥

ननन्द सद्यश्चिरकालदृष्टां विलोक्य शक्रः सुरदीर्घिकां ताम् ।
अदर्शयत्सादरमद्रिपुत्रीमहेशपुत्राय ततः पुरोगः ॥ २९ ॥

अन्वयः—शक्रः, चिरकालदृष्टाम्, ताम्, सुरदीर्घिकाम्, विलोक्य, सद्यः, ननन्द, ततः, अद्रिपुत्रीमहेशपुत्राय, सादरम्, पुरोगः, (सन्), अदर्शयत् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—बहुत दिनों की देखी हुई देवगंगा को देखते ही इन्द्र अत्यंत प्रसन्न हो गए और उन्होंने आगे बढ़कर शंकर-पार्वती के पुत्र कुमार को भी उसे बड़े आदर के साथ दिखाया ॥ २९ ॥

स कार्तिकेयः पुरतः परीतः सुरैः समस्तैः सुरनिम्नगां ताम् ।
अपूर्वदृष्टामवलोकमानः सविस्मयः स्मेरविलोचनोऽभूत् ॥ ३० ॥

अन्वयः—समस्तैः, सुरैः, परीतः, कार्तिकेयः, अपूर्वदृष्टाम्, ताम्, सुरनिम्नगाम्, पुरतः, अवलोकमानः (सन्), सविस्मयः, स्मेरविलोचनः, अभूत् ॥ ३० ॥

भाषार्थ—सभी देवताओं से घिरे हुए कार्तिकेय पहले की कभी न देखी हुई उस देवनदी कों सामने देखकर चकित हो गये और उनके मुख पर हास्य की रेखा झलक उठी ॥ ३० ॥

उत्पेय तां तत्र किरीटकोटिन्यस्ताञ्जलिर्भक्तिपरः कुमारः ।
गीर्वाणवृन्दैः प्रणुतां प्रणुत्य नम्रेण मूर्ध्ना मुदितो ववन्दे ॥ ३१ ॥

अन्वयः—भक्तिपरः, कुमारः, गीर्वाणवृन्दैः प्रणुताम्, ताम् तत्र, उपेत्य, किरीटकोटिन्यस्ताञ्जलिः (सन्), प्रणुत्य, मुदितः तथा, नम्रेण, मूर्ध्ना, ववन्दे ॥ ३१ ॥

भावार्थ—अत्यन्त श्रद्धालु कुमार कार्तिकेय ने देवताओं द्वारा वंदनीया उस देव-नदी के तट पर जाकर अपने जुड़े हुए हाथों को मुकुट के सिरे पर लगाते हुए बड़ी भक्ति तथा प्रसन्न मन से सिर झुका कर प्रणाम करते हुए उसकी वन्दना की ॥ ३१ ॥

प्रर्तितस्मेरसरोजराजिः पुरः परीरम्भमिलन्महोर्मिः ।
कपोलपालिश्रमवारिहारी भेजे गुहं तं सरितः समीरः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—प्रर्तितस्मेरसरोजराजिः, परीरम्भमिलन्महोर्मिः, कपोलपालिश्रमवारिहारी, सरितः, समीरः, पुरः, तम्, गुहम्, भेजे ॥ ३२ ॥

भावार्थ—वहाँ विकसित कमलवनों को नचाने वाले, बड़ी-बड़ी लहरों के गले मिलने वाले तथा कपोलों के ऊपर आये हुये पसीने को सुखाने वाले उस नदी के वायु ने सामने उपस्थित कुमार कर्तिकेय का भली-भाँति सत्कार किया ॥ ३२ ॥

ततो व्रजन्नन्दननामधेयं लीलावनं जम्भजितः पुरस्तात् ।
विभिन्नभग्नोद्धृतशालसङ्घं प्रेक्षाञ्चकार स्मरशत्रुसूनुः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—ततः, व्रजन्, स्मरशत्रुसूनुः, पुरस्तात्, विभिन्नभग्नोद्धृतशालसङ्घम्, नन्दननामधेयम्, जम्भजितः, लीलावनम् प्रेक्षाञ्चकार ॥ ३३ ॥

भावार्थ—इसके पश्चात् आगे बढ़ने पर कामशत्रु शिव के पुत्र कुमार कार्तिकेय ने इन्द्र के क्रीड़वन नन्दन को देखा, जिसके शाल वृक्ष या तो तोड़ दिये गए थे अथवा काट डाले गये गए थे ॥ ३३ ॥

सुरद्विषोपप्लुतमेवमेतद्वनं बलस्य द्विषतो गतश्रि ।
इत्थं विचिन्त्यारुणलोचनोऽभूद्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखः स कोपात् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सः, एतत्, बलस्य, द्विषतः, वनम्, सुरद्विषा, एवम् उपप्लुतम्, (अत एव), गतश्रि, इत्थम्, विचिन्त्य, कोपात्, अरुणलोचनः, भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखः, अभूत् ॥ ३४ ॥

भावार्थ—कुमार कार्तिकेय ने इन्द्र के उस उजड़े हुए उपवन को देखते ही समझ लिया कि इसे तारकासुर ने ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। इसलिये क्रोध के मारे उनकी आँखें लाल हो गयीं तथा भौंहे तन गयीं जिससे उनका मुंह अत्यन्त भीषण हो उठा ॥ ३४ ॥

निर्लूनलीलोपवनामपश्यद् दुःसञ्चरीभूतविमानमार्गाम् ।
विध्वस्तसौधप्रचयां कुमारो विश्वैकसाराममरावतीं सः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—सः, कुमारः, निर्लूनलीलोपवनाम्, दुःसञ्चरीभूतविमानमार्गाम्, विध्वस्तसौधप्रचयाम्, विश्वैकसाराम्, अमरावतीम्, अपश्यत् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—वहाँ से कुछ और आगे बढ़ने पर कुमार ने विश्व की सबसे सुन्दरी नगरी अमरावती को देखा जिसके क्रीड़ा-उपवन काट डाले गए थे, विमानों के आने-जाने के मार्ग अब आने-जाने के योग्य नहीं रह गये थे तथा बड़े-बड़े महल ढहा दिए गए थे ॥ ३५ ॥

गतश्रियं वैरिवराभिभूतां दशां सुदीनामभितो दधानाम् ।
नारीमवीरामिव तामवेक्ष्य स बाढमन्तः करुणापरोऽभूत् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—सः, वैरिवराभिभूताम् (अतएव), गतश्रियम्, सुदीनाम्, दशाम्, अभितः, दधानाम्, अवीराम्, नारीम्, इव, ताम्, अवेक्ष्य, अन्तः, बाढम्, करुणापरः, अभूत् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—तारकासुर द्वारा पराजित अतः शोभाहीन तथा चारों ओर शत्रु के अत्याचार से अत्यन्त दीन दशा में पहुँची हुई नपुंसक की स्त्री के समान उस अमरावती को देखकर कुमार कार्तिकेय को दया आ गयी ॥ ३६ ॥

दुश्चेष्टिते देवरिपौ सरोषस्तस्याविषण्णः समराय चोत्कः ।
तथाविधां तां स विवेश पश्यन्सुरैः सुराधीश्वरराजधानीम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—दुश्चेष्टिते, देवरिपौ, सरोषः, (तथा) तस्य, समराय, उत्कः, च, अविषण्णः, सः, तथाविधाम्, ताम्, सुराधीश्वरराजधानीम्, पश्यन् (सन्), सुरैः (सह), विवेश ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—उस दुराचारी तारकासुर पर अत्यन्त क्रुध होकर उससे युद्ध करने की उत्सुकता में अत्यन्त उतावले कुमार कर्तिकेय ने ऐसी दशा में पहुँची हुई देवराज इन्द्र की राजधानी अमरावती को देखते हुए देवताओं के साथ उसमें प्रवेश किया ॥ ३७ ॥

दैतेयदन्त्यावलिदन्तघातैः क्षुण्णान्तराः स्फाटिकहर्म्यपङ्क्तीः ।
महाहिनिर्मोकपिनद्धजालाः स वीक्ष्य तस्यां विषसाद सद्यः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—दैतेयदन्त्यावलिदन्तघातैः, क्षुण्णान्तराः, महाहिनिर्मोकपिनद्धजालाः, स्फाटिकहर्म्यपंक्तीः, वीक्ष्य, सः, तस्याम्, विषसाद ॥ ३८ ॥

भावार्थ—वहाँ स्फटिक मणियों के महलों में राक्षसों के हाथियों के दाँतों की टक्करों से दरारें पड़ गयी थीं जिनमें बड़े-बड़े साँपों की केचुलियों के जाले बने हुए देखकर कुमार कार्तिकेय अत्यन्त दुखी हो गए ॥ ३८ ॥

उत्कीर्णचामीकरपङ्कजानां दिग्दन्तिदानद्रवदूषितानाम् ।
हिरण्यहंसव्रजवर्जितानां विदीर्णवैदूर्यमहाशिलानाम् ॥ ३९ ॥

आविर्भवद्बालतृणाञ्चितानां तदीयलीलागृहदीर्घिकाणाम् ।
स दुर्दशां वीक्ष्य विरोधिजातां विषादवैलक्ष्यभरं बभार ॥ ४० ॥

अन्वयः—सः, उत्कीर्णचामीकरपङ्कजानाम्, दिग्दन्तिदानद्रवदूषितानाम्, हिरण्यहंसव्रजवर्जितानाम्, विदीर्णव्रैदूर्यमहाशिलानाम्, आविर्भवद्बालतृष्णाञ्चितानां, तदीयलीलागृहदीर्घिकाणाम्, विरोविजाताम्, दुर्दशाम्, वीक्ष्य, विषादवैलक्ष्यमरम्, बभार ॥ ३९–४० ॥

भावार्थः—उन देवताओं के विलासभवनों की बावलियों के सुनहले कमल उखाड़ डाले गये थे, उनका जल ऐरावतादि हाथियों के विजेता तारकासुर के हाथियों के मदजल से दूषित हो गया था, अब उनमें सुनहले राजहंस नहीं रह गये थे, वैदूर्य मणियों से बनी हुई पट्टियाँ टूट-फूट गयी थीं और उनके चारों ओर छोटी-छोटी घासें उग आई थीं। इस प्रकार शत्रुओं द्वारा की गई उनकी यह दुर्दशा देख कर कुमार अत्यंत दुःखी तथा लज्जित हो गए ॥ ३९–४० ॥

तद्दन्तिदन्तक्षतहेमभित्ति सुतन्तुजालाकुलरत्नजालम् ।
निन्ये सुरेन्द्रेण पुरोगतेन स वैजयन्ताभिधमात्मसौधम् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—सः, सुरेन्द्रेण, पुरोगतेन, तद्दन्तिदन्तक्षतहेममित्ति, सुतन्तुजालाकुलरत्नजालम् (तथा), वैजयन्तामिधम्, आत्मसौधम्, निन्ये ॥ ४१ ॥

भावार्थ—इसके पश्चात् आगे-आगे चलते हुए इन्द्र ने कुमार कार्तिकेय को अपने वैजयंत नाम वाले उस राजमहल में पहुँचा दिया जिसकी सुनहली दीवारों में राक्षसों के हाथियों के दाँतो की टक्कर से दरारें पड़ गयी थीं और रत्नों की खाली जगहों पर मकड़ियों ने अपना जाला बना दिया था ॥ ४१ ॥

निर्दिष्टवर्त्मा विबुधेश्वरेण सुरैः समग्रैरनुगम्यमानः ।
स प्राविशत्तं विविधाश्मरश्मिच्छिन्नेन सोपानपथेन सौधम् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—सः, विबुधेश्वरेण, निर्दिष्टवर्त्मा समग्रैः, सुरैः, अनुगम्यमानः, (सन्), विविधाश्मरश्मिच्छिन्नेन, सोपानपथेन, तम्, सौधम्, प्राविशत् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—तारकासुर द्वारा उखड़वा लेने के कारण रत्नों की किरणों से रहित सीढ़ियों पर होते हुए कुमार ने उस महल में प्रवेश किया। उनके आगे-आगे राह बताते हुए इन्द्र तथा पीछे-पीछे देवता लोग चल रहे थे ॥ ४२ ॥

निसर्गकल्पद्रुमतोरणं तं स पारिजातप्रसवस्रगाढ्यम् ।
दिव्यैः कृतस्वस्त्ययनं मुनीन्द्रैरन्तःप्रविष्टप्रमदं प्रपेदे ॥ ४३ ॥

अन्वयः—सः, निसर्गकल्पद्रुमतोरणम्, (तथा), पारिजातप्रसवस्रगाढ्यम्, दिव्यैः, मुनीन्द्रैः, कृतस्वस्त्ययनम्, अन्तःप्रविष्टप्रमदम्, तम्, प्रपेदे ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—चलते-चलते कुमार कार्तिकेय उस भवन के पास पहुँचे जिसका तोरण कल्पवृक्ष स्वयं बना हुआ था, जहाँ पारिजात के फूलों की ढेरियाँ बिखरी हुई थीं, जहाँ देवऋषियों ने कभी स्वस्तिपाठ किया था और जिसमें कभी सुन्दरी अप्सरायें रहा करती थीं ॥ ४३ ॥

पादौ महर्षेः किल कश्यपस्य कुलादिवृद्धस्य सुरासुराणाम् ।
प्रदक्षिणीकृत्य कृताञ्जलिः सन्षड्भिः शिरोभिः स नतैर्ववन्दे ॥ ४४ ॥

अन्वयः—सः, सुरासुराणाम्, कुलादिवृद्धस्य, कश्यपस्य, महर्षेः, पादौ, प्रदक्षिणीकृत्य, कृताञ्जलिः, सन्, नतैः, षड्भिः, शिरोभिः, ववन्दे, किल ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—वहाँ देवताओं तथा दानवों के आदि वयोवृद्ध कश्यप ऋषि के चरणों में कुमार ने हाथ जोड़कर प्रदक्षिणा करते हुए छहों सिरों को झुकाकर प्रणाम किया ॥ ४४ ॥

स देवमातुर्जगदेकवन्द्यौ पादौ तथैव प्रणनाम कामम् ।
मुनेः कलत्रस्य च तस्य भक्त्या प्रह्वीभवञ्शैलसुतातनूजः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सः, शैलसुतातनूजः, भक्त्या, प्रह्वीभवन्, (सन्), मुनेः, तस्य, कलत्रस्य, देवमातुः, च, जगदेकवन्द्यौ, पादौ, तथैव, कामम्, प्रणनाम ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—फिर पार्वती-पुत्र कुमार ने अत्यंत श्रद्धा के साथ झुककर उसी प्रकार कश्यप मुनि की पत्नी तथा देवताओं की माता अदिति के संसारवन्द्य चरणों में प्रणाम किया ॥ ४५ ॥

स कश्यपः सा जननी सुराणां तमेधयामासतुराशिषा द्वौ ।
तया यया नैकजगज्जिगीषुं जेता मृधे तारकमुग्रवीर्यम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—सः, कश्यपः, सा, सुराणाम् , जननी (एतौ), द्वौ, तम् , तया, आशिषा, एधयामासतुः, यया, उग्रवीर्यम् , नैकजगज्जिगीषुम् , तारकम् , मृधे, जेता ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—महर्षि कश्यप और देवमाता अदिति ने कुमार कार्तिकेय का उत्साह बढ़ाते हुए आशीर्वाद दिया कि तीनों लोकों को जीतने की इच्छा करने वाले तारकासुर को तुम युद्ध में अवश्य जीतोगे ॥ ४६ ॥

स्वदर्शनार्थं समुपेयुषीणां सुदेवतानामदितिश्रितानाम् ।
पादौ ववन्दे पतिदेवतास्तमाशीर्वचोभिः पुनरभ्यनन्दन् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—(सः), स्वदर्शनार्थम् , समुपेयुषीणाम् , अदितिश्रितानाम् , सुदेवतानाम् , पादौ, ववन्दे (अथ, च), पतिदेवताः (तास्तु), आशीर्वचोभिः, पुनः, तम् , अभ्यनन्दन् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—वहाँ अदिति की आश्रित बहुत सी देवाङ्गनाएं कुमार को देखने के लिए आई हुई थीं, जिन्हें कुमार ने बड़ी श्रद्धा से नमस्कार किया और उन पतिव्रताओं ने अपने आशीर्वाद से कुमार का स्वागत किया ॥ ४७ ॥

पुलोमपुत्रीं विबुधाधिभर्तुस्ततः शचीं नाम कलत्रमेषः ।
नमश्चकार स्मरशत्रुसूनुस्तमाशिषा सा समुपाचरच्च ॥ ४८ ॥

अन्वयः—ततः, नाम, एषः, स्मरशत्रुसूनुः, विबुधाधिभर्तुः, कलत्रम् , शचीं,पुलोमपुत्रीं, नमश्चकार (अथ, च) सा आशिषा, तम् , समुपाचरत् , च ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—इसके पश्चात् कामशत्रु शंकर के पुत्र कार्तिकेय ने पुलोम की पुत्री तथा देवराज इन्द्र की पत्नी शची को नमस्कार किया तब उन्होंने भी अपने आशीर्वाद से कुमार को प्रसन्न किया ॥ ४८ ॥

अथादितीन्द्रप्रमदाः समेतास्ता मातरः सप्त घनप्रमोदाः ।
उपेत्य भक्त्या नमते महेशपुत्राय तस्मै ददुराशिषः प्राक् ॥ ४९ ॥

अन्वयः—अथ, घनप्रमोदाः, समेताः, ताः, अदितीन्द्रप्रमदाः, सप्त, मातरः, भक्त्या, उपेत्य, नमते, तस्मै, महेशपुत्राय, आशिषः, प्राक् , ददुः ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—फिर कुमार ने वहीं अत्यंत आनन्द के साथ बैठी हुई कश्यप की उन पत्नियों को बड़ी श्रद्धा के साथ नमस्कार किया जो सप्तमाताओं के नाम

से विख्यात हैं। उन्होंने प्रणाम करने के पहिले ही कुमार को विजय-लाभ करने का आशीर्वाद दे दिया ॥ ४९ ॥

समेत्य सर्वेऽपि मुदं दधाना महेन्द्रमुख्यास्त्रिदिवौकसोऽथ ।
आनन्दकल्लोलितमानसं तं समभ्यषिञ्चन्पृतनाधिपत्ये ॥ ५० ॥

अन्वयः—अथ, मुदम्, दधानाः, महेन्द्रमुख्याः, सर्वे, अपि, त्रिदिवौकसः, आनन्दकल्लोलितमानसम्, तम्, पृतनाधिपत्ये, समभ्यषिञ्चन् ॥ ५० ॥

भाषार्थ—तब बड़े आनन्द के साथ एकत्रित होकर इन्द्र आदि सभी देवताओं ने प्रसन्नता से भरे हुए हृदय वाले कुमार कार्तिकेय को अपनी सेना का स्वामी बना दिया ॥ ५० ॥

सकलविबुधलोकः स्त्रस्तनिःशेषशोकः
कृतरिपुविजयाशः प्राप्तयुद्धावकाशः ।
अजनि हरसुतेनानन्तवीर्येण तेना-
खिलविबुधचमूनां प्राप्य लक्ष्मीमनूनाम् ॥ ५१ ॥

इति महाकवि कालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये कुमार-
सैनापत्याभिषेको नाम त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

अन्वयः—अनन्तवीर्येण, अनूनाम्, अखिलविबुधचमूनाम्, लक्ष्मीम्, प्राप्य, तेन, हरसुतेन, सकलविबुधलोकः, स्त्रस्तनिःशेषशोकः, कृतरिपुविजयाशः, प्राप्तयुद्धावकाशः, अजनि ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—जब असीम पराक्रमी कुमार कार्तिकेय ने देवताओं की सारी सेना का स्वामित्व सम्हाल लिया तब सभी देवताओं का शोकजन्य क्लेश दूर हो गया, उन्हें विजय की आशा हो गई और युद्ध का अच्छा अवसर मिल गया ॥ ५१ ॥

कालिदासकृत कुमारसंभव महाकाव्य में कुमार का सेनापतित्व-अभिषेक
नाम का १३ वाँ सर्ग समाप्त ।

चतुर्दशः सर्गः

रणोत्सुकेनान्धकशत्रुसूनुना समं प्रयुक्तैस्त्रिदशैर्जिगीषुणा ।
महासुरं तारकसंज्ञकं द्विषं प्रसह्य हन्तुं समनह्यत द्रुतम् ॥ १ ॥

अन्वयः—जिगीषुणा, रणोत्सुकेन, अन्धकशत्रुसूनुना, प्रयुक्तैः, त्रिदशैः, समम्, तारकसंज्ञकम्, द्विषम्, महासुरम्, प्रसह्य, हन्तुम्, द्रुतम्, समनह्यत ॥ १ ॥

भाषार्थ—विजय की अभिलाषा से युद्ध के लिए अत्यन्त उत्सुक शिव-पुत्र की प्रेरणा से अपने शत्रु तारकासुर को मारने के लिए सभी देवताओं ने शीघ्रता के साथ अस्त्र-शस्त्र बांधना प्रारम्भ किया ॥ १ ॥

स दुर्निवारं मनसोऽतिवेगिनं जयश्रियः संनयनं सुदुःसहम् ।
विजित्वरं नाम तदा महारथं धनुर्धरः शक्तिधरोऽध्यरोहयत् ॥ २ ॥

अन्वयः—सः, धनुर्धरः. शक्तिधरः (सन्), दुर्निवारम्, मनसः, अतिवेगिनम् (तथा), जयश्रियः, संनयनम्, सुदुःसहम्, विजित्वरम्, नाम, (दधानम्), महारथम् तदा, अध्यरोहयत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—इसके बाद धनुर्धारी तथा पराक्रमी कुमार मन से भी अधिक वेग से चलने वाले तथा किसी के रोकने से रुक न सकने वाले अपने जित्वर नाम के उस रथ पर जा बैठे जिस पर बैठकर युद्ध करने वाला अवश्य ही विजय-लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है ॥ २ ॥

सुरालयश्रीविपदां निवारणं सुरारिसम्पत्परितापकारणम् ।
केनापि दध्रेऽस्य विरोधिदारणं सुचारु चामीकरघर्मवारणम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—विरोधिदारणम्, सुरालयश्रीविपदाम्, निवारणम्, सुरारिसम्पत्परितापकारणम्, सुचारु चामीकरघर्मवारणम्, अस्य, केनापि, दध्रे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—उसी समय किसी ने उनके ऊपर शत्रुओं का विनाशक एक सोने का छत्र लगा दिया जो स्वर्ग की लक्ष्मी पर आई हुई विपत्तियों को दूर करने वाला तथा दैत्यों की लक्ष्मी को दुःख देने वाला था ॥ ३ ॥

शरच्चरच्चन्द्रमरीचिपाण्डुरैः स वीज्यमानो वरचारुचामरैः ।
पुरःसरैः किन्नरसिद्धचारणैः रणेच्छुरस्तूयत वाग्भिरुल्बणैः ॥ ४ ॥

अन्वयः—शरच्चरच्चन्द्रमरीचिपाण्डुरैः, वरचारुचामरैः, वीज्यमानः, रणेच्छुः, सः, उल्बणैः किन्नरसिद्धचारणैः पुरःसरैः, वाग्भिः, अस्तूयत ॥ ४ ॥

भाषार्थ—युद्धप्रेमी कार्तिकेय के दोनों ओर शरत्कालीन बादलों जैसे श्वेत चँवर डुलाये जा रहे थे और किन्नर, सिद्ध तथा चारण आदि आगे आकर उनकी प्रशंसा के गीत गा रहे थे ॥ ४ ॥

प्रयाणकालोचितचारुवेषभृद्वज्रं वहन्पर्वतपक्षदारणम् ।
ऐरवतं स्फाटिकशैलसोदरं ततोऽधिरुह्य द्युपतिस्तमन्वगात् ॥ ५ ॥

अन्वयः—ततः, द्युपतिः, प्रयाणकालोचितचारुवेषभृत्, पर्वतपक्षदारणम्, वज्रम्, वहन् (तथा), स्फाटिकशैलसोदरम्, ऐरावतम्, अधिरुह्य, तम्, अन्वगात् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—युद्ध में जाने के योग्य वस्त्रों को धारण किये तथा हाथ में पर्वतों के पंख काटने वाला वज्र लिए हुए स्फटिक पर्वत के समान उँचे तथा उजले हाथी पर वैठकर इन्द्र भी उनके पीछे-पीछे चले ॥ ५ ॥

तमन्वगच्छद् गिरिशृङ्गसोदरं मदोद्धतं मेषमधिष्ठितः शिखी ।
विरोधिविद्वेषरुषाधिकं ज्वलन्महोमहीयस्तरमायुधं दधत् ॥ ६ ॥

अन्वयः—विरोधिविद्वेषरुषा; अधिकम्, ज्वलन्, शिखी, गिरिशृङ्गसोदरम् (तथा), मदोद्धतम्, मेषम्, अधिष्ठितः, महोमहीयस्तरम्, आयुधम्, दधत (सन्), तम्, अन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—शत्रु के विनाश करने के लिए क्रोध में और भी अधिक जलते हुए अग्निदेव पहाड़ के समान ऊँचे मतवाले भेंड़े पर चढ़कर अत्यंत भयंकर तथा दहकता हुआ अस्त्र लिए हुए पीछे-पीछे चले ॥ ६ ॥

अथेन्द्रनीलाचलचण्डविग्रहं विषाणविध्वस्तमहापयोधरम् ।
अधिष्ठितः कासरमुद्धतं मुदा वैवस्वतो दण्डधरस्तमन्वगात् ॥ ७ ॥

अन्वयः—अथ, वैवस्वतः, इन्द्रनीलाचलचण्डविग्रहम् विषाणविध्वस्तमहापयोधरम्, उद्धतम्, कासरम्, अधिष्ठितः, दण्डधरः (सन्), मुदा, तम्, अन्वगात् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—अपनी सींगों से बड़े-बड़े बादलों को फाड़ते हुए चलने वाले नीलम के पहाड़ के समान ऊँचे तथा काले भैंसे पर चढ़कर हाथ में दण्ड लिए हुए यमराज भी उनके पीछे-पीछे चल पड़े ॥ ७ ॥

मदोद्धतं प्रेतमथाधिरूढवाँस्तमन्धकद्वेषितनूजमन्वगात् ।
महासुरद्वेषविशेषभीषणः सुरोषणश्चण्डरणाय नैर्ऋतः ॥ ८ ॥

अन्वयः—अथ, महासुरद्वेषविशेषभीषणः, सुरोषणः नैर्ऋतः, मदोद्धतम्, प्रेतम्, अधिरूढवान् (सन्), चण्डरणाय, तम् अन्धकद्वेषितनूजम्, अन्वगात् ॥ ८ ॥

भावार्थ—तारकासुर की शत्रुता से अत्यन्त भीषण तथा महाक्रोधी नैर्ऋत नाम का राक्षस भी मद से मतवाले प्रेत पर सवार होकर भयंकर युद्ध करने के लिए कुमार के पीछे-पीछे चला ॥ ८ ॥

नवोद्यदम्भोधरघोरदर्शने युद्धाय रूढो मकरे महत्तरे ।
दुर्वारपाशो वरुणो रणोल्बणस्तमन्वियाय त्रिपुरान्तकात्मजम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—रणोल्बणः, वरुणः, नवोद्यदम्भोधरघोरदर्शने, महत्तरे, मकरे, रूढः, दुर्वारपाशः (सन्), युद्धाय, तम्, त्रिपुरान्तकात्मजम्, अन्वियाय ॥ ९ ॥

भावार्थ—युद्ध में अत्यन्त वीर वरुण देव नये उठते हुए बादल के समान भयानक तथा विशाल घड़ियाल पर बैठकर हाथों में अपना अचूक फन्दा लिए हुए लड़ने के लिए कुमार के पीछे-पीछे चले ॥ ९ ॥

दिगम्बराधिक्रमणोल्बणं क्षणान्मृगं महीयांसमरुद्धविक्रमम् ।
अधिष्ठितः सङ्गरकेलिलालसो मरुन्महेशात्मजमन्वगाद् द्रुतम् ॥ १० ॥

अन्वयः—सङ्गरकेलिलालसः, मरुत्, क्षणात्, दिगम्बराधिक्रमणोल्बणम्, महीयांसम्, अरुद्धविक्रमम्, मृगम्, अधिष्ठितः (सन्), (तम्), महेशात्मजम्, द्रुतम्, अन्वगात् ॥ १० ॥

भावार्थ—युद्ध-क्रीड़ा की अभिलाषा से पवनदेव भी आकाश में बिना रुके पक्षी के समान चौकड़ी भरते हुए दौड़ने में कुशल एवं पराक्रमी हरिण पर वैठकर कुमार के पीछे-पीछे चले ॥ १० ॥

विरोधिनां शोणितपारणैषिणीं गदामनूनां नरवाहनो वहन् ।
महाहवाम्भोधिविगाहनोद्धतं यियासुमन्वागमदीशनन्दनम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—नरवाहनः, विरोधिनाम्, शोणितपारणैषिणीम्, अनूनाम्, गदाम्, वहन्, महाहवाम्भोधिविगाहनोद्धतम्, यियासुम्, ईशनन्दनम्, अन्वागमत् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—पालकी पर बैठे हुये कुबेर शत्रुओं का रक्तपान करने वाली विशाल गदा लेकर भीषण युद्धरूपी समुद्र को मंथन करने में महावीर तथा जाने के लिए तत्पर कुमार कार्तिकेय के पीछे-पीछे चले ॥ ११ ॥

महाहिनिर्बद्धजटाकलापिनो ज्वलत्त्रिशूलप्रबलायुधा युधे ।
रुद्रास्तुषाराद्रिसखं महावृषं ततोऽधिरूढास्तमयुः पिनाकिनः ॥ १२ ॥

अन्वयः—ततः, पिनाकिनः, रुद्राः, महाहिनिर्बद्धजटाकलापिनः, ज्वलत्त्रिशूलप्रबलायुधाः, तुषाराद्रिसखम्, महावृषम्, अधिरूढाः, युधे, तम्, अयुः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—अपने-अपने जटाजूटों को बड़े-बड़े सापों से कस कर बांधे तथा जलते हुए भयानक त्रिशूल हाथ में लिए धनुषधारी ग्यारहों रुद्र भी हिमालय जैसे उजले बड़े बैल पर बैठकर युद्ध करने के लिए कुमार के पीछे-पीछे चल पड़े ॥ १२ ॥

अन्येऽपि संनह्य महारणोत्सवश्रद्धालवः स्वर्गिगणास्तमन्वयुः ।
स्ववाहनानि प्रबलान्यधिष्ठिताः प्रमोदविस्मेरमुखाम्बुजश्रियः ॥ १३ ॥

अन्वयः—अन्ये, अपि, स्वर्गिगणाः, प्रमोदविस्मेरमुखाम्बुजश्रियः, महारणोत्सवश्रद्धालवः, प्रबलानि, स्ववाहनानि, अधिष्ठिताः, संनह्य, तम्, अन्वयुः ॥१३॥

भाषार्थ—उस भयंकर युद्ध के उत्सव में रुचि रखनेवाले दूसरे सभी देवता भी अपने बलवान वाहनों पर बैठे हुए तथा अत्यन्त आनन्द की हँसी से प्रफुल्लित-मुख होकर कुमार के पीछे-पीछे चल पड़े ॥ १३ ॥

उद्दण्डहेमध्वजदण्डसङ्कुलाश्चञ्चद्विचित्रातपवारणोज्ज्वलाः ।
चलद्घनस्यन्दनघोषभीषणाः करीन्द्रघण्टारवचण्डचीत्कृताः ॥ १४ ॥

स्फुरद्विचित्रायुधकान्तिमण्डलैरुद्द्योतिताशावलयाम्बरान्तराः ।
दिवौकसां सोऽनुवहन्महाचमूः पिनाकपाणेस्तनयस्ततो ययौ ॥ १५ ॥

अन्वयः—ततः, सः, पिनाकपाणेः, तनयः, उद्दण्डहेमध्वजदण्डसङ्कुलाः, चञ्चद्विचित्रातपवारणोज्ज्वलाः, चलद्घनस्यन्दनघोषभीषणाः, करीन्द्रघण्टारवचण्डचीत्कृताः, स्फुरद्विचित्रायुधकान्तिमण्डलैः, उद्द्योतिताशावलयाम्बरान्तराः, दिवौकसाम्, महाचमूः अनुवहन् ययौ ॥ १४-१५ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार सुनहली पताकाओं के ऊपर उठे हुए डंडों से भरी, अनेक रंगों के छत्रों से चमकती, चलते हुए झुण्ड के झुण्ड रथों की ध्वनि से अत्यंत भयंकर प्रतीत होती हुई, मतवाले हाथियों के घण्टों की ध्वनि तथा

उनकी चिग्घाड़ों से भरी हुई एवम् अनेकों चमचमाते अस्त्र-शस्त्रों की कान्ति से दिशाओं तथा आकाश को प्रकाशित करती हुई देवों की उस विशाल सेना के साथ भगवान शंकर जी के पुत्र कार्तिकेय चल पड़े ॥ १४-१५ ॥

कोलाहलेनोच्चलतां दिवौकसां महाचमूनां गुरुभिर्ध्वजव्रजैः ।
घनैर्निरुच्छ्वासमभूदनन्तरं दिङ्मण्डलं व्योमतलं महीतलम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—उच्चलताम्, दिवौकसाम्, कोलाहलेन, महाचमूनाम्, गुरुभिः, घनैः, ध्वजव्रजैः, निरुच्छ्वासम्, दिङ्मण्डलम्, व्योमतलम्, महीतलम्, अनन्तरम्, अभूत् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—उछलते हुए चलने वाले, देवताओं के कोलाहल तथा विशाल सेना की ऊँची तथा घनी ध्वजाओं से दिशाएँ, आकाश मंडल तथा पृथ्वी-मंडल ऐसे एक से हो गये कि साँस लेने की भी जगह नहीं रह गयी ॥ १६ ॥

सुरारिलक्ष्मीपरिकम्पहेतवो दिक्चक्रवालप्रतिनादमेदुराः ।
नभोन्तकुक्षिम्भरयो घनाः स्वना निहन्यमानैः पटहैर्वितेनिरे ॥ १७ ॥

अन्यवः—निहन्यमानैः, पटहैः, सुरारिलक्ष्मीपरिकम्पहेतवः, दिक्चक्रवालप्रतिनादमेदुराः, नभोऽन्तकुक्षिम्भरयः, घनाः, स्वनाः, वितेनिरे ॥ १७ ॥

भाषार्थ—युद्ध के नगाड़ों पर चोटें पड़ने लगीं जिससे वे दैत्यों की राजलक्ष्मी को कंपित कर देने वाली तथा दिशाओं में प्रतिध्वनित होकर और भी पुष्ट हो कर सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त हो जाने वाली अत्यन्त गहरी ध्वनि का विस्तार करने लगे ॥ १७ ॥

प्रमथ्यमानाम्बुधिगर्जितर्जनैः सुरारिनारीगणगर्भपातनैः ।
नभश्चमूधूलिकुलैरिवाकुलं रराम गाढं पटहप्रतिस्वनैः ॥ १८ ॥

अन्वयः—चमूधूलिकुलैः, आकुलम्, नभः, प्रमथ्यमानाम्बुधिगर्जितर्जनैः, सुरारिनारीगणगर्भपातनैः, पटहप्रतिस्वनैः, गाढम्, ररास, इव ॥ १८ ॥

भाषार्थ— सेना से उठने वाली धूल तथा मंथन के समय समुद्र की गर्जन से भी अधिक गड़गड़ाहट से दैत्यराज तारकासुर की स्त्रियों का गर्भपात करा देने में समर्थ नगाड़ों की प्रतिध्वनि से व्याकुल आकाश ऐसा प्रतीत होने लगा मानों वह उस गूंज के बहाने चिल्ला कर रो रहा हो ॥ १८ ॥

क्षुण्णं रथैर्वाजिभिराहतं खुरैः करीन्द्रकर्णैः परितः प्रसारितम् ।
धूतं ध्वजैः काञ्चनशैलजं रजो वातैर्हृतं व्योम समारुहत्क्रमात् ॥ १९ ॥

अन्वयः—रथैः क्षुण्णम्, काञ्चनशैलजम्, रजः, वाजिभिः, खुरैः, आहतम्, (तथा) करीन्द्रकर्णैः, परितः, प्रसारितम्, ध्वजैः, धूतम्, वातैः, हतम्, क्रमात्, व्योम, समारुहत् ॥ १९ ॥

भाषार्थ—सुमेरु पर्वत की सुनहरी धूल रथों से उखड़ कर, घोड़ों की टापों से पिसकर, हाथियों के कान फटफटाने से बिखर कर, लहराती हुई झंडियों से ऊपर उठ कर तथा वायु के सहारे उड़कर क्रमशः आकाश-मंडल में छा गयी ॥ १९ ॥

खातं खुरैं रथ्यतुरङ्गपुङ्गवैरुपत्यकाहाटकमेदिनीरजः ।
गतं दिगन्तान्मुखरैः समीरणैः सुविभ्रमं भूरि बभार भूयसा ॥ २० ॥

अन्वयः—रथ्यतुरङ्गपुङ्गवैः, खुरैः, खातम्, उपत्यकाहाटकमेदिनीरजः, भूरि, मुखरैः, समीरणैः, दिगन्तात्, गतम्, (सत्) भूयसा, सुविभ्रमम्, बभार ॥ २० ॥

भाषार्थ--रथ खींचने वाले घोड़ों की टापों से पिसकर हरहराती हुई हवा के साथ सभी दिशाओं में फैल जाने वाली सुमेरु पहाड़ की सुनहरी तलहटी की धूल और भी अधिक सुशोभित होने लगी ॥ २० ॥

अधस्तथोर्ध्वं पुरतोऽथ पृष्ठतोऽभितोऽपि चामीकररेणुरुच्चकैः ।
चमूषु सर्पन्मरुदाहतोऽहरन्नवीनसूर्यस्य च कान्तिवैभवम् ॥ २१ ॥

अन्वयः—चमूषु, मरुदाहतः, अधस्तथा ऊर्ध्वम्, पुरतः, अथ, पृष्ठतः, (तथा) अभितः, अपि, सर्पन्, चामीकररेणुः, उच्चकैः, नवीनसूर्य्यस्य, कान्तिवैभवम्. अहरत् च ॥ २१ ॥

भाषार्थ—सेना के ऊपर, नीचे, आगे, पीछे चारों ओर वायु से उड़कर फैलने वाली वह घनी सुनहली धूल नवोदित सूर्य की लालिमा को भी मात करने लगी ॥ २१ ॥

बलोद्धृतं काञ्चनभूमिजं रजो बभौ दिगन्तेषु नभःस्थले स्थितम् ।
अकालसन्ध्याघनरागपिङ्गलं घनं घनानामिव वृन्दमुद्यतम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—काञ्चनभूमिजम्, रजः, बलोद्धृतम्, दिगन्तेषु, नभःस्थले, स्थितम्, अकालसन्ध्याघनरागपिङ्गलम्, घनम्, घनानाम्, उद्यतम्, वृन्दम्, इव, बभौ ॥ २२ ॥

भाषार्थ—सेना के चलने से उड़ी हुई सुनहली भूमि की धूल दिशाओं तथा

आकाश में स्थित होकर ऐसी सुशोभित होने लगी मानों असमय में ही होने वाली संध्या की लालिमा से युक्त बादलों के झुण्ड उमड़कर आकाश में छा गए हों ॥२२॥

हेमावनीषु प्रतिबिम्बमात्मनो मुहुर्विलोक्याभिमुखं महागजाः ।
रसातलोत्तीर्णगजभ्रमात्क्रुधा दन्तप्रकाण्डप्रहृतानि तेनिरे ॥ २३ ॥

अन्वयः—महागजाः, हेमावनीषु, आत्मनः, प्रतिबिम्बम्, अभिमुखम्, विलोक्य, रसातलोत्तीर्णगजभ्रमात्, क्रुधा, मुहुः, दन्तप्रकाण्डप्रहृतानि, तेनिरे ॥२३॥

भावार्थ—सेना के बड़े-बड़े हाथी उस सुनहली भूमि में बार-बार अपनी ही छाया देखकर इस भ्रम में पड़ जाते थे कि ये पाताल से निकले हुए अन्य हाथी हैं इस लिए वे क्रुद्ध होकर अपनी ही छाया पर अपने दाँतों की टक्करें मारने लगते थे ॥ २३ ॥

सुजातसिन्दूरपरागपिञ्जरैः कलं चलद्भिः सुरसैन्यसिन्धुरैः ।
शुद्धासु चामीकरशैलभूमिषु नादृश्यत स्वं प्रतिबिम्बमग्रतः ॥ २४ ॥

अन्वयः—सुजातसिन्दूरपरागपिञ्जरैः, कलम्, चलद्भिः, सुरसैन्यसिन्धुरैः, शुद्धासु, चामीकरशैलभूमिषु, अग्रतः, स्वम्, प्रतिबिम्बम्, न अदृश्यत ॥ २४ ॥

भावार्थ—उत्तम सिन्दूर की बुकनी से रंगे हुए तथा झूमते हुए धीरे-धीरे चलने वाले देवसेना के सुनहले रंग वाले हाथी उस शुद्ध सुनहली पहाड़ी भूमि में अपनी छाया नहीं देख पाते थे ॥ २४ ॥

इति क्रमेणामरराजवाहिनी महाहवाम्भोधिविलासलालसा ।
अवातरत्काञ्चनशैलतो द्रुतं कोलाहलाक्रान्तविधूतकन्दरा ॥ २५ ॥

अन्वयः—महाहवाम्भोधिविलासलालसा, कोलाहलाक्रान्तविधूतकन्दरा, अमरराजवाहिनी, इति क्रमेण, काञ्चनशैलतः, द्रुतम्, अवातरत् ॥ २५ ॥

भावार्थ—इस प्रकार युद्धरूपी समुद्र से क्रीड़ा करने के लिए उत्सुक सुरराज इन्द्र की विशाल सेना अपने कोलाहल से गुफाओं को कँपाती हुई शीघ्र ही उस सुनहले पहाड़ सुमेरु के नीचे उतर चली ॥ २५ ॥

महाचमूस्यन्दनचण्डचीत्कृतैर्विलोलघण्टेभपतेश्च बृंहितैः ।
सुरेन्द्रशैलेन्द्रमहागुहाशयाः सिंहा महत्स्वप्नसुखं न तत्यजुः ॥ २६ ॥

अन्वयः—सुरेन्द्रशैलेन्द्रमहागुहाशयाः, सिंहाः, महाचमूस्यन्दचण्डचीत्कृतैः, विलोलघण्टेभपतेः, च, बृंहितैः, महत्, स्वप्नसुखम्, न, तत्यजुः ॥ २६ ॥

भावार्थ—देवताओं की विशाल सेना के रथों की भयंकर घरघराहट, हाथियों

के घंटों की आवाज तथा उनकी भयंकर चिग्घाड़ से भी सुमेरु पहाड़ की गहरी गुफाओं में सोने वाले सिंह अपने स्वप्नसुख का परित्याग न कर सके ॥ २६ ॥

गम्भीरभेरीध्वनितैर्भयङ्करैर्महागुहान्तप्रतिनादमेदुरैः ।
महारथानां गुरुनेमिनिःस्वनैरनाकुलैस्तैर्मृगराजताऽजनि ॥ २७ ॥

अन्वयः—महागुहान्तप्रतिनादमेदुरैः, भयङ्करैः, गम्भीरभेरीध्वनितैः, तैः, महारथानाम्, गुरुनेमिनिःस्वनैः, अनुकूलैः, तैः, मृगराजता अजनि ॥ २७ ॥

भाषार्थ—बड़ी-बड़ी गुफाओं के भीतर प्रतिध्वनित होने से नगाड़ों की अत्यन्त भीषण गड़गड़ाहट तथा बड़े-बड़े रथों के पहियों की घड़घड़ाहट से भी उनमें निश्चिन्त भाव से बैठे हुए सिंह यह सिद्ध कर रहे थे कि सचमुच वे मृगों के राजा हैं ॥ २७ ॥

समुत्थितेन त्रिदिवौकसां महाचमूरवेणाद्रितटान्तदारिणा ।
प्रपेदिरे केसरिणोऽधिकं मदं स्ववीर्यलक्ष्मीमृगराजतावशात् ॥ २८ ॥

अन्वयः—समुत्थितेन, अद्रितटान्तदारिणा, त्रिदिवौकसाम्, महाचमूरवेण, केसरिणः, स्ववीर्यलक्ष्मीमृगराजतावशात् अधिकम्. मदम्, प्रपेदिरे ॥ २८ ॥

भाषार्थ—सुमेरु पहाड़ की चोटियों को फोड़ सी देने वाली, देवताओं की विशाल सेना से उठी हुई ध्वनि सुनकर अपने पराक्रम से पशुओं का राज्यत्व प्राप्त करने वाले सिंह और भी अधिक मतवाले हो उठे ॥ २८ ॥

भिया सुरानीकविमर्दजन्मना विदुद्रुवुर्दूरतरं द्रुतं मृगाः ।
गुहागृहान्ताद्बहिरेत्य हेलया तस्थुर्विशङ्कं नितरां मृगाधिपाः ॥ २९ ॥

अन्वयः—मृगाः सुरानीकविमर्दजन्मना भिया, द्रुतम्, दूरतरम्, विदुद्रुवुः, मृगाधिपाः, हेलया, गुहागृहान्तात्, बहिः, एत्य, नितराम्, विशङ्कम् तस्थुः ॥ २९ ॥

भाषार्थ—उस देवसेना के प्राणनाशक मर्दन से भयभीत होकर वहाँ के सभी हिरण भाग चले किंतु सिंह अपनी-अपनी गुफाओं से बाहर आकर अत्यन्त निडर भाव से खड़े हो गये ॥ २९ ॥

विलोकिताः कौतुकिनाऽमरावतीजनेन जुष्टप्रमदेन दूरतः ।
सुराचलप्रान्तभुवः प्रपेदिरे सुविस्तृतायाः प्रसरं सुसैनिकाः ॥ ३० ॥

अन्वयः—कौतुकिना, जुष्टप्रमदेन, अमरावतीजनेन, दूरतः विलोकिताः, सुसैनिकाः, सुविस्तृतायाः, सुराचलप्रान्तभुवः, प्रसरम्, प्रपेदिरे ॥ ३० ॥

भाषार्थ—जिस समय वे सैनिक मेरु पहाड़ की अत्यन्त लम्बी चौड़ी तलहटी में पहुँचे उस समय अमरावती के लोग स्त्रियों के साथ बड़े कौतुक से उन्हें देख रहे थे ॥ ३० ॥

पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
अयत्नगन्धर्वपुरोदयभ्रमं बभार भूम्नोत्पतितैरितस्ततः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अम्बरम्, इतस्ततः, भूम्ना, उत्पतितैः, सुराचलप्रान्तस्थितैः, पीतासितारक्तसितैः, धातुरजोभिः, अयत्नगन्धर्वपुरोदयभ्रमम्, बभार ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—सुमेरु पहाड़ पर स्थित धातुओं की अत्यधिक मात्रा में उड़ी हुई पीली, नीली, लाल तथा श्वेत धूल से भरा हुआ आकाश बिना परिश्रम के ही विभिन्न रत्नों से भरी हुई गन्धर्वों की नगरी का भ्रम उत्पन्न करने लगा ॥३१॥

महास्वनः सैन्यविमर्दसम्भवः कर्णान्तकूलङ्कषतामुपेयिवान् ।
पयोनिधेः क्षुब्धतरस्य वर्धनो बभूव भूम्ना भुवनोदरम्भरिः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—कर्णान्तकूलङ्कषताम्, उपेयिवान्, क्षुब्धतरस्य, पयोनिधेः, वर्धनः, भुवनोदरम्भरिः, सैन्यविमर्दसम्भवः, महास्वनः, भूम्ना, बभूव ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—कानों के पर्दे फाड़कर उसके भीतर चले जाने वाले देवसेना की टकराहट से उत्पन्न अत्यन्त घोर शब्द क्षुब्ध समुद्र की बाढ़ के समान सभी ब्रह्माण्डों में पहुँच कर और भी अधिक गूँजने लगे ॥ ३२ ॥

महागजानां गुरुबृंहितैस्ततैः सुहेषितैर्घोरतरैश्च वाजिनाम् ।
घनै रथानां गुरुचण्डचीत्कृतैस्तिरोहितोऽभूत्पटहस्य निःस्वनः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—महागजानाम्, गुरुबृंहितैः, ततैः, घोरतरैः, च, वाजिनाम्, सुहेषितैः, रथानाम्, घनैः, गुरुचण्डचीत्कृतैः, च, पटहस्य, निःस्वनः, तिरोहितः, अभूत् ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—बड़े-बड़े मतवाले हाथियों की नितांत भीषण चिग्घाड़, घोड़ों की अत्यन्त भयंकर हिनहिनाहट तथा रथों की अत्यन्त गम्भीर घरघराहट में नगाड़ों की ध्वनि डूब सी गयी ॥ ३३ ॥

महासुराणामवरोधयोषितां कचाक्षिपक्ष्मस्तनमण्डलेषु च ।
ध्वजेषु नागेषु रथेषु वाजिषु क्षणेन तस्थौ सुरसैन्यजं रजः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—महासुराणाम्, अवरोधयोषिताम्, कचाक्षिपक्ष्मस्तनमण्डलेषु, ध्वजेषु, नागेषु, रथेषु, वाजिषु, च, सुरसैन्यजम्, रजः, क्षणेन, तस्थौ ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—उस सेना के चलने से उड़ी हुई धूल क्षण भर में ही दैत्यों की स्त्रियों के बालों, आँखों, पलकों और स्तनों तथा उनकी पताकाओं, हाथियों, रथों और घोड़ों पर जाकर जम गई ।। ३४ ।।

घनैर्विलोक्य स्थगितार्कमण्डलैश्चमूरजोभिर्निचितं नभःस्थलम् ।
अयायि हंसैरभिमानसं घनभ्रमेण सानन्दमनर्ति केकिभिः ।। ३५ ।।

अन्वयः—घनैः, स्थगितार्कमण्डलैः, चमूरजोभिः, निचितम्, नभःस्थलम्, विलोक्य, घनभ्रमेण, हंसैः, मानसम्, अभि, अयायि (अथ, च), केकिभिः, सानन्दम्, अनर्ति ।। ३५ ।।

भाषार्थ—सूर्यमंडल को ढक लेने वाली सेना की घनी धूल से भरे हुए आकाश को देख कर हंसों को बादलों का भ्रम हो गया जिससे वे मानसरोवर की ओर उड़ चले तथा मोर आनन्द के साथ नाचने लगे ।। ३५ ।।

सान्द्रैः सुरानीकरजोभिरम्बरे नवाम्बुदानीकनिभैरमिश्रिते ।
चकाशिरे स्वर्णमया महाध्वजाः परिस्फुरन्तस्तडितां गणा इव ।। ३६ ।।

अन्वयः—अम्बरे, नवाम्बुदानीकनिभैः, सान्द्रैः, सुरानीकरजोभिः, अमिश्रिते, स्वर्णमयाः, महाध्वजाः, परिस्फुरन्तः, तडिताम्, गणाः, इव, चकाशिरे ।। ३६ ।।

भाषार्थ—नवीन बादलों की घटाओं के समान देवताओं की सेना से उड़ी हूई घनी धूल जब आकाश में छा गयी तो सेना की सुनहली पताकाएं उसमें चमकती हुई बिजलियों के समान लहराती हुई अत्यन्त सुशोभित होने लगीं ।। ३६ ।।

विलोक्य धूलीपटलैर्भृशं भृतं द्यावा पृथिव्योरलमन्तरं महत् ।
किमूर्ध्वतोऽधः किमधस्त ऊर्ध्वतो रजोऽभ्युपैतीति जनैरतर्क्यत ।। ३७ ।।

अन्वयः—जनैः, द्यावापृथिव्योः, महत्, अन्तरम्, धूलीपटलैः, भृशम्, भृतम्, विलोक्य, रजः, ऊर्ध्वतः, अधः, किम्, अधस्तः, ऊर्ध्वतः, अभ्युपैति, किम्, इति, अलम्, अतर्क्यत ।। ३७ ।।

भाषार्थ—पृथ्वी और आकाश की इतनी लम्बी दूरी को सेना की उड़ी हुई अत्यंत घनी धूल से व्याप्त देखकर लोग यही विचार करने लगे कि यह धूल ऊपर से नीचि आ रही है अथवा नीचे से ऊपर जा रही है ।। ३७ ।।

नोर्ध्वं न चाधो न पुरो न पृष्ठतो न पार्श्वतोऽभूत्खलु चक्षुषोर्गतिः ।
सूच्यग्रभेद्यैः पृतनारजश्चयैराच्छादिता प्राणिगणस्य सर्वतः ।। ३८ ।।

अन्वयः—सूच्यग्रभेद्यैः, पृतनारजश्चयैः, सर्वतः, आच्छादिता, प्राणिगणस्य,

चक्षुषोः, गतिः, ऊर्ध्वम्, न, अधः, च, न, पुरः, न, पृष्ठतः, न, पार्श्वतः (अपि) न, अभूत्, खलु ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—सेना की अत्यन्त घनी धूल के चारों ओर छा जाने से उस समय लोगों की आँखों में ऐसा अन्धेरा छा गया कि ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ, इधर-उधर सभी जगह कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था ॥ ३८ ॥

दिगन्तदन्त्यावलिदानहारिभिर्विमानरन्ध्रप्रतिनादमेदुरैः ।
अनेकवाद्यध्वनितैरनारतैर्जगर्ज गाढं गुरुभिर्नभस्तलम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—दिगन्तदन्त्यावलिदानहारिभिः, विमानरन्ध्रप्रतिनादमेदुरैः, गुरुभिः अनारतैः, अनेकवाद्यध्वनितैः, नभस्तलम्, गाढम्, जगर्ज ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—दिग्गजों के बहते हुए मद को भी सुखा देने वाली तथा विमानों की जालियों में टकरा कर और भी अधिक गूँजने वाली, निरन्तर बजते हुए अनेक बाजों की घनघोर ध्वनि से भरा हुआ आकाश भयंकर गर्जन सा करने लगा ॥३९॥

भुवं विगाह्य प्रययौ महाचमूः क्वचिन्न मान्ती महतीं दिवं खलु ।
सुसङ्कुलायामपि तत्र निर्भरात्कि कान्दिशीकत्वमवाप नाकुला ॥ ४० ॥

अन्वयः—महाचमूः, भुवम्, विगाह्य, क्वचित्, (अपि), न मान्ती, (सती) महतीम्, दिवम्, प्रययौ, खलु, निर्भरात्, सुसङ्कुलायाम्, अपि, तत्र, आकुला, सती, कान्दिशीकत्वम्, किम्, न अवाप ॥ ४० ॥

भाषार्थ—देवताओं की वह विशाल सेना पहले धरती पर फैल गई किन्तु वहाँ समा न सकने के कारण अत्यन्त विशाल स्वर्ग लोक में पहुँच गयी लेकिन वहाँ भी समा न सकने के कारण वह अन्य स्थान के अभाव में व्याकुल सी हो गयी ॥४०॥

उद्दामदानद्विपवृन्दबृंहितैर्नितान्तमुत्तुङ्गतुरङ्गहेषितैः ।
चलद्घनस्यन्दननेमिनिःस्वनैरभून्निरुच्छ्वासमिवाकुलं जगत् ॥ ४१ ॥

अन्वयः—उद्दामदानद्विपबृंहितैः, नितान्तम्, उत्तुङ्गतुरङ्गहेषितैः, चलद्घनस्यन्दननेमिनिःस्वनैः, आकुलम्, जगत्, निरुच्छ्वासम्, इव, अभूत् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—बड़े-बड़े मद बहाने वाले मतवाले हाथियों की चिग्घाड़, अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे घोड़ों की हिनहिनाहट और दौड़ते हुए रथों की घरघराहट से सारा संसार इतना भर गया कि उसकी साँस सी घुटने लगी ॥ ४१ ॥

महागजानां गुरुभिस्तु गर्जितैर्विलोलघण्टारणितै रणोल्बणैः ।
वीरप्रणादैः प्रमदप्रमेदुरैर्वाचालतामादधिरेतरां दिशः ॥ ४२ ॥

अन्वयः—महागजानाम्, गुरुभिः, गर्जितैः रणोल्बणैः, विलोलघण्टारणितैः, प्रमदप्रमेदुरैः, वीरप्रणादैः, दिशः, वाचालताम्, आदधिरेतराम् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—बड़े-बड़े हाथियों की चिग्घाड़ तथा उनके हिलते हुए घंटों की टनटनाहट और युद्ध में मतवाले वीरों की हुंकार सभी दिशाओं में व्याप्त होकर इस प्रकार गूँजने लगी मानो दसों दिशायें ही कोलाहल मचा रही हों ॥ ४२ ॥

दन्तीन्द्रदानद्रववारिवीचिभिः सद्योपि नद्यो बहुधा पुपूरिरे ।
धारा रजोभिस्तुरगैः क्षतैर्भृता याः पङ्कतामेत्य रथैः स्थलीकृता ॥ ४३ ॥

अन्वयः—दन्तीन्द्रदानद्रववारिवीचिभिः, नद्यः, अपि, सद्यः, बहुधा, पुपूरिरे, (अथ), याः, तुरगैः, क्षतैः, रजोभिः, भृताः, पङ्कताम् एत्य रथैः, धाराः, स्थलीकृताः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—सेना के हाथियों से बहने वाली मद की धारा से नदियों में तत्काल बाढ़ आ गई फिर घोड़ों की टापों से खुद कर उड़ी हुई धूल से वह नदियाँ कीचड़ से भर गयीं और अन्त में रथों के पहियों से दब दब कर वह पुनः स्थल के रूप में बदल गईं ॥ ४३ ॥

निम्नाः प्रदेशाः स्थलताभुपागमन्निम्नत्वमुच्चैरपि सर्वतश्च ते ।
तुरङ्गमाणां व्रजतां खुरैः क्षता रथैर्गजेन्द्रैः परितः समीकृताः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—निम्नाः, प्रदेशाः, स्थलताम्, उपागमन्, सर्वतः, उच्चैः, अपि, ते निम्नत्वम्, (उपागमन्), अथ, च, व्रजताम्, तुरङ्गमाणाम्, खुरैः, क्षताः, रथैः, गजेन्द्रैः, परितः, समीकृताः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—दौड़ते हुए घोड़ों की टाप से खुदकर और रथों तथा हाथियों के चलने से दब कर नीचे स्थान ऊँचे और ऊँचे स्थान नीचे हो गए । इस प्रकार उस सेना ने वहाँ की भूमि समतल बना दी ॥ ४४ ॥

नभोदिगन्तप्रतिघोषभीषणैर्महामहीभृत्तटदारणोल्बणैः ।
पयोधिनिर्धूननकेलिभिर्जगद्बभूव भेरीध्वनितैः समाकुलम् ॥ ४५ ॥

अन्वयः—नभोदिगन्तप्रतिघोषभीषणैः, महामहीभृत्तटदारणोल्बणैः, पयोधिनिर्धूननकेलिभिः, भेरीध्वनितैः, समाकुलम्, जगत्, बभूव ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—बड़े-बड़े पहाड़ों की चट्टानों को फोड़ने में समर्थ तथा समुद्र में हलचल पैदा कर देने वाली नगाड़ों की ध्वनि आकाश और दिशाओं में इस प्रकार भीषण रूप से प्रतिध्वनित होने लगी कि उससे सारा संसार ही व्याकुल सा हो उठा ॥ ४५ ॥

इतस्ततो वातविधूतचञ्चलैर्नीरन्ध्रिताशागमनैर्ध्वजांशुकैः ।
लक्षैः क्वणत्काञ्चनकिङ्किणीकुलैरमज्जि धूलीजलधौ नभोगते ॥ ४६ ॥

अन्वयः—इतस्ततः, वातविधूतचञ्चलैः, नीरन्ध्रिताशागमनैः, क्वणत्काञ्चनकिङ्किणीकुलैः, लक्षैः, ध्वजांशुकैः, नभोगते, धूलीजलधौ, अमज्जि ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—सोने के बजते हुए घुघुरुओं से युक्त तथा वायु के कारण फहराती हुई लाखों पताकाएँ जो आकाश में सारा मार्ग रोके हुए दिखाई पड़ रही थीं, वह भी आकाश में पहुँची हुई धूल के समुद्र में डूब गयीं ॥ ४६ ॥

घण्टारवै रौद्रतरैर्निरन्तरं विसृत्वरैर्गर्जरवैः सुभैरवैः ।
मत्तद्विपानां प्रथयाम्बभूविरे न वाहिनीनां पटहस्य निःस्वनाः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—मत्तद्विपानाम्, निरन्तरम्, विसृत्वरैः, सुभैरवैः, गर्जरवैः, रौद्रतरैः, घण्टारवैः, वाहिनीनाम्, पटहस्य, निःस्वनाः, न, प्रथयाम्बभूविरे ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—निरन्तर होने वाली घण्टों की भयंकर ध्वनि तथा मतवाले हाथियों की चारों ओर फैलने वाली अत्यंत भीषण चिग्घाड़ के बीच में सेनाओं के बजते हुए नगाड़ों की ध्वनि दब सी गयी ॥ ४७ ॥

करालवाचालमुखाश्चमूस्वनैर्ध्वस्ताम्बरा वीक्ष्य दिशो रजस्वलाः ।
तिरोबभूवे गहनैर्दिनेश्वरो रजोन्धकारैः परितः कुतोऽप्यसौ ॥ ४८ ॥

अन्वयः—चमूस्वनैः, करालवाचालमुखाः, ध्वस्ताम्बराः, रजस्वलाः, दिशः, वीक्ष्य, परितः गहनैः, रजोन्वकारैः, असौ, दिनेश्वरः, कुतः, अपि तिरोबभूवे ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार अत्यन्त बड़बड़ाने वाली नंगी रजस्वला स्त्री को देख कर लोग ओट में हो जाते हैं उसी प्रकार सेना के कोलाहल से फटे हुए आकाश-रूपी वस्त्रवाली एवं धूल से भरी हुई दिशा को देखकर सूर्य ने चारों ओर फैले हुए धूल के अन्वकार में अपने आप को छिपा लिया ॥ ४८ ॥

आक्रान्तपूर्वा रभसेन सैनिकैर्दिगङ्गना व्योम रजोभिदूषिता ।
भेरीरवाणां प्रतिशब्दितैर्गजैर्जगर्ज गाढं घनमत्सरादिव ॥ ४९ ॥

अन्वयः—सैनिकैः, रभसेन, आक्रान्तपूर्वा, दिगङ्गना, रजोभिदूषिता, घनमत्सरात्, इव, गाढम्, व्योम, भेरीरवाणाम्, घनैः, प्रतिशब्दितैः, गाढं, जगर्ज ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—सेना में बजने वाले नगाड़ों की ध्वनि आकाश में गूँजती हुई ऐसी प्रतोत हा रही थी मानों आकाशरूपी नायक धूल से भरी हुई अपनी दिशा रूपी

रजस्वला स्त्री पर इस प्रकार सैनिकों द्वारा सहसा आक्रमण करते हुए देखकर अत्यन्त ईर्ष्या के साथ धनघोर गर्जन कर रहा हो ॥ ४९ ॥

गुरुसमीरसमीरितभूधरा इव गजा गगनं विजगाहिरे ।
गुरुतरा इव वारिधरा रथा भुवमितीह विवर्त इवाभवत् ॥ ५० ॥

अन्वय—गुरुसमीरसमीरितभूधराः, इव, गजाः, गगनम्, विजगाहिरे, गुरुतराः, वारिधराः, इव, रथाः, भुवम्, (विजगाहिरे) इह, इति, विवर्तः, इव, अभवत् ॥ ५० ॥

भाषार्थ—आकाश में इधर-उधर घूमने वाले बड़े-बड़े हाथी ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो बड़ी भारी आँधी से पहाड़ी चट्टानें उड़ रही हों और पृथ्वी पर चलने वाले रथ बड़े-बड़े बादलों के समान प्रतीत हो रहे थे। इस प्रकार उस सेना ने विचित्र उलट-फेर कर दिया था अर्थात् पृथ्वी के पहाड़ आकाश में और आकाश के बादल पृथ्वी पर आ गए थे ॥ ५० ॥

बलवदसुरलोकानल्पकल्पान्तकाले निरवधय इवाम्भोराशयो घोरघोषाः ।
गुरुतरपरिमज्जद्भूभृतो देवसेना ववृधुरपि सुपूर्णा व्योमभूम्यन्तराले ॥ ५१ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
देवसेनाप्रयाणं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

अन्वयः—गुरुतरपरिमज्जद्भूभृतः, व्योमभूम्यन्तराले, सुपूर्णाः घोरघोषाः, देवसेनाः, अपि, बलवदसुरलोकानल्पकल्पान्तकाले, निरवधयः, अम्भोराशयः, इव ववृधुः,॥ ५१ ॥

भाषार्थ—भीषण कोलाहल करती हुई और बड़े-बड़े राजाओं अथवा पहाड़ों को अपने में समेटती हुई देवताओं की सेनायें भलीभाँति पूर्ण होती हुई भी आकाश और पृथ्वी के बीच में इस प्रकार बढ़ने लगीं मानों बलशाली दैत्यों के इस महाप्रलय के समय भयंकर रूप से हरहराता हुआ समुद्र अपनी सीमा तोड़कर बढ़ता हुआ चला आ रहा हो ॥ ५१ ॥

महाकवि कालिदासरचित कुमारसम्भव में देवसेना का
प्रस्थान नामवाला १४ वाँ सर्ग समाप्त ।

* * *

पञ्चदशः सर्गः

सेनापतिं नन्दनमन्धकद्विषो युधे पुरस्कृत्य बलस्य शात्रवः ।
सैन्यैरुपैतीति सुरद्विषां पुरोऽभूत्किंवदन्ती हृदयप्रकम्पिनी ॥ १ ॥

अन्वयः—बलस्य, शात्रवः, सेनापतिम्, अन्धकद्विषः, नन्दनम्, पुरस्कृत्य, सैन्यैः, युधे, उपैति, इति, हृदयप्रकम्पिनी, किंवदन्ती, सुरद्विषाम्, पुरः अभूत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—जब दैत्यों की नगरी में हृदय को दहला देने वाला यह समाचार पहुँचा कि बल नामक दैत्य का विनाश करते वाला इन्द्र भगवान शंकर के पुत्र कार्तिकेय को सेनापति बना कर उनके पीछे-पीछे देवताओं की सेना साथ लिए हुए युद्ध करने के लिये आ रहा है ॥ १ ॥

चमूप्रभुं मन्मथमर्दनात्मजं विजित्वरीभिर्विजयश्रिया श्रितम् ।
श्रुत्वा सुराणां पृतनाभिरागतं चित्ते चिरं चुक्षुभिरे महासुराः ॥ २ ॥

अन्वयः—महासुराः, विजयश्रिया, श्रितम्, चमूप्रभुम्, मन्मथमर्दनात्मजम्, विजित्वरीभिः, सुराणाम्, पृतनाभिः (सह), आगतम्, श्रुत्वा, चिरम्, चित्ते, चुक्षुभिरे ॥ २ ॥

भाषार्थ—और जब उन्होंने यह सुना कि विजयलक्ष्मी से युक्त भगवान शंकर जी के पुत्र स्वामि कार्तिकेय सेनापति बनकर देवताओं की विजयी सेना के साथ आ रहे हैं तो वे सभी दैत्य हृदय से काँप उठे ॥ २ ॥

समेत्य दैत्याधिपतेः पुरे स्थिताः किरीटबद्धाञ्जलयः प्रणम्य ते ।
न्यवेदयन्मन्मथशत्रुसूनुना युयुत्सुना जम्भजितं सहागतम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—दैत्याधिपतेः, पुरे, स्थिताः, ते, समेत्य, किरीटबद्धाञ्जलयः, प्रणम्य, युयुत्सुना, मन्मथशत्रुसूनुना, सह आगतम्, जम्भजितम्, न्यवेदयन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ— उन सभी दैत्यों ने इकट्ठा होकर दैत्यराज तारकासुर के सामने आकर हाथ जोड़कर मुकुटों से लगाते हुए प्रणाम किया तथा युद्ध की इच्छा से इन्द्र के साथ स्वामि कार्तिकेय के आगमन की सूचना दी ॥ ३ ॥

दासीकृताशेषजगत्त्रयं न मां जिगाय युद्धे कतिशः शचीपतिः ।
गिरीशपुत्रस्य बलेन साम्प्रतं ध्रुवं विजेतेति स काकुतोऽहसत् ॥ ४ ॥

अन्वयः—दासीकृताशेषजगत्त्रयम्, माम्, शचीपतिः, कतिशः, युद्धे, न

जिगाय, साम्प्रतम्, गिरीशपुत्रस्य, बलेन, ध्रुवम्, विजेता, इति, सः, काकुतः, अहसत् ॥ ४ ॥

भावार्थ—तब तारकासुर ने उन दैत्यों से व्यंग्य करते हुए हँस कर कहा कि पिछले कई युद्धों में इन्द्र मुझ त्रैलोक्यविजयी को तो नहीं जीत सका किन्तु अब वह कुमार के बल पर तो मुझे अवश्य ही जीत लेगा ? ॥ ४ ॥

ततः क्रुधा विस्फुरिताधराधरः स तारको दर्पितदोर्बलोद्धतान् ।
युधे त्रिलोकीजयकेलिलालसः सेनापतीन्सन्नहनार्थमादिशत् ॥ ५ ॥

अन्वयः—ततः क्रुधा, विस्फुरिताधराधरः (तथा), त्रिलोकीजयकेलिलालसः, सः, तारकः, दर्पितदोर्बलोद्धतान्, सेनापतीन्, युधे, सन्नहनार्थम्, आदिशत् ॥ ५ ॥

भावार्थ—इसके पश्चात् खेल ही खेल में तीनों लोकों को जीत लेने वाले तारकासुर के होंठ क्रोध के मारे कांपने लगे और उसने अपनी भुजाओं के बल पर अभिमान करने वाले अत्यन्त वीर सैनिकों को युद्ध के लिए तैयार हो जाने का आदेश दिया ॥ ५ ॥

महाचमूनामधिपाः समन्ततः सन्नह्य सद्यः सुतरामुदायुधाः ।
तस्थुर्विनम्रक्षितिपालसङ्कुले तदङ्गनद्वारवरप्रकोष्ठके ॥ ६ ॥

अन्वयः—उदायुधाः, महाचमूनाम्, अधिपाः, सद्यः, सुतराम्, समन्ततः सन्नह्य विनम्रक्षितिपालसङ्कुले, तदङ्गनद्वारवरप्रकोष्ठके, तस्थुः ॥ ६ ॥

भावार्थ—तब तारकासुर की विशाल सेनाओं के सेनापति अस्त्र-शस्त्र धारण करके तुरन्त ही उसके बड़े भारी फाटक की ड्योढ़ी में आकर खड़े हुए, जहाँ बहुत से राजा लोग सिर झुकाए खड़े थे ॥ ६ ॥

स द्वारपालेन पुरः प्रदर्शितान्कृतानतीन्बाहुवरानधिष्ठितान् ।
महाहवाम्भोधिविधूननोद्धतान्ददर्श राजा पृतनाधिपान्बहून् ॥ ७ ॥

अन्वयः—सः, राजा, पुरः, द्वारपालेन, प्रदर्शितान्, कृतानतीन्, बाहुवरान्, अधिष्ठितान्, महाहवाम्भोधिविधूननोद्धतान्, बहून्, पृतनाधिपान् ददर्श ॥ ७ ॥

भावार्थ—तारकासुर ने अपने सामने द्वारपाल द्वारा दिखाए गये सभाद्वार पर स्थित अत्यन्त बाहुबली तथा महायुद्धरूपी समुद्र को मंथन करने में अत्यंतप्रचंड बहुत से सेनापतियों को प्रणाम करते हुए देखा ॥ ७ ॥

बली बलारातिबलातिशातनं दिग्दन्तिनादद्रवनाशनस्वनम् ।
महीधराम्भोधिमवारितक्रमं ययौ रथं घोरमथाधिरुह्य सः ॥ ८ ॥

अन्वयः—अथ, बली, सः, बलारातिबलातिशातनम्, दिग्दन्तिनादद्रवनाशनस्वनम्, महीधराम्भोधिम्, अवारितक्रमम्, घोरम्, रथम्, अधिरुह्य, ययौ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—इसके पश्चात् इन्द्र की सेना को छिन्न-भिन्न कर सकने वाले दिग्गजों की चिग्घाड़ और मद बहाने को बन्द कर देने वाले तथा बड़े-बड़े पहाड़ों और समुद्रों में बिना रोक-टोक जा सकने वाले भयंकर रथ पर चढ़कर तारकासुर भी युद्ध के लिए चल पड़ा ॥ ८ ॥

युगक्षयक्षुब्धपयोधिनिःस्वनाश्चलत्पताकाकुलवारितातपाः ।
धरारजोग्रस्तदिगन्तभास्कराः पतिं प्रयान्तं पृतनास्तमन्वयुः ॥ ९ ॥

अन्वयः—युगक्षयक्षुब्धपयोधिनिःस्वनाः, चलत्पताकाकुलवारितातपाः, धरारजोग्रस्तदिगन्तभास्कराः, पृतनाः, प्रयान्तम्, तम् पतिम्, अन्वयुः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—प्रलयकालीन उमड़ते हुए समुद्र के समान भीषण कोलाहल करने वाली अपनी पताकाओं से धूप को रोक देने वाली तथा पृथ्वी की धूल से दिशाओं तथा सूर्य को ढँक देनेवाली सेनाएँ भी अपने प्रस्थान करने वाले स्वामी तारकासुर के पीछे-पीछे चल पड़ीं ॥ ९ ॥

चमूरजः प्राप दिगन्तदन्तिनां महासुरस्याभिसुरं प्रसर्पिणः ।
दन्तप्रकाण्डेषु सितेषु शुभ्रतां कुम्भेषु दानाम्बुघनेषु पङ्कताम् ॥ १० ॥

अन्वयः—अभिसुरम्, प्रसर्पिणः, महासुरस्य, चमूरजः, दिगन्तदन्तिनाम्, सितेषु, दन्तप्रकाण्डेषु, शुभ्रताम्, दानाम्बुघनेषु, कुम्भेषु, पङ्कताम्, प्राप ॥ १० ॥

भाषार्थ—देवसेना की ओर बढ़ने वाले तारकासुर की सेना की धूल दिग्गजों के बड़े-बड़े उजले दाँतों पर पड़कर श्वेत हो जाती थी और मद से भरे हुए कपोलों पर पड़ कर कीचड़ बन जाती थी ॥ १० ॥

महीभृतां कन्दरदारणोल्बणैस्तद्वाहिनीनां पटहस्वनैर्घनैः ।
उद्वेलिताश्चुक्षुभिरे महार्णवा नभःस्रवन्ती सहसाभ्यवर्धत ॥ ११ ॥

अन्वयः—महीभृताम्, कन्दरदारणोल्बणैः, घनैः, तद्वाहिनीनाम्, पटहस्वनैः, उद्वेलिताः, महार्णवाः, चक्षुभिरे (तथा), नभःस्रवन्ती, सहसा अभ्यवर्धत ॥ ११ ॥

भाषार्थ—पर्वतों की कन्दराओं को फोड़ सकने में समर्थ उस दैत्यसेना में

बजने वाले नगाड़ों की ध्वनि सुनकर समुद्रों में भी उफान आ गया जिससे वे तट के बाहर चले आए और आकाशगंगा में भी सहसा बाढ़ आ गयी ॥ ११ ॥

सुरारिनाथस्य महाचमूस्वनैर्विगाह्यमाना तुमुलैः सुरापगा ।
अभ्युच्छ्रितैरूर्मिशतैश्च वारिजैरक्षालयन्नाकनिकेतनावलीम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—तुमुलैः, सुरारिनाथस्य, महाचमूस्वनैः, विगाह्यमाना, सुरापगा, अभ्युच्छ्रितैः, वारिजैः, ऊर्मिशतैः, च, नाकनिकेतनावलीम्, अक्षालयत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—उन देवताओं के शत्रु तारकासुर की विशाल सेना के भयंकर कोलाहल से उमड़ती हुई आकाशगंगा ने सुन्दर कमलों से भरी तथा उछलती हुई अपनी सैकड़ों लहरों से स्वर्ग के महलों को धो दिया ॥ १२ ॥

अथ प्रयाणाभिमुखस्य नाकिनां द्विषः पुरस्तादशुभोपदेशिनी ।
अगाधदुःखाम्बुधिमध्यमज्जनं बभूव चोत्पातपरम्परा तव ॥ १३ ॥

अन्वयः—अथ, प्रयाणाभिमुखस्य, नाकिनाम्, द्विषः, पुरस्तात्, तव, अगाधदुःखाम्बुधिमध्यमज्जनम्, अशुभोपदेशिनी उत्पातपरम्परा, बभूव ॥ १३ ॥

भाषार्थ—युद्ध के लिए प्रस्थान करने वाले तारकासुर के सामने अमंगल की सूचना देने वाले असंख्य अपशकुन हो हो कर मानो इस बात का संकेत सा करने लगे कि अब तारकासुर अत्यन्त गहरे दुःख रूपी समुद्र में डूबने वाला ही है ।१३।

अगामिदैत्याशनकेलिकाङ्क्षिणी कुपक्षिणां घोरतरा परम्परा ।
दधौ पदं व्योम्नि सुरारिवाहिनीरुपर्युपर्येत्य निवारितातपा ॥ १४ ॥

अन्वयः—घोरतरा, कुपक्षिणाम्, परम्परा, आगामिदैत्याशनकेलिकाङ्क्षिणी, सुरारिवाहिनीः, उपर्युपरि, एत्य, निवारितातपा (सती), व्योम्नि, पदम्, दधौ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—निकट भविष्य में ही दैत्यों के मांस खाने की अभिलाषा से गिद्ध, कौवों आदि मांसभोजी बुरे पक्षियों की पंक्ति दैत्यसेनाओं के ऊपर इस प्रकार तेजी से मड़राने लगी कि उनकी छायासे धूप भी पृथ्वी पर नहीं पड़ पा रही थी ॥१४॥

मुहुर्विभग्नातपवारणध्वजश्चलद्धराधूलिकुलाकुलेक्षणः ।
धूताश्वमातङ्गमहारथाकरानवेक्षणोऽभूत्प्रसभं प्रभञ्जनः ॥ १५ ॥

अन्वयः—विभग्नातपवारणध्वजः, चलद्धराधूलिकुलाकुलेक्षणः, धूताश्वमातङ्गमहारथाकरानवेक्षणः, प्रसभं, प्रभञ्जनः, अभूत् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—उसी समय अकस्मात् बार-बार ऐसी भयंकर आँधियाँ चलने लगीं जिनमें पड़ी हुई दैत्यसेना के छत्र और पताकाएँ टूट-टूट कर छिन्न-भिन्न होने

लगीं, सेना के वीरों की आँखें पृथ्वी से उड़ने वाली धूल के भर जाने से व्याकुल हो उठीं तथा हाथी, घोड़ों और रथों के झुंड उस धूल में विलीन से हो गए ॥१५॥

सद्योविभिन्नाञ्जनपुञ्जतेजसो मुखैर्विषाग्नि विकिरन्त उच्चकैः ।
पुरः पथोऽतीत्य महाभुजङ्गमा भयङ्कराकारभृतो भृशं ययुः ॥ १६ ॥

अन्वयः—सद्योविभिन्नाञ्जनपुञ्जतेजसः, उच्चकैः, भृशम्, भयङ्कराकारभृतः, महाभुजङ्गमाः, पुरः, मुखैः, विषाग्निम्, विकिरन्तः, पथः, अतीत्य, ययुः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—तुरन्त ही के पारे हुए काजल से टूट-टूट कर गिरने वाले काले-काले टुकड़ों के समान विष से भरी हुई आग की ऊँची-ऊँची लपटें उगलने वाले भीषण साँपों की पंक्तियाँ उस दैत्यसेना का रास्ता काटती हुई सामने से निकलने लगीं ॥ १६ ॥

मिलन्महाभीमभुजङ्गभीषणं प्रभुर्दिनानां परिवेषमादधौ ।
महासुरस्य द्विषतोऽतिमत्सरादिवान्तमासूचयितुं भयङ्करः ॥ १७ ॥

अन्वयः—दिनानाम्, प्रभुः, द्विषतः, महासुरस्य अन्तम्, आसूचयितुम्, मिलन्महाभीमभुजङ्गभीषणम्, परिवेषम्, अतिमत्सरात्, इव, आदधौ, (अत एव), भयङ्करः ॥ १७ ॥

भाषार्थ—उस शत्रु तारकासुर के विनाश की सूचना देने के लिए ही मानो अत्यन्त शत्रुता के वशीभूत होकर सूर्य ने भी अत्यन्त भयंकर सर्पों की कुंडली के समान भीषण कान्तिमण्डल धारण कर लिया ॥ १७ ॥

त्विषामधीशस्य पुरोऽधिमण्डलं शिवाः समेताः परुषं ववाशिरे ।
सुरारिराजस्य रणान्तशोणितं प्रसह्य पातुं द्रुतमुत्सुका इव ॥ १८ ॥

अन्वयः—त्विषाम्, अधीशस्य, अधिमण्डलम्, समेताः, शिवाः, सुरारिराजस्य, रणान्तशोणितम्, द्रुतम्, प्रसह्य, पातुम्, उत्सुकाः, इव, परुषम्, ववाशिरे ॥ १८ ॥

भाषार्थ—युद्ध में तारकासुर का खून पीने की अत्यन्त उतावली में ही मानो गीदड़ियाँ उस सूर्यमण्डल के चारों ओर इकट्ठी हो-हो कर बड़े भीषण स्वर में रुदन करने लगीं ॥ १८ ॥

दिवापि तारास्तरलास्तरस्विनीः परापतन्तीः परितोऽथ वाहिनीः ।
विलोक्य लोको मनसा व्यचिन्तयत्प्राणव्ययान्तं व्यसनं सुरद्विषः ॥ १९ ॥

अन्वयः—अथ, दिवा, अपि, तरलाः, तरस्विनीः ताराः, वाहिनीः, परितः

परापतन्ती:, विलोक्य, लोक:, मनसा, सुरद्विष:, प्राणव्ययान्तम्, व्यसनम्, व्यचिन्तयत् ।। १९ ।।

भावार्थ—उस दैत्यसेना के चारों ओर दिन में ही चंचल तारे बड़े वेग से टूट-टूट कर गिरने लगे । जिसे देख कर सभी लोग अपने मन में विचार करने लगे कि ये सब उपद्रव तारकासुर के विनाश के लिए ही हो रहे हैं ।। १९ ।।

ज्वलद्भिरुच्चैरभित: प्रभाभरैरुद्भासिताशेषदिगन्तराम्बरम् ।
रवेण रौद्रेण हृदन्तदारणं पपात वज्रं नभसो निरम्बुदात् ।।२०।।

अन्वय:—निरम्बुदात्, नमस:, अभित:, ज्वलद्भि:, प्रभाभरै:, उच्चै: उद्भासिताशेषदिगन्तराम्बरम्, रौद्रेण, रवेण, हृदन्तदारणम्, वज्रम्, पपात ।। २० ।।

भावार्थ—अपनी जलती हुई ऊँची लपटों की चमक से सभी दिशाओं तथा आकाश को चमचमा देने वाली तथा अपनी भीषण कड़क से हृदय विदीर्ण कर देने वाली बिजली आकाश से टूट-टूट कर गिरने लगी जब कि आकाश में बादल का नाम निशान भी नहीं था ।। २० ।।

ज्वलद्भिरङ्गारचयैर्नभस्तलं ववर्ष गाढं सह शोणितास्थिभि: ।
धूमं ज्वलन्त्यो व्यसृजन्मुखै रजो दधुर्दिशो रासभकण्ठधूसरम् ।।२१।।

अन्वय:—नमस्तलम्, ज्वलद्भि:, अङ्गारचयै: (तथा), शोणितास्थिभि:, सह, गाढम्, ववर्ष, ज्वलन्त्य:, दिश:, रासभकण्ठधूसरम्, रज:, दधु:, मुखै:, धूमम्, व्यसृजन् ।। २१ ।।

भावार्थ—आकाश लोहू और हड्डियों के टुकड़ों के साथ धधकते हुए अंगारों की घनी वर्षा करने लगा और जलती हुई दसों दिशाएं गधे के कण्ठ के समान भूरी-भूरी धूल धारण करने एवं धूम उगलने लगीं ।। २१ ।।

निर्घातघोषो गिरिशृङ्गशातनो घनोऽम्बराशाकुहरोदरम्भरि: ।
बभूव भूम्ना श्रुतिभित्तिभेदन: प्रकोपिकालार्जितगर्जितर्जन: ।।२२।।

अन्वय:—प्रकोपिकालार्जितगर्जितर्जन:, अम्बराशाकुहरोदरम्भरि:, गिरिशृङ्गशातन: (तथा), घन:, निर्घातघोष:, भूम्ना, श्रुतिभित्तिभेदन:, बभूव ।।२२।।

भावार्थ—क्रुद्ध काल की गर्जना के समान भयभीत करने वाली, कानों के पर्दे फाड़ देने वाली, आकाश तथा दिशाओं में व्याप्त हो जाने वाली तथा पहाड़ों की चोटियों को ढहा देने वाली गम्भीर प्रतिध्वनि बार-बार होने लगी ।। २२ ।।

स्खलन्महेभं प्रपतत्तुरङ्गमं परस्पराश्लिष्टजनं समन्तत: ।
प्रक्षुभ्यदम्भोधिविभिन्नभूधराद्बलं द्विषोऽभूदवनिप्रकम्पात् ।।२३।।

अन्वयः—द्विषः, बलम्, प्रक्षुभ्यदम्भोधिविभिन्नभूधरात्, अवनिप्रकम्पात्, स्खलन्महेभम्, प्रपतत्तुरङ्गमम्, परस्पराश्लिष्टजनम्, समन्ततः अभूत् ॥ २३ ॥

भावार्थ— इतने ही में भूमि भी इस प्रकार काँपने लगी कि समुद्र ऊँची-ऊँची लहरों में उमड़ने लगा, पहाड़ों में दरारें पड़ने लगीं, तारकासुर की सेना के विशाल हाथी लड़खड़ाने लगे, घोड़े जहाँ तहाँ पृथ्वी पर गिरने लगे और सैनिक आपस में एक दूसरे से लिपटने लगे ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वीकृतास्या रविदत्तदृष्टयः समेत्य सर्वे सुरविद्विषः पुरः ।
श्वानः स्वरेण श्रवणान्तशातिना मिथो रुदन्तः करुणेन निर्ययुः ॥ २४ ॥

अन्वयः—सर्वे, श्वानः, समेत्य, ऊर्ध्वीकृतास्याः, रविदत्तदृष्टयः, करुणेन, श्रवणान्तशातिना, स्वरेण, मिथः, रुदन्तः, सुरविद्विषः, पुरः, निर्ययुः ॥ २४ ॥

भावार्थ—मुँह ऊपर उठा कर सूर्य की ओर देखते हुए सभी कुत्ते एक साथ ही अत्यंत कारुणिक एवं कानों के भीतर चुभ जाने वाली ध्वनि से रोते हुए तारकासुर के सामने से निकलने लगे ॥ २४ ॥

अपीति पश्यन्परिणामदारुणां महत्तमां गाढमरिष्टसन्ततिम् ।
दुर्दैवदष्टो न खलु न्यवर्तत क्रुधा प्रयाणव्यवसायतोऽसुरः ॥ २५ ॥

अन्वयः—इति, गाढम्, परिणामदारुणाम्, महत्तमाम्, अरिष्टसन्ततिम्, पश्यन्, अपि, असुरः, क्रुधा, प्रयाणव्यवसायतः, न, न्यवर्तत, खलु (यतः) दुर्दैवदष्टः ॥ २५ ॥

भावार्थ—इस प्रकार के अत्यन्त भयानक परिणाम वाले अनेकों अरिष्टों को निरन्तर होते हुए देखकर भी दुर्दैव का मारा हुआ तारकासुर क्रोध के वशीभूत होकर लड़ाई में जाने से विमुख न हो सका ॥ २५ ॥

अरिष्टमाशङ्क्य विपाकदारुणं निवार्यमाणोऽपि बुधैर्महासुरः ।
पुरः प्रतस्थे महतां वृथा भवेदसद्ग्रहान्धस्य हितोपदेशनम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—महासुरः, अरिष्टम्, विपाकदारुणम्, आशङ्क्य, निवार्यमाणः, अपि, पुरः (एव) प्रतस्थे, महताम्, असद्ग्रहान्धस्य, हितोपदेशनम्, वृथा भवेत् ॥ २६ ॥

भावार्थ—इन भयानक परिणाम वाले असगुनों को देखकर किसी अनिष्ट की आशंका से यद्यपि विद्वानों ने तारकासुर को बहुत रोका किन्तु वह आगे बढ़ता ही गया क्योंकि दुराग्रह से अन्धे लोगों के लिए बड़े लोगों का हितकारक उपदेश भी व्यर्थ हो जाता है ॥ २६ ॥

क्षितौ निरस्तं प्रतिकूलवायुना तदीयचामीकरघर्मवारणम् ।
रराज मृत्योरिव पारणाविधौ प्रकल्पितं हाटकभाजनम्, महत् ॥ २७ ॥

अन्वयः—प्रतिकूलवायुना, क्षितौ, निरस्तम्, तदीयचामीकरघर्मवारणम्, मृत्योः, इव, पारणाविधौ, प्रकल्पितम्, महत्, हाटकभाजनम्, इव, रराज ॥२७॥

भाषार्थ—इसी बीच एक ऐसी उल्टी हवा चली जिससे तारकासुर का छत्र पृथ्वी पर उलट कर ऐसा प्रतीत होने लगा मानो उसकी मृत्यु ने भोजन के लिए वहाँ सोने का बड़ा थाल ला रखा हो ॥ २७ ॥

विजानता भावि शिरोनिकृन्तनं प्रज्ञेन शोकादिव तस्य मौलिना ।
मुहुर्गलद्भिस्तरलैरलन्तरामरोदि मुक्ताफलबाष्पबिन्दुभिः ॥ २८ ॥

अन्वयः—प्रज्ञेन, भावि, शिरोनिकृन्तनम्, विजानता, तस्य, मौलिना, शोकाद्, मुहुर्गलद्भिः, तरलैः, मुक्ताफलबाष्पबिन्दुभिः, अलन्तराम्, अरोदि, इव ॥ २८ ॥

भाषार्थ—उस समय तारकासुर के मुकुट से टूट कर गिरते हुए मोती ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो उसके सिर कटने का ज्ञाता वह विज्ञ मुकुट पहले ही से बार-बार अपने मोती रूपी आँसू बरसा कर रो रहा हो ॥ २८ ॥

निवार्यमाणैरभितोऽनुयायिभिर्ग्रहीतुकामैरिव तं मुहुर्मुहुः ।
अपाति गृध्रैरभि मौलिमाकुलैर्भविष्यदेतन्मरणोपदेशिभिः ॥ २९ ॥

अन्वयः—भविष्यदेतन्मरणोपदेशिभिः (तथा), आकुलैः, गृध्रैः, अभितः, अनुयायिभिः, मुहुर्मुहुः, निवार्यमाणैः (अपि), तम्, ग्रहीतुकामैः, इव, मौलिम्, अभि अपाति ॥ २९ ॥

भाषार्थ—सेवकों द्वारा बार-बार उड़ाए जाने पर भी गिद्ध अत्यंत व्याकुल होकर उसका सिर ग्रहण करने की इच्छा से उसी पर गिर-गिर कर मानो इस बात की सूचना सी देने लगे कि इसकी मृत्यु अब बहुत निकट आ चुकी है ॥ २९ ॥

सद्योनिकृत्ताञ्जनसोदरद्युतिं फणामणिप्रज्वलदंशुमण्डलम् ।
निर्यद्विषोल्कानलगर्भफूत्कृतं ध्वजे जनस्तस्य महाहिमैक्षत ॥ ३० ॥

अन्वयः—जनः, तस्य, ध्वजे, सद्योनिकृत्ताञ्जनसोदरद्युतिम्, फणामणिप्रज्वलदंशुमण्डलम्, निर्यद्विषोल्कानलगर्भफूत्कृतम्, महाहिम्, ऐक्षत ॥ ३० ॥

भाषार्थ—सहसा लोगों ने तारकासुर के झंडे पर तत्काल के पारे गये कागज के समान काले तथा अपने फण की मणि की चमकती हुई किरणों से

घिरा हुआ और विष से भरी हुई आग जैसी भयानक फुंकार छोड़ने वाला एक बड़ा साँप लिपटा हुआ देखा ।। ३० ।।

रथाश्वकेशावलिकर्णचामरं ददाह बाणासनबाणवाणधीन् ।
अकाण्डतश्चण्डतरो हुताशनस्तस्यातनुस्यन्दनधुर्यगोचरः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अकाण्डतः, तस्य, अतनुस्यन्दनधुर्यगोचरः, चण्डतरः, हुताशनः, रथाश्वकेशावलिकर्णचामरम्, बाणासनबाणबाणधीन्, ददाह ।। ३१ ।।

भाषार्थ--अकस्मात् तारकासुर के महान रथ की धुरी में ऐसी भयंकर आग लग गयी जिसने रथ के घोड़ों के गरदन के बालों, कानों और चँवरियों को जला दिया तथा उसके धनुष, बाण और तर्कस को भी भस्म कर दिया ॥ ३१ ॥

इत्याद्यरिष्टैरशुभोपदेशिभिर्विहन्यमानोऽप्यसुरः पुनः पुनः ।
यदा मदान्धो न गतान्न्यवर्तताम्बरात्तदाभून्मरुतां सरस्वती ॥ ३२ ॥

अन्वयः—मदान्धः, असुरः, अशुभोपदेशिभिः इत्याद्यरिष्टैः, पुनः, पुनः, विहन्यमानः, अपि, यदा, गताद्, न न्यवर्तत, तदा, अम्बरात्, मरुताम्, सरस्वती, अभूत् ।। ३२ ।।

भाषार्थ—जब बार-बार इन अमंगल-सूचक अपसगुनों द्वारा बाधा पहुँचाने पर भी वह घमंड में अन्धा तारकासुर आगे बढ़ने से न रुका तब आकाश से इस प्रकार देववाणी हुई ।। ३२ ।।

मदान्ध मा गा भुजदण्डचण्डिमावलेपतो मन्मथहन्तृसूनुना ।
सुरैः सनाथेन पुरन्दरादिभिः समं समन्तात्समरं विजित्वरैः ।। ३३ ।।

अन्वयः—(भो) मदान्ध!, भुजदण्डचण्डिमावलेपतः, विजित्वरैः, पुरन्दरादिभिः, सुरैः समन्तात्, सनाथेन, मन्मथहन्तृसूनुना, समम्, समरम्, मा, गाः ।। ३३ ।।

भाषार्थ—ओ घमण्ड में अन्धे तारक ! अपनी प्रचण्ड भुजाओं के अभिमान में तू कामदेव के विनाशक भगवान शिव के पुत्र कार्तिकेय के साथ युद्ध करने मत जा ! देख उनके साथ विजयी इन्द्रादि सभी देवता चले आ रहे हैं ।। ३३ ।।

गुहोऽसुरैः षड्दिनजातमात्रको निदाघधामेव निशातमोभरैः ।
विषह्यते नाभिमुखो हि सङ्गरे कुतस्त्वया तस्य समं विरोधिता ।। ३४ ।।

अन्वयः—(भो मदान्ध), सङ्गरे, अभिमुखः, षड्दिनजातमात्रकः, गुहः, असुरैः निशातमोभरैः, निदाघधामा, इव न हि, विषह्यते, त्वया, समम्, तस्य, विरोधिता कुतः, (स्यात्) ।। ३४ ।।

भाषार्थ— जिस प्रकार रात्रि का घना अन्धकार भी सूर्य के सम्मुख नहीं टिक पाता है। उसी प्रकार केवल छः दिन की अवस्था वाले कार्तिकेय के सम्मुख युद्ध में सारे बलवान राक्षस भी न ठहर सकेंगे! फिर उनके साथ क्या तुम लड़ सकोगे ।। ३४ ।।

अभ्रंलिहैः शृङ्गशतैः समन्ततो दिक्चक्रवालैः स्थगितस्य भूभृतः ।
क्रौञ्चस्य रन्ध्रं विशिखेन निर्ममे येनाहवस्तस्य सह त्वया कुतः ।। ३५ ।।

अन्वयः—येन, अभ्रंलिहैः, शृङ्गशतैः, दिक्चक्रवालैः, समन्ततः, स्थगितस्य, क्रौञ्चस्य, भूभृतः, रन्ध्रम्, विशिखेन, निर्ममे, तस्य आहवः, त्वया, सह कुतः ।।

भाषार्थ—हे तारक! जिस कार्तिकेय ने सैकड़ों चोटियों से आकाश को चूमते हुए सभी दिशाओं में फैले हुए क्रौंच पर्वत को भी अपने बाणों से छेद डाला, भला उसके साथ क्या तुम लड़ाई कर सकोगे? ।। ३५ ।।

लब्ध्वा धनुर्वेदमनङ्गविद्विषस्त्रिःसप्तकृत्वः समरे महीभुजाम् ।
कृत्वाभिषेकं रुधिराम्बुभिर्घनैः स्वक्रोधवह्निं शमयाम्बभूव यः ।। ३६ ।।

अन्वयः—यः, अनङ्गविद्विषः, धनुर्वेदम्. लब्ध्वा, समरे, महीभुजाम्, घनैः रुधिराम्बुभिः, त्रिःसप्तकृत्वः अभिषेकम्, कृत्वा, स्वक्रोधवह्निम्. शमयाम्बभूव ।।३६।।

भाषार्थ--जिस परशुराम जीने शंकर जी से धनुर्विद्या सीख कर युद्ध में इक्कीस बार राजाओं के गाढ़े रक्त में स्नान करके अपनी क्रोधाग्नि को शान्त किया है ।। ३६ ।।

न जामदग्न्यः क्षयकालरात्रिकृत्स क्षत्रियाणां समराय वल्गति ।
येन त्रिलोकीसुभटेन तेन कुतोऽवकाशः सह विग्रहग्रहे ।। ३७ ।।

अन्वयः—क्षत्रियाणाम्, क्षयकालरात्रिकृत्, सः जामदग्न्यः, त्रिलोकीसुभटेन, येन, समराय, न, वल्गति, तेन, सह, विग्रहग्रहे, कुतः, अवकाशः (स्यात्) ।। ३७ ।।

भाषार्थ—जब क्षत्रियों की कालरात्रि उपस्थित करने वाले वह परशुराम भी जिनसे युद्ध करने में घबराते हैं तो भला उस त्रिभुवनविजयी महायोद्धा से युद्ध करने की शक्ति क्या तुममें हो सकती है? ।। ३७ ।।

त्यजाशु गर्वं मदमूढ मा स्म गाः स्मरारिसूनोर्वरशक्तिगोचरम् ।
तमेव नूनं शरणं व्रजाधुना जगत्सु वीरं स चिराय जीव तत् ।। ३८ ।।

अन्वयः--(भो) मदमूढ! आशु, गर्वम्, त्यज, स्मरारिसूनोः, वरशक्तिगोच-

रम्, मा, स्म, गाः, अधुना, नूनम्, एव शरणम्, तम्, जगत्सु, वीरम्, व्रज, तत्, सः (त्वम्), चिराय, जीव, ॥ ३८ ॥

भाषार्थ--हे घमण्ड में अन्धे बने दैत्य ! अब तुम अपना अभिमान छोड़कर ऐसा उपाय करो जिससे स्वामी कार्तिकेय की शक्ति में पड़ने से बच जाओ। इस लिए निश्चय रूप से तुम उन्हीं की शरण में जाओ क्योंकि इसी से तुम्हारा जीवन बच सकता है ॥ ३८ ॥

श्रुत्वेति वाचं वियतो गरीयसीं क्रोधादहङ्कारपरो महासुरः ।
प्रकम्पिताशेषजगत्त्रयोऽपि सन्नकम्पतोच्चैर्दिवमभ्यधाच्च सः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—वियतः, इति, गरीयसीम्, वाचम्, श्रुत्वा, क्रोधात्, अहङ्कारपरः, सः, महासुरः, प्रकम्पिताशेषजगत्त्रयः, सन् अपि, अकम्पत, च, दिवम्, उच्चैः, अभ्यधात् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—वह महाभिमानी तथा तीनों लोकों को कँपा देने वाला तारकासुर इस आकाशवाणी को सुनकर काँप उठा किन्तु क्रोध से आकाश की ओर मुँह करके उच्च स्वर में बोला ॥ ३९ ॥

किं ब्रूथ रे व्योमचरा महासुराः स्मरारिसूनुप्रतिपक्षवर्तिनः ।
मदीयबाणव्रणवेदना हि साऽधुना कथं विस्मृतिगोचरीकृता ॥ ४० ॥

अन्वयः--रे व्योमचराः, महासुराः, स्मरारिसूनुप्रतिपक्षवर्तिनः, किम्, ब्रूथ, सा, मदीयबाणव्रणवेदना, अधुना, हि, कथम्, विस्मृतिगोचरीकृता ॥ ४० ॥

भाषार्थ—स्वामिकार्तिकेय की प्रशंसा करने वाले अरे आकाशचारी देवताओ ! तुम लोग यह कैसी बकवास मचाए हो ! क्या आज तुम लोग मेरे बाणों के घावों की पीड़ा भूल गए हो ? ॥ ४० ॥

कटुस्वरैः प्रालपथाम्बरस्थिताः शिशोर्बलात्षड्दिनजातकस्य किम् ।
श्वानः प्रमत्ता इव कार्तिके निशि स्वैरं वनान्ते मृगधूर्तका इव ॥ ४१ ॥

अन्वयः--(भो देवाः) अम्बरस्थिताः, षड्दिनजातकस्य, शिशोः, बलात्, कार्तिके, प्रमत्ताः, श्वानः, इव, निशि, वनान्ते, मृगधूर्तकाः, इव, किम्, स्वैरम्, प्रालपथ ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार कार्तिक के महीने में कुत्ते भूँका करते हैं और रात के समय जंगल में लोमड़ी, गीदड़ आदि धूर्त पशु बोला करते हैं उसी प्रकार तुम लोग भी आकाश में जाकर छः दिन के बच्चे के बल पर इस प्रकार कटुवाणी में क्यों बड़बड़ा रहे हो ॥ ४१ ॥

सङ्गेन वो गर्भतपस्विनः शिशुर्वराक एषोऽन्तमवाप्स्यति ध्रुवम् ।
अतस्करस्तस्करसङ्गतो यथा तद्वो निहन्मि प्रथमं ततोऽप्यमुम् ।।४२।।

अन्वयः—(भो देवाः), वः, सङ्गेन, वराकः, (अपि) एषः, गर्भतपस्विनः, शिशुः, तस्करसङ्गतः, अतस्करः, यथा ध्रुवम्, अन्तम्, अवाप्स्यति, तत्, वः, प्रथमम्, निहन्मि, ततः, अमुम्, अपि, (निहन्मि) ।। ४२ ।।

भाषार्थ—जिस प्रकार चोर के साथ आने वाला साहु (चोरी न करने वाला) भी मारा जाता है उसी प्रकार तुम लोगों के साथ आने वाला वह वेचारा वालक भी अवश्य ही नष्ट हो जायेगा । मैं पहले तुम लोगों को मारूंगा फिर उसे भी मार डालूंगा ।

इतीरयत्युग्रतरं महासुरे महाकृपाणं कलयत्यलं क्रुधा ।
परस्परोत्पीडितजानवो भयान्नभश्चरा दूरतरं विदुद्रुवुः ।। ४३ ।।

अन्वयः—इति, ईरयति, महासुरे, क्रुधा, उग्रतरम्, महाकृपाणम्, अलम्, कलयति, नभश्चराः भयात्, परस्परोत्पीडितजानवः, दूरतरम्, विदुद्रुवुः ।।४३।।

भाषार्थ—जब उस महादैत्य ने इस प्रकार कह कर क्रोध से अपनी तलवार सँभाली तो मारे भय के एक दूसरे की जाँघों को छीलते हुए सारे आकाशचारी देवगण भाग चले ।। ४३ ।।

ततोऽवलेपाद्विकटं विहस्य स व्यधत्त कोशादसिमुत्तमं बहिः ।
रथं द्रुतं प्रापय वासवान्तिकं नन्वित्यवोचन्निजसारथिं रथी ।। ४४ ।।

अन्वयः—ततः, सः, विकटम्, विहस्य, उत्तमम्, असिम्, कोशात्, बहिः, व्यधत्त, (अथ च) रथी, रथम्, वासवान्तिकम्, द्रुतम्, ननु, प्रापय, इति, निजसारथिम्, अवोचत् ।। ४४ ।।

भाषार्थ—इसके पश्चात् बड़े घमंड के साथ भयंकर हास्य करते हुए तारकासुर ने म्यान से अपनी तलवार खींच ली और उस महारथी ने अपने सारथी से कहा कि रथ को शीघ्र ही इन्द्र के पास पहुँचा दो ।। ४४ ।।

मनोतिवेगेन रथेन सारथिप्रणोदितेन प्रचलन्महासुरः ।
ततः प्रपेदे सुरसैन्यसागरं भयङ्कराकारमपारमग्रतः ।। ४५ ।।

अन्वयः—ततः, मनोतिवेगेन, सारथिप्रणोदितेन, रथेन, प्रचलन्, महासुरः अग्रतः, अपारम्, भयङ्कराकारम्, सुरसैन्यसागरम्, प्रपेदे ।। ४५ ।।

भाषार्थः—सारथी ने मन से भी अधिक तीव्र गति से रथ को हांकते हुए

उसे देवताओं की महासेना के सामने पहुँचा दिया जो समुद्र के समान अत्यंत भीषण और विशाल थी ॥ ४५ ॥

पुरः सुराणां पृतनां प्रथीयसीं विलोक्य वीरः पुलकं प्रमोदजम् ।
बभार भूम्नाथ स बाहुदण्डयोः प्रचण्डयोः सङ्गरकेलिकौतुकी ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अथ, वीरः, सः, प्रथीयसीम्, सुराणाम्, पृतनाम्, पुरः, विलोक्य, प्रचण्डयोः, बाहुदण्डयोः, प्रमोदजम्, पुलकम् भूम्ना, बभार, (यतः) सङ्गरकेलिकौतुकी ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—देवताओं की उस विशाल सेना को सामने देख कर तारकासुर की प्रचण्ड भुजाएँ अत्यंत आनन्द के कारण रोमाञ्च से लद गईं और उसके हृदय में युद्धक्रीड़ा की लालसा उमड़ उठी ॥ ४६ ॥

ततो महेन्द्रस्य चराश्चमूचरा रणान्तलीलारभसेन भूयसा ।
पुरः प्रचेलुर्मनसोऽतिवेगिनो युयुत्सुभिः किं समरे विलम्ब्यते ॥ ४७ ॥

अन्वयः—ततः मनसः; (अपि) अतिवेगिनः, (तथा) भूयसा, रणान्तलीलारभसेन, चमूचराः, महेन्द्रस्य, चराः समरे, युयुत्सुभिः, किम्, विलम्ब्यते, (इति वक्तुम्) पुरः, प्रचेलुः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ— उसी समय युद्ध क्रीड़ा के लिए अत्यंत उतावले, इन्द्र के बड़े-बड़े लड़ाकू सैनिकों ने मन से भी अधिक वेग से सामने खड़ी दैत्यों की सेना पर धावा बोल दिया। क्योंकि युद्ध के उतावले वीर लड़ाई में थोड़ी भी देर नहीं करते ॥ ४७ ॥

पुरःस्थितं देवरिपोश्चमूचरा बलद्विषः सैन्यसमुद्रमभ्ययुः ।
भुजं समुत्क्षिप्य परेभ्य आत्मनोऽभिधानमुच्चैरभितो न्यवेदयन् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—देवरिपोः, चमूचराः, पुरःस्थितम्, बलद्विषः, सैन्यसमुद्रम्, अभ्ययुः, (अथ च) अभितः, भुजम्, समुत्क्षिप्य, आत्मनः, अभिधानम्, उच्चैः, परेभ्यः, न्यवेदयन् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—दैत्यों की सेना के सैनिक भी अपनी-अपनी भुजाएँ उठा कर शत्रुओं के सामने उच्च स्वर से अपना-अपना नाम सुनाते हुए सामने ही खड़ी इन्द्र की समुद्र जैसी विशाल सेना पर टूट पड़े ॥ ४८ ॥

पुरोगतं दैत्यचमूमहार्णवं दृष्ट्वा परं चुक्षुभिरे महासुराः ।
पुरारिसूनोर्नयनैककोणके ममुर्भटास्तस्य रणेऽवहेलया ॥ ४९ ॥

अन्वयः—महासुराः, पुरोगतम्, दैत्यचमूमहार्णवम्, दृष्ट्वा, परम्, चुक्षुभिरे, रणे, अवहेलया, तस्य, पुरारिसूनोः, नयनैककोणके, भटाः ममुः ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—बड़े बड़े देवता भी समुद्र के समान सामने से उमड़ती हुई आने वाली दैत्यों की उस सेना को देखकर दंग रह गए। किन्तु कुमार कार्तिकेय ने अपनी कनखियों से ही उसे देख कर अत्यंत निर्भयता के साथ यह जान लिया कि इनमें कुछ भी शक्ति नहीं है ॥ ४९ ॥

द्विषद्वलत्रासविभीषिताश्चमूर्दिवौकसामन्धकशत्रुनन्दनः ।
अपश्यदुद्दिश्य महारणोत्सवं प्रसादपीयूषधरेण चक्षुषा ॥ ५० ॥

अन्वयः—महारणोत्सवम्, उद्दिश्य, अन्धकशत्रुनन्दनः, द्विषद्बलत्रासविभीषिताः दिवौकसाम्, चमूः, प्रसादपीयूषधरेण, चक्षुषा, अपश्यत् ॥ ५० ॥

भाषार्थ—राक्षसों की सेना के भय से व्याकुल देवसेना की ओर अपनी आनन्द रूपी अमृत से भरी निगाहों से देखते हुए कुमार कार्तिकेय ने उस महान युद्ध-रूपी उत्सव में निडर होकर आगे चलने का संकेत किया ॥ ५० ॥

उत्साहिताः शक्तिधरस्य दर्शनान्मृधे महेन्द्रप्रमुखा मखाशनाः ।
अहं मृधे जेतुमरीनरीरमन्न कस्य वीर्याय परस्य सङ्गतिः ॥ ५१ ॥

अन्यवः—शक्तिधरस्य, मृधे, दर्शनात्, उत्साहिताः, महेन्द्रप्रमुखाः, मखाशनाः, मृधे, अहम् (एव) अरीन्, जेतुम् (समर्थः, अस्मि, नान्य इति वदन्तः सन्तः), अरीरमन्, परस्य, सङ्गतिः, कस्य, वीर्याय, न ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—कुमार कार्तिकेय का दर्शन पाते ही इन्द्र आदि सभी विशिष्ट देवता अत्यन्त उत्साहित हो उठे और प्रसन्नता से उछलते हुए कहने लगे कि हम लोग शत्रुओं को युद्ध में अवश्य ही जीत लेंगे। भला बड़े लोगों का साथ करने से किसका बल नहीं बढ़ता ॥ ५१ ॥

परस्परं वज्रधरस्य सैनिका द्विषोऽपि योद्धुं स्वकरोद्धृतायुधाः ।
वैतालिकश्राविततारविक्रमाभिधानमीयुर्विजयैषिणो रणे ॥ ५२ ॥

अन्वयः—रणे, विजयैषिणः, योद्धुम्, स्वकरोद्धृतायुधाः वज्रधरस्य, द्विषः, अपि, सैनिकाः, वैतालिकश्राविततारविक्रमाभिधानम्, (यथा तथा) परस्परम्, ईयुः ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—देवताओं तथा दैत्यों के सैनिक अपने-अपने हथियार लेकर चारणों द्वारा गाये हुए अपने पराक्रम का गीत सुन-सुनकर उत्साह में विजय की अभिलाषा से युद्ध-भूमि में परस्पर युद्ध करने के लिए उठ कर खड़े हो गए ॥ ५२ ॥

सङ्ग्रामं प्रलयाय सन्निपततो वेलामतिक्रामतो
वृन्दारासुरसैन्यसागरयुगस्याशेषदिग्व्यापिनः ।
कालातिथ्यभुजो बभूव बहलः कोलाहलः क्रोषणः
शैलोत्तालतटीविघट्टनपटुर्ब्रह्माण्डकुक्षिम्भरिः ॥ ५३ ॥

इति महाकवि-कालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
सुरासुरसैन्यसङ्घट्टो नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

भावार्थ— प्रलयाय, सङ्ग्रामम्, सन्निपततः, वेलाम्, अतिक्रामतः, अशेषदिग्व्यापिनः, कालातिथ्यभुजः, वृन्दारासुरसैन्यसागरयुगस्य, क्रोषणः, कोलाहलः, बहलः, शैलोत्तालतटीविघट्टनपटुः, ब्रह्माण्डकुक्षिम्भरिः, बभूव ॥ ५३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रलय करने के लिए अपने तटों की मर्यादा भंग करके चारों ओर फैलते तथा सारी दुनियाँ को डुबाते हुए काल का स्वागत करने वाले दो समुद्र एक दूसरे से टकराते हुए भीषण कोलाहल के साथ चढ़ते चले आते हैं उसी प्रकार ताड़ वृक्षों से भरी पहाड़ों की तलहटी को फाड़ने में समर्थ देवताओं तथा असुरों की मयानक सेना अत्यन्त भीषण ध्वनि करती हुई तथा कालरूपी अतिथि को मोजन का निमंत्रण देती हुई सारे ब्रह्मांड में फैल गई ॥५३॥

महाकवि कालिदासरचित कुमारसम्भव महाकाव्य में देवताओं और दैत्यों
की सेना का मिलाप नाम का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

षोडशः सर्गः

अथान्योन्यं विमुक्तास्त्रशस्त्रजालैर्भयङ्करैः ।
युद्धमासीत्सुनासीरसुरारिबलयोर्महत् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ, भयङ्करैः, अन्योन्यम्, विमुक्तास्त्रशस्त्रजालैः, सुनासीरसुरारिबलयोः, महत्, युद्धम्, आसीत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—इसके पश्चात् एक दूसरे पर अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करने वाली देवताओं तथा राक्षसों की सेना में महान युद्ध होने लगा ॥ १ ॥

पत्तिः पत्तिमभीयाय रणाय रथिनं रथी ।
तुरङ्गस्थं तुरङ्गस्थो दन्तिस्थं दन्तिनि स्थितः ॥ २ ॥

अन्वयः—पत्तिः, पत्तिम्, रथी, रथिनम्, तुरङ्गस्थः, तुरङ्गस्थम्, दन्तिनि, स्थितः, दन्तिस्थम्, रणाय, अभीयाय ॥ २ ॥

भाषार्थ—पैदल सिपाही पैदलों से, रथवाले रथवालों से, घुड़सवार घुड़सवारों से तथा हाथीसवार हाथीसवारों से युद्ध करने के लिए गुथ गए ॥ २ ॥

युद्धाय धावतां धीरं वीराणामितरेतरम् ।
वैतालिकाः कुलाधीशा नामान्यलमुदाहरन् ॥ ३ ॥

अन्वयः—इतरेतरम्, युद्धाय, धीरम्, धावताम् वीराणाम् नामानि, कुलाधीशाः, वैतालिकाः, अलम् उदाहरन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—चारण लोग निर्भय होकर युद्ध के लिए एक दूसरे पर झपटने वाले वीर सैनिकों का नाम ले लेकर प्रशंसा करने लगे ॥ ३ ॥

पठतां वन्दिवृन्दानां प्रवीरा विक्रमावलीम् ।
क्षणं विलम्ब्य चित्तानि ददुर्युद्धोत्सुकाः पुरः ॥ ४ ॥

अन्वयः—प्रवीराः विक्रमावलीम्, पठताम्, वन्दिवृन्दानाम्, पुरः, चित्तानि, क्षणम्, विलम्ब्य, ददुः (यतः) युद्धोत्सुकाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—युद्ध में अत्यन्त उत्सुक वीर पराक्रम गीत गाने वाले वन्दियो के सामने थोड़ी देर ठहर कर उसे सुनते और फिर युद्ध करने में मग्न हो जाते थे ॥ ४ ॥

सङ्ग्रामानन्दवर्धिष्णौ विग्रहे पुलकाञ्चिते ।
आसीत्कवचविच्छेदो वीराणां मिलतां मिथः ॥ ५ ॥

अन्वयः—सङ्ग्रामानन्दवर्धिष्णौ, पुलकाञ्चिते, मिथः, मिलतां, वीराणाम्, विग्रहे, कवचविच्छेदः आसीत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—उन वीरों का शरीर युद्ध के आनन्द में रोमाञ्चों से भर उठा था और जब वे आपस में गुथ जाते थे तो उनके कवचों के टाँके खुल जाया करते थे ॥ ५ ॥

निर्दयं खड्गभिन्नेभ्यः कवचेभ्यः समुत्थितैः ।
आसन्व्योमदिशस्तूलैः पलितैरिव पाण्डुराः ॥ ६ ॥

अन्वयः—निर्दयम्, खड्गभिन्नेभ्यः, कवचेभ्यः, समुत्थितैः, तूलैः, पलितैः, इव, व्योमदिशः, पाण्डुराः आसन् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—वहाँ सैनिकों की तलवारों की करारी चोटों से कटे हुए कवचों के भीतर से निकली हुई रूई आकाश तथा दिशाओं में इस प्रकार फैल गई कि सारी दिशाएँ पके बालों सरीखी उजली-उजली दिखाई पड़ने लगीं ॥ ६ ॥

खड्गा रुधिरसंलिप्ताश्चण्डांशुकरभासुराः ।
इतस्ततोऽपि वीराणां विद्युतां वैभवं दधुः ॥ ७ ॥

अन्वयः—रुधिरसंलिप्ताः अपि इतस्ततः, चण्डांशुकरभासुराः वीराणाम्, खड्गाः, विद्युताम्, वैभवम्, दधुः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—खून से सनी हुई वीरों की तलवारें सूर्य की किरणों के पड़ने पर इधर उधर बिजली के समान चमकती हुई प्रतीत होने लगीं ॥ ७ ॥

विसृजन्तो मुखैर्ज्वाला भीमा इव भुजङ्गमाः ।
विसृष्टाः सुभटै रुष्टैर्व्योम व्यानशिरे शराः ॥ ८ ॥

अन्वयः—रुष्टैः सुभटैः, विसृष्टाः, शराः, मुखैः, ज्वालाः, विसृजन्तः, भीमाः, भुजङ्गमाः, इव व्योम, व्यानशिरे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—उन वीरों ने क्रुद्ध होकर मुख से लपटें उगलने वाले भयंकर सापों के समान जिन विषभरे बाणों को चलाया उनसे सारा आकाश ही भर गया ॥ ८ ॥

बाढं वपूंषि निर्भिद्य धन्विनां निघ्नतां मिथः ।
अशोणितमुखा भूमिं प्राविशन्दूरमाशुगाः ॥ ९ ॥

अन्वयः—मिथः, दूरम्, निघ्नताम्, धन्विनाम्, वपूंषि, बाढम्, निर्भिद्य (अपि), अशोणितमुखाः, आशुगाः भूमिम्, प्राविशन् ॥ ९ ॥

भावार्थ—एक दूसरे पर चलाए गए धनुर्धारियों के बाण उन वीरों के कठोर शरीर को छेद कर इतनी शीघ्रता के साथ पार होते हुए पृथ्वी में प्रवेश कर जाते थे कि उनमें रक्त तक नहीं लगने पाता था । ९ ॥

निर्भिद्य दन्तिनः पूर्वं पाययामासुराशुगाः ।
पेतुः प्रवरयोधानां प्रीतानामाहवोत्सवे ॥ १० ॥

अन्वयः—आहवोत्सवे, प्रीतानाम्, प्रवरयोधानाम्, दन्तिनः, आशुगाः, निर्भिद्य, पूर्वम्, पातयामासुः (पश्चात्), पेतुः ॥ १० ॥

भावार्थ—उस युद्धरूपी उत्सव में अत्यंत प्रेम के साथ लगे हुए श्रेष्ठ वीरों द्वारा चलाए गए बाण हाथियों को काट कर पहिले गिरा देते थे तब स्वयं पृथ्वी पर गिरते थे ॥ १० ॥

ज्वलदग्निमुखैर्बाणैर्नीरन्ध्रैरितरेतरम् ।
उच्चैर्वैमानिका व्योम्नि कीर्णे दूरमपासरन् ॥ ११ ॥

अन्वयः—ज्वलदग्निमुखैः, इतरेतरम्, नीरन्ध्रैः बाणैः, उच्चैः, कीर्णे, व्योम्नि, वैमानिकाः, दूरम्, अपासरम् ॥ ११ ॥

भावार्थ—जलती हुई लपटों वाले बाणों की पंक्तियाँ जब आपस में घनीभूत होती हुई आकाश में भर उठीं तो विमानों पर बैठने वाले देवता लोग वहाँ से दूर हटने लगे ॥ ११ ॥

विभिन्नं धन्विनां बाणैर्व्यथार्तमिव विह्वलम् ।
ररास विरसं व्योम श्येनप्रतिरवच्छलात् ॥ १२ ॥

अन्वयः—धन्विनाम्, बाणैः, विभिन्नम्, व्यथार्तम्, विह्वलम्, व्योम, श्येनप्रतिरवच्छलात्, विरसम्, ररास, इव ॥ १२ ॥

भावार्थ—धनुर्धारियों के बाण से छलनी बना हुआ आकाश भी उसकी पीड़ा से विह्वल होकर बाज पक्षी के डरावने शब्दों के बहाने मानो रुदन करने लगा हो ॥ १२ ॥

चापैराकर्णमाकृष्टैर्विमुक्ता दूरमाशुगाः ।
अधावन्रुधिरास्वादलुब्धा इव रणैषिणाम् ॥ १३ ॥

अन्वयः—आकर्णम्, आकृष्टैः, रणैषिणाम्, चापैः, विमुक्ताः, आशुगाः, रुधिरास्वादलुब्धाः, इव, दूरम्, अधावन् ॥ १३ ॥

भावार्थ—कानों तक खींच कर छोड़े गये वीरों के बाण मानो खून का स्वाद पाने की लालच में ही दूर तक दौड़ लगा रहे थे ।। १३ ।।

गृहीताः पाणिभिर्वीरैर्विकोशाः खड्गराजयः ।
कान्तिजालच्छलादाजौ व्यहसन्सम्मदादिव ।। १४ ।।

अन्वयः—आजौ, वीरैः, पाणिभिः, गृहीताः, विकोशाः, खड्गराजयः, कान्तिजालच्छलात्, सम्मदाद्, व्यहसन्, इव ।। १४ ।।

भावार्थ—युद्ध में योद्धाओं के हाथों की नंगी तलवारें अपनी चमक को फैलाती हुई ऐसी लग रही थीं मानों वे चमक के बहाने मतवाली होकर हँस रही हों ।। १४ ।।

खड्गाः शोणितसंदिग्धा नृत्यन्तो वीरपाणिषु ।
रजोघने रणेऽनन्ते विद्युतां वैभवं दधुः ।। १५ ।।

अन्वयः—शोणितसंदिग्धाः, वीरपाणिषु, नृत्यन्तः, खड्गाः, रजोघने, अनन्ते, रणे, विद्युताम्, वैभवम्, दधुः ।। १५ ।।

भावार्थ—वीरों के हाथों में नाचती हुई खून से भरी तलवारें धूल से भरे तथा लम्बे चौड़े युद्धक्षेत्र में बिजली जैसी चमक रही थीं ।। १५ ।।

कुन्ताश्चकाशिरे चण्डमुल्लसन्तो रणार्थिनाम् ।
जिह्वाभोगा यमस्येव लेलिहाना रणाङ्गणे ।। १६ ।।

अन्वयः—रणाङ्गणे, चण्डम् (यथा तथा), उल्लसन्तः, कुन्ताः, लेलिहानाः, यमस्य, जिह्वाभोगाः, इव, चकाशिरे ।। १६ ।।

भावार्थ—युद्धक्षेत्र में लड़ने वाले योद्धाओं के चमचमाते हुए भयंकर भाले यमराज की लपलपाती हुई जीभ के समान प्रतीत हो रहे थे ।। १६ ।।

प्रज्वलत्कान्तिचक्राणि चक्राणि वरचक्रिणाम् ।
चण्डांशुमण्डलश्रीणि रणव्योमनि बभ्रमुः ।। १७ ।।

अन्वयः—प्रज्वलत्कान्तिचक्राणि, चण्डांशुमण्डलश्रीणि, वरचक्रिणाम्, चक्राणि, रणव्योमनि, बभ्रमुः ।। १७ ।।

भावार्थ—अत्यन्त प्रदीप्त कान्ति मंडल से घिरे अतः प्रचण्ड सूर्य-मंडल के समान चमचमाते हुए चक्रधारण करने वाले वीरों के चक्र युद्ध रूपी आकाश में चारों ओर चक्कर मार रहे थे ।। १७ ।।

केचिद्वीरैः प्रणादैश्च वीराणामभ्युपेयुषाम् ।
निपेतुः क्षोभतो वाहादपरे मुमुहुर्मदात् ।। १८ ।।

अन्वयः—अभ्युपेयुषाम्, वीराणाम्, धीरैः, प्रणादैः (निपेतुः), केचिद्, क्षोभतः, वाहाद्, निपेतुः, अपरे, मदात्, मुमुहुः ॥ १८ ॥

भावार्थ—बहुत से वीर सामने आकर गंभीर स्वर से गरजने वाले वीरों की ललकार से ही घोड़ों के नीचे गिर पड़ते थे और बहुत से मारे भय के मूर्च्छित हो जाते थे ॥ १८ ॥

कश्चिदभ्यागते वीरे जिघांसौ मुदमादधौ ।
परावृत्य गते क्षुब्धे विषसादाहवप्रियः ॥ १९ ॥

अन्वयः—कश्चित् (वीरः) जिघांसौ, वीरे, अभ्यागते (सति). मुदम्, आदधौ (अथ च), क्षुब्धे, परावृत्य, गते, (तु) विषसाद (यतः), आहवप्रियः ॥ १९ ॥

भावार्थ—मार डालने की अभिलाषा से सामने आए हुए किसी वीर को देखकर कोई युद्ध-प्रिय वीर अत्यन्त प्रसन्न हो उठता था किन्तु जब वह चोटों से घबरा कर लौट जाता था तो वह वीर अत्यन्त दुखी हो उठता था ॥ १९ ॥

बहुभिः सह युद्ध्वा वा परिभ्रम्य रणोल्बणाः ।
उद्दिश्य तानुपेयुः केऽपि ये पूर्ववृता रणे ॥ २० ॥

अन्वयः—रणोल्बणाः, केऽपि (योधाः), रणे, बहुभिः, सह, युद्ध्वा, परिभ्रम्य, वा तान्, उद्दिश्य, उपेयुः, ये, पूर्ववृताः ॥ २० ॥

भावार्थ—युद्ध करने में कुछ ऐसे भी उद्भट वीर थे जो बहुतों के साथ लड़कर अथवा इधर-उधर घूम-घाम कर योद्धाओं के सामने डट जाते थे जिनसे लड़ने के लिए उन्होंने पहले से ही प्रतिज्ञा कर ली थी ॥ २० ॥

अभितोऽभ्यागतान्योद्धुं वीरान्रणमदोद्धतान् ।
प्रत्यनन्दन्भुजादण्डरोमोद्गमभृतो भटाः ॥ २१ ॥

अन्वयः—भुजादण्डरोमोद्गमभृतः, भटाः, रणमदोद्धतान् योद्धुम्, अभितः, अभ्यागतान्, वीरान्, प्रत्यनन्दन् ॥ २१ ॥

भावार्थ—युद्ध करने के लिए चारों ओर से आकर डटे हुए युद्ध के मतवाले वीरों को देखकर बहुत से वीर आनन्द से फूल उठते थे और उनकी प्रचंड भुजाएँ रोमाञ्च से लदबदा उठती थीं ॥ २१ ॥

शस्त्रभिन्नेभकुम्भेभ्यो मौक्तिकानि च्युतान्यधः ।
अध्याहवक्षेत्रमुप्तकीर्तिबीजाङ्कुरश्रियम् ॥ २२ ॥

अन्वयः——शस्त्रभिन्नेभकुम्भेभ्यः, मौक्तिकानि, अधः, च्युतानि, अध्याहवक्षेत्रम्, उप्तकीर्तिबीजाङ्कुरश्रियम्, (दधुः) ।। २२ ।।

भावार्थ——हथियारों से फटे हुए हाथियों के मस्तकों से नीचे गिरे हुए मोती ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानों युद्ध क्षेत्र में बोए गए यश रूपी बीजों में अंकुर निकल आए हों ।। २२ ।।

वीराणां विषमैर्घोषैर्विद्रुता वारणा रणे ।
शास्यमाना अपि त्रासाद्भेजुर्धूताङ्कुशा दिशः ।। २३ ।।

अन्वयः——रणे, विषमैः, वीराणाम्, घोषैः विद्रुताः, वारणाः, शास्यमानाः, अपि, धूताङ्कुशाः, त्रासात्, दिशः, भेजुः ।। २३ ।।

भावार्थ——युद्ध में वीरों की भयंकर ललकार से भागते हुए हाथी पिलवानों के रोकने पर भी अंकुशों की चोट की परवाह न करते हुए मारे भय के इधर-उधर भाग चले ।। २३ ।।

रणे बाणगणैर्भिन्ना भ्रमन्तो भिन्नयोधिनः ।
निममज्जुर्मिलद्रक्तनिम्नगासु महागजाः ।। २४ ।।

अन्वयः——रणे, बाणगणैः, भिन्नयोधिनः, (अत एव स्वयम्) भिन्नाः, भ्रमन्तः, महागजाः, मिलद्रक्तनिम्नगासु, निममज्जुः ।। २४ ।।

भावार्थ—युद्ध में वीरों के बाणों से मरे हुए महावतों वाले तथा स्वयं घायल होकर इधर-उधर घूमते हुए हाथी लोहू की बहती हुई नदी में डूब गए ।

अपारेऽसृक्सरित्पूरे रथेषूच्चैस्तरेष्वपि ।
रथिनोऽभिरिपुं क्रुद्धा हुंकृतैर्व्यसृजञ्शरान् ।। २५ ।।

अन्वयः—उच्चैस्तरेषु, अपि, रथेषु अपारे, असृक्सरित्पूरे, रथिनः, क्रुद्धाः, हुंकृतैः, अभिरिपुम्, शरान्, व्यसृजन्, ।। २५ ।।

भावार्थ—रक्त की अगाध नदी की धारा में डूबते हुए भी ऊँचे-ऊँचे रथों पर चढ़े महारथी क्रोध से हुंकार करते हुए शत्रुओं पर बाण छोड़ते जा रहे थे ।।२५।।

खड्गनिर्लूनमूर्धानो व्यापतन्तोऽपि वाजिनः ।
प्रथमं पातयामासुरसिना दारितानरीन् ।। २६ ।।

अन्वयः—खड्गनिर्लूनमूर्धानः, वाजिनः, व्यापतन्तः, अपि, असिना, दारितान्, अरीन्, प्रथमम्, पातयामासुः ।। २६ ।।

भावार्थ—बहुत से वीर तलवार से सिर कट जाने पर घोड़े से नीचे गिरते हुए भी पहले अपनी तलवार से शत्रुओं को काट करके ही तब नीचे गिरते थे ।।२६।।

वीराणां शस्त्रभिन्नानि शिरांसि निपतन्त्यपि ।
अधावन्दन्तदष्टोष्ठभीमान्यभिरिपुं क्रुधा ॥ २७ ॥

अन्वयः—शस्त्रभिन्नानि, निपतन्ति, अपि, दन्तदष्टोष्ठभीमानि, वीराणां, शिरांसि, क्रुधा, अभिरिपुम्, अधावन् ॥ २७ ॥

भाषार्थ—हथियारों से कट कर गिरते हुए वीरो के मुंड भी क्रोध में दाँतों से ओठ चबाते हुए अत्यन्त भयंकरता के साथ शत्रुओं की ओर दौड़ पड़ते थे ॥२७॥

शिरांसि वरयोधानामर्धचन्द्रहृतान्यलम् ।
आदधाना भृशं पादैः श्येना व्यानशिरे नभः ॥ २८ ॥

अन्वयः—अर्धचन्द्रहृतानि, वरयोधानाम्, शिरांसि, पादैः, आदधानाः, श्येनाः, भृशम्, नभः, व्यानशिरे ॥ २८ ॥

भाषार्थ—अर्द्धचन्द्राकार बाणों से कटे हुए वीरों के बहुत से मुण्डों को बाज अपने चंगुलों में दबा-दबा कर आकाश में उड़ने लगे जिससे सारा आकाश मुंडों से भर सा गया ॥ २८ ॥

क्रोधादभ्यापतद्दन्तिदन्तारूढाः पदातयः ।
अश्वारोहा गजारोहप्राणान्प्रासैरपाहरन् ॥ २९ ॥

अन्वयः—पदातयः, अश्वारोहाः, क्रोधात्, अभ्यापतद्दन्तिदन्तारूढाः, प्रासैः, गजारोहप्राणान्, अपाहरन् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—पैदल तथा घुड़सवार योद्धा क्रोध में आकर सामने पड़ने वाले हाथियों के दाँतों पर चढ़-चढ़ कर उन पर बैठे हुए वीरों को अपने भालों से मौत के घाट उतार देते थे ॥ २९ ॥

शस्त्रच्छिन्नगजारोहा विभ्रमन्त इतस्ततः ।
युगान्तवातचलिताः शैला इव गजा बभुः ॥ ३० ॥

अन्वयः—शस्त्रच्छिन्नगजारोहाः, इतस्ततः, विभ्रमन्तः, गजाः, युगान्तवातचलिताः, शैलाः, इव, बभुः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—हथियारों से कटे हुए सवारों वाले हाथी इधर-उधर घूमते हुए ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो प्रलयकाल में वायु से उड़ते हुए पहाड़ दिखाई दे रहे हों ॥ ३० ॥

मिलितेषु मिथो योद्धुं दन्तिषु प्रसभं भटाः ।
अगृह्णन्युध्यमानाश्च शस्त्रैः प्राणान्परस्परम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—योद्धुम्, मिलितेषु, दन्तिषु, भटाः, मिथः, युध्यमानाः, च, प्रसभम्, शस्त्रैः, परस्परम्, प्राणान्, अगृह्णन् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—जब लड़ने के लिए दो हाथी आपस में गुंथ जाते थे तो उन पर बैठे हुए योद्धा भी परस्पर लड़ते हुए हठात् एक दूसरे को हथियारों से मार डालते थे ॥ ३१ ॥

रुषा मिथो मिलद्दन्तिदन्तसङ्घर्षजोऽनलः ।
योधाञ्शस्त्रहृतप्राणानदहत्सहसारिभिः ॥ ३२ ॥

अन्वयः—रुषा, मिथः, मिलद्दन्तिदन्तसङ्घर्षजः, अनलः, अरिभिः, शस्त्रहृतप्राणान्, योधान्, सहसा, अदहत् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—अत्यन्त क्रोध के साथ आपस में लड़ते हुए हाथियों के दाँतों की टक्कर से उत्पन्न होने वाली आग शत्रुओं के हथियारों से मरे हुए योद्धाओं को अकस्मात् जला कर भस्म कर देती थी ॥ ३२ ॥

आक्षिप्ता अपि दन्तीन्द्रैः कोपनैः पत्तयः परम् ।
तदसूनहरन्खड्गघातैः स्वस्य पुरः प्रभोः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—परम्, कोपनैः, दन्तीन्द्रैः, आक्षिप्ताः, अपि, पत्तयः, स्वस्य, प्रभोः, पुरः, खड्गघातैः, तदसून्, अहरन् ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—अत्यन्त क्रुद्ध हाथियों द्वारा उठा कर फेंक दिए जाने पर भी पैदल सैनिक अपनी तलवारों के प्रहार से उन्हें उनके मालिकों के सामने ही काट डालते थे ॥ ३३ ॥

उत्क्षिप्य करिभिर्दूरान्मुक्तानां योधिनां दिवि ।
प्रापि जीवात्मभिर्दिव्या गतिर्वा विग्रहैर्मही ॥ ३४ ॥

अन्वयः—करिभिः, उत्क्षिप्य, दिवि, दूरात्, मुक्तानाम्, योधिनाम्, जीवात्मभिः, दिव्या, गतिः, प्रापि विग्रहैः, मही, वा (प्रापि) ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—हाथियों द्वारा उठा कर आकाश में बहुत ऊँचाई तक फेंके गये वीरों के प्राण तो स्वर्ग में जाकर दिव्यगति प्राप्त कर लिए किन्तु उनके शरीर पृथ्वी पर आ गिरे ॥ ३४ ॥

खड्गैर्धवलधारालैर्निहत्य करिणां करान् ।
तैर्भुवापि समं विद्वान्सन्तोषं न भटा ययुः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—भटः, धवलधारालैः, खड्गैः, भुवा, अपि, समम्, तैः, विद्वान्, करिणाम्, करान्, निहत्य, (अपि) संतोषम्, न, ययुः ॥ ३५ ॥

भावार्थ—यद्यपि योद्धागण अपनी उजली धारीवाली तलवारों से हाथियों के सूँड़ों के काटने के साथ ही पृथ्वी को भी विदीर्ण कर देते थे किन्तु इतने पर भी उन्हें सन्तोष नहीं हो रहा था ॥ ३५ ॥

आक्षिप्याभिदिवं नीताः पत्तयः करिभिः करैः ।
दिव्याङ्गनाभिरादातुं रक्ताभिर्द्रुतमीषिरे ॥ ३६ ॥

अन्वयः—करिभिः करैः, आक्षिप्य, अभिदिवम्, नीताः’ पत्तयः, रक्ताभिः, दिव्याङ्गनाभिः, द्रुतम्, आदातुम्, ईषिरे ॥ ३६ ॥

भावार्थ—हाथियों की सूड़ों से उठा कर फेंक दिए जाने वाले वीर जब स्वर्ग में पहुँच जाते थे तो अनुराग में मतवाली देवङ्गनाएँ उन्हें ग्रहण करने के लिए अत्यन्त उतावली हो उठती थीं ॥ ३६ ॥

धन्विनस्तुरगारूढा गजारोहाञ्शरैः क्षताम् ।
प्रत्यैच्छन्मूर्छितान्भूयो योद्धुमाश्वसतश्चिरम् ॥ ३७ ॥

क्षन्वयः—तुरगारूढाः, धन्विनः, शरैः, क्षतान्, मूर्च्छितान्, गजारोहान्, भूयः योद्धुम्, आश्वसतः (एतादृशान्), चिरम्, प्रत्यैच्छन् ॥ ३७ ॥

भावार्थ—जब कोई घुड़सवार अपने बाणों से किसी हाथी सवार को घायल करके मूर्च्छित कर देता था तो वह होश में आने पर फिर उससे लड़ने के लिए देर तक प्रतीक्षा करता रहता था ॥ ३७ ॥

क्रुद्धस्य दन्तिनः पत्तिर्जिघृक्षोरशिना करम् ।
निर्भिद्य दन्तमुसलावारुरोह जिघृक्षया ॥ ३८ ॥

अन्वयः—पत्तिः, क्रुद्धस्य, जिघृक्षोः, दन्तिनः, करम्, असिना, निर्भिद्य, जिघृक्षया, दन्तमुसलौ, आरुरोह ॥ ३८ ॥

भावार्थ—जब कोई क्रुद्ध हाथी पकड़ने की इच्छा से किसी पैदल सैनिक की ओर अपनी सूड़ बढ़ाता था तो वह सैनिक अपनी तलवार से उसे काट कर उसके दाँत उखाड़ने की इच्छा से उसके लम्बे-लम्बे दाँतों पर चढ़ जाता था ॥ ३८ ॥

खड्गेन मूलतो हत्वा दन्तिनो रदनद्वयम् ।
प्रातिपक्ष्ये प्रविष्टोऽपि पदातिर्निरगाद् द्रुतम् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—प्रातिपक्ष्ये, प्रविष्टः अपि, पदातिः, दन्तिनः, रदनद्वयम्, खड्गेन, मूलतः, हत्वा, द्रुतम्, निरगात् ॥ ३९ ॥

भावार्थ—कोई पैदल सैनिक शत्रु-सेना में घुस कर भी अपनी तलवार से

दोनों दाँतों को काटकर कुशलपूर्वक वहाँ से निकल कर अपनी सेना में आ जाता था ॥ ३९ ॥

करेण करिणा वीरः सुगृहीतोऽपि कोपिना ।
असिनाऽसूञ्जहाराशु तस्यैव स्वयमक्षतः ॥ ४० ॥

अन्वयः—कोपिना, करिणा, करेण, सुगृहीतः, अपि, वीरः, असिना, तस्य, एव, असून्, आशु, जहार, स्वयम्, अक्षतः (अभूत्) ॥ ४० ॥

भावार्थ—क्रुद्ध हाथी की सूँड़ की लपेट में आया हुआ कोई वीर सैनिक तलवार से शीघ्र ही उसे मार डालता था और स्वयम् बच निकलता था ॥ ४० ॥

तुरङ्गी तुरगारूढं प्रासेनाहत्य वक्षसि ।
पततस्तस्य नाज्ञासीत्प्रासघातं स्वके हृदि ॥ ४१ ॥

अन्वयः—तुरङ्गी, तुरगारूढम्, प्रासेन, वक्षसि, आहत्य, पततः, तस्य, स्वके, हृदि, प्रासघातम्, न, अज्ञासीत् ॥ ४१ ॥

भावार्थ—कोई घुड़सवार किसी घुड़सवार को छाती में भाला भोंक कर इतना प्रसन्न हो उठता था कि उसे घोड़े से गिरते हुए घायल सवार द्वारा अपनी छाती में भोंके गए भाले का पता ही नहीं चलता था ॥ ४१ ॥

द्विषा प्रासहृतप्राणो वाजिपृष्ठदृढासनः ।
हस्तोद्धृतमहाप्रासो भुवि जीवन्निवाभ्रमत् ॥ ४२ ॥

अन्वयः—द्विषा, प्रासहृतप्राणः, वाजिपृष्ठदृढासनः, हस्तोद्धृतमहाप्रासः, जीवन्, इव, भुवि, अभ्रमत् ॥ ४२ ॥

भावार्थ— कोई घुड़सवार यद्यपि शत्रु के भाले से प्राणहीन हो चुका था किन्तु हाथ में भाला लिए घोड़े के पीठ पर जमकर बैठा हुआ वह सैनिक पृथ्वी पर जीवित के समान घूमता हुआ प्रतीत होता था ॥ ४२ ॥

तुरङ्गसादिनं शस्त्रहृतप्राणं गतं भुवि ।
अबद्धोऽपि महावाजी न साश्रुनयनोऽत्यजत् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अबद्धः, अपि, महावाजी, साश्रुनयनः, शस्त्रहृतप्राणम्, भुवि, गतम्, तुरङ्गसादिनम्, न, अत्यजत् ॥ ४३ ॥

भावार्थ—हथियार द्वारा मरे हुए अपने सवार को पृथ्वी पर पड़ा देखकर बड़ा घोड़ा आँखों में आँसू भरे हुए वहीं अविचल भाव से खड़ा रह गया यद्यपि वह वहाँ बँधा हुआ नहीं था ॥ ४३ ॥

भल्लेन शितधारेण भिन्नोपि रिपुणाश्वगः ।
नामूर्च्छत्कोपतो हन्तुमियेष प्रपतन्नपि ।। ४४ ।।

अन्वयः— रिपुणा, शितधारेण, भल्लेन, भिन्नः, अपि, अश्वगः, कोपतः, न, अमूर्च्छत् (किन्तु), प्रपतन्, अपि, (रिपुम्), हन्तुम्, इयेष ।। ४४ ।।

भाषार्थ—कोई घुड़सवार शत्रु के तेज धार वाले भाले से घायल होकर लड़खड़ाते हुए भी मूर्च्छित नहीं हो रहा था बल्कि वह क्रोध में उसे मार डालने की ही अभिलाषा कर रहा था ।। ४४ ।।

मिथः प्रासाहतौ वाजिच्युतौ भूमिगतौ रुषा ।
शस्त्र्या युयुधतुः कौचित्केशाकेशि भुजाभुजि ।। ४५ ।।

अन्वय—मिथः, प्रासाहतौ, वाजिच्युतौ, भूमिगतौ, कौचित्, रुषा, (युतौ), शस्त्र्या, युयुधतुः, (अथ च), केशाकेशि, भुजाभुजि, युद्धम्, अभूत्) ।। ४५ ।।

भाषार्थ—दो घुड़सवार एक दूसरे के भाले से घायल होकर भूमि पर गिर करके भी अत्यन्त क्रोध के साथ एक दूसर से गुथ कर परस्पर बालों को खींचते हुए छुरे से लड़ रहे थे ।। ४५ ।।

रथिनो रथिभिर्बाणैर्हृतप्राणा दृढासनाः ।
क्षतकार्मुकसन्धानाः सप्राणा इव मेनिरे ।।४७।।

अन्वयः—रथिभिः, बाणैः, हृतप्राणाः (तथा) दृढासनाः, क्षतकार्मुकसन्धानाः, रथिनः, सप्राणाः, इव, मेनिरे ।। ४६ ।।

भाषार्थ—बहुत से रथी योद्धा शत्रु पक्ष के रथी योद्धाओं के बाणों से यद्यपि मर चुके थे तथापि अपनी टूटी हुई धनुष को तानकर दृढ़ता के साथ रथ पर बैठे हुए जीवित जैसे प्रतीत हो रहे थे ।। ४६ ।।

न रथी रथिनं भूयः प्राहरच्छस्त्रमूर्च्छितम् ।
प्रत्याश्वसन्तमन्विच्छन्नातिष्ठद्युधि लोभतः ।। ४७ ।।

अन्वयः—रथी, शस्त्रमूर्च्छितम्, रथिनम्, भूयः, न, प्राहरत्, युधि, लोभतः, प्रत्याश्वसन्तम्, अन्विच्छन्, अतिष्ठत् ।। ४७ ।।

भाषार्थ—कोई रथी योद्धा किसी रथी योद्धा को हथियारों से मूर्छित कर देने पर फिर प्रहार नहीं कर रहा था बल्कि उससे पुनः लड़ने की लालच में उसके होश में आने की कामना से वहीं खड़ा था ।। ४७ ।।

अन्योन्यं रथिनौ कौचिद् गतप्राणौ दिवङ्गतौ ।
एकामप्सरसं प्राप्य युयुधाते वरायुधौ ॥ ४८ ॥

अन्वयः—वरायुधौ, कौचित्, रथिनौ, अन्योन्यम्, गतप्राणौ, दिवङ्गतौ, एकाम्, अप्सरसम्, प्राप्य, युयुधाते ॥ ४८ ॥

भावार्थ—श्रेष्ठ हथियार धारण करने वाले दो रथी योद्धा एक दूसरे को मार कर जब स्वर्ग पहुँचे तो वहाँ भी दोनों एक अप्सरा के पीछे लड़ाई करने लगे ॥ ४८ ॥

मिथोऽर्धचन्द्रनिर्लूनमूर्धानौ रथिनौ रुचा ।
खेचरौ भुवि नृत्यन्तौ स्वकबन्धावपश्यताम् ॥ ४९ ॥

अन्वथः—मिथः, अर्धचन्द्रनिर्लूनमूर्धानौ, खेचरौ, रुचा, रथिनौ, भुवि, नृत्यन्तौ, स्वकबन्धौ, अपश्यताम् ॥ ४९ ॥

भावार्थ—दो रथियों ने परस्पर एक दूसरे के सिर को अर्द्धचन्द्राकार वाण से काट दिया और जब उनके सिर आकाश में पहुँचे तो वे वहीं से पृथ्वी पर नाचते हुए अपने धड़ों को देखने लगे ॥ ४९ ॥

रणाङ्गणे शोणितपङ्कपिच्छिले कथङ्कथञ्चिन्ननृतुर्धृतायुधाः ।
नदत्सु तूर्येषु परेतयोषितां गणेषु गायत्सु कबन्धराजयः ॥ ५० ॥

अन्वयः—तूर्येषु, नदत्सु, परेतयोषिताम्, गणेषु, गायत्सु (सत्सु), धृतायुधाः, कवन्धराजयः शोणितपङ्कपिच्छिले, रणाङ्गणे, कथङ्कथञ्चित्, ननृतुः ॥ ५० ॥

भावार्थ—खून की कीचड़ के कारण फिसलन से मरे हुए उस युद्धक्षेत्र में हथियार धारण करने वाले वीरों के धड़ बड़ी कठिनाई से नाच रहे थे, जहाँ एक ओर युद्ध के वाजे बज रहे थे और प्रेतों की स्त्रियाँ इकठ्ठी होकर गा रही थीं ॥ ५० ॥

इति सुररिपुर्वृत्ते युद्धे सुरासुरसैन्ययो
रुधिरसरितां मज्जद्दन्तिव्रजेषु तटेष्वलम् ।
अरुणनयनः क्रोधाद्भीमभ्रमद्भ्रूकुटीमुखः
सपदि ककुभामीशानभ्यामगत्स युयुत्सया ॥ ५१ ॥

इति श्रीकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये सुरासुरसैन्यसङ्ग्रामवर्णनं नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

अन्वयः—इति, सुरासुरसैन्ययोः युद्धे, वृत्ते (तथा), रुधिरसरिताम्, तटेषु, मज्जद्दन्तिव्रजेषु (सत्सु), अलम्, क्रोधात्, अरुणनयनः, भीमभ्रमद्भृकुटीमुखः, सः, सुररिपुः, युयुत्सया सपदि ककुभाम्, ईशान्, अभ्यागमत् ॥ ५१ ॥

भावार्थ—इस प्रकार देवताओं तथा दैत्यों की सेनाओं के परस्पर युद्ध में लग जाने पर जब खून की नदी के किनारों पर बड़े-बड़े हाथी भी डूबने लगे तब देवताओं का शत्रु तारकासुर मारे क्रोध के भौंहें टेढ़ी किए हुए लाल-लाल आँखें करके युद्ध करने की अभिलाषा से शीघ्र ही इन्द्र आदि दिक्पालों के सामने आकर डट गया ॥ ५१ ॥

महाकवि कालिदासरचित कुमारसंभव नामक महाकाव्य में
'देवताओं तथा दैत्यों की सेनाओं का युद्ध वर्णन' नाम
वाला सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

* * *

सप्तदशः सर्गः

दृष्ट्वाभ्युपेतमथ दैत्यपतिं पुरस्तात्
सङ्ग्रामकेलिकुतुकेन घनप्रमोदम् ।
योद्धुं मदेन मिमिलुः ककुभामधीशा
वाणान्धकारितदिगम्बरगर्भमेत्य ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ (एते), ककुभाम्, अधीशाः, सङ्ग्रामकेलिकुतुकेन, घनप्रमोदम्, बाणान्धकारितदिगम्बरगर्भम्, (तथा) अभ्युपेतम्, दैत्यपतिम्, पुरस्तात्, दृष्ट्वा, योद्धुम्, एत्य, मदेन, मिमिलुः ॥ १ ॥

भावार्थ—युद्धक्रीड़ा करने के उत्साह में अत्यन्त प्रसन्न तथा अपने बाणों की निरन्तर झड़ी से दिशाओं तथा आकाश को अन्धकारमय कर डालने वाले तारकासुर को सम्मुख आते हुए देख कर इन्द्र आदि सभी दिक्पाल उससे लड़ने के लिए अभिमानपूर्वक इकट्ठे होकर युद्धक्षेत्र में डट गए ॥ १ ॥

देवद्विषां परिवृढो विकटं विहस्य
बाणावलीभिरमरान्विकटान्ववर्ष ।
शैलानिव प्रवरवारिधरो गरिष्ठा-
नद्भिः पराभिरथ गाढमनारताभिः ॥ २ ॥

अन्वयः—अथ, देवद्विषाम्, परिवृढः, विकटम्, विहस्य, प्रवरवारिधर,ः गरिष्ठान्, शैलान्, पराभिः, अनारताभिः, अद्भिः, इव, विकटान्, अमरान्, बाणावलीभिः, गाढम्, ववर्ष ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार वर्षाकालीन घने बादल अपनी निरन्तर तथा गहरी एवं अत्यंत भीषण वर्षा से बड़े-बड़े पहाड़ों को ढक देते हैं उसी प्रकार देवताओं के शत्रु तारकासुर ने भी भयंकर हँसी हँसते हुए अपने बाणों की निरन्तर वर्षा से देवताओं को ढँक दिया ॥ २ ॥

जम्भद्विषत्प्रभृतिदिक्पतिचापमुक्ता
बाणाः शिता दनुजनायकबाणसङ्घान् ।
अह्नाय तार्क्ष्यनिवहा इव नागपूगान्
सद्यो विचिच्छिदुरलङ्क्षणशो रणान्ते ॥ ३ ॥

अन्वयः—दनुजनायकबाणसङ्घान्, जम्भद्विषत्प्रभृतिदिक्पतिचापमुक्ताः, शिताः, बाणाः, नागपूगान्, अह्नाय, तार्क्ष्यनिवहाः, इव, रणान्ते, सद्यः, अलम्, कणशः, विचिच्छिदुः ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे अनेक गरुड़ एक साथ मिलकर झुंड के झुंड साँपों को काटकर टुकड़े-टुकड़े करते चले जाते हैं उसी प्रकार इन्द्रादिदिक्पालों के धनुषों से छूटे हुए तीखे बाण युद्धक्षेत्र में तारकासुर के बाणों को शीघ्रता के साथ काटते हुए चलने लगे ॥ ३ ॥

तान्प्रज्वलत्फलमुखैर्विषमैः सुरारि-
नामाङ्कितैः पिहितदिग्गगनान्तरालैः ।
आच्छादितस्तृणचयानिव हव्यवाह-
श्चिच्छेद सोऽपि सुरसैन्यशरान्शरौघैः ॥ ४ ॥

अन्वयः—सः, अपि, प्रज्वलत्फलमुखैः, विषमैः, सुरारिनामाङ्कितैः, पिहितदिग्गगनान्तरालैः, शरौघैः, तान्, सुरसैन्यशरान्, आच्छादितः, हव्यवाहः, तृणचयान्, इव, चिच्छेद ॥ ४ ॥

भावार्थ—तारकासुर ने भी अपना नाम खुदे हुए, लपटों के समान लपलपाते फलों वाले तथा सब दिशाओं और आकाश को परिपूर्ण कर देने वाले भयंकर बाणों से देवताओं के बाणों को उसी प्रकार काट कर नष्ट कर दिया जैसे अग्नि अपने ऊपर पड़े हुए घास-फूस को जला कर नष्ट कर देती है ॥ ४ ॥

दैत्येश्वरो ज्वलितरोषविशेषभीमः
सद्यो मुमोच युधि यान्विशिखान्सहेलः ।
ते प्रापुरुद्भटभुजङ्गमभीमभावं
गाढं बबन्धुरपि तांस्त्रिदशेन्द्रमुख्यान् ॥ ५ ॥

अन्वयः—ज्वलितरोषविशेषभीमः, दैत्येश्वरः, युधि, सहेलः यान्, त्रिशिखान्, मुमोच, ते, सद्यः, उद्भटभुजङ्गमभीमभावम्, प्रापुः (अथ च), त्रिदशेन्द्रमुख्यान्, तान्, गाढम्, (यथा तथा) बबन्धुः, अपि ॥ ५ ॥

भावार्थ—क्रोध से जलते हुए अत्यन्त भयङ्कर तारकासुर ने उस युद्ध को कुछ न समझते हुए फुर्ती में जिन बाणों को चलाया वे बड़े-बड़े सापों के समान अत्यन्त भीषणता के साथ इन्द्रादि प्रमुख देवताओं के गले में दृढ़ता से लिपट गये ॥ ५ ॥

ते नागपाशविशिखैरसुरेण बद्धाः
श्वासानिलाकुलमुखा विमुखा रणस्य ।
दिङ्नायका बलरिपुप्रमुखाः स्मरारि-
सूनोः समीपमगमन्विपदन्तहेतोः ॥ ६ ॥

अन्वयः—असुरेण, नागपाशविशिखैः, बद्धाः, श्वासानिलाकुलमुखाः, रणस्य, विमुखाः, बलरिपुप्रमुखाः, दिङ्नायकाः, विपदन्तहेतोः, स्मरारिसूनोः, समीपम्, अगमत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—उस दैत्य के नागपाश जैसे बाणों में बँधने के कारण इन्द्रादि दिक्पालों की साँस घुटने लगी और वे उस विपत्ति से छुटकारा पाने के लिए युद्ध से विमुख होकर भगवान शंकर के पुत्र स्वामिकार्तिकेय के पास पहुँचे ॥ ६ ॥

दृष्टिप्रपातवशतोऽपि पुरारिसूनो-
स्ते नागपाशघनबन्धविपत्तिदुःखात् ।
इन्द्रादयो मुमुचिरे स्वयमस्य देवाः
सेवां व्यधुर्निकटमेत्य महाजिगीषोः ॥ ७ ॥

अन्वयः—ते, देवाः, इन्द्रादयः, पुरारिसूनोः, दृष्टिप्रपातवशतः, अपि, नागपाशघनबन्धविपत्तिदुःखात्, मुमुचिरे (अथ), महाजिगीषोः, अस्य, स्वयम्, निकटम्, एत्य, सेवाम्, व्यधुः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—वे इन्द्रादि देवता कुमार कार्तिकेय की दृष्टि पड़ते ही उसके प्रभाव के कारण नागपाश के उस कठोर बंधनरूपी विपत्ति के दुख से मुक्त हो गए और विजयाभिलाषी कुमार के पास पहुँचकर उनकी स्तुति करने लगे ॥७॥

उद्दीप्तकोपदहनोऽथ सुरेन्द्रशत्रु-
रह्नाय सारथिमवोचत चण्डबाहुः ।
बद्धा मया सुरपतिप्रमुखाः प्रसह्य
बालस्य धूर्जटिसुतस्य निरीक्षणेन ॥ ८ ॥
मुक्ता बभूवुरधुना तदिमान्विहाय
कर्तास्म्यमुं समरभूमिपशूपहारम् ।
तत्स्यन्दनं सपदि वाहय शम्भुसूनुं
द्रष्टास्मि दर्पितभुजाबलमाहवाय ॥ ९ ॥

अन्वयः—अथ, उद्दीप्तकोपदहनः, चण्डबाहुः सुरेन्द्रशत्रु अह्नाय (भो सारथे), मया, प्रसह्य, बद्धाः, सुरपतिप्रमुखाः, बालस्य, धूर्जटिसुतस्य, निरीक्षणेन,

मुक्ताः, बभूवुः, तत्, अधुना, इमान्, विहाय, आहवाय, दर्पितभुजाबलम्, अमुम्, शम्भुसूनुम्, द्रष्टास्मि (अथ, च), समरभूमिपशूपहारम्, कर्तास्मि, तत्, सपदि, स्यन्दनम्, वाहय, इति, सारथिम्, अवोचत ।। ८-९ ।।

भाषार्थ—यह देखकर उस प्रचण्ड भुजाओं वाले तारकासुर ने अत्यन्त प्रज्वलित क्रोध में जलते हुए तुरन्त ही अपने सारथी से कहा कि मैंने इन्द्र आदि प्रमुख देवताओं को बलपूर्वक बाणों के फन्दे में बाँध लिया था किन्तु वे उस बच्चे कुमार कार्तिकेय को दृष्टिमात्र से ही मुक्त हो गए, इसलिए अब इस समय इन्हें छोड़कर पहले मैं उसे ही स्यार और गीदड़ों आदि युद्ध-पशुओं की भेंट कर देता हूँ। इसलिए तुम शीघ्र ही मेरे रथ को उस शिवपुत्र कुमार के पास पहुँचा दो, जिससे मैं भी तो देखूँ कि वह अपनी भुजाओं के किस बल पर इतने अभिमान के साथ युद्ध करने के लिए आया है ।। ८-९ ।।

तत्स्यन्दनः सपदि सारथिसम्प्रणुन्नः
प्रक्षुब्धवारिधरधीरगभीरघोषः ।
चण्डश्चचाल दलिताखिलशत्रुसैन्य-
मांसास्थिशोणितविपङ्कविलुप्तचक्रः ।। १० ।।

अन्वयः—प्रक्षुब्धवारिधरधीरगभीरघोषः (तथा), दलिताखिलशत्रुसैन्यमांसास्थिशोणितविपङ्कविलुप्तचक्रः, चण्डः, तत्स्यन्दनः, सपदि, सारथिसम्प्रणुन्नः, चचाल ।। १० ।।

भाषार्थ—शीघ्र ही सारथि के द्वारा हाँका गया वह रथ प्रलयकालीन भयङ्कर बादलों की भाँति घरघराता हुआ अत्यन्त गम्भीर ध्वनि के साथ वेग से चल पड़ा, जिसके चक्के शत्रु-सेना के कुचल जाने के कारण उसके माँस, हड्डी और खून के कीचड़ में भली-भाँति धँस गए थे ।। १० ।।

दृष्ट्वा रथं प्रलयवातचलद्गिरीन्द्र-
कल्पं दलद्बलविरावविशेषरौद्रम् ।
अभ्यागतं सुररिपोः सुरराजसैन्यं
क्षोभं जगाम परमं भयवेपमानम् ।। ११ ।।

अन्वयः—प्रलयवातचलद्गिरीन्द्रकल्पम्, (तथा) दलद्बलविरावविशेषरौद्रम्, अभ्यागतम्, सुररिपोः, रथम्, दृष्ट्वा, भयवेपमानम्, सुरराजसैन्यम्, परमम्, क्षोभम्, जगाम ।। ११ ।।

भावार्थ—प्रलयकाल की आँधी में उड़ते हुए हिमालय पहाड़ के समान तथा पिसते हुए देवसैनिकों की चीत्कार से अत्यन्त भीषण प्रतीत होने वाले उस तारकासुर के रथ को बिल्कुल समीप आया हुआ देखकर इन्द्र की सेना भय से काँपती हुई अत्यन्त व्यग्र हो उठी ॥ ११ ॥

प्रक्षुभ्यमाणमवलोक्य दिगीशसैन्यं
शम्भोः सुतं कलहकेलिकुतूहलोत्कम् ।
उद्दामदोःकलितकार्मुकदण्डचण्डः
प्रोवाच वाचमुपगम्य स कार्तिकेयम् ॥ १२ ॥

अन्वयः—सः, दिगीशसैन्यम्, प्रक्षुभ्यमाणम्, अवलोक्य, उद्दामदोःकलितकार्मुकदण्डचण्डः, कलहकेलिकुतूहलोत्कम्, शम्भोः, सुतम्, कार्तिकेयम्, उपगम्य, वाचम्, प्रोवाच ॥ १२ ॥

भावार्थ—इस प्रकार घबड़ाई हुई दिक्पतियों की सेना को देखकर अपनी प्रचंड भुजाओं में धनुष धारण किए हुए तारकासुर युद्ध-क्रीड़ा के उत्सव में अत्यंत उत्साही शिवपुत्र कुमार कार्तिकेय के पास जाकर बोला ॥ १२ ॥

रे शम्भुतापसशिशो बत मुञ्च मुञ्च
दोर्दर्पमत्र विरम त्रिदिवेन्द्रकार्यात् ।
शस्त्रैः किमत्र भवतोऽनुचितैरतीव
बालत्वकोमलभुजातुलभारभूतैः ॥ १३ ॥

अन्वयः—रे शम्भुतापसशिशो, अत्र, विषये, दोर्दर्पम्, मुञ्च, मुञ्च, (अथ, च), त्रिदिवेन्द्रकार्यात्, विरम, अतीव, बालत्वकोमलभुजातुलभारभूतैः, अत्र, भवतः, अनुचितैः, शस्त्रैः, किम् ॥ १३ ॥

भावार्थ—अरे तपस्वी शङ्कर के बच्चे ! अपनी भुजाओं के बल का अभिमान छोड़ दे और देवताओं के इस कार्य से अलग हो जा । देख तुम्हारे जैसे बच्चे की कोमल भुजाओं में यह अत्यंत बोझीले हथियार अनुचित से लग रहे हैं ॥ १३ ॥

एवं त्वमेव तनयोऽसि गिरीशगौर्योः
किं यासि कालविषयं विषमैः शरैर्मे ।
सङ्ग्रामतोऽपसर जीव पितुर्जनन्या-
स्तूर्णं प्रविश्य वरमङ्कतलं विधेहि ॥ १४ ॥

अन्वयः—रे शिशो, एवम्, विषमैः, मे, शरैः, कालविषयम्, किम्, यासि, (यतः) गिरीशगौर्योः, त्वम्, एव, तनयः, असि, (रे शिशो) सङ्ग्रामतः, अपसर, जीव, पितुः, (तथा) जनन्याः, अङ्कतलम्, तूर्णम्, प्रविश्य, वरम्, विधेहि ॥ १४ ॥

भावार्थ—बच्चे ! तुम्हीं शंकर और पार्वती के अकेले लड़के हो, अतः मेरे भयंकर बाणों द्वारा काल के गाल में क्यों जाना चाहते हो ? जाओ, रण से भाग कर अपने जीवन की रक्षा करो और तुरन्त ही पिता-माता की गोद में जाकर छिप रहो ॥ १४ ॥

सम्यक्स्वयं किल विमृश्य गिरीशपुत्र
जम्भद्विषोऽस्य जहिहि प्रतिपक्षमाशु ।
एष स्वयं पयसि मज्जति दुर्विगाह्ये
पाषाणनौरिव निमज्जयते पुरा त्वाम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—(भोः) गिरीशपुत्र ! (त्वम्) सम्यक्, (यथा स्यात्तथा) विमृश्य, अस्य, जम्भद्विषः, प्रतिपक्षम् (माम्), स्वयम्, किल, आशु, जहिहि, (रे शिशो), एषः, पुरा, दुर्विगाह्ये, पयसि, पाषाणनौः, इव, स्वयम्, मज्जति, त्वाम् (च) निमज्जयते ॥ १५ ॥

भावार्थ—हे शिवपुत्र ! तुम भलीभाँति विचार करके इस इन्द्र के शत्रु मुझे स्वयं शीघ्रता के साथ मार डालो क्योंकि गहरे जल में पत्थर की नाव के समान डूबने वाला यह इन्द्र अपने सहारे रहने वाले तुमको भी डुबा देगा ॥ १५ ॥

इत्थं निशम्य वचनं युधि तारकस्य
कम्प्राधरो विकचकोकनदारुणाक्षः ।
क्षोभात्त्रिलोचनसुतो धनुरीक्षमाणः
प्रोवाच वाचमुचितां परिमृश्य शक्तिम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—युधि, तारकस्य, इत्थम्, वचनम्, निशम्य, क्षोभात्, कम्प्राधरः, विकचकोकनदारुणाक्षः, (एवंभूतः), त्रिलोचनसुतः, शक्तिम्, परिमृश्य, धनुः, ईक्षमाणः (सन्), उचिताम्, वाचम्, प्रोवाच ॥ १६ ॥

भावार्थ—युद्धभूमि में तारकासुर की ऐसी बातें सुनकर कार्तिकेय के होंठ काँपने लगे, आँखें फूले हुए लाल कमल के समान लाल-लाल हो जाने से भीषण हो उठीं और उन्होंने अत्यंत क्रुद्ध होकर अपने धनुष की ओर देखते हुए अपनी शक्ति का विचार करके उसी के अनुकूल तारकासुर से कहा ॥ १६ ॥

दैत्याधिराज भवता यदवादि गर्वात्
तत्सर्वमप्युचितमेव तवैव किन्तु ।
द्रष्टास्मि ते प्रवरबाहुबलं वरिष्ठं
शस्त्रं गृहाण कुरु कार्मुकमाततज्यम् ।। १७ ।।

अन्वयः—(भो) दैत्याधिराज ! भवता, गर्वात्, यद्, अवादि, तत् सर्वम्, अपि, तव, उचितम्, एव, किंतु, वरिष्ठम्, ते, प्रवरबाहुबलम्, द्रष्टास्मि, (अतः) शस्त्रम्, गृहाण, कार्मुकम्, आततज्यम्, कुरु ।। १७ ।।

भावार्थ—हे दैत्यराज ! आप इतने अभिमान के साथ जो कुछ कह रहे हैं वह आप के लिए उचित ही है, किन्तु हे वीरश्रेष्ठ ! मैं आप के उत्कृष्ट बाहुवल को देखना चाहता हूँ अतः आप अत्र शस्त्र ग्रहण कीजिए और अपने धनुष की डोरी चढ़ा लीजिए ।। १७ ।।

इत्युक्तवन्तमवदत्त्रिपुरारिपुत्रं
दैत्यः क्रुधौष्ठमधरं किल निर्विभिद्य ।
युद्धार्थमुद्भटभुजाबलदर्पितोऽसि
बाणान्सहस्व मम सादितशत्रुपृष्ठान् ।। १८ ।।

अन्वयः—इति, उक्तवन्तम्, त्रिपुरारिपुत्रम्, दैत्यः, क्रुधा, अधरम्, ओष्ठम्, निर्विभिद्य, (रे बाल), सादितशत्रुपृष्ठान्, मम, बाणान्, सहस्व, (यतः, त्वम्), युद्धार्थम्, उद्भटभुजाबलदर्पितः, असि, (इति), अवदत् ।।१८।।

भावार्थ—यह सुनकर क्रोध से ओठों को दाँतों से काटते हुए तारकासुर ने इस प्रकार कहने वाले शिवपुत्र कुमार से कहा कि युद्ध करने के लिए यदि तुम्हें अपनी प्रचण्ड भुजाओं के बल पर अभिमान है तो शत्रुओं के पीठ को छेद डालने वाले मेरे बाणों की चोट सहन करो ।। १८ ।।

दुःप्रेक्षणीयमरिभिर्धनुराततज्यं
सद्यो विधाय विषमान्विशिखं न्यधत्त ।
स क्रोधभीमभुजगेन्द्रनिभं स्वचापं
चण्डं प्रपञ्चयति जैत्रशरैः कुमारे ।। १९ ।।

अन्वयः—सः, कुमारे, क्रोधभीमभुजगेन्द्रनिभम्, चण्डम्, स्वचापम्, जैत्रशरैः, प्रपञ्चयति, अरिभिः, दुःप्रेक्षणीयम्, धनुः, सद्यः, आततज्यम्, विधाय, विषमान्, विशिखान्, न्यधत्त ।। १९ ।।

भाषार्थ—जिस समय कुमार क्रुद्ध भयंकर सर्प के समान अपने प्रचंड धनुष पर विजयी बाण चढ़ाने लगे उसी समय तारकासुर ने भी बड़ी फुर्ती से अपने उस धनुष की प्रत्यञ्चा खींच कर उसपर बाण चढ़ा लिए जिसे देखने में भी शत्रु व्याकुल होउठते थे ॥ १९ ॥

कर्णान्तमेत्य दितिजेन विकृष्यमाणं
कोदण्डमेतदभितः सुषुवे शरौघान् ।
व्योमाङ्गणे लिपिकरान्किरणप्ररोहैः
सान्द्रैरशेषककुभां पलितङ्करिष्णून् ॥ २० ॥

अन्वयः—दितिजेन, कर्णान्तम्, एत्य, विकृष्यमाणम्, एतत्, कोदण्डम्, सान्द्रैः, किरणप्ररोहैः, व्योमाङ्गणे, लिपिकरान् (तथा), अशेषककुभाम्, पलितङ्करिष्णून् (एवंभूतान्), शरौघान्, अभितः, सुषुवे ॥ २० ॥

भाषार्थ—तारकासुर अपने धनुष को कान तक खींच कर आकाशरूपी आँगन को घनी किरणोंरूपी अंकुरों से भर देने वाले तथा सभी दिशाओं को अपने प्रकाश से उज्ज्वल बना देने वाले बाणों को छोड़ने लगा ॥ २० ॥

बाणैः सुरारिधनुषः प्रसृतैरनन्तै-
र्निर्घोषभीषितभटो लसदंशुजालैः ।
अन्धीकृताखिलसुरेश्वरसैन्य ईश-
सूनुः कुतोऽपि विषयं न जगाम दृष्टेः ॥ २१ ॥

अन्वयः—सुरारिधनुषः, प्रसृतैः, अनन्तैः, लसदंशुजालैः, बाणैः, अन्धीकृताखिलसुरेश्वरसैन्यः, निर्घोषभीषितभटः, ईशसूनुः, कुतः, अपि, दृष्टेः, विषयम्, न जगाम ॥ २१ ॥

भाषार्थ—देवताओं के शत्रु तारकासुर के धनुष से छूटे हुए असंख्य चमचमाते हुए बाणों ने इन्द्र की सारी सेना को अंधा बना दिया और सारे वीर सैनिक उन बाणों की फुंकार से भयभीत हो उठे । यहाँ तक कि कुमार कार्तिकेय को भी थोड़ी देर कुछ भी नहीं दिखाई पड़ा ॥ २१ ॥

देवेन मन्मथरिपोस्तनयेन गाढ-
माकर्णकृष्टमभितो धनुराततज्यम् ।
बाणानसूत निशितान्युधि यान्सुजैत्रां-
स्तैः सायका बिभिदिरे सहसा सुरारेः ॥ २२ ॥

अन्वयः—मन्मथरिपोः, तनयेन, देवेन, गाढम् आकर्णकृष्टम्, आततज्यम् धनुः, युधि, अभितः, सुजैत्रान्, निशितान्, यान्, बाणान्, असूत, तैः, सुरारेः, सायकाः, सहसा बिभिदिरे ॥ २२ ॥

भाषार्थ—तब युद्धक्षेत्र में कामशत्रु शिव के पुत्र कुमार ने पूरी शक्ति के साथ धनुष की डोरी को कान तक खींच कर चारों ओर जिन तीखे और जीतने वाले बाणों की वर्षा की उन्होंने सहसा देवशत्रु तारकासुर के सभी बाणों को काट कर साफ कर दिया ॥ २२ ॥

रेजे सुरारिशरदुर्दिनके निरस्ते
सद्यस्तरां निखिलखेचरखेदहेतौ ।
देवः प्रभाप्रभुरिव स्मरशत्रुसूनुः
प्रद्योतनः सुघनदुर्धरधामधामा ॥ २३ ॥

अन्वयः—निखिलखेचरखेदहेतौ, सुरारिशरदुर्दिनके, सद्यस्तराम्, निरस्ते, (सति) सुघनदुर्धरधामवामा, प्रद्योतनः, स्मरशत्रुसूनुः, प्रभाप्रभुः, इव, देवः, रेजे ॥ २३ ॥

भाषार्थ—संपूर्ण सूर्य आदि आकाशचारियों को कष्ट पहुँचाने वाली देवशत्रु तारक के बाणों की घटा के शीघ्र ही फट जाने पर अत्यंत घने तथा असह्य तेज से प्रकाशित होने वाले सूर्य के समान कुमार कार्तिकेय अत्यंत सुशोभित हो उठे ॥२३॥

तत्राथ दुःसहतरं समरे तरस्वी
धामाधिकं दधति धीरतरं कुमारे ।
मायामयं समरमाशु महासुरेन्द्रो
मायाप्रचारचतुरो रचयाञ्चकार ॥ २४ ॥

अन्वयः—अथ, तत्र, कुमारे, धीरतरम्, धाम, अधिकम्, दुःसहतरम्, दधति, (सति) समरे, तरस्वी, महासुरेन्द्रः, मायामयम्, समरम्, आशुरचयाञ्चकार, (यतः) मायाप्रचारचतुरः ॥ २४ ॥

भाषार्थ—उस युद्ध में कुमार के इस प्रकार असह्य एवं अत्यंत प्रबल तेज धारण करने पर अत्यंत तेजस्वी एवं कपट-विद्या से युद्ध करने में चतुर तारकासुर ने शीघ्र ही मायामय युद्ध करना प्रारम्भ किया ॥ २४ ॥

अह्नाय कोपकलुषो विकटं विहस्य
व्यर्थां समर्थ्य वरशस्त्रयुधं कुमारे ।

जिष्णुर्जगद्विजयदुर्ललितः सहेलं
वायव्यमस्त्रमसुरो धनुषि न्यधत्त ॥ २५ ॥

अन्वयः—जिष्णुः, जगद्विजयदुर्ललितः (तथा), कोपकलुषः, असुरः, त्रिकटम् विहस्य (तथा), कुमारे, वरशस्त्रयुधम् , व्यर्थाम् , समर्थ्य, सहेलम् , वायव्यम् , अस्त्रम् , अह्नाय, धनुषि, न्यधत्त ॥ २५ ॥

भाषार्थ—खिलवाड़ हो खिलवाड़ में विश्व को जीतने में महान पराक्रमी तारकासुर कुमार के साथ अन्य श्रेष्ठ शस्त्रों से युद्ध करना व्यर्थ समझ कर अत्यंत ताव में आ गया और उसने शीघ्र ही अपने धनुष पर वायव्य नाम का अस्त्र चढ़ा लिया ॥ २५ ॥

सन्धानमात्रमपि यस्य युगान्तकाल-
भूतभ्रमं परुषभीषणघोरघोषः ।
उद्धूतधूलिपटलैः पिहिताम्बराशः
प्रच्छन्नचण्डकिरणो व्यसरत्समीरः ॥ २६ ॥

अन्वयः—यस्य, सन्धानमात्रम् , अपि, युगान्तकालभूतभ्रमम् , परुषभीषण-घोरघोषः, उद्धूतधूलिपटलैः, पिहिताम्बराशः (तथा), प्रच्छन्नचण्डकिरणः, समीरः, व्यसरत् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—उस बाण के धनुष पर चढ़ाते ही अत्यंत कठोर और भीषण ध्वनि करती हुई एक ऐसी प्रचंड आंधी उठ खड़ी हुई कि सभी को प्रलयकाल का भ्रम होने लगा, उड़ी हुई धूल से आकाश ढँक गया और प्रचण्ड किरणों वाला सूर्य भी छिप गया ॥ २६ ॥

कुन्दोज्ज्वलानि सकलातपवारणानि
धूतानि तेन मरुता सुरसैनिकानाम् ।
उड्डीयमानकलहंसकुलोपमानि
मेघाभधूलिमलिने नभसि प्रसस्रुः ॥ २७ ॥

अन्वयः—कुन्दोज्ज्वलानि, तेन, मरुता, धूतानि, उड्डीयमानकलहंसकुलोपमानि, सुरसैनिकानाम् , सकलातपवारणानि, मेघाभधूलिमलिने, नभसि, प्रसस्रुः ॥२७॥

भाषार्थ—उस आंधी द्वारा उड़ाए गए सुरसैनिकों के कुन्द-पुष्प जैसे उजले छत्र बादल के समान धूल से भरे हुए आकाश में उड़ते हुए राजहंस के समान प्रतीत होने लगे ॥ २७ ॥

विध्वस्य तेन सुरसैन्यमहापताका
नीता नभस्थलमलं नवमल्लिकाभाः ।
स्वर्गापगाजलमहौघसहस्रलीलां
व्यातेनिरे दिवि सिताम्बरकैतवेन ॥ २८ ॥

अन्वयः––तेन, अलम्, विध्वस्य, नभःस्थलम्, नीताः, (तथा), नवमल्लिकाभाः, सुरसैन्यमहापताकाः, सिताम्बरकैतवेन, स्वर्गापगाजलमहौघसहस्रलीलाम्, दिवि, व्यातेनिरे ॥ २८ ॥

भावार्थ—उस आँधी ने नवीन चमेली की तरह उजली देवसेना की पताकाओं को छिन्न-भिन्न करके आकाश में उड़ा दिया और आकाश में उड़ती हुई सफेद कपड़ों वाली पताकाओं के बहाने मानो उसने आकाश-गंगा की उछलती हुई हजारों लहरों को बिखेर दिया ॥ २८ ॥

धूतानि तेन सुरसैन्यमहागजानां
सद्यः शतानि विधुराणि दलत्कुथानि ।
पेतुः क्षितौ कुपितवासववज्रलून-
पक्षस्य भूधरकुलस्य तुलां वहन्ति ॥ २९ ॥

अन्वयः—तेन, धूतानि, विधुराणि, दलत्कुथानि, कुपितवासववज्रलूनपक्षस्य, भूधरकुलस्य, तुलाम्, वहन्ति, सुरसैन्यमहागजानाम्, शतानि, सद्यः, क्षितौ, पेतुः ।२९।

भावार्थ––उस आँधी द्वारा उड़ाए गए अतः अस्त-व्यस्त, सुरसेना के हाथियों के मसले हुए सैकड़ों झूल तत्काल ही पृथ्वी पर गिरते हुए ऐसे प्रतीत होने लगे मानों क्रुद्ध इन्द्र के वज्र से कटे हुए पहाड़ों के पंख पृथ्वी पर गिर रहे हों ॥ २९ ॥

तास्ताः खरेण मरुता रथराजयोऽपि
दोधूयमान-निपतिष्णु-तुरङ्गमाश्च ।
विस्रस्तसारथिकुलप्रवराः समन्ताद्-
व्यावृत्य पेतुरवनौ सुरवाहिनीनाम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—तास्ताः, सुरवाहिनीनाम्, रथराजयः, अपि, खरेण, मरुता, दोधूयमाननिपतिष्णुतुरङ्गमाः, च, विस्रस्तसारथिकुलप्रवराः, समन्तात्, व्यावृत्य, अवनौ, पेतुः ॥ ३० ॥

भावार्थ—उस प्रचण्ड आँधी के कारण देवसेना के रथों की पंक्तियाँ भी

इतनी झकझोर उठीं कि उसमें लगे हुए घोड़े लड़खड़ा कर गिरने लगे, और सारथी भी इधर-उधर पृथ्वी पर गिर कर चारों ओर बिखर गए ॥ ३० ॥

हित्वायुधानि सुरसैन्यतुरङ्गवाहा
वातेन तेन विधुराः सुरसैन्यमध्ये ।
शस्त्राभिघातमनवाप्य निपेतुरुर्व्यां
स्वीयेषु वाहनवरेषु पतत्सु सत्सु ॥ ३१ ॥

अन्वयः—तेन, वातेन, विधुराः, सुरसैन्यतुरङ्गवाहाः, सुरसैन्यमध्ये, आयुधानि, हित्वा, स्वीयेषु, वाहनवरेषु, पतत्सु, सत्सु, शस्त्राभिघातम्, अनवाप्य, उर्व्याम्, निपेतुः ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—उस अन्धड़ से घबड़ाए हुए सुरसेना के घुड़सवार अपनी ही सेना के ऊपर अपने हथियार फेंकने लगे और पृथ्वी पर लुढ़कते हुए अपने घोड़ों की पीठ से बिना किसी हथियार की चोट खाए ही स्वयं भी पृथ्वी पर गिरने लगे ॥ ३१ ॥

तेनाहतास्त्रिदशसैन्यपदातयोऽपि
स्रस्तायुधाः सुविधुराः परुषं रसन्तः ।
वात्याविवर्तदलवद्भ्रममेत्य दूरं
निष्पेतुरम्बरतलाद्वसुधातलेऽस्मिन् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—तेन, आहताः, स्रस्तायुधाः, सुविधुराः (तथा), परुषम्, रसन्तः, त्रिदशसैन्यपदातयः, अपि, वात्याविवर्तदलवद्, भ्रमम्, दूरम्, एत्य, अम्बरतलात्, अस्मिन्, वसुधातले, निष्पेतुः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—सुरसेना के पैदल सैनिक भी उस आँधी की चपेट में व्याकुल होकर अपने हथियारों को फेंकते हुए बड़ी जोर से चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगे और बवन्डर के समान चक्कर खाते हुए दूर-दूर तक आसमान में उड़ उड़कर फिर पृथ्वी पर आकर गिरने लगे ॥ ३२ ॥

इत्थं विलोक्य सुरसैन्यमथो अशेषं
दैत्येश्वरेण विधुरीकृतमस्त्रयोगात् ।
स्वर्लोकनाथकमलाकुशलैकहेतु-
र्दिव्यं प्रभावमतनोदतनुः स देवः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अथो, अतनुः, सः, देवः, अशेषम्, सुरसैन्यम्, दैत्येश्वरेण, इत्थम्,

अस्त्रयोगात्, विधुरीकृतम्, विलोक्य, दिव्यम्, प्रभावम्, अतनोत् (यतः), स्वर्लोकनाथकमलाकुशलैकहेतुः ।। ३३ ।,

भावार्थ—तारकासुर द्वारा चलाए गए वायव्यास्त्र के प्रभाव से देवसेना को इस प्रकार पूर्णतः नष्ट-भ्रष्ट होते देख कर इन्द्र की राज्यलक्ष्मी के कल्याण के एकमात्र कारण भगवान् कार्तिकेय ने अपने महान् और अनोखे प्रभाव का विस्तार करना प्रारम्भ किया ।। ३३ ।।

तेनोज्झितं सकलमेव सुरेन्द्रसैन्यं
स्वास्थ्यं प्रपद्य पुनरेव युधि प्रवृत्तम् ।
दृष्ट्वासृजद्दहनदैवतमस्त्रमिद्ध-
मुद्दीप्तकोपदहनः सहसा सुरारिः ।। ३४ ।।

अन्वयः—तेन, सकलम्, एव, उज्झितम्, सुरेन्द्रसैन्यम्, स्वास्थ्यम्, प्रपद्य, पुनः, युधि, एव, प्रवृत्तम्, दृष्ट्वा, उद्दीप्तकोपदहनः, सुरारिः, सहसा, इद्धम्, दहनदैवतम्, अस्त्रम्, असृजत् ।। ३४ ।।

भावार्थ—स्वामिकार्तिकेय ने सम्पूर्ण सुरसेना को उस वायव्यास्त्र से छुटकारा दिला कर उसे स्वस्थ बना दिया और फिर सभी सेना को युद्ध करने में तल्लीन कर दिया । इसे देखते ही देवशत्रु तारकासुर ने क्रोध में जलभुन कर तत्काल ही अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि बाण चला दिया ।। ३४ ।।

वर्षातिकालजलदद्युतयो नभोन्ते
गाढान्धकारितदिशो घनधूमसङ्घाः ।
सद्यः प्रसस्रुरसितोत्पलदामभासो
दृग्गोचरत्वमखिलं न हि सन्नयन्तः ।। ३५ ।।

अन्वयः– वर्षातिकालजलदद्युतयः, असितोत्पलदामभासः, गाढान्धकारितदिशः, घनधूमसङ्घाः, अखिलम्, दृग्गोचरत्वम्, नहि, सन्नयन्तः, सद्यः, प्रसस्रुः ।। ३५ ।।

भावार्थ—तत्काल ही आकाश में वर्षाऋतु के समय दिखाई पड़ने वाले काले काले बादलों तथा नील कमलों के झुण्ड के समान काला धुँआ चारों ओर इतने घने रूप में फैल गया कि चारों ओर कहीं भी कुछ नहीं दिखाई पड़ता था ।। ३५ ।।

दिक्चक्रवालगिलनैर्मलिनैस्तमोभि-
र्लिप्तं नभःस्थलमलं घनवृन्दसान्द्रैः ।
धूमैर्विलोक्य मुदिताः खलु राजहंसा
गन्तुं सरः सपदि मानसमीषुरुच्चैः ।। ३६ ।।

अन्वयः—दिक्चक्रवालगिलनैः (तथा), मलिनैः (अत, एव), घनवृन्दसान्द्रैः, धूमैः, तमोभिः, अलम्, लिप्तम्, नभःस्थलम्, विलोक्य, मुदिताः, राजहंसाः, सरदि, उच्चैः, मानसम्, सरः, गन्तुम्, ईषुः, खलु ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—अत्यन्त घने बादलों के समान सम्पूर्ण दिशाओं को निगल जाने वाला काला अन्धकार जब सम्पूर्ण आकाश-मंडल में व्याप्त हो गया तो राजहंसों को वर्षा ऋतु का भ्रम हो गया और वे प्रसन्न मन से मानसरोवर की यात्रा के लिए तैयार हो गए ॥ ३६ ॥

जज्वाल वह्निरतुलः सुरसैनिकेषु
कल्पान्तकालदहनप्रतिमः समन्तात् ।
आशामुखानि विमलान्यखिलानि कीला-
जालैरलं कपिलयन्सकलं नभोऽपि ॥ ३७ ॥

अन्वयः—कल्पान्तकालदहनप्रतिमः (तथा), अतुलः, वह्निः, कीलाजालैः, अखिलानि, विमलानि, आशामुखानि (तथा), सकलम्, नभः, अपि, अलम्, कपिलयन्, सुरसैनिकेषु, समन्तात्, जज्वाल ॥ ३७ ॥

भावार्थ—इतने ही में देवसेना के भीतर चारों ओर प्रलयकाल की अग्नि प्रज्वलित हो उठी कि उसकी फैलती हुई लपलपाती लपटों से सारा आकाश और दिशाएँ पीली हो उठीं ॥ ३७ ॥

उज्जागरस्य दहनस्य निरर्गलस्य
ज्वालावलीभिरतुलाभिरनारताभिः ।
कीर्णं पयोदनिवहैरिव धूमसङ्घै-
र्व्योमाभ्यलक्ष्यत कुलैस्तडितामिवोच्चैः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—उज्जागरस्य, निरर्गलस्य, दहनस्य, अतुलाभिः अनारताभिः, ज्वालावलीभिः, (तथा) पयोदनिवहैः, इव, धूमसङ्घैः (व्याप्तम्), व्योम, उच्चैः तडिताम्, कुलैः कीर्णम्, इव, अभ्यलक्ष्यत ॥ ३८ ॥

भावार्थ—धधक-धधक कर बेरोक-टोक जलती हुई आग की निरन्तर उठने वाली बड़ी बड़ी लपटों और ऊपर फैलते हुए धुएँ से आकाश इस प्रकार भर गया मानो वह अत्यन्त घनी घटाओं और बड़ी-बड़ी बिजलियों से भर गया हो ॥ ३८ ॥

गाढाद्भयाद्द्वियति विद्रुतखेचरेण
दीप्तेन तेन दहनेन सुदुःसहेन ।

दन्दह्यमानमखिलं सुरराजसैन्य-
मत्याकुलं शिवसुतस्य समीपमाप ॥ ३९ ॥

अन्वयः—गाढाद्, भयात्, वियति, विद्रुतखेचरेण, दीप्तेन, सुदुःसहेन, तेन, दहनेन, दन्दह्यमानम्, अत्याकुलम्, अखिलम्, सुरराजसैन्यम्, शिवसुतस्य, समीपम्, आप ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—उस भयानक धधकती हुई आग से भयभीत होकर सूर्यादि ग्रह भी आकाश में इधर-उधर भागने लगे और बुरी तरह जलती हुई देवताओं की सेना अत्यन्त व्याकुल होकर फिर शङ्कर जी के पुत्र कार्तिकेय के पास पहुँची ।३९।

इत्यग्निना घनतरेण ततोऽभिभूतं
तद्देवसैन्यमखिलं विकलं विलोक्य ।
सस्मेरवक्त्रकमलोऽन्धकशत्रुसूनु-
र्बाणासनेन समधत्त स वारुणास्त्रम् ॥ ४० ॥

अन्वयः—ततः, सः, अन्धकशत्रुसूनुः, इति, घनतरेण, अग्निना, अभिभूतम्, अखिलम्, तत्, देवसैन्यम्, विकलम्, विलोक्य, सस्मेरवक्त्रकमलः, बाणासनेन, वारुणास्त्रम्, समधत्त ॥ ४० ॥

भाषार्थ—उस भयंकर आग से जली हुई सारी देवसेना को व्याकुल देखकर मुसकराते हुए मुख-कमल वाले कार्तिकेय ने अपने धनुष पर वारुणास्त्र (पानी बरसाने वाला अस्त्र विशेष) चढ़ा लिया ॥ ४० ॥

घोरान्धकारनिकरप्रतिमो युगान्त-
कालानलप्रबलधूमनिभो नभोन्ते ।
गर्जारवैर्विघटयन्नवनीधराणां
शृङ्गाणि मेघनिवहो घनमुज्जगाम ॥ ४१ ॥

अन्वयः—घोरान्धकारनिकरप्रतिमः, युगान्तकालानलप्रबलधूमनिभः, गर्जारवैः, अवनीधराणाम्, शृङ्गाणि, विघटयन्, मेघनिवहः, नभोऽन्ते, घनम्, उज्जगाम ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—घने अन्धकार के तथा प्रलय की अग्नि से उठने वाले धुएँ के समान काली काली घटाएँ आकाश में चारों ओर घूमने लगीं जिनकी गड़गड़ाहट से पहाड़ों की चोटियों तक में दरारें पड़ने लगीं ॥ ४१ ॥

विद्युल्लता वियति वारिदवृन्दमध्ये
गम्भीरभीषणरवैः कपिशीकृताशा ।

घोरा युगान्तचलितस्य भयङ्कराऽथ
कालस्य लोलरसनेव चमच्चकार ॥ ४२ ॥

अन्वयः—अथ, वियति, गम्भीरभीषणरवैः, कपिशीकृताशा, युगान्तचलितस्य, कालस्य, भयङ्करा, लोलरसना, इव, घोरा, विद्युल्लता, वारिदवृन्दमध्ये, चमच्चकार ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—आकाश में उन बादलों के बीच भयानक गड़गड़ाहट के साथ सभी दिशाओं को पीली बना देने वाली बिजली चमकते समय ऐसी प्रतीत होने लगी मानो प्रलयकाल में काल की लपलपाती हुई भयंकर जीभ दिखाई दे रही हो ॥ ४२ ॥

कादम्बिनी विरुरुचे विषकण्ठिकाभि-
रुत्तालकालरजनीजलदावलीभिः ।
व्योम्न्युच्चकैरचिररुक्परिदीपिताशा
दृष्टिच्छदा विषमघोषविभीषणा च ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अचिररुक्परिदीपिताशा (तथा), दृष्टिच्छदा (तथा), विषमघोषविभीषणा, च, उच्चकैः व्योम्नि, विषकण्ठिकाभिः, उत्तालकालरजनीजलदावलीभिः, कादम्बिनी, विरुरुचे ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—बिजली की चमक से भी दिशाओं में चकाचौंध उत्पन्न कर देने वाली भयंकर गड़गड़ाहट से भरी हुई, प्रलयकाल की रात्रि के भीषण बादलों के समान काली एवं जल से भरी हुई घटाएँ आकाश में घिरकर इतना अंधकार फैलाने लगीं कि आंखों से कुछ भी दिखायी पड़ना कठिन हो गया ॥ ४३ ॥

व्योम्नस्तलं पिदधतां ककुभां मुखानि
गर्जारवैरविरतैस्तुदतां मनांसि ।
अम्भोभृतामतितरामनणीयसीभि-
र्धारावलीभिरभितो ववृषे समूहैः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—व्योम्नः, तलम्, ककुभाम् मुखानि, पिदधताम्, अविरतैः, गर्जारवैः, मनांसि, तुदताम्, अम्भोभृताम्, समूहैः, अनणीयसीभिः, धारावलीभिः' अभितः, अतितराम्, ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—सम्पूर्ण आकाशमंडल तथा दिशाओं पर पर्दा डाल देने वाली और निरन्तर घनघोर गर्जन से लोगों के मन को दहला देने वाली घटाएँ मूसलाधार वर्षा करने लगीं ॥ ४४ ॥

घोरान्धकारपटलैः पिहिताम्बराणां
गम्भीरगर्जनरवैर्व्यथितासुराणाम् ।
वृष्ट्या तया जलमुचां वरुणास्त्रजानां
विश्वोदरम्भरिरपि प्रशशाम वह्निः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—घोरान्धकारपटलैः, पिहिताम्बराणाम्, गम्भीरगर्जनरवैः, व्यथितासुराणाम्, वरुणास्त्रजानाम्, तया, जलमुचाम्, वृष्ट्या, विश्वोदरम्भरिः, अपि, वह्निः, प्रशशाम ॥ ४५ ॥

भावार्थ—समस्त आकाश को घने अन्धकार से ढक लेने वाली तथा अपनी गम्भीर गर्जन से दैत्यों को कँपा देने वाली कार्तिकेय के वरुणास्त्र से उत्पन्न उन भयंकर बादलों की वर्षा से समस्त संसार में फैली हुई वह आग बुझ गयी ॥४५॥

दैत्योऽपि रोषकलुषो निशितैः क्षुरप्रै-
राकर्णकृष्टधनुरुत्पतितैः स भीमैः ।
तद्भीतिविद्रुतसमस्तसुरेन्द्रसैन्यो
गाढं जघान मकरध्वजशत्रुसूनुम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—रोषकलुषः, सः, दैत्यः अपि, निशितैः, भीमैः, आकर्णकृष्टधनुरुत्पतितैः, क्षुरप्रैः, तद्भीतिविद्रुतसमस्तसुरेन्द्रसैन्यः, गाढम्, मकरध्वजशत्रुसूनुम्, जघान ॥ ४६ ॥

भावार्थ—तब तारकासुर ने क्रोध से लाल होकर कान तक खिची हुई धनुष से अत्यंत तीखे और चमचमाते हुए छुरों वाले बाण बरसाते हुए समस्त देवसेना को डरा कर तितर-बितर कर दिया और कार्तिकेय पर भी वह भयंकर मार करने लगा ॥ ४६ ॥

देवोऽपि दैत्यविशिखप्रकरं सचापं
बाणैश्चकर्त कणशो रणकेलिकारी ।
योगीव योगविधिशुष्कमना यमाद्यैः
सांसारिकं विषयसङ्घममोघवीर्यम् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—रणकेलिकारी, देवः, अपि, बाणैः सचापम्, दैत्यविशिखप्रकरम्, योगविधिशुष्कमनाः, योगी, यमाद्यैः, अमोघवीर्यम्, सांसारिकम्, विषयसङ्घम्, इव, कणशः, चकर्त ॥ ४७ ॥

भावार्थ—स्वामिकार्तिकेय ने भी खेल ही खेल में तारकासुर के चलाये गये सभी बाणों को उसके धनुष के साथ ही उसी प्रकार काट काट कर छोटे-छोटे

टुकड़े बना दिए जैसे योगी लोग यम-नियम आदि योग की विधियों से अत्यंत तेजस्वी सांसारिक विषयों को मिटा डालते हैं ॥ ४७ ॥

भ्रूभङ्गभीषणमुखोऽसुरचक्रवर्ती
सन्दीप्तकोपदहनोऽथ रथं विहाय ।
क्रीडत्करालकरवालकरोऽसुरेन्द्र-
स्तं प्रत्यधावदभितस्त्रिपुरारिसूनुम् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—अथ, दीप्तकोपदहनः, भ्रूभङ्गभीषणमुखः, असुरचक्रवर्ती, असुरेन्द्रम्, रथम्, विहाय, क्रीडत्करालकरवालकरः, तम्, त्रिपुरारिसूनुम्, अभितः, प्रत्यधावत् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—यह देख कर चक्रवर्ती दैत्यसम्राट् तारकासुर की भौंहें टेढ़ी हो गयीं, वह क्रोध से लाल हो उठा और उसका मुख अत्यंत भयङ्कर हो उठा । वह हाथों मे लपलपाती हुई तलवार लेकर रथ को छोड़ कर कार्तिकेय के ऊपर झपट पड़ा ॥ ४८ ॥

अभ्यापतन्तमसुराधिपमीशपुत्रो
दुर्वारबाहुविभवं सुरसैनिकैस्तम् ।
दृष्ट्वा युगान्तदहनप्रतिमां मुमोच
शक्तिं प्रमोदविकसद्वदनारविन्दः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—सुरसैनिकैः, दुर्वारबाहुविभवम्, तम् असुराधिपम्, अभ्यापतन्तम्, दृष्ट्वा, ईशपुत्रः, प्रमोदविकसद्वदनारविन्दः, युगान्तदहनप्रतिमाम्, शक्तिम्, मुमोच ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—देवताओं के सैनिकों से रोके न जा सकने वाले अपार बाहु बली तारकासुर को अपनी ओर झपटते हुए देखकर कार्तिकेय जी प्रसन्न हो उठे और उन्होंने प्रलयकाल की अग्नि के समान भयंकर भाला फेंक कर उसे मारा ॥४९॥

उद्द्योतिताम्बरदिगन्तरमंशुजालैः
शक्तिः पपात हृदि यस्य महासुरस्य ।
हर्षाश्रुभिः सह समस्तदिगीश्वराणां
शोकोष्णबाष्पसलिलैः सह दानवानाम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—(सा) शक्तिः, समस्तदिगीश्वराणाम्, हर्षाश्रुभिः, सह, दानवानाम्, शोकोष्णबाष्पसलिलैः, सह, अंशुजालैः उद्योतिताम्बरदिगन्तरम्, तस्य, महासुरस्य, हृदि, पपात ॥ ५० ॥

भावार्थ—अपनी चमक से सभी दिशाओं तथा आकाश को चमचमा देने वाला वह भाला तारकासुर के हृदय पर जा लगा। उसके लगते ही देवताओं की आँखों से हर्ष तथा राक्षसों की आँखों से दुःख के आँसू बहने लगे ॥ ५० ॥

शक्त्या हृतासुमसुरेश्वरमापतन्तं
कल्पान्तवातहतभिन्नमिवाद्रिशृङ्गम् ।
दृष्ट्वा प्ररूढपुलकाञ्चितचारुदेहा
देवाः प्रमोदमगमंस्त्रिदशेन्द्रमुख्याः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—शक्त्या, हृतासुम्, असुरेश्वरम्, कल्पान्तवातहतभिन्नम्, अद्रिशृङ्गम्, इव, आपतन्तम्, दृष्ट्वा, प्ररूढपुलकाञ्चितचारुदेहाः, त्रिदशेन्द्रमुख्याः, देवाः, प्रमोदम्, अगमन् ॥ ५१ ॥

भावार्थ—प्रलयकाल की आँधी से टूट कर गिरे हुए पहाड़ की चोटी के समान भाले की चोट से मरकर गिरे हुए तारकासुर को देखकर इन्द्र आदि देवता उछल पड़े और उनके रोएँ-रोएँ फरकने लगे ॥ ५१ ॥

यत्रापतत्स दनुजाधिपतिः परासुः
संवर्तकालनिपतच्छिखरीन्द्रतुल्यः ।
तत्रादधात्फणिपतिर्धरणीं फणाभि-
स्तद्भूरिभारविधुराभिरधो व्रजन्तीम् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—परासुः, संवर्तकालनिपतच्छिखरीन्द्रतुल्यः, सः, दनुजाधिपतिः, यत्र, अपतत्, तत्र, फणिपतिः, अधः, व्रजन्तीम्, धरणीम्, तद्भूरिभारविधुराभिः, फणाभिः, अदधात् ॥ ५२ ॥

भावार्थ—प्रलयकालीन आँधी से टूट कर गिरे हुए पहाड़ के समान तारकासुर मर कर जिस स्थान पर गिरा वहाँ की धरती उसके भारी बोझ से दब कर नीचे धँस गई। उस समय शेषनाग ने धरती को अपने फणों पर बड़ी कठिनाई से सँभाला ॥ ५२ ॥

स्वर्गापगासलिलसीकरिणी समन्तात्-
सौरभ्यलुब्धमधुपावलिसेव्यमाना ।
कल्पद्रुमप्रसववृष्टिरभून्नभस्तः
शम्भोः सुतस्य शिरसि त्रिदशारिशत्रोः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—त्रिदशारित्रोः, शम्भोः, सुतस्य, शिरसि, नभस्तः, स्वर्गापगा-

सलिलसीकरिणी, सौरभ्यलुब्धमधुपावलिसेव्यमाना, कल्पद्रुमप्रसववृष्टिः, समन्तात्, अभूत् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—उस समय आकाश-गंगा के जल की फुहारों से भरे तथा सुगन्ध के लोभी भौंरों से ढके हुए कल्पवृक्ष के फूल आकाश से स्वामिकार्तिकेय के मस्तक पर बरसने लगे ॥ ५३ ॥

पुलकभरविभिन्नवारबाणा भुजविभवं बहु तारकस्य शत्रोः ।
सकलसुरगणा महेन्द्रमुख्याः प्रमदमुखच्छविसम्पदोऽभ्यनन्दन् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—प्रमदमुखच्छविसम्पदः, पुलकभरविभिन्न वारबाणाः, महेन्द्रमुख्याः, सकलसुरगणाः, बहु, तारकस्य, शत्रोः, भुजविभवम्, अभ्यनन्दन् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—आनन्द की अधिकता से देवताओं के मुख प्रसन्न हो उठे। वे हर्ष से इतने फूल उठे कि उनकी छाती पर कसे हुए कवच तड़तड़ा कर टूटने लगे। इस प्रकार आनन्द से मतवाले इन्द्र आदि देवता तारकासुर को मारने वाले कार्तिकेय के पास आकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ५४ ॥

इति विषमशरारेः सूनुना जिष्णुनाजौ
त्रिभुवनवरशल्ये प्रोद्धृते दानवेन्द्रे ।
बलरिपुरथ नाकस्याधिपत्यं प्रपद्य
व्यजयत सुरचूडारत्नघृष्टाग्रपादः ॥ ५५ ॥

इति महाकविकालिदासकृतौ कुमारसम्भवे महाकाव्ये
तारकासुरवधो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

अन्वयः—जिष्णुना, विषमशरारेः, सूनुना, त्रिभुवनवरशल्ये, दानवेन्द्रे, इति, प्रोद्धृते, अथ, बलरिपुः, नाकस्य,, आधिपत्यम्, प्रपद्य, सुरचूडारत्नघृष्टाग्रपादः (सन्), व्यजयत ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार विजयी कार्तिकेय ने जब समस्त संसार के हृदय में काँटे की भाँति चुभने वाले तारकासुर को मार डाला तब इन्द्र फिर स्वर्ग के स्वामी बन गए। और सभी देवताओं ने अपने-अपने मुकुट की मणियों सहित अपना मस्तक उनके चरणों पर रख कर उन की वन्दना की ॥ ५५ ॥

कालिदासरचित कुमारसंभव महाकाव्य में तारक राक्षस
का वध नाम सत्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—:०:—

श्लोकानुक्रमणिका

	सर्ग.	श्लो.
अ		
अकिञ्चन:	५	७७
अक्षमा	१०	५६
अगूढसद्भाव	५	६२
अङ्काघ	७	५
अङ्गुलिभि:	८	६३
अच्छिन्न	६	६९
अणिमा	६	७५
अत आहर्तुं	६	२८
अतन्द्रिता	५	१४
अत: श्रृणुष्व	११	१२
अतोऽत्र	५	४०
अत्र स्फटिक	६	४२
अत्रान्तर	११	४
अत्रोपपन्नम्	१२	५६
अथ ते मुनय:	६	१५
अथ ते मुनयो	६	४७
अथ तै: परि	४	२५
अथ दिव्याम्	१०	४८
अथ प्रपेदे	१२	१
अथ प्रयाण	१५	१३
अथ मदनवधू	४	४६
अथ मोहपरा	४	१
अथ वा	६	२४
अथ मौलिगत	६	२५
अथ सर्वस्य	२	३
अथ स ललित	२	६४
अथ सा	४	४
अथ विबुध	७	९४
अथ विश्वात्मने	६	१
अथ व्रजद्भि:	१३	७
अथाऽग्रहस्ते	५	६३
अथाङ्गिर	६	६५
अथाङ्गुलिभ्या	७	२३
अथाऽजिना	५	३०
अथादितीन्द्र	१३	४९
अथाऽनुरूपा	५	७
अथानोन्यम्	१६	१
अथाभिपृष्ठम्	१९	२३
अथाभ्युपेत:	१०	३५
अथाऽत्रमानेन	१	२१
अथाह	१२	३४
अथाह देवी	१	६
अथाह वर्णी	५	६५
अथति	११	१५
अथेन्द्र	१४	७
अथेन्द्रिय	३	६९
अथोपनिन्ये	३	६५
अथोरुदेशात्	३	११
अथोष्ण	९	१५
अथौषधीनाम्	७	१
अद्यप्रभृति	६	५६
अद्य प्रभृत्यव	५	८६
अद्रिराजतनये	८	४७
अधस्त	१४	२१
अध:प्रस्थापित	६	७
अधिष्ठित:	११	३१
अध्यापितस्यो	३	६
अनतिक्रमणी	१०	६
अनन्तरत्न	१	३
अनन्य	१२	३८
अनन्यभाजम्	३	६३
अनर्घ्यमर्घ्येण	१	५८
अनेकलोकै	१२	३०
अनेन धर्म:	५	३८
अनेन सम्ब	७	६८
अन्तश्चर:	१०	२१
अ त:	९	३१
अन्येऽपि	१४	१३
अन्योन्यमुत्	१	४०
अन्योन्यम्	१६	४८
अपमेघोदयम्	६	५४
अपारे	१६	२५
अपि क्रियार्थम्	५	३३
अपि त्वदा	५	३४
अपि प्रसन्नम्	५	३५
अपीति पश्य	१५	२५
अभिगौरि	१०	७

	सर्ग.	श्लो.
अभितः	१६	२१
अभिलाषम्	४	४१
अभ्यर्थमाना	११	१
अभ्यापतन्	१७	४९
अभ्युन्नता	१	३३
अभ्रलिहैः	१५	३५
अमी च	२	२४
अमी हि वीर्यं	३	१५
अमीषाम्	१०	२३
अमुना ननु	४	२९
अमुनैव कषा	४	२४
अमोघम्	१०	५७
अयाचित	५	२२
अयाचितारम्	१	५२
अयि जीवित	४	३
अयि सम्प्रति	४	२८
अयुक्तरूपम्	५	६९
अरण्यबीजा	५	१५
अरिष्टन्	१५	२६
अर्घाचिता	७	६१
अलकाम्	६	३७
अलक्तकम्	९	२७
अलभ्यशोका	५	४३
अलं विवादेन	५	८२
अलिपङ्क्ति	४	१५
अवगम्य	४	१३
अवचितबलि	१	६०
अवधानपरे	४	२
अवस्तुनिर्बन्ध	५	६६

	सर्ग.	श्लो.
अवष्टिसंर	३	४८
अवैमि	६	५७
अवैमि ते	३	१३
अवैमि सौभाग्य	५	४९
अशेष	११	२४
अशेषविश्व	११	१४
अशोकनिर्भ	३	५३
असम्पदः	५	८०
असम्भृतं	१	३१
असम्मतः	३	५
असह्य	५	५४
असि त्वमेको	९	७
असुर	१२	५९
असूत	१	२०
असूत सद्यः	३	२६
अस्तोतुः	६	८३
अस्त्युत्तरस्यां	१	१
अहमेत्य	४	२०
अहेतु	११	४३
अहो अहो	१२	५४
अहो ततः	१२	४८
अहो बतानन्द	१२	३५
अहो ! स्थिरः	५	४७
अह्नाय	१७	२५
आ		
आक्रान्त	१४	४९
आक्षिप्ता	१६	३३
आक्षिप्य	१६	३६
आखण्डितम्	७	७८

	सर्ग.	श्लो.
आगामि	१५	१४
आज्ञापय	३	३
आत्मानमा	२	१०
आत्मानमालो	७	२२
आप्लुताः	६	५
आमेखलम्	१	५
आर्द्रकेसर	८	७६
आर्याऽपि	६	३२
आलोकमार्गम्	७	५७
आलोचनान्तम्	७	८४
आवर्जित	२	२६
आवर्जिता	३	५४
आविर्भवद्	१३	४०
आविशद्भिः	८	३८
आशंसता	३	१४
आसक्त	६	८
आससाद	१०	१
इ		
इयं च तेऽन्या	५	७०
इयं महेन्द्र	५	५३
इयेष सा	५	२
इच्छाविभूत्योः	७	२९
इतः स दैत्यः	२	५५
इतस्ततः	१२	४
इतस्ततो	१४	४६
इति क्रमेण	१४	२५
इति गिरितनु	९	५२
इति चाऽपि	४	३७
इति चाह स	४	४३

	सर्ग.	श्लो.
इति चैनमुवा	४	२७
इति तेभ्यः	२	१६
इति देहविमु	४	३९
इति द्विजातो	४	७४
इति ध्रुवेच्छा	५	५
इति प्रबद्धा	१२	२७
इति प्रभो	९	१०
इति प्रविष्या	५	५१
इति बहुविधं	११	५०
इति विषम	१७	५५
इति व्याहृत्य	२	६२
इति श्रुत्वा	१०	१५
इति सुररिपुः	१६	५१
इतीरयति	१५	४३
इतीरिते	१२	४२
इतो गमिष्या	५	८४
इत्यमाराध्य	२	४०
इत्थम्	१३	१६
इत्थम् महेशा	११	३९
इत्थं रतेः	४	४५
इत्थं विधिज्ञेन	७	८६
इत्थं विलोक्य	१७	३३
इत्थं शिशोः	११	४९
इत्थं सुरेन्द्रे	१२	५३
इत्यग्निना	१७	४०
इत्यद्भुतैकप्रभ	७	३६
इत्यन्धकार	१३	१७
इत्यभीमम्	८	२८
इत्याद्य	१५	३२

	सर्ग.	श्लो.
इत्युक्तवन्तं	१७	१८
इत्युदीर्य	१२	५७
इत्युदीर्यसुता	१०	२७
इत्यूचिवान्	६	६४
इत्यौषधि	७	६९
इदमत्रोत्तरम्	६	८७
ई		
ईप्सितार्थ	६	९०
ईश्वरोऽपि	८	५०
उ		
उच्चैरुच्चैः	२	४७
उज्जागरस्य	१७	३८
उत्कीर्ण	१३	३९
उत्क्षिप्य	१६	३४
उत्तरन्ति	८	३५
उत्तुङ्ग	९	५१
उत्पाट्य	२	४३
उत्साहिताः	१५	५१
उद्घातः	२	१२
उद्दण्ड	१४	१४
उद्दीप्त	१७	८
उद्द्योतित	१७	५०
उन्नत	८	६९
उन्नतेन	६	३०
उन्नतेषु	८	६६
उन्मीलितम्	१	३२
उद्दाम	१३	५
उद्दामदानद्विप	१४	४१
उद्वेजयत्यङ्गु	१	११

	सर्ग.	श्लो.
उपपन्नमिदम	६	६६
उपमानमभूद्	४	५
उपात्तवर्ण	५	५६
उपाददे	७	४१
उपेत्य	१३	३१
उभे एव पक्षे	२	६०
उमाऽपि नीला	३	६२
उमारूपेण	२	५९
उमा वधूः	६	८२
उमास्तन	७	२४
उरुमूलनख	८	८७
उवाच चैनम्	५	८५
ऊ		
ऊर्ध्वी	१५	२४
ऋ		
ऋजुतां नयतः	४	२३
ए		
एकैव मूर्तिः	७	४४
एकैव सत्याम	७	४
एको नव	११	४५
एतदुच्छ्व	८	७०
एतावता	१	३७
एतावदुक्त्वा	६	८९
एते वयम्	६	६३
एतेषु	११	८
एवमालि	८	५
एवमिन्द्रिय	८	२०
एवं त्वमेव	१७	१४
एवं यदात्थ	१	३१

	सर्ग.	श्लो.
एवं वाच्यः	६	३१
एवंवादिनि	६	८४
एष चारुमुखि	८	७३
एष वृक्षशिखरे	८	३६
एहि विश्वात्मने	६	८८
क		
कटुस्वरैः	१५	४१
कण्ठस्य	१	४२
कण्ठस्थली	९	४९
कदाचित्	५	६
कपर्दम्	१२	९
कपर्दि	११	४६
कपालनेत्रान्त	३	४९
कपोलकण्डूः	१	९
कपोलपाल्याम्	९	२१
कम्पेन	७	४६
कल्पवृक्ष	८	६८
कयासि कामिन्	३	८
करालवाचाल	१४	४८
करेण	१६	४०
कर्णान्तिम्	१७	२०
कर्णार्पितो	७	१७
कर्तव्यम्	६	६१
कलितान्योन्य	६	७६
कल्लोलैः	१०	३४
कश्चिदाभ्याग	१६	१९
काठिन्यम्	६	७३
कादम्बिनी	१७	४३
कामस्तु	३	६४
कामेकपत्नी	३	७
कालक्रमेण	१	१९
कालार्दिताना	१२	१५
किमित्यपास्या	५	४४
किमिदम्	२	१९
कियच्चिरम्	५	५०
किरीट	१२	२९
किरीटबद्धा	११	१६
किञ्चाऽयम्	२	२१
किञ्चित्कालम्	११	४८
किञ्चित्प्रकाश	३	४७
किं ब्रूथ	१५	४०
कि येन	६	२३
कुतूहलाद्	१३	२८
कुन्ताः	१६	१६
कुन्दोज्ज्वला	१७	२७
कुबेरगुप्ताम्	३	२५
कुबेरस्य	२	२२
कुले प्रसूतिः	५	४१
कुसुमायुधपत्नि	४	४०
कुसुमास्तरेण	४	३५
कृतवानसि	४	७
कृताऽभिषेकाम्	५	१६
कृशानु	१०	५४
कृशानुरेतस	१०	३८
केचिद्धीरैः	१६	१८
केनाऽभ्यसूया	३	४
केवलं	८	८४
कैतवेन	८	३
कोलाहल	१४	१६
क्रमान्महेन्द्र	९	३५
क्रमेण	१२	३३
क्रियातां कथं	४	२२
क्रुद्धस्य	१६	३८
क्रोधं प्रभो	३	७२
क्रोधाद्	१६	२९
क्वचिद्	११	४२
क्व नु ते हृदयङ्ग	४	२४
क्व नु माम्	४	६
क्लमं ययौ	५	१९
क्लिष्ट	८	८३
क्लृप्तोपचारां	७	८८
क्षितौ	१५	२७
क्षीरोदवलेव	७	२६
क्षुण्णं	१४	१९
ख		
खं प्रसुप्त	८	४३
खड्ग	१६	२६
खड्गाः	१६	१५
खड्गेन	१६	३९
खड्गैः	१६	३५
खातं	१४	२०
खे खेलगामी	७	४९
ग		
गगनाद्	६	४९
गणा नमेरु	१	५५
गणोपनीते	१२	३२
गत एव न ते	४	३०

	सर्ग.	श्लो.
गतश्रियं	१३	३६
गम्भीर	११	३८
गम्भीरभेरी	१४	२७
गर्भंत्वमा	११	१३
गाढाद्भयाद	१७	३९
गामधास्यत्	६	६८
गिरीश	१३	९
गीतान्तरेषु	३	३८
गुरुः प्रगल्भेऽपि	१	५१
गुरुसमीर	१४	५०
गुरोर्नियोगाच्च	३	१७
गुहोऽसुरैः	१५	३४
गृहीताः	१६	१४
गृह्णन्	११	४४
गोप्तारं	२	५२
गङ्गां तद्	१०	२५
गंङ्गातरङ्ग	१२	११
गङ्गावारिणि	१०	३६
गङ्गास्रोतः	६	३८
घ		
घण्टारवैः	१४	४७
घनप्रमोद	१३	१९
घनैर्विलोक्य	१४	३५
घूर्णम्	८	८०
घोरान्धकार	१७	४५
घोरान्धकारपट	१७	४१
च		
चतुष्क	५	६८
चन्द्र	१०	४९

	सर्ग.	श्लो.
चन्द्रपाद	८	६७
चन्द्रं गता	१	४३
चमूप्रभुं	१५	२
चमूरजः	१५	१०
चलच्छिखाग्रो	९	४८
चापैः	१६	१३
चुम्बनाद्	८	१९
चूताङ्कुरास्वाद	३	३२
ज		
जगच्चक्षुषि	१०	४३
जगतः	१०	२२
जगत्रयी	११	१०
जगद्योनिः	२	९
जङ्गमं	६	५८
जज्वाल	१७	३७
जम्भद्विषत्	१७	३
जयाशा	२	४९
जहीन्द्र	१३	२
जातवेदस	१०	३२
जालान्तर	७	६०
जितंसिह	६	३९
ज्ञानप्रदीपेन	१२	४४
ज्वलदग्नि	१६	११
ज्वलद्भिरङ्ग	१५	२१
ज्वलद्भिरुच्चै	१५	२०
ज्वलन्मणि	२	३८
त		
ततः कुमारः	११	४०
ततः कुमारं	१२	२५

	सर्ग.	श्लो.
ततः क्रुधा	१५	५
ततः परम्	६	३५
तरः परामर्ष	३	७१
ततः शरवणे	१०	५९
ततः स कक्षा	१२	६
ततः सुराः	१३	२२
ततः स्वसेवा	९	३३
ततो गणैः	७	४०
ततो गिरीश	१२	४३
ततो भुजङ्गा	३	५९
ततो मन्दा	१	२९
ततो महेन्द्र	१५	४७
ततोऽत्रलेपाद्	१५	४४
ततो व्रजन्	१३	३३
तत्कृता	२	९३
तत्क्षणम्	८	७९
तत्प्रयात	६	३३
तत्र काञ्चन	८	२९
तत्र निश्चित्य	२	६३
तद्गच्छ	३	१८
तद्गौरवान्	७	३१
तद्दन्ति	१३	४१
तद्दर्शनात्	६	१३
तद्व्रत	२	२८
तन्मातरम्	६	९२
तन्मूहूर्त्तम्	८	४८
तपस्विनः	३	३४
तमङ्कम्	१३	४
तमन्वगच्छद्	१४	६

	सर्ग.	श्लो.
तमन्वगि	८	७१
तमभ्यगच्छत्	७	४३
तमर्थमिव	६	७९
तमवेक्ष्य	४	२६
तमातिथेयी	५	३१
तमाशु विघ्नम्	३	७४
तमीक्षमाणा	११	२०
तमृद्धि	७	५२
तमेकदृश्यं	७	६४
तयादुहित्रा	१	२४
तया प्रवृद्धा	७	७४
तया व्याहृता	६	२
तयोः समा	७	७५
तव प्रसादात्	३	१०
तस्मात्प्रदेशात्	७	१२
तस्मिन्नुपायाः	२	४८
तस्मिन्मघोनः	३	१
तस्मिन् मुहूर्त्ते	७	५६
तस्मिन्वने	३	२४
तस्मिन्विप्र	२	१
तस्मिन्सुरा	३	१९
तस्मिन् संयमि	६	३४
तस्मै जयाशीः	७	४७
तस्मै शशंस	३	६०
तस्मै हिमाद्रेः	३	१६
तस्य जातु	८	२५
तस्याकृति	९	५
तस्यात्मा	२	६१
तस्यानुमेने	७	९३
तस्याः	९	२४
तस्याः करम्	७	७६
तस्याः प्रविष्टा	१	३८
तस्याः शलाका	१	४७
तस्याः सखी	३	६१
तस्याः सुजात	७	२०
तस्योपकण्ठे	७	५१
तस्योपायन	२	३७
तं मातरो	७	३८
तं यथात्म	८	१६
तं लोकपालाः	७	४५
तं वीक्ष्य	५	८५
तं वेशमारोपित	३	३५
तं साधु	१३	२०
तत्र माहेश्वरं	१०	३७
तत्र वेत्रासन	६	५३
तत्र हंसधवल	८	८२
तत्राग्निमाधाय	१	५७
तत्राथ	१७	२४
तत्रावतीर्य	७	७०
तत्रेश्वरो	७	७२
तत्स्यन्दनः	१७	१०
तथाऽतितप्तम्	५	२१
तथाऽपि	६	६२
तथाविधं	१२	२२
तथाविधे	९	१
तथा समक्षं	५	१
तथेति शेषा	३	२२
तदङ्ग संसर्ग	५	७९
तदनु ज्वलनं	४	३६
तदागमन	६	७४
तदाप्रभृत्य	५	५५
तदिच्छामो	२	५१
तदिदं क्रिय	४	३२
तदिदं परिरक्ष	४	४४
तदीषदार्द्रा	७	८२
तदीयास्तोय	२	५०
तानर्घ्यान्	६	५०
तानप्रज्वलत्	१७	४
ताभिस्तत्र	१०	६०
तामगौरव	६	१२
तामर्चिताभ्यः	७	२७
तामस्मदर्थे	६	२९
तामिमां	८	५३
तावत्पताका	७	६३
तावद्भवस्यापि	७	३०
तासां च	७	३९
तासां मुखैः	७	६२
तास्ताः	१७	३०
तां नारदः	१	५०
तां पार्वती	१	२६
तां पुलोम	८	२७
तां प्रणामादर	६	९१
तां प्राङ्मुखीं	७	१३
तां लोध्रकल्केन	७	९
तां विलम्बित	८	८१
तां वीक्ष्य	३	५७
तां हंसमाला	१	३०

	सर्ग.	श्लो.
तिर्यगूर्ध्वं	६	७१
तिसृभिः	२	६
तीव्राभिषङ्गप्र	३	७३
तुरङ्ग	१६	४३
तुरङ्गी	१६	४१
तुषारसन्वान	१	५६
ते चाकाश	६	३६
तेजसा	१०	४२
तेजोदग्धानि	१०	१६
तेन भिन्नत्रिषं	८	८९
ते नागपाश	१७	६
तेनामरवधू	२	४१
तेनाहताः	१७	३२
तेनोज्झितं	१७	३४
ते प्रभा	६	४
तेषामाविरभूत	२	२
तेषां मध्यगता	६	११
ते सद्मनि	६	४८
ते स्वर्गलोकं	१३	१०
ते हिमालयं	६	९४
तौ क्षणं	८	८६
तौ दम्पती	७	८०
तौ सन्धिषु	७	९१
त्यजाशु	१५	३८
त्रिभागशेषासु	५	५७
त्रैलोक्य	१२	५०
त्वत्सम्भावित	६	२०
त्वदीय	९	९
त्वमेव तावत्	५	६७
त्वमेव हव्यं	२	१५
त्वया प्रिया	९	८
त्वयि जुह्वति	१०	१८
त्वं पितृणाम्	२	१४
त्वं सर्वभक्षः	९	१६
त्वामामनन्ति	२	१३
त्विषाम्	१५	१८
द		
दक्षस्य	९	१७
ददौ रसात्पङ्कज	३	३७
दधानया	११	२९
दन्तीद्र	१४	४३
दर्पणे च	८	११
दष्टमुक्त	८	१८
दष्टताम्	८	३२
दासीकृत	१५	४
दिक्चक्रवाल	१७	३६
दिक्षु	११	३३
दिगन्ध	१४	३९
दिगम्बर	१४	१०
दिग्दन्तिनां	१३	२५
दिने-दिने	१	२५
दिवं यदि	५	४५
दिवाकराद्रक्षति	१	१२
दिवाऽपि	७	३५
दिवापितारा	१५	१९
दिवौकसः	१२	३७
दिवौकसो वो	१२	३९
दिव्यर्षयः	१३	२१
दिव्यां	१०	५०
दुकूलवासाः	७	७३
दुर्वारदोः	१२	४५
दुर्विषह्येण	१०	१३
दुश्चेष्टिते	१३	३७
दुःप्रेक्षणीय	१७	१९
दूरमग्रपरिमेय	८	४०
दृप्तान्धक	१२	१९
दृप्तारि	१२	२
दृष्टिप्रपात	१७	७
दृष्टिप्रतापं	३	४३
दृष्ट्वा	१०	८
दृष्ट्वा तथा	१०	३
दृष्ट्वाभ्युपेतं	१७	१
दृष्ट्वा रथं	१७	११
दृष्ट्वा सहस्रेण	१२	२४
देवद्विषां	१७	२
देवस्य	९	४७
देवं	१३	६
देवास्तदन्ते	७	९२
देवि त्वमेव	११	११
देवी	१०	२४
देवेन	१७	२२
देवोऽपि	९	४६
देवोऽपिदैत्य	१७	४७
दैतेय	१३	३८
दैत्याधिराज	१७	१७
दैत्योऽपि	१७	४६
दैत्येश्वरो	१७	५

	सर्ग.	श्लो.
द्वयं गतं	५	७१
द्रवः सङ्घात	२	११
द्रुमेषु सख्या	५	६०
द्विधाप्रयुक्तेन	७	९०
द्विरद्	१५	५०
द्विषा	१६	४२
ध		
धन्विनः	१६	३७
धर्मणापि	६	१४
धातुताम्राधरः	६	५१
धूतानि	१७	२९
धूपोष्मणा	७	१४
ध्रुवेण	७	८५
ध्वनत्सु	११	३६
न		
न केवलम्	६	६०
नखव्रण	९	२५
न जामदग्न्यः	१५	३७
ननन्द	१३	२९
न नूनम्	७	६७
नभश्चरी	९	४४
नभोदिगन्त	१४	४५
नमस्त्रिमूर्तये	२	४
नयना	४	१२
न रथी	१६	४७
नवपरिण	७	९५
न वेद्मि स	५	६१
नवोद्य	१४	९
नागेन्द्रहस्ता	१	३६

	सर्ग.	श्लो.
नाभिदेश	८	४
निकाम तृप्ता	५	२३
निदाघ	१२	४९
निधत्से	१०	२०
निनाय	५	२६
निम्नाः	१४	४४
निर्घात	१५	२२
निर्दयम्	१६	६
निर्दिष्टवर्त्मा	१३	४२
निर्भिद्य	१६	१०
निर्मितेषु	८	५२
निर्वाणभूयिष्ठ	३	५२
निवार्यताम्	५	८३
निर्विभुज्य	८	४९
निर्लून	१३	३५
निवर्तयात्मा	५	७३
निवार्यमाणै.	१५	२९
निवेदितम्	५	४६
निशम्य	५	३
निशासु	९	४३
निष्कम्पवृक्षम्	३	४२
निसर्ग	११	५
निसर्गकल्प	१३	४३
निसर्ग वात्स	११	२३
नीलकण्ठ	८	१२
नूनमुन्नमति	८	५८
नेपथ्य	९	३०
नोर्ध्वमीक्षण	८	५६
नोर्ध्वम्	१४	३८

	सर्ग.	श्लो.
न्यस्ताक्षरा	१	७
प		
पठताम्	१६	४
पत्तिः	१६	२
पत्युः शिरस्	७	१९
पत्रान्तलग्नैः	७	८९
पदं तुषारस्त्रु	१	६
पद्मकान्ति	८	३०
पद्मनाभ	८	२३
परलोकनव	४	१०
परलोकविधौ	४	३८
परस्परं	१५	५२
परस्परेण	७	६६
पराभवं	१२	४१
परिणेष्यति	४	४२
परिहृत्य	१०	११
पर्य्यङ्कबन्ध	३	४५
पर्याकुलत्वात्	२	२५
पर्याप्तपुष्प	३	३९
पर्यायसेवाम्	२	३६
पशुपतिरपि	६	९५
पश्य	८	६१
पश्य कल्पतरु	८	७१
पश्य पश्चिम	८	३४
पश्य पार्वति	८	६४
पाकभिन्न	८	७४
पाणिपीडन	८	१
पाणिस्थित	१२	१६
पादाङ्गुष्ठ	१०	४७

	सर्ग.	श्लो.
पादौ	१३	४४
पार्वती	८	७८
पिनाकिनापि	९	३९
पिबन्स	११	२
पीतासिता	१४	३१
पुनर्ग्रहीतुम्	५	१३
पुरःसुराणाम्	१५	४६
पुरःस्थितम्	१५	४८
पुरा	१२	५५
पुराणस्य	२	१७
पुरातनीम्	१२	१७
पुरा सुरेन्द्रम्	१२	२८
पुरे तावन्त	२	३३
पुरोगतम्	१५	४९
पुरोभवः	१३	११
पुलकभर	१७	५४
पुलोमपुत्रीम्	१३	४८
पुष्पं प्रवालोप	१	४४
पूर्वभागतिमिर	८	३७
पृथुप्रमोदः	११	३१
प्रक्षुभ्य	१७	१२
प्रज्वलत्	१६	१७
प्रणम्य	६	८१
प्रणर्तित	१३	३२
प्रतिक्षणम्	५	१०
प्रतिग्रहीतुम्	३	६६
प्रतिपद्य	४	१६
प्रत्यर्थिभूताम्	१	५९
प्रदक्षिण	७	७९
प्रभामहत्या	१	२८
प्रभो प्रसीदाशु	९	११
प्रमथ्य	१४	१८
प्रमोद	११	१८
प्रयाण	१४	५
प्रयुक्तपाणि	७	७८
प्रयुक्तसत्कार	५	३९
प्रवातनीलोत्पल	१	४६
प्रशमार्दचिषाम्	२	१६
प्रसन्नचेता	९	१३
प्रसन्नदिक्	१	२३
प्रसाधिका	७	५८
प्रसीद विश्रा	३	९
प्रस्थान	१३	१
प्रह्वीभवन्	१३	३
प्राक्तनानां	६	१०
प्रियेण	९	२९
प्रीतः	१०	१७
प्रीतात्मना	११	२७
ब		
बद्धकोशम्	८	३९
बबन्ध	७	२५
बभूव भस्मैव	७	३२
बभौ च	७	८
बलवदसुर	१४	५१
बली बला	१५	८
बलोद्धृतम्	१४	२२
बहिरार्ता	१०	४१
बहुभिः	१६	२०
बालेन्दुवक्राण्य	३	३९
बाणैः	१७	[illegible]१
बिभ्राण	१२	१०
ब्रह्मध्यान	१०	४६
भ		
भद्रासनम्	१२	२०
भयङ्करी	९	५०
भल्लेन	१६	४४
भवत्यनिष्टा	५	४२
भवत्यसम्भावन	६	५९
भवल्लब्ध	२	३२
भविष्यतः	३	५८
भस्मानुलिप्ते	९	२८
भागीरथी	११	३
भागीरथीनिर्झ	१	१५
भालस्थले	१२	१२
भालेक्षणाग्नौ	९	२६
भावसूचित	८	१५
भिया	१४	२९
भुजङ्गमोन्नद्ध	३	४६
भुवनालोकन	२	४५
भुवम्	१४	४०
भ्रूभङ्ग	१७	४८
भ्रूभेदिभि	६	४५
भ्रूसंज्ञयानेन	१२	७
म		
मदनेन विना	४	२१
मदान्ध	१५	३३
मदोद्धतं	१४	८

	सर्ग.	श्लो.
मधु द्विरेफः	३	३६
मधुश्च ते	३	२१
मध्येन	१	३९
मनीषिता	५	४
मनोति	१५	४५
मनोतिवेगेन	९	३७
मनोनवद्वार	३	५०
मन्दरान्तरित	८	५९
मन्दाकिनी	१	२९
मन्दाकिन्याः	२	४४
मन्देन	९	२०
महागजा	१४	३३
महागजानाम्	१४	४२
महाचमू	१४	२६
महाचमूनाम्	१५	६
महासुराणाम्	१४	३४
महारण	१२	५२
महार्हे	१२	१३
महार्हशयशा	५	१२
महास्वनः	१४	३२
महाहवे	१२	५१
महाहिनिर्बद्ध	१४	१२
महीभृतः	१	२७
महीभृताम्	१५	११
महेश्वर	१०	३०
महेश्वरः	११	४१
महेश्वरो	९	३४
महेश्वरोऽपि	११	२८
महोत्सवे	११	३४

	सर्ग.	श्लो.
मान्य	८	७७
मिथः	१६	४५
मिथो	१६	४९
मिलन्	१५	१७
मिलितेषु	१६	३१
मुक्ता	१७	९
मुक्तायज्ञोप	६	६
मुषितस्त्री	१०	५२
मुखेन सा	५	२७
मुञ्च कोपम्	८	५१
मुनिव्रतै	५	४८
मुहुर्विमग्न	१५	१५
मूढंबुद्धिम्	६	५५
मूर्ते च	७	४२
मृगाः	३	३१
मृणालिका	५	२९
मेने मेनाऽपि	६	८६
मेरुमेत्य	८	२२
मैत्रे मुहूर्त्ते	७	६
य		
यज्वभिः	२	४६
यज्ञभाग	६	७२
यज्ञाङ्गयोनित्वं	१	१७
यत्र कल्पद्रुमैः	६	४१
यत्रापतत्स	१७	५२
यत्रांऽशुका	१	१४
यत्रौषधि	६	४३
यथागतम्	९	३६
यथाप्रदेशम्	७	३४

	सर्ग.	श्लो.
यथा प्रसिद्धैः	५	९
यथैव	६	७०
यदध्यक्षेण	६	१७
यदमोघघम्	२	५
यदा च तस्या	५	५९
यदा फलम्	५	१८
यदा बुधैः	५	५८
यदा श्रुतम्	५	६४
यदीयभित्तौ	९	४२
यदुच्यते	५	३६
यदेव पूर्वे	१	५३
यद् ब्रह्म	६	१६
यन्मुखग्रहण	८	९
यमोऽपि	२	२३
यस्य चेतसि	६	१८
यस्याप्सरो	१	४
यं सर्वशैलाः	१	२
यः पूरयन्	१	८
या नः प्रीति	६	२१
यामिनी	८	५५
यावन्त्येतानि	६	८०
युगक्षय	१५	९
युगान्त	९	१४
युद्धाय	१६	३
योगिनो	६	७७
यौवनान्तम्	६	४४
र		
रक्तपीत	८	४५
रक्तभावम्	८	६५

	सर्ग.	श्लो.
रङ्गभङ्ग	१०	१२
रचितं रतिपण्डि	४	१८
रजनीतिमिर	४	११
रणाङ्गणे	१६	५०
रणे	१६	२४
रणोत्सुक	१४	१
रतिद्वितीयेन	९	४
रतिश्लथम्	९	२१
रथस्य	९	२३
रथाश्व	१५	३१
रथिन:	१६	४६
रराज	१३	८
रात्रिवृत्तिम्	८	१०
रावणध्वनित	८	२४
रुद्धनिर्गमनम्	८	६०
रुषा मिथ:	१६	३२
रेखाविभक्त:	७	१८
रेजे सुरारि	१७	२३
रे शंभुतापस	१७	१३
रोमोद्गम	७	७७
रौद्रम्	१०	५५
रौद्रेण	१०	१४
ल		
लग्नद्विरेफ	७	१६
लग्नद्विरेफाञ्जन	३	३०
लज्जातिरश्चाम्	१	४८
लतागृह द्वारगत	३	४१
लब्धप्रतिष्ठ:	१	२७
लब्ध्वा	१५	३६

	सर्ग.	श्लो.
लाङ्गूलविक्षेप	१	१३
लीलारसाभि:	१३	२६
लोहितार्क	८	७५
व		
वचस्यवसिते	२	५३
वचोभि:	१०	९
वधूं द्विज:	७	३८
वधूर्विधात्रा	७	८७
वनेचराणां	१	१०
वपुर्विरूपा	५	७२
वर्णप्रकर्षे	३	२८
वर्णावुभौ	७	५३
वर्षातिकाल	१७	३५
वाता	११	३७
वाढम्	१६	९
वासराणि	८	१३
विकस्व	१२	२३
विकीर्णसप्तर्षि	५	३७
विचित्र	१२	५
विजानता	१५	२८
विदितम्	६	२६
विद्युल्लता	१७	४२
विधिनाकृतम्	४	३१
विधिप्रयुक्त	६	५२
विधिप्रयुक्ताम्	५	३२
विधेरभो	१२	४६
विध्वस्त	१७	२८
विनम्र	११	२१
विन्यस्त	७	१०

	सर्ग.	श्लो.
विन्यस्तशुक्ला	७	१५
विपत्प्रतीकार	५	७६
विबुधैरसि	४	१९
विभिन्न	१६	१२
विभूषणो	५	७८
विमुच्य	५	८
विरोधिनाम्	१४	११
विरोधिसत्त्व	५	१७
विलोकिता:	१४	३०
विलोक्य	१४	३७
विलोक्य यत्र	९	४०
विलोचनम्	७	५९
विवक्षता	५	८१
विवृण्वती	३	६८
विश्रृङ्खलम्	९	३
विश्वावसु	७	४८
विष्णु	१०	३१
विसृजन्तो	१६	८
विसृष्टरागात्	५	११
वृत्तं तेनेदमेव	२	५६
वृत्तानुपूर्वे	१	३५
वीज्यते	२	४२
वीराणाम्	१६	२७
वीरणां विष	१६	२३
वैवाहिकीम्	६	९३
वैवाहिकै:	७	२
व्यघु:	९	३२
व्यावृत्त	२	३५
व्याहृता	८	२

	सर्ग.	श्लो.
व्योम्नस्तलम्	१७	४४
श		
शक्यमङ्गुलि	८	७२
शक्यम्	८	६२
शक्तिः	१३	१६
शक्त्या	१७	५१
शङ्खान्तर	७	३३
शस्त्रच्छिन्न	१६	३०
शस्त्रभिन्न	१६	२२
शस्त्रास्त्र	१२	२१
शरच्चन्द्र	१४	४
शरण्यः	१०	१०
शम्भोः	१०	२६
शम्भोः शिरो	११	४७
शिखरासक्त	६	४०
शशिना सह	४	३३
शासनम्	१२	५८
शिरसा प्रणि	४	१७
शिरांसि	१६	२८
शिरीषपुष्पा	१	४१
शिलाशयाम्	४	२५
शिष्यताम्	८	१७
शुचौ चतुर्णां	५	२०
शुद्धम्	८	५७
शुभ्रैः	१०	४४
शैलात्मजा	३	७५
शैलः सम्पूर्ण	६	८५
श्रीनीलकण्ठ	१२	२६
श्रुत्वेति	१५	३९

	सर्ग.	श्लो.
श्रुत्वेति वाक्यं	११	९
श्रुताप्सरोगी	३	४०
स		
सकलविबुध	१३	५१
स कश्यपः	१३	४६
स कार्तिकेयः	१३	३०
स कृत्तिवासा	१	५४
सखी तदीया	५	५२
स गोपतिम्	७	३७
सङ्गेन	१५	४२
स चण्डि	१२	८
स तथेति	६	३
स ते दुहितरम्	६	७८
सत्यमर्काच्च	६	१९
सदक्षिणापाङ्ग	३	७०
स दुर्निवारम्	१४	२
स देवदारु	३	४४
स देवमातुः	१३	४५
सद्यः प्रवाल	३	२७
सद्योनिकृत्त	१५	३०
सद्योविभिन्न	१५	१६
स द्वारपालेन	१५	७
स द्विनेत्रम्	२	३०
सन्तान	६	४६
सन्तानका	७	३
सपदि मुकुलि	३	७६
स पावक	९	१८
सप्तर्षिहस्ता	१	१६
स प्रजागर	८	८८

	सर्ग.	श्लो.
स प्रापद	७	५०
स प्रियामुख	८	९०
स प्रीतियोगाद्	७	५५
स मङ्गल	७	११
समदिवस	८	९१
स माघवेन	३	२३
स मानसीम्	१	१८
समीयिवांसो	९	४५
समुत्थितेन	१४	२८
समेत्य	१३	५०
समेत्य दैत्या	१५	३
सम्पत्स्यते	२	५४
सम्यक् स्वयं	१७	१५
सर्गशेष	६	९
सर्वं सखे	३	१२
सर्वाभिः	२	३४
सर्वोपमा	१	४९
सलीलम्	१२	१८
स वासवेना	३	२
स विलक्ष्य	१०	४
स व्यबुध्यत	८	२५
स शङ्करः	९	१२
सस्वजे	८	१४
सहस्रेण	१०	२
स हि देवः	२	५८
सहेल	१३	१३
सङ्क्रन्दनः	१२	३
सङ्ग्रामम्	१५	५३
सङ्ग्रामा	१६	५

	सर्ग.	श्लो.
सन्धानमात्रम्	१७	२६
सन्ध्ययाप्य	८	४४
सम्मिलद्भि	१०	३३
संयुगे सांयु	२	५७
साक्षाद्	६	२२
सा गौरसिद्धार्थं	७	७
साध्यम्	८	५४
सान्द्र	१३	१८
सान्द्रैः	१४	३६
सा सम्भवद्भि	७	२१
सा सुदुर्विष	१०	४०
सा भूधराणाम्	१	२२
सामभिः	८	४१
सा राजहंसैः	१	३४
सा लाजधूमा	७	८१
सिंहकेसर	८	४६
सीकरव्यतिक	८	३१
सुकान्त	९	२
सुखाश्रु	११	२५
सुगन्धि	३	५६
सुजात	१४	२४
सुज्ञा	१०	५८
सुधासारैः	१०	३९
सुबिम्बितस्य	९	४१
सुमन्वित	१२	३१

	सर्ग.	श्लो.
सुमङ्गल	११	३५
सुरद्विष	१३	३४
सुरपरिवृढः	१२	६०
सुराः	१२	४०
सुराङ्गनानाम्	१३	२४
सुरारि	१४	१७
सुरारि नाथ	१५	१२
सुरालय	१२	३
सुरालयश्री	१३	१२
सुराः समभ्य	३	२०
सुविस्मय	११	१९
सुस्नातानाम्	१०	४५
सेनापतिम्	१५	१
सोऽनुमान्य	८	२१
सोऽयमानत	८	४२
सोऽहं तृष्णा	६	२७
सौभाग्यैः	१०	५१
सौरम्य	१३	२७
स्खलन्	१५	२३
स्तुत्या	१२	४७
स्थानम्	८	३३
स्थाने तपो	७	६५
स्थाने त्वाम्	६	६७
स्थिताः क्षणं	५	२४
स्नात्वा	१०	५३

	सर्ग.	श्लो.
स्रस्तां नित	३	५५
स्त्रीपुंसा	२	७
स्फुरद्	१४	१५
स्फुरन्	११	३२
स्मरस्तथा	३	५१
स्मरसि स्मर	४	८
स्वकालपरिमा	२	८
स्वङ्कम्	११	२२
स्वदर्शनार्थम्	१३	४७
स्वबद्धया	१२	१४
स्वरूपम्	९	६
स्वरेण	१	४५
स्वर्ग	१०	२९
स्वर्गापगा	१७	५३
स्वर्गापगावाव	११	१७
स्रर्गापगासाव	११	७
स्वर्गौकसः	१२	३६
स्वर्वाहिनी	९	३८
स्रर्लोक	१३	१४
स्वयं विशीर्णं	५	२८
स्वागतम्	२	१८
ह		
हेमतामरस	८	२६
हेमावनीषु	१४	२३
हैमी	११	२६
ह्रीमानभूद्	७	५४

name slite

[illegible]

“ नवराज: कट्टेल ”

[illegible]

नवराज कट्टेल